संगीत चिंतामणि



आचार्य्य बृहस्पति

संगीत-चिंतामणि

(संगीत-नाटक-अकादेमी द्वारा पुरस्कृत)

[प्रथम खंड]

लेखक

आचार्य्य बृहस्पति एम० ए०, पी-एच० डी०

संगीतमहामहोपाध्याय, विद्यामार्तण्ड

एडवाइज़र, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय

भूमिका-लेखिका

श्रीमती सुलोचना यजुर्वेदी एम० ए०, संगीतालंकार

प्रवक्ता

दौलतराम-कॉलेज, दिल्ली-विश्वविद्यालय

संपादक

लक्ष्मीनारायण गर्ग

प्रकाशक

© संगीत कार्यालय, हाथरस (उ० प्र०)

संशोधित-परिवर्द्धित द्वितीय संस्करण

नवम्बर १९७६

SANGEET CHINTAMANI
Vol. I (Revised II edition)

Rewarded By :
Sangeet Natak Acadamy
National Institution
New Delhi.

By :
Acharya Brihaspati M. A. Ph.D.
Sangeet Mahamahopadhyay, Vidyamartand
Advisor Information & Broadcasting Govt. of India

Editor :
L. N. GARG

Price Rs. 30/=

Rs 40-00

Publishers :
Sangeet Karyalaya
Hathras. 204 101
India.

Printers :
Sangeet Press
Hathras. 204 101
India.

दो शब्द

'संगीत-चिंतामणि' के प्रथम खंड का द्वितीय संस्करण सहृदय पाठकों के करकमलों में प्रस्तुत है। इसमें अनेक लेख नए हैं, मुझे विश्वास है कि यह नवीन संस्करण उन लोगों के लिए भी उपयोगी होगा, जिनके पास प्रथम संस्करण है।

'संगीत-चिंतामणि' का यह संस्करण मेरे उन लेखों का संग्रह है, जो समय-समय पर यत्र-तत्र प्रकाशित होते रहे हैं, अतः इस ग्रंथ में कुछ विषयों की पुनरावृत्ति स्वाभाविक है, परंतु एक विषय कहीं आनुषंगिक रूप में आया है, तो कहीं प्रमुख रूप में। विषय-सूची में शीर्षक दिए गए हैं, उन्हें देखकर विद्वान् अध्यापक अपने विद्यार्थियों के लिए टिप्पणियाँ तैयार कर सकते हैं। एक ही विषय यदि अनेक लेखों में आया है, तो इस विषय के स्पष्टीकरण के लिए सम्बद्ध सभी पृष्ठ देखना चाहिए, जो विषय-सूची में दिए गए हैं।

शोध के विद्यार्थियों की सुविधा के लिए पुस्तक के अन्त में नामानुक्रमणिका दी जा रही है। जो पाठक व्यक्ति-विशेष के विषय में इस पुस्तक में दी हुई जानकारी चाहते हैं, उन्हें नामानुक्रमणिका में उस व्यक्ति से सम्बद्ध पृष्ठ-संख्याएँ मिल जाएँगी।

अनधिकारी व्यक्तियों द्वारा भरत और शार्ङ्गदेव पर जो इस शताब्दी में धूलि-प्रक्षेप किया गया है, उसे स्वच्छ करने का पवित्र प्रयत्न इस संग्रह के अनेक लेखों में है। बात एक ही है, परंतु विभिन्न स्तर के पाठकों के लिए विभिन्न शैली में कही गई है।

स्व० भातखंडे जी ने भावी पीढ़ियों के लिए कुछ प्रश्न छोड़े हैं, हमने उनका तर्कसम्मत उत्तर देकर स्व० भातखंडे जी

की जिज्ञासु आत्मा का तर्पण-मात्र (पितृ-ऋण से उऋण होने के लिए) किया है। हमारे इस प्रयत्न से उन संस्थाओं को प्रसन्न होना चाहिए, जिनके साथ स्व० भातखंडे जी का नाम जुड़ा है अथवा जिन संस्थाओं में स्व० भातखंडे जी के उत्तराधिकारी प्रतिष्ठित हैं। यदि 'संगीत-चिंतामणि' जैसे विनम्र प्रयत्न किसी संस्था के पाठ्यक्रम में नहीं होंगे, तो उस संस्था के विद्यार्थियों की दृष्टि व्यापक नहीं होगी।

जीवन सीमित है और कार्य्य अनंत। एक मनुष्य क्या-क्या करे, अतः समय की आवश्यकता के अनुसार, जो ईश्वरेच्छा होती है, लेखनी से निकल जाता है। हम 'संगीत कार्यालय' के अत्यन्त कृतज्ञ हैं, क्योंकि उसने हमारे विचारों को 'संगीत-चिंतामणि' में एकत्र सँजोने का प्रयत्न किया।

'संगीत-चिंतामणि' को केन्द्रीय संगीत-नाटक-अकादमी ने कई वर्ष पूर्व ही पुरस्कृत कर दिया है, हम उसके आभारी हैं।

इस पुस्तक का द्वितीय खंड यथासमय पृथक् प्रकाशित होगा, दोनों खंड एकसाथ प्रकाशित हो जाने से पुस्तक का आकार बहुत अधिक बढ़ जाने की आशंका थी।

मेरी अर्द्धाङ्गिनी श्रीमती सुलोचना यजुर्वेदी एम० ए० यशस्विनी गायिका हैं और उन्हें पढ़ने-लिखने से भी वैर नहीं है, उन्होंने इस संस्करण की भूमिका लिखकर मुझे कृतज्ञता-प्रकाशन का अवसर दिया है।

पुस्तक हम दोनों की ओर से संगीत-जगत् को समर्पित है।

बृहस्पति

भूमिका

३ अक्तूबर १९५५ के 'हिन्दोस्तान-टाइम्स' में इस भूमिका की लेखिका ने यह महत्त्वपूर्ण समाचार पढ़ा था कि आचार्य बृहस्पति ने 'संगीत-रत्नाकर' की स्वर-विधि को स्पष्ट कर लिया है, फलतः जिज्ञासु लोग 'संगीत-रत्नाकर' में वर्णित जातियों और रागों को गा-बजा सकेंगे।

अप्रैल १९५७ में आचार्य बृहस्पति ने बम्बई में 'श्रुति-दर्पण' और 'बृहस्पति-वीणा' नामक स्वनिर्मित वाद्यों पर भरत-पद्धति से स्वरस्थापन किया तथा दोनों ग्रामों और बाईसों श्रुतियों का सप्रयोग प्रदर्शन किया। ऑल इंडिया-रेडियो (दिल्ली) षाड्जी जाति के विभिन्न रूपों का ध्वन्यंकन भी मार्च, १९५७ ई० में कर चुका था।

१९५९ ई० में आचार्य बृहस्पति का ग्रन्थ 'भरत का संगीत-सिद्धांत' प्रकाशित हुआ, जिसकी भूमिका में आदरणीय ठाकुर जयदेवसिंह जी ने कहा कि मूर्च्छनाओं का इतना विशद और पांडित्यपूर्ण वर्णन अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। ठाकुर साहब ने यह भी कहा कि आचार्य बृहस्पति द्वारा निर्मित 'श्रुतिदर्पण' का भरपूर उपयोग संगीत-विद्यालयों में होना चाहिए।

डॉ० प्रेमलता शर्मा की सुयोग्य शिष्या डॉ० इन्द्राणी चक्रवर्ती ने कहा है—"नाट्यशास्त्र और संगीत-रत्नाकर के स्पष्टीकरण में विशेषतः ग्राम-मूर्च्छना और सारणा-व्यवस्था पर नवीन आलोकपात डॉ० बृहस्पति द्वारा ही हुआ है। ....डॉ० बृहस्पति ने ही 'तद्वत्' शब्द का असली अर्थ खोज निकाला और 'भरत का संगीत-सिद्धांत' में इसे स्पष्ट किया है।....'संगीत-चिंतामणि' के कुछ लेखों में इन्होंने शार्ङ्गदेव के विवेचनों को स्पष्ट किया है, जो अब तक अन्धकार में था।"[१]

अस्तु, आचार्य बृहस्पति के प्रयत्नों का अभिनन्दन नई पीढ़ी ने भी किया है और पुरानी पीढ़ी ने भी। वास्तव में यह पूर्वजों के प्रति श्रद्धा और तपस्या का अभिनन्दन है।

ठा० जयदेवसिंह ने ३०, अप्रैल १९५७ ई० को बम्बई में कहा था कि महर्षि भरत जैसे आप्त सूत्रकार के विषय में भ्रान्त धारणाओं के प्रचार से आचार्य बृहस्पति के हृदय को कष्ट पहुँचा और उन्होंने मौन रहकर अपने जीवन का प्रमुख भाग संगीत के भारतीय आचार्यों को समझने में दिया....। 'भरतनाट्य शास्त्र' की कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रंथियों को आचार्य बृहस्पति ने विद्वत्तापूर्ण ढंग से सुलझाया है। महर्षि भरत के सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण एक राष्ट्रीय प्रश्न है।[२]

भरत मुनि के प्रयोजन को समझने और उसे आज के युग के लिए विभिन्न शैलियों में प्रतिपादित करने के लिए आचार्य बृहस्पति को अखण्ड तपस्या का आश्रय लेना पड़ा है। 'स्वर-स्थापन की प्राचीन प्रणाली' (पृ० ९२) नामक निबन्ध हिन्दी जानने

---

१. 'संगीत', जुलाई १९७६, पृ० १९

२. 'संगीत', जून १९५७, पृ० ५४

वाले श्रोताओं के लिए लिखा गया है। जो मूल ग्रंथों के शब्दों से भी परिचित होना चाहते हैं, उनके लिए 'आचार्य्य शार्ङ्गदेव का सारणा-प्रकरण' (पृ० १५५), 'मंतग मुनि के निर्णायक कथन' (पृ० ६६) तथा 'श्रीमान् अभिनव-गुप्ताचार्य्य के कुछ विचार' (पृ० १२१) जैसे लेख हैं। इनमें अनेक पारिभाषिक शब्दों का सप्रमाण स्पष्टीकरण है, 'कुछ पारिभाषिक शब्द और उनका रहस्य' के पाठकों के लिए संस्कृतज्ञ होना आवश्यक नहीं है। 'आचार्य शार्ङ्गदेव का एक संदेश' (पृ० १६६) में अनेक महत्त्व-पूर्ण विषयों का प्रतिपादन वार्तालाप शैली में है।

'स्वर्गीय भातखण्डे जी के कुछ प्रश्न और उनका समाधान' (पृ० २७१) वास्तव में भातखंडेजी का उचित तर्पण है। इस लेख में भातखंडेजी के प्रश्नों का समाधान भातखंडेजी की ही शैली में प्रस्तुत किया गया है, जिसमें विनोद और व्यंग्य का अभाव नहीं है।

'नारदीय शिक्षा के कुछ निर्णायक स्थल' (पृ० २५) में उदात्त स्वरों का चतुःश्रुतिकत्व, अनुदात्त स्वरों का द्विश्रुतिकत्व और स्वरित स्वरों का त्रिश्रुतिकत्व प्रतिपादित करने में नारद और आचार्य्य अभिनव गुप्त की एकवाक्यता प्रतिपादित की गई है।

'भरत का संगीत-सिद्धांत' के प्राक्कथन में (पृ० ४२) पर आचार्य्य बृहस्पति ने यह मत प्रमाणपूर्वक व्यक्त किया है कि भरत मुनि वाल्मीकि की अपेक्षा पूर्ववर्ती थे। प्रस्तुत संग्रह में 'वाल्मीकि और संगीत' (पृ० ३०) और 'कालिदास और संगीत' (पृ० ३७) जैसे लेख भरत मुनि की प्राचीनता के साधक हैं और उन लोगों के लिए करारा जवाब हैं, जो भरत मुनि को बलात् ईसा की द्वितीय शताब्दी में प्रतिष्ठित करना चाहते हैं।

'हंगरी, रूस और मंगोलिया के संगीत पर भारतीय प्रभाव' (पृ० ४२), 'मुकाम, मूर्च्छना और मेल' (पृ० २११) जैसे लेख दूर देशों तक भारतीय प्रभाव को सिद्ध करते हैं, तो 'मुसलमान, गजल, कव्वाली और खयाल' (पृ० ७१) तथा 'भारतीय संगीत के परम भक्त अमीर खुसरो' (पृ० २३०) जैसे लेख दो संस्कृतियों के समन्वय का परिचय देते हैं।

'मुगल सम्राटों के युग में संगीत' (पृ० ३२३), 'नादिरशाही युग में संगीत' (पृ० ३४०), 'रामपुर का राजवंश और उसकी परंपरा' (पृ० ३५५) जैसे लेख विभिन्न युगों की ऐतिहासिक झाँकियाँ प्रस्तुत करते हैं।

संगीत, साहित्य और रस' (पृ० ३८६), 'संगीत और आलोचना' (पृ० ३९७), 'संगीत और साहित्य में समन्वय' (पृ० ४०२-४०६) तथा 'संगीत-संसार और प्रतियोगिता' (पृ० ४०७) जैसे लेख जहाँ संगीत के विद्यार्थियों को सौंदर्य-बोध की दृष्टि देंगे, वहाँ साहित्य के विद्यार्थियों के लिए भी उपयोगी होंगे।

दक्षिण की स्वरविधि पर उत्तर का प्रभाव 'वेंकटमखी का सम्प्रदाय' (पृ० २५२) और 'प्रथम राग भैरव, प्रथम ठाठ कल्याण' (पृ० ३०५) में भलीभाँति प्रतिपादित हुआ है।

ध्रुवपद के विषय में तीन लेख, 'ध्रुवपद के विषयों का स्रोत' (पृ० ४८), 'ध्रुवपद, स्व० भातखंडे और वास्तविकता' (पृ० ५३) तथा 'ध्रुवपद में साहित्य' (पृ० ६६) प्रस्तुत संग्रह में हैं। लेखक का एक ग्रंथ 'ध्रुवपद का विकास' बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना ने प्रकाशित किया है।

'भारतीय संगीत के कुछ शास्त्रकार' (पृ० १), 'होली' (पृ० ८६), 'स्वामी हरिदासजी का संगीत-पक्ष (पृ० ३१२) और 'एक विहंगावलोकन' (पृ० ३६६) जैसे लेखों का अपना-अपना महत्त्व है।

आचार्य बृहस्पति के बहुमुखी व्यक्तित्व का परिचय प्रस्तुत निबंधों में भलीभाँति मिलता है। वे विचारक हैं, विश्लेषक हैं, कवि हैं, काव्यज्ञ हैं और घोर आलोचक हैं। कुछ नमूने अप्रासंगिक न होंगे :—

(क) "रूठा उससे जाता है जिस पर विश्वास हो कि वह नाक रगड़ेगा और मनाएगा। मचला या इठलाया उसके सामने जाता है, जिस पर यह भरोसा हो कि वह एक-एक अदा पर जी-जान से निछावर हो जाएगा। जिद उससे की जाती है, जिसमें उसे पूरा करने का दम और इरादा हो। आँसू उसके सामने ढलकाए जाते हैं, जो उन्हें कोमल पंखुड़ियों से पोंछने के लिए आतुर हो जाए। रूठना, मचलना, इठलाना, हठ, आँसू बहाना इत्यादि प्रेम और अखंड विश्वास को व्यक्त करते हैं।"[1]

(ख) "रूठने, मचलने, इठलाने, शिकवा करने, मनने, मुँह फेरने, झूठमूठ आँसू बहाने, बेवजह तकरार करने, तरसने, तड़पने, निहारने, ताकने भौंहें तानने के अंदाज अनोखे और बेशुमार होते हैं, इन्हें कोई गिन नहीं सकता। आविर्भाव, तिरोभाव की छबियाँ भी अनंत हैं।"[2]

(ग) सौंदर्य अनंत है, उसकी अभिव्यक्ति के साधन अनंत हैं। सौंदर्य-बोध से प्राप्त होनेवाला आनंद भी अनंत है, अतः सौंदर्य और उसकी अनुभूति से प्राप्त होनेवाले आनंद के रूपों और प्रकारों पर विचार करनेवाला शास्त्र भी अनंतता की ओर इंगित करता और हमें चिंतन करने में समर्थ बनाता है। जिस भाँति बड़े-बूढ़े हमें अँगुली पकड़कर चलना सिखाते हैं और हम में चलने का सामर्थ्य आने पर हमें निश्चिंत होकर चलने के लिए स्वतंत्र छोड़ देते हैं, उसी प्रकार 'शास्त्र' कहनेवाले, पूर्वजों के वचन, हमें विचार करना सिखाते हैं, हमारी चिंतन-शक्ति को परिपक्व बनाते हैं और हमें स्वतंत्र अनुशीलन के लिए प्रेरित करते हैं। इसी लिए 'शास्त्र' न तो अनुदार है न जड़।"[3]

(घ) "कला के द्वारा जब अनुराग, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा,

---

१. वही संस्करण, पृ० ८०
२. " पृ० ८०–८१
३. " पृ० ७६

विस्मय इत्यादि उन सनातन भावों की अभिव्यक्ति होती है, जो मानव-मात्र के मन में स्थित हैं, तब कला श्रोताओं के अतन्र को छूती अर्थात् मानव-मन के तारों को झनझना देती है और वे कला की सृष्टि में तन्मय होकर कुछ समय के लिए अपनी-अपनी चिंता भूल जाते हैं। स्वर, भाषा, ताल, मार्ग, वादन और अभिनय इस तन्मयता की प्राप्ति के साधन हैं, यह तन्मयता ही रसानुभूति है।[१]

(ङ) कल्पना कीजिए, कोई सफल साधक आपके सम्मुख किसी ऐसे राग की अवतारणा कर रहा है, जिससे करुणा फूटी पड़ती है। कलाकार केवल 'आलाप' कर रहा है, भाषा का आश्रय उसने नहीं लिया है। वह अपने स्वर-प्रयोग से ऐसी स्थिति ले आता है कि आप अपनी सुध-बुध खो देते हैं। स्वरों के द्वारा अभिव्यक्त करुणा का संवाद आपके हृदय में स्थित करुणा से होता है। वह जागती है, आपके नेत्रों से अविरल अश्रुधारा बहने लगती है। ऐसी मानसिक स्थिति का निर्माण होता है, जिसमें चारों ओर से करुणा का समुद्र उमड़ता प्रतीत होता है, तब भी आपके हृदय में स्थित व्यक्तिगत राग-द्वेष की ग्रंथियाँ घुल जाती हैं।[२]

(च) "राग भावनाओं को व्यंजित अवश्य करते हैं, परंतु यह व्यंजना गूँगे के द्वारा की हुई भाव-व्यंजना के समान है, जो चीख, कराह, चिल्ला या घिघिया तो सकता है, शब्द और वाक्य का उच्चारण करने में समर्थ नहीं होता। 'भाषा' राग के इस गूँगेपन को दूर करती है।[३]

संगीत को हेय समझनेवाले साहित्य-महारथियों के विषय में आचार्य बृहस्पति कहते हैं:—

"वीणा पुस्तक धारिणी के उपासकों में एक वर्ग का सम्बन्ध वीणा से नहीं रहा है। इस वर्ग की दृष्टि में यदि सरस्वती 'वीणा' को विश्राम दे दे, तब भी कोई अंतर नहीं पड़ेगा, सरस्वती बेचारी का कुछ भार ही कम होगा।……पुस्तक धारिणी का उपासक यह वर्ग संगीत-जगत् से उतना ही दूर है, जितना दूर वैष्णव वर्ग अवैष्णव सम्प्रदाय से है।"[४]

राग द्वारा रस-परिपाक की प्रक्रिया पर आचार्य बृहस्पति का कथन है:— "स्थायी स्वर पर आलंबित, उसके संवादी स्वर द्वारा उद्दीप्त, अनुवादी स्वरों द्वारा अनुभावित और संचारी स्वरों द्वारा परिपोषित, सहृदयों की वह चेतनाविशेष 'रस' है, जिसकी अनुभूति के समय रजस्तमोगुणजनित उनकी राग-द्वेषादि ग्रंथियाँ विगलित हो जाती हैं।"[५]

---

१. यही संस्करण, पृ० ८४–८५
२. " पृ० ३६०
३. " पृ० ८०
४. " पृ० ४०३
५. भरत का संगीत-सिद्धांत, पृ० २७१

आनंदवर्द्धन जैसे मर्मज्ञ आचार्यों ने वीणा के स्वरों में अवगमन शक्ति मानी है। 'स्थायी स्वर' (वादी स्वर), 'संवादी स्वर', 'अनुवादी स्वर' और 'संचारी स्वर' जैसे पारिभाषिक शब्दों के आधार पर राग के द्वारा रस-परिपाक की इस प्रक्रिया का प्रतिपादन आचार्य बृहस्पति की अपनी मौलिकता है।

कुछ लोगों की यह मिथ्या धारणा है कि वर्तमान कर्नाटक संगीत सर्वथा भारतीय और विदेशी प्रभाव से अछूता है। इस धारणा का सप्रमाण खंडन आचार्य बृहस्पति ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'मुसलमान और भारतीय संगीत' में किया है।

जो लोग आचार्य बृहस्पति की विनोदशीलता से परिचित हैं, वे जानते हैं कि 'संगीत' में जहाँ उन्होंने 'परब्रह्मानन्द सरस्वती' के नाम से एक लेखमाला लिखी, वहाँ 'मुश्तरी रामपुरी' के नाम से भी लिखा। 'प्रश्न आपके और उत्तर आचार्य बृहस्पति के' नामक स्तंभ ने वर्षों तक जिज्ञासुओं की शंकाओं का समाधान किया और उनकी 'राग-चिंतन' नामक लेखमाला को अनेक पाठकों ने चाव से पढ़ा।

पार्श्वदेव के प्रसिद्ध ग्रंथ 'संगीत-समयसार' का पाठ-शोधन और अनुवाद वे कर चुके हैं, जो प्रेस में है। नाट्यशास्त्र के अट्ठाईसवें अध्याय का संस्कृत भाष्य और हिंदी टीका भी भगवत्कृपा से सम्पूर्ण है, जिसका प्रकाशन ईश्वर ने चाहा तो शीघ्र ही होगा।

पाठ्य-पुस्तकें लिखने के नाम से आचार्य जी को चिढ़ है। उनका कथन है कि निरंतर पढ़ते रहना और विद्यार्थियों के लिए उपयोगी टिप्पणियाँ तैयार करना योग्य अध्यापकों का कार्य है। उन्हें 'संगीत-चिंतामणि' जैसे ग्रंथ पढ़कर उसका नवनीत सरल भाषा में विद्यार्थियों के सम्मुख प्रस्तुत करना चाहिए।

आचार्य जी संगीत के अनुपम शिक्षक हैं। वे विषय को स्पष्ट करते हैं, तत्पश्चात् उसका प्रयोग बतलाते हैं। उनकी शिक्षा में कार्य-कारण-संबंध सदैव रहता है। भगवान् ने मंद्र, जलद-गंभीर एवं सान्द्र कंठ-स्वर दिया है। अच्छा ही हुआ कि उन्होंने चिंतक और विचारक होने का निर्णय किया, अन्यथा देश को एक अनुपम गायक तो अवश्य मिल जाता, परंतु चिंतन के क्षेत्र में भगवान् ने उनके द्वारा जो कुछ कराया है, वह न होता और यह संगीत-जगत् की एक असामान्य क्षति होती।

इस पुस्तक को इस रूप में लाने का श्रेय मेरी सहोदरा कुमारी सरयू कालेकर एम० ए० को है, जिन्होंने इस संस्करण की सामग्री सँजोई और नामानुक्रमणिका तैयार की। वे श्रेष्ठ गायिका और गवर्नमेंट कॉलेज फॉर वीमेन में गान-विभाग की अध्यक्ष हैं।

विश्वास है कि 'संगीत-चिंतामणि' का यह संस्करण जिज्ञासुओं के लिए उपयोगी होगा।

दौलतराम-कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली

सुलोचना यजुर्वेदी

विषय-सूची

भारतीय संगीत के कुछ शास्त्रकार

सांगीतिक ध्वनियों का मूल

हृद्गत भावों को प्रकाशित करने के लिए मनुष्य जिन अव्यक्त नादों का आश्रय लेता आया है, वे सार्वभौम एवं सनातन हैं। रोदन, चीत्कार, कराहना अथवा हँसना इत्यादि क्रियाएँ जिन ध्वनियों को जन्म देती हैं, उनका निर्बाध, निरपवाद एवं अव्यभिचरित प्रयोग सदा से एक-जैसा रहा है। विभिन्न भावों को प्रकाशित करनेवाली ये ध्वनियाँ ही संगीत के स्वरों की जननी हैं।

नाद की स्वाभाविक व्यंजकता

"चेतना के प्रथम स्पंद से प्राणवायु की उल्लासना के फलस्वरूप अकार इत्यादि वर्णों के रूप-विशेष से हीन जो वाक् उत्पन्न होती है, वह नादरूप रहकर हर्ष, शोक इत्यादि चित्तवृत्तियों को अथवा विधि-निषेध इत्यादि अभिप्राय को उस कार्य के बोधक चिह्नत्व (संकेतत्व) के अथवा तादात्म्य के कारण श्रुति (ध्वनि-तरंग) के अंत एवं आदि से युक्त कर देती है। मृग, कुत्ते इत्यादि अन्य प्राणियों के नाद को सुनकर भी उनके हृदय में स्थित भय, रोष, शोक इत्यादि का प्रतिपादन हो जाता है। फलत: नाद से चित्तवृत्ति का अनुमान सिद्ध है।"[1]

यह नाद भावों का प्रकाशन होने पर भी अव्यक्त रहने के कारण वाक्यार्थ जैसे अर्थ का बोधक नहीं होता। इसी लिए भाषा का आविष्कार हुआ। परंतु भाषा भी भावों के अनुसार वक्ता की ध्वनि के भावानुसारी चढ़ाव-उतार के रूप में नाद का आश्रय लेने के लिए विवश रही। यदि नाटक के संवादों को भावानुसारी 'काकु' (ध्वनि के उतार-चढ़ाव) से रहित करके पढ़ा जाए, तो कवि के अर्थ का बोध नहीं होगा।

फलत: भाव-प्रकाशन के लिए ध्वनि की 'उच्चता', 'नीचता' इत्यादि विकृतियों की सहायता हम जाने-अनजाने आज भी लेते हैं और लेते रहेंगे।

ऋग्वेद में ध्वनि की उदात्त, अनुदात्त, स्वरित इत्यादि पाठोपयोगी अवस्थाएँ भी ध्वनि-विकृतियों के पाठोपयोगी प्रकार मात्र हैं।

प्रतिदिन के व्यवहार में हम उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, कंपित, दीप्त इत्यादि ध्वनियों का प्रयोग तो करते हैं, परंतु इनका उच्चत्व, नीचत्व, स्वरितत्व इत्यादि सामान्य होता है। नाटक में जब अभिनेता संवाद बोलते हैं, तब आवश्यकतानुसार उदात्तत्व (चढ़ाव), अनुदात्तत्व (उतार) इत्यादि का प्रयोग ध्वनि की विभिन्न

१. इह येयं प्रथमेन संवित्स्पन्देन प्राणोल्लासनया वर्णादिरूपविशेषहीना वाग् जन्यते, सा नादरूपा सती हर्षशोकादिचित्तवृत्तिं विधिनिषेधाद्यभिप्रायं वा तत्कार्यलिङ्गतया वा तादात्म्येन वा श्रुत्यन्तादि गमयतीति तावत् स्थितम्। तथा च प्राण्यन्तरस्य मृगसारमेयादेरपि नादमाकर्ण्य भयरोषशोकादि प्रतिपद्यते, तदयं नादाच्चित्तवृत्त्याद्यवगमोऽनुमानं यावत्।

—आचार्य अभिनवगुप्त, 'अभिनवभारती'

स्थितियों के स्पर्शमात्र से करते हैं। यदि हम या हमारी वाणी का अनुकरण करनेवाले अभिनेता ध्वनि की 'उच्चता' एवं 'नीचता' पर पूर्ण अवधान[१] देने लगें, तो वह भाषण न होकर गान हो जाएगा। "संगीत के स्वरों के अनुरणनमय रक्तिप्रधानत्व को छोड़कर उच्च, नीच एवं मध्यम स्थान का स्पर्शित्व ही संवाद बोलने के लिए उपयोगी है। यदि पाठ्य में भी प्रधानता से स्वरगत रंजन का अवलंबन किया जाए, तो वह 'पाठ' न रहकर गान हो जाएगा।"[२]

तात्पर्य यह है कि ध्वनि का जो उतार-चढ़ाव सम्भाषण में भावों का बोधक होता है, वही नियत अवधान देने पर संगीत के स्वरों का स्थान ले लेता है। इसी अवधान से संगीत-प्रयोज्य सात प्रधान स्वर षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत एवं निषाद का जन्म हुआ है।

आंगिक विकारों से भाव-व्यंजना

भावों के प्रकाशन में ध्वनि के अतिरिक्त आंगिक मुद्राएँ भी सहायक होती हैं। यदि कोई व्यक्ति किसी भयानक पीड़ा का अनुभव कर रहा हो और बोल न सकता हो, तो हाथ-पैर पटकता है। दुर्गंध से हमारी नाक सिकुड़ने लगती है। विस्मय में हमारी आँखें फैल जाती हैं। क्रोध में नथुने फूल जाते हैं, हाथ-पैर फड़कने लगते हैं। अभिप्राय यह है कि अनेक आंगिक मुद्राएँ भाव-बोधन में हमारी सहायता करती हैं। वे स्वाभाविक मुद्राएँ ही नृत्य को जन्म देती हैं।

फलतः संगीत का जन्मकाल मानव के जन्मकाल अथवा विकासवादियों के मानव-पूर्वज प्राणियों के जन्मकाल से भिन्न नहीं है।

पाश्चात्य एवं भारतीय ऐतिहासिक दृष्टिकोण

पाश्चात्य इतिहासकार अपने धार्मिक विश्वासों के परिणामस्वरूप पिछली पाँच-छह सहस्राब्दियों में संसार के इतिहास को ले आने का प्रयत्न करते रहे हैं। प्रसन्नता का विषय है कि विज्ञान ने उनके पूर्वाग्रहों को भलीभाँति धराशायी कर दिया है। तथापि भारतीयों की प्रत्येक विद्या पर वैदेशिक प्रभाव देखने का रोग अभी भलीभाँति दूर नहीं हुआ है। फलतः हमारे तत्त्वदर्शी मनीषियों को यूनानी तत्त्वदर्शियों से पश्चाद्वर्ती सिद्ध करने की परंपरा अभी दुराग्रह के रूप में चली आ रही है।

भारतीय शास्त्रकारों के काल-निर्णय के विषय में विचार करने से पूर्व कुछ भारतीय परंपराओं का ध्यान रखना आवश्यक है। संगीतशास्त्र का ऐतिहासिक अध्ययन करनेवाले विद्यार्थी का भी भारतीय शास्त्रीय परंपरा से संबद्ध कुछ तथ्यों से सुपरिचित होना परमावश्यक है।

---

१. (क) अवधानानि गान्धर्वपश्चात्स्वरपदादयः।
अवधानातिरेकेण त्रिविधं नोपपद्यते। —दक्ष प्रजापति
(ख) अवधानं नाम मनोबुद्धिस्मृतीन्द्रियाणामैकाग्र्यम्। —सिंगभूपाल

२. उदात्तानुदात्तस्वरितकम्पितरूपतया स्वराणां यद्रक्तिप्रधानत्वमनुरणनमयं तत्त्यागेनोच्चनीचमध्यमस्थानस्पर्शित्वमात्रं पाठ्योपयोगीति दर्शितम्। यदि हि स्वरगता रक्तिः पाठ्ये प्राधान्येनावलम्ब्येत तदा गानक्रियासौ स्यात्, न पाठः। —आचार्य अभिनवगुप्त

भारतीय विचार-शैलियाँ

भारत के तत्त्वदर्शी मनीषी अपने चिंतन के परिणामों को सूत्ररूप में कहते रहे हैं। सूत्र अल्पाक्षरयुक्त, संदेहरहित, सारगर्भ, व्यर्थशब्दहीन, व्यापक एवं अनिन्द्यार्थ-बोधक होते हैं।[1] सूत्र के तत्त्वभाग को विवृत करनेवाली व्याख्या वृत्ति कहलाती है।[2] शंकाएँ उठाकर उनका समाधान करना भाष्य है।[3] सूत्रार्थ का प्रदर्शन मात्र कारिका है।[4] उक्त, अनुक्त एवं दुरुक्त अर्थों का विवेचन वार्तिक है।[5]

इसी प्रक्रिया के परिणामस्वरूप विभिन्न शास्त्रों के मूल सूत्र प्रौढ़ एवं विस्तृत शास्त्रों के रूप में विकसित हुए हैं। भारत के गौरवपूर्ण अतीत में अनेक प्रसिद्धि-पराङ्मुख विचारक ऐसे हुए, जिन्होंने प्राचीन मनीषियों के सिद्धांतों की व्याख्या तो अत्यंत सुंदर एवं विस्तृत रूप में की, परंतु अपनी कृति में अपना नाम प्रकाशित नहीं किया। अनेक व्याख्याएँ ऐसी हैं, जिनके कर्ताओं का नाम, कुल, गोत्र, स्थान इत्यादि हम नहीं जानते।

कारिकाओं, वृत्तियों एवं भाष्यों के कारण जब कभी किसी शास्त्र का विस्तार अत्यधिक हुआ है, तब लोक की सुविधा के लिए उनका संक्षेप किया जाता रहा है। इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप ऐसे अनेक संस्करणों की सृष्टि हुई है, जिनमें प्रतिपादित सिद्धांतों के उद्भावक उन संस्करणों के संपादन अथवा संकलन से बहुत पूर्व हुए हैं।

ऐसी स्थिति में इन संस्करणों की भाषा इत्यादि के आधार पर उनमें प्रतिपादित सिद्धांतों के उद्भावक महर्षियों का कालनिर्णय करने की पद्धति समीचीन नहीं है।

काल-विभाजन

उपलब्ध सामग्री के आधार पर संगीत के इतिहास को हम निम्न प्रकार से विभाजित कर सकते हैं :—

(क) यज्ञ-नाट्य-युग
(ख) विकास-युग
(ग) व्याख्या-युग
(घ) संक्रान्ति-युग
(ङ) उत्तर-संक्रान्ति-युग
(च) आधुनिक युग

---

१. अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद् विश्वतोमुखम्।
अस्तोभमनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रकृतो विदुः॥

२. सूत्राणां सकलसारविवरणं वृत्तिः। —राजशेखर

३. आक्षिप्य भाषणाद् भाष्यम्। —राजशेखर

४. अर्थप्रदर्शनकारिका कारिका। —राजशेखर

५. उक्तानुक्तदुरुक्तचिन्ता वार्तिकम्। —राजशेखर

यज्ञ-नाट्य-युग

नाट्य की उत्पत्ति से पूर्व यज्ञ-यागादिक से सम्बद्ध कृत्यों में गीत एवं वाद्य विकसित हो चुके थे। षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम एवं पंचम का दर्शन क्रमशः अग्नि, ब्रह्मा, चंद्रमा, विष्णु एवं नारद को तथा धैवत एवं निषाद का दर्शन तुंबुरु को हो चुका था। सातों स्वरों की विशेष स्थिति को 'ग्राम' प्रकट करते थे। अनुभव ने मानव के कंठ की गति को मंद्रमध्यतारस्थानव्यापिनी सिद्ध कर दिया था। परंतु 'शततंत्री' वीणा पर मंद्रतम एवं तारतम स्थानों का प्रयोग भी होता था तथा ये स्थान गांधारग्राम में उपयोगी माने गए थे। कंठप्रयोग में मानव की अशक्ति के कारण इनका प्रयोग गानक्रिया में नहीं होता था; ये स्थान वीणाप्रयोज्य थे। यज्ञ-यागादिक में ही इनका उपयोग होता था, मनोरञ्जनार्थ नहीं। पश्चाद्वर्ती संगीतशास्त्रियों ने गांधारग्राम की इसी अतिमंद्रता एवं अतितारता के कारण अपने शास्त्रों में 'गांधार-ग्राम' को चर्चा का विषय नहीं बनाया।[१]

भारतीय अनुश्रुति के अनुसार वैवस्वत मन्वंतर में त्रेतायुग के लगने पर [२] इंद्र इत्यादि देवताओं ने भगवान् ब्रह्मा से प्रार्थना की कि हम दृश्य एवं श्रव्य क्रीडनीयक देखना चाहते हैं।[३] भगवान् ब्रह्मा ने ऋग्वेद से पाठ्य, साम से गीत, यजुर्वेद से अभिनय एवं अथर्ववेद से रस लेकर नाट्यवेद की सृष्टि की।[४] नाट्यवेद के ग्रहण, धारण, ज्ञान एवं प्रयोग में देवता असमर्थ थे। फलतः देवराज इंद्र की प्रार्थना पर भगवान् ब्रह्मा ने महामुनि भरत को नाट्यवेद की शिक्षा दी।[५] भरत ने नाट्यवेद की शिक्षा प्राप्त की और अपने पुत्रों को भी शिक्षित किया।[६] भगवान् ब्रह्मा ने स्वाति एवं उनके शिष्यों को वाद्य तथा नारद और गंधर्वों को गानयोग में नियोजित किया।[७]

सब तैयारी हो चुकने पर 'अमृतमंथन' का प्रयोग हुआ।[८] उसके प्रयोग से समस्त देव-दानव प्रसन्न हुए।[९] गीत इस प्रयोग की शय्या थी, गीत पर सर्वप्रथम प्रयत्न

---

१. अतिमन्द्रातितारत्वाद् वैस्वर्य्यान्नोपदर्शितः। —आचार्य अभिनव गुप्त

२. त्रेतायुगे संप्रवृत्ते मनोर्वैवस्वतस्य च। —नाट्यशास्त्र, प्रथम अध्याय

३. महेन्द्रप्रमुखैर्देवैरुक्तः किल पितामहः।
क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद्भवेत्। —नाट्यशास्त्र, प्रथम अध्याय

४. जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि॥ —नाट्यशास्त्र, प्रथम अध्याय

५. ग्रहणे धारणे ज्ञाने प्रयोगे चास्य सत्तम।
अशक्ता भगवन् देवा अयोग्या नाट्यकर्मणि॥ —नाट्यशास्त्र, प्रथम अध्याय

६. आज्ञापितो विदित्वाहं नाट्यवेदं पितामहात्।
पुत्रानध्यापयामास प्रयोगं चापि तत्त्वतः॥ —नाट्यशास्त्र, प्रथम अध्याय

७. स्वातिर्भाण्डनियुक्तस्तु सह शिष्यैः स्वयंभुवा।
नारदाद्याश्च गन्धर्वा गानयोगे नियोजिताः॥ —नाट्यशास्त्र, प्रथम अध्याय

८. ततोऽस्म्युक्तो भगवता योजयामृतमन्थनम्। —नाट्यशास्त्र, चतुर्थ अध्याय

९. तस्मिन् समवकारे तु प्रयुक्ते देवदानवाः।
हृष्टाः समभवन् सर्वे कर्मभावानुदर्शनात्॥ —नाट्यशास्त्र, चतुर्थ अध्याय

किया गया था, क्योंकि और वाद्य के भलीभाँति प्रयुक्त होने पर नाट्यप्रयोग में विपत्ति नहीं आती।[1]

'अमृतमंथन' को सफल देखकर भगवान् ब्रह्मा ने नाट्यप्रयोग भगवान् शंकर को दिखाना चाहा[2] और वे भगवान् शंकर के निवासस्थान पर गए।[3] भगवान् शंकर की स्वीकृति मिलने पर[4] ब्रह्मा की आज्ञा से महर्षि भरत ने 'त्रिपुरदाह' का प्रयोग किया।[5] 'त्रिपुरदाह' के प्रयोग से भगवान् शंकर प्रसन्न हुए और बोले कि मैंने भी प्रतिदिन संध्याकाल नृत्य करते हुए 'नृत्य' का आविर्भाव किया है, जो विभिन्न करणों एवं अंगहारों से विभूषित है, आप इसकी योजना पूर्वरंगविधि में कीजिए।[6] तत्पश्चात् ब्रह्मा की प्रार्थना पर भगवान् शंकर ने तंडु को बुलाकर कहा कि भरत को अंगहारों का प्रयोग बताओ। तंडु ने आज्ञा का पालन किया।[7] भगवान् शंकर ने रेचकों, अंगहारों एवं पिंडीबंधों की सृष्टि करके तंडु को सिखाया। उन्होंने भी गानभांड-समन्वित जिस नृत्तप्रयोग की सृष्टि की, वह तांडव कहलाया।[8] प्रायः देवस्तुति इत्यादि में तांडव-विधि का आश्रय विहित हुआ।[9]

---

१. गीते प्रयत्नः प्रथमं तु कार्यः शय्यां हि नाट्यस्य वदन्ति गीतिम्।
गीते च वाद्ये हि सुप्रयुक्ते नाट्यप्रयोगो न विपत्तिमेति॥ —नाट्यशास्त्र, अध्याय ३२

२. ....मामाहाम्बुजसम्भवः।
नाट्यं संदर्शयामोऽद्य त्रिनेत्राय महात्मने। —नाट्यशास्त्र, चतुर्थ अध्याय

३. ततः सार्धं सुरैर्गत्वा वृषभाङ्कनिवेशनम्।
समभ्यर्च्य शिवं पश्चादुवाचेदं पितामहः॥
मया समवकारस्तु योऽयं सृष्टः सुरोत्तम।
श्रवणे दर्शने चास्य प्रसादं कर्तुमर्हसि॥ —नाट्यशास्त्र, चतुर्थ अध्याय

४. पश्याम इति देवेशो द्रुहिणं वाक्यमब्रवीत्। —नाट्यशास्त्र, चतुर्थ अध्याय

५. तथा त्रिपुरदाहश्च डिमसंज्ञः प्रयोजितः। —नाट्यशास्त्र, चतुर्थ अध्याय

६. महादेवश्च सुप्रीतः पितामहमथाब्रवीत्।
मयापीदं स्मृतं नृत्यं संध्याकालेषु नृत्यता।
नाना कारणसंयुक्तैरङ्गहारैर्विभूषितम्॥
पूर्वरङ्गविधावस्मिंस्त्वया सम्यक् प्रयोज्यताम्। —नाट्यशास्त्र, चतुर्थ अध्याय

७. श्रुत्वा महेश्वरवचः प्रयुक्तं च स्वयम्भुवा।
प्रयोगमङ्गहाराणामाचक्ष्व सुरसत्तम॥
ततस्तण्डुं समाहूय प्रोक्तवान् भुवनेश्वरः।
प्रयोगमङ्गहाराणामाचक्ष्व भरताय वै॥

८. रेचका अङ्गहाराश्च पिण्डीबन्धास्तथैव च।
सृष्ट्वा भगवता दत्तास्तण्डवे मुनये तदा॥
तेनापि हि ततः सम्यग् गानभाण्डसमन्वितः।
नृत्तप्रयोगः सृष्टोयः स ताण्डव इति स्मृतः॥ —नाट्यशास्त्र, चतुर्थ अध्याय

९. प्रायेण ताण्डवविधिर्देवस्तुत्याश्रयोभवेत्। —नाट्यशास्त्र, चतुर्थ अध्याय

इसी अवसर पर भगवान् शंकर के अनुरोध से भगवती पार्वती ने भगवान् ब्रह्मा के समक्ष लास्य का प्रदर्शन किया।[१] स्त्री-पुरुषाश्रित शृंगारसंबंधी गान में पार्वतीरचित ललित अंगहारों का प्रयोग विहित हुआ।[२]

नाट्य से पृथक् स्वतंत्र रूप में गान-वादन का प्रयोग नाट्य के आविर्भाव के समय से ही होता चला आया है। अर्थहीन शुष्काक्षरों का लय, ताल से समन्वित रूप 'निगीत' कहलाता था। नारद इत्यादि गंधर्वों ने उसे सभा में देव-दानवों को सुनाया था।[३] दैत्यों ने भी सफलतापूर्वक निगीत की साधना की।[४] दैत्यों के प्रति ईर्ष्या के कारण देवता निगीत को 'बहिर्गीत' कहने लगे।[५]

अभिप्राय यह है कि प्रागैतिहासिक युग में गान, वादन एवं नृत्य स्वतंत्र रूप से विकसित हो चुके थे और रसपरिपाक में सहायता प्राप्त करने के लिए उनका ग्रहण नाट्य में भी सम्मानपूर्वक किया गया था।

कहा जाता है कि पुरूरवा के पौत्र नहुष की प्रार्थना से भरत ने भूलोक में नाट्य-प्रयोग किया।[६] भरत के पुत्रों की मानव स्त्रियों से जो संतानें हुईं, उन्हें नाट्य की शिक्षा दी गई और उनका वंश भरतवंश कहलाया।[७] भरत ने आत्रेय इत्यादि मुनियों को नाट्यशास्त्र की शिक्षा दी।[८] अवशेष भाग प्रस्तार रूप में ग्रथित करने की आज्ञा भरत मुनि ने अपने पुत्र कोहल को दी।[९]

---

१. लास्यमस्याग्रतः प्रीत्या पार्वत्या समदीदृशत्। —संगीतरत्नाकर, वर्तनाध्याय

२. यत्तु शृङ्गारसम्बद्धं गानं स्त्रीपुरुषाश्रयम्।
देवीकृतैरङ्गहारैर्ललितैस्तत्सम्प्रयोजयेत् ॥ —नाट्यशास्त्र, चतुर्थ अध्याय

३. नारदाद्यैस्तु गन्धर्वैः सभायां देवदानवाः।
निगीतं श्राविताः सम्यग्लयतालसमन्वितम् ॥ —नाट्यशास्त्र, पंचम अध्याय

४. निगीतं तु सवादित्रमिदं गृह्णीमहेवयम्। —नाट्यशास्त्र, पंचम अध्याय

५. एवं निगीतमेत्तत्तु दैत्यानां स्पर्धया द्विजाः।
देवानां बहुमानेन बहिर्गीतमितिरमृतम् ॥ —नाट्यशास्त्र पंचम अध्याय

६. तथास्त्विति मया प्रोक्तो नहुषः पार्थिवस्तदा।
सुताश्चाहूय संप्रोक्ताः सामपूर्वं सुरैः सह ॥
अयं हि नहुषो राजा याचते वः कृताञ्जलिः।
गम्यतां सहितैर्भूमिं प्रयोक्तुं नाट्यमेव हि ॥ —नाट्यशास्त्र, अध्याय ३८

७. तत्रोपभोगतस्ते तु मानुषीषु ममात्मजाः।
पुत्रानुत्पाद्य बद्ध्वा च प्रयोगं च यथाक्रमम् ॥
ब्रह्मणा समनुज्ञाताः प्राप्ताः स्वर्गं पुनः सुताः।
एवमुर्वीतले नाट्यं शिष्यैः समवतारितम् ॥
भरतानां च वंशोऽयं भविष्यच्च प्रकीर्तितम् ॥ —नाट्यशास्त्र, अध्याय ३८

८. अनध्याये कदाचित्तु भरतं नाट्यकोविदम्।
मुनयः पर्युपास्यैनमात्रेयप्रमुखाः पुरा ॥
पप्रच्छुस्ते महात्मानो नियतेंद्रियबुद्धयः। —नाट्यशास्त्र, प्रथम अध्याय

९. शेषं प्रस्तारतन्त्रेण कोहलः कथयिष्यति ॥ —नाट्यशास्त्र, अध्याय ३८

इस समय अनेक प्रकार की वीणाओं का आविष्कार हो चुका था। नद्ध वाद्यों में डमरू, ढक्का, मृदंग बन चुके थे।

इस काल के संगीतोद्भावकों में से निम्नलिखित व्यक्ति चर्चा का विषय बन सकते हैं :—

१. ब्रह्मा या स्वयंभू

भगवान् ब्रह्मा नाट्यवेद के आविष्कर्ता एवं महामुनि भरत के शिक्षक थे। इनकी वीणा का नाम ब्रह्मवीणा था। ब्रह्मवीणा के अन्य नाम घोषा, घोषक, घोषवती एवं एकतंत्री भी हैं।

एकतंत्री वीणा में केवल एक तार होता था। बाएँ हाथ में बाँस की एक बारह अंगुल लंबी शलाका लेकर उससे तार पर विभिन्न स्वरों की सारणाएँ की जाती थीं।[1]

एकतंत्री वीणा में सारिकाएँ न होने के कारण समस्त ग्राम, मूर्च्छनाएँ एवं श्रुतियाँ प्रतिक्षण उपस्थित रहती थीं।[2] एकतंत्री समस्त वीणाओं की जननी है।[3]

२. शंकर (शिव)

'नंदिकेश्वर कारिका' के अनुसार भगवान् शंकर के डमरू से व्याकरण के चौदह सूत्र उत्पन्न हुए।[4] ये माहेश्वर सूत्र समस्त वाङ्मय तथा इनमें प्रदर्शित स्वरवर्ण संगीतस्वरों का आधार हैं। स्वरवर्णों का सांगीतिक रूप भी है। अ, इ, उ को क्रमशः षड्ज, ऋषभ, गांधार कहा गया है।[5]

नृत्य के आविष्कारक भगवान् शंकर हैं। अनेक ग्रंथों के अनुसार भगवान् शंकर पाँच रागों के जनक हैं।[6] भगवान् शंकर को मुरज या मृदंग का आविष्कारक भी बताया गया है।[7] 'औमापतम्' नामक एक ग्रंथ उपलब्ध होता है। इसमें स्वर,

---

१. शलाकां वेणुनिर्वृत्तां द्वादशाङ्गुलमात्रिकाम् ।
वामहस्तकनिष्ठायां पृष्ठे विन्यस्य तत्परम् ॥
संवेष्ट्यानामिकाङ्गुल्या तर्जन्यंगुष्ठकस्ततः ।
सम्पीड्य गाढमनया वादयेदखिलान् स्वरान् ॥ —हरिपाल

२. श्रुतयोऽथ स्वरा मूर्च्छास्ताना नानाविधास्तथा ।
एकतन्त्रीकवीणायां सर्वमेतत्प्रतिष्ठितम् ॥ —नान्यदेव

३. प्रकृतिस्सर्ववीणानामेषा श्रीशार्ङ्गिणोदिता ॥ —शार्ङ्गदेव

४. नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपंचवारम् ।
उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धानेतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम् ॥

५. अइउण् सरिगाः स्मृताः । —रुद्रडमरूद्भवसूत्रविवरण

६. मयैव पञ्चभिर्वक्त्रैः सृष्टाः पूर्वकुतूहलात् । —उमापति

७. सुधाकलश ।

मूर्च्छना, जाति, प्रबंध, राग एवं वाद्य आदि के विषय में जो कुछ कहा गया है, वह भरत-सम्प्रदाय से सर्वथा भिन्न है। संभवतः इस ग्रंथ की रचना शिवमत के सिद्धांतों की रक्षा के लिए किसी पश्चाद्वर्ती लेखक ने की है।

कल्लिनाथ ने 'संगीतरत्नाकर' की व्याख्या में शार्ङ्गदेव के द्वारा अनिर्दिष्ट कुछ रागों के लक्षण करते हुए उमापति के मत की विस्तृत चर्चा की है। भगवान् शंकर की वीणा का नाम अनालम्बी है।[१]

३. पार्वती

पार्वती एक राग एवं लास्य नामक सुकुमार व शृङ्गाररसप्रधान नृत्य की उद्भाविका हैं। इन्होंने लास्य की शिक्षा बाणासुर की पुत्री उषा को दी। उषा से द्वारका की स्त्रियों ने लास्य सीखा और उनसे सौराष्ट्र की नारियों ने। तत्पश्चात् लास्य का प्रचार सारे संसार में हुआ।[२]

नंदिकेश्वर के सिद्धांतों का प्रतिपादक ग्रंथ 'भरतार्णव' पार्वती के सिद्धांतों के प्रतिपादक एक ग्रंथ 'भरतार्थचंद्रिका' की चर्चा करता है।[३]

४. नंदिकेश्वर

नंदिकेश्वर रससिद्धांत के सर्वप्रथम आचार्य हैं। नृत्त में ये भगवान् शंकर के शिष्य हैं। इनका दूसरा नाम तंडु है।[४] इन्होंने तांडव नृत्य का आविष्कार किया। नृत्य में भरत इनके शिष्य थे।

नंदिकेश्वर के सिद्धांतों के प्रतिपादक ग्रंथ 'नंदिकेश्वरकारिका' पर उपमन्यु की टीका मिलती है। नंदिकेश्वर के तीन 'ग्राम' नंद्यावर्त, जीमूत एवं सुभद्र हैं, जो भरत के 'ग्रामों' से भिन्न हैं।

'भरतार्णव' नामक एक ग्रंथ को नंदिकेश्वर के सिद्धांतों का प्रतिपादक कहा जाता है। इस ग्रंथ में प्रतिपादित सिद्धांत भरत-सम्प्रदाय से भिन्न हैं। 'भरतार्णव' नंदिकेश्वर-मतानुयायी किसी व्यक्ति की रचना है, जिसका रचनाकाल बारहवीं शती ई० के पश्चात् है। 'भरतार्णव' में बारहवीं शती ई० के ग्रंथकार हरिपाल तथा उसकी अन्य उपाधियों की चर्चा तो है ही, हरिपाल की रचना 'संगीतसुधाकर' के अनेक श्लोक भी हैं।

---

१. शिवस्य वीणानालम्बी। —सुधाकलश

२. पार्वतीत्वनुशास्ति स्म लास्यं बाणात्मजामुषाम्।
तथा द्वारावतीगोप्यस्ताभिः सौराष्ट्रयोषितः॥
ताभिस्तु शिक्षिता नार्यो नानाजनपदाश्रिताः।
एवं परम्पराप्राप्तमेतल्लोके प्रतिष्ठितम्॥ —शार्ङ्गदेव, सं० र०, वर्तनाध्याय

३. भरतार्थचन्द्रिकायां भूधरराजदुहितृरचितायाम्।
नानार्थहस्तमुद्रा सुमते बहुधास्ति तत्र संक्षिप्तम्॥ —भरतार्णव

४. तण्डुमुनिशब्दौ नन्दिभरतयोरपरनामनी। —आचार्य अभिनवगुप्त

नंदिकेश्वर ने एक मूर्च्छना में बारह स्वर माने हैं। मतंग ने नंदिकेश्वर के इस द्वादशस्वरमूर्च्छनावाद का अनुमोदन किया है तथा अभिनवगुप्त इत्यादि परवर्ती आचार्यों ने खंडन।

५. नारद

ये भरत के समवर्ती हैं तथा गांधारग्राम के उपदेष्टा। आरंभिक नाट्यप्रयोग में गानयोग का कार्य इन्हें सौंपा गया। ये 'निगीत' या 'बहिर्गीत' के आविष्कारक हैं।

इनके सिद्धांतों के प्रतिपादक दो ग्रंथ कहे जाते हैं, 'पंचमसारसंहिता' एवम् 'नारदीय शिक्षा'। नान्यदेव का कथन है कि 'नारदीय शिक्षा' की व्याख्या शुभाकर नामक आचार्य ने की है।

'पंचमसारसंहिता' में रागों के ध्यान भी हैं।[1] नारद की सम्मति में ग्राम-रागों का प्रयोग लौकिक विनोद के लिए न होकर केवल स्तुति या यज्ञ में होना चाहिए।

'संगीतमकरंद' नामक एक ग्रंथ भी नारद के सिद्धांतों का प्रतिपादक कहा जाता है, जो नारदमतानुयायी किसी व्यक्ति की रचना है। 'संगीतमकरंद' में महामाहेश्वर (अभिनवगुप्त, दसवीं शती ई०) की चर्चा तो है ही; 'संगीतरत्नाकर' के अनेक श्लोक भी हैं, अतः यह तेरहवीं शती के अंतिम भाग या उससे भी बाद की रचना है।

नारद की वीणा का नाम महती है। इसमें इक्कीस तार होते थे, जिन पर तीनों सप्तक मिले रहते थे। तीनों ग्राम इस पर भलीभाँति स्पष्ट होते थे और इक्कीसों मूर्च्छनाएँ भी।[2]

६. स्वाति

प्रथम नाट्य-प्रयोग में भगवान् ब्रह्मा ने इन्हें और इनके शिष्यों को वाद्य-वादन के लिए नियुक्त किया था। ये अनेक वाद्यों के आविष्कारक हैं। पुष्करिणीपत्रों पर वर्षा की बूँदों के गिरने से उत्पन्न मधुर ध्वनि का अनुकरण करके इन्होंने अनेक पुष्कर वाद्यों का आविष्कार किया।[3]

---

१. भर्त्रा समं पायसि हेमवर्णा पयोविहारेण सरोरुहाणि।
विचिन्वती सौरभमोदमाना कामोदरागा कथिता विदग्धैः॥ —पंचमसारसंहिता

२. त्रिग्रामस्वरसंख्याभिस्तन्त्रीभिर्महतीति या।
नारदो वादकस्तस्या नापरो दिवि विश्रुतः॥
अत्र व्यक्तास्त्रयो ग्रामाः स्फुटास्सप्तस्वरा अपि।
प्रतिस्वरं प्रतिग्रामं मूर्च्छनास्त्वेकविंशतिः॥ —नान्यदेव

३. पतन्तीभिश्च धाराभिः वायुवेगाज्जलाशये।
पुष्करिण्यां पटुदशब्दः पत्राणामभवत्तदा॥
तेषां धारोभद्भवं नादं निशम्य स महामुनिः।
आश्चर्यमिति मन्वानश्चावधारितवान् स्वनम्॥
ज्येष्ठमध्यकनिष्ठानां पत्राणामवधार्य च।
गम्भीरमधुरं हृद्यमाजगामाश्रमं ततः।
ध्यात्वा सृष्टिं मृदंगानां पुष्करानसृजत्ततः॥ —नाट्यशास्त्र

स्वाति विपंचीवादक कहे जाते हैं। विपंची में नौ तार होते थे, जिनपर क्रमशः षड्ज, ऋषभ, गांधार, अंतरगांधार, मध्यम, पंचम, धैवत, निषाद एवं काकली की स्थापना की जाती थी।[1]

७. तुंबुरु

इनकी गणना स्वरद्रष्टाओं में है। इन्हें ही धैवत एवं निषाद का दर्शन हुआ था।[2] इनका मत भरत-संप्रदाय से कहीं-कहीं भिन्न है। मूर्च्छना से इनका तात्पर्य 'श्रुति' का मार्दव है।[3] इनके सिद्धांतों का प्रतिपादक ग्रंथ 'तुंबुरुनाटक' कहा जाता है। 'संगीतसार' एवं 'संगीतदामोदर' में 'तुंबुरुनाटक' के श्लोक उद्धृत हैं। तुंबुरु की वीणा का नाम कलावती है।[4]

८. भरत

ये नाट्यवेद के आद्य आचार्य हैं। इन्हें नाट्यवेद की शिक्षा ब्रह्मा से मिली। अपने पुत्रों को इन्होंने उनकी योग्यता के अनुसार नाट्य के अंगों की शिक्षा दी। आत्रेय इत्यादि ऋषियों ने नाट्यवेद का श्रवण भरत से ही किया।

महर्षि भरत ने नाट्य के समस्त अंगों पर तो विचार किया ही है, संगीत के मूलभूत सिद्धांत भी वैज्ञानिक ढंग से प्रतिपादित किए हैं। आत्रेय, वसिष्ठ, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, अंगिरा, गौतम, अगस्त्य, मनु, आयु, आत्मवान्, विश्वामित्र, स्थूलशिरा, संवर्त, प्रमति, दम, शुक्र, बृहस्पति, वत्स, च्यवन, काश्यप, ध्रुव, दुर्वासा, जामदग्न्य, मार्कण्डेय, गालव, भरद्वाज, रैभ्य, यवक्रीत, स्थूलाक्ष, शंकुलाक्ष, काण्व, मेधातिथि, नारद, पर्वत, सुवर्मा, निष्ठयूति, भुवन, धौम्य, शतानंद, कृतव्रण, जमदग्नि, परशुराम इत्यादि ऋषि-मुनियों के समक्ष भगवान् भरत ने नाट्यशास्त्र का प्रवचन किया।

श्रुति-सिद्धांत, ग्राम, जाति एवं संवाद-सिद्धांत सार्वभौम एवं सनातन होने के कारण संसार को महर्षि भरत की बहुत बड़ी देन हैं।

षड्जग्राम में उनके स्वरों का पारस्परिक संबंध इस प्रकार है :—

स—म नवश्रुत्यंतर=षड्जमध्यमभाव

स—प त्रयोदशश्रुत्यंतर=षड्जपंचमभाव

---

१. विपंच्यां नव तन्त्रीषु स्वरास्सप्त तथा परौ ।
काकल्यन्तरसंज्ञौ च द्वौ स्वरावित्यमानि च ॥ —नान्यदेव

२. वह्निर्वेधाश्शशांकश्च लक्ष्मीकान्तश्च नारदः ।
ऋषयो ददृशुः पंच षड्जादींस्तुम्बुरुर्धनी ॥ —शार्ङ्गदेव

३. श्रुतेर्मार्दवमेवस्यान्मूर्च्छनेत्याह तुम्बुरुः । —हरिपाल

४. कलावती तुम्बुरोस्तु । —सुधाकलश

म—त्रि नवश्रुत्यंतर=षड्जमध्यमभाव
ग—नि त्रयोदशश्रुत्यंतर=षड्जपंचमभाव
म—ध सप्तश्रुत्यंतर=मध्यमधैवतभाव
रे—ध त्रयोदशश्रुत्यंतर=षड्जपंचमभाव
स—अंतर ग सप्तश्रुत्यंतर=मध्यमधैवतभाव
अ०ग–काकली नि० त्रयोदशश्रुत्यंतर=षड्जपंचमभाव

मध्यमग्राम में 'पंचम' उतना उतर आता है, जितना उतरने से 'ऋषभ' के साथ उसका षड्जमध्यमभाव संपन्न हो जाए। ऐसी ही स्थिति में गांधार और माध्यमग्रामिक पंचम में षड्जान्तरभाव भी होता है।

ऋषभ के साथ षड्जमध्यमभाव अथवा गांधार के साथ 'षड्जांतरगांधारभाव' स्थापित करने के लिए पंचम को जितना उतारना पड़ता है, उतना अंतर 'प्रमाणश्रुति' कहलाता है। षड्जग्राम एवं मध्यमग्राम के अंतर में प्रमाणभूत होने के कारण यह अंतर 'प्रमाणश्रुति' संज्ञा प्राप्त करता है।

मूल अवस्था से प्रत्येक स्वर को माध्यमग्रामिक पंचम के आधार पर उतार देने से प्रथम सारणा, मूल अवस्था के ऋषभ को गांधार मानकर अन्य स्वरों को षाड्जग्रामिक अनुपात से मिलाने पर द्वितीय सारणा, मूल अवस्था के षड्ज को ऋषभ मानकर अन्य स्वरों को षाड्जग्रामिक अनुपात से स्थापित करने पर तृतीय सारणा एवं मूल अवस्था के षड्ज को निषाद मानकर अन्य स्वरों को उसके अनुसार षाड्जग्रामिक अनुपात से स्थापित करने पर चतुर्थ सारणा संपन्न होती है।

दूसरी, पहली एवं मूल सारणा के ऋषभ 'ऋषभ' की तीन श्रुतियों; प्रथम सारणा एवं मूल सारणा के गांधार 'गांधार' की दो श्रुतियों; तीसरी, दूसरी, पहली और मूल सारणाओं के मध्यम 'मध्यम' की चार श्रुतियों; तीसरी, दूसरी, पहली और मूल सारणा के पंचम 'पंचम' की चार श्रुतियों; दूसरी, पहली और मूल सारणाओं के धैवत 'धैवत' की तीन श्रुतियों; पहली और मूल सारणाओं के निषाद 'निषाद' की दोनों श्रुतियों के तथा तीसरी, दूसरी, पहली और मूल सारणाओं के षड्ज स्वर क्रमश: 'षड्ज' की चार श्रुतियों के बोधक होते हैं।

मूल सारणा के षड्ज को आधार स्वर मानने पर द्वितीय सारणा का मध्यम 'अंतर गांधार', द्वितीय सारणा का पंचम 'तीव्र मध्यम' एवं द्वितीय सारणा का षड्ज 'काकली निषाद' का उत्पादक होता है।

यही नहीं, शुद्धा, भिन्ना, वेसरा, गौडी एवं साधारिता इत्यादि गीतियों का जो विनियोग भरत-सप्रदाय में विहित है,[१] उससे सिद्ध है कि बाईस श्रुतियों के अतिरिक्त

---

१. पूर्वरंगे तु शुद्धा स्याद् भिन्ना प्रस्तावनाश्रया।
वेसरा मुखयोः कार्या गर्भे गौडी विधीयते ॥
साधारितावमर्शे स्यात् सन्धौ निर्वहणे तथा ॥ —भरत, कल्लिनाथ द्वारा उद्धृत

अन्य सूक्ष्मतम ध्वनियों की ओर भी महर्षि भरत का स्पष्ट संकेत है, जिनका प्रयोग जातिभिन्न[१] रागों में होता है।

तात्पर्य यह है कि महर्षि भरत के वे सिद्धांत सार्वभौम, असंदिग्ध एवं निरपवाद हैं, जो 'जातियों' के जनक हैं। जातियों के शुद्ध एवं विकृत रूप में संसार-भर के सांगीतिक स्वरों का अंतर्भाव हो जाता है।[२]

अनेक राजनीतिक कारणों से भरत-संप्रदाय की परंपरा विच्छिन्न हो जाने के कारण जो भरतसिद्धांत दुर्बोध हो गए थे, उनपर हमने 'भरत का संगीत-सिद्धांत' नामक अपने ग्रंथ में विचार किया है।

महर्षि भरत के वंशज भी भरत कहलाने लगे।[३] और नाट्य उनकी आजीविका हो गई।[४] चरित्र में दोष आ जाने के कारण समाज में उनका पद उच्च न रहा। अनुश्रुति के अनुसार इसका कारण ऋषियों का शाप था।[५] महर्षि भरत ने जो सिद्धांत संक्षिप्त रूप में बताए थे, उनका विशद विवेचन उनके वंशजों ने किया।

'भरतनाट्यशास्त्र' का जो रूप इस समय उपलब्ध है, वह कोहल, वत्स, शांडिल्य, धूर्तिल इत्यादि की कृति है।[६] इसके भी अनेक संस्करण हुए हैं। 'भरतनाट्यशास्त्र' का जो रूप आजकल उपलब्ध है, वह छह सहस्र श्लोकों में होने के कारण 'षट्साहस्री' कहलाता है। इसके 'द्वादशसाहस्री' संस्करण की चर्चा भी कुछ ग्रन्थों में है। अनेक ग्रन्थकारों के द्वारा उद्धृत भरत के श्लोक वर्तमान 'षट्साहस्री' में नहीं मिलते।

'षट्साहस्री' के भी प्रमुख रूप दो हैं, प्राचीन एवं नवीन। प्राचीन रूप उद्भट और लोल्लट इत्यादि व्याख्याकारों का आधार है और नवीन रूप, शंकुक, कीर्तिधर एवं अभिनवगुप्त इत्यादि आचार्यों का।

त्रुटित अक्षरों के स्थान पर स्वबुद्धि से उचित अक्षर रखने तथा दुर्बोध अक्षरों की व्याख्या के प्रयत्न ने 'भरतनाट्यशास्त्र' में अनेक पाठभेद करा दिए हैं।

आचार्य अभिनवगुप्त ने 'भरतनाट्यशास्त्र' का शुद्धतम रूप प्राप्त करने का प्रयत्न किया और उन अंशों को 'नाट्यशास्त्र' में एक प्रकार से प्रक्षिप्त माना,

---

१. सूक्ष्मातिसूक्ष्मैर्यैश्च जातिभिन्नः स उच्यते। —मतंग

२. यत्किञ्चिद् गीयते लोके तत्सर्वं जातिषु स्थितम्। —भरत

३. भरतानां च वंशोऽयं, भविष्यश्च प्रकीर्तितः। —नाट्यशास्त्र

४. ये च वो वंशजास्तेऽपि भविष्यन्त्यथ नर्तकाः।
परोपस्थानवन्तश्च पुंस्त्रीबालोपजीविनः॥ —नाट्यशास्त्र

५. शापं वत्तं तथा ज्ञात्वा सुतेभ्योमे तदा सुराः।
सर्वे विमनसो भूत्वा तानृषीन् समुपस्थिताः॥ —नाट्यशास्त्र

६. कोहलादिभिरेवं तु वत्सशाण्डिल्यधूर्तिलैः।
एतच्छास्त्रं प्रणीतं हिं नराणां बुद्धिवर्द्धनम्॥ —नाट्यशास्त्र

जिनका सीधा संबंध रस से नहीं है। पूर्वरंग में विनियुक्त नृत्त-प्रक्रिया ऐसे ही स्थलों में है।[१]

आचार्य अभिनवगुप्त ने 'नाट्यशास्त्र' की कारिकाओं को सूत्र कहा है। नान्यदेव भी जातिलक्षणबोधक कारिकाओं को सूत्र कहते हैं।

हमारे विनम्र विचार में 'नाट्यशास्त्र' का वर्तमान रूप महर्षि भरत के सिद्धांतों का प्रतिपादक तो है, परंतु इसका संपादन पश्चाद्वर्ती भरतवंशीय व्यक्तियों के द्वारा हुआ है।

महर्षि भरत ने आरंभ में सूत्रों की रचना गद्य में की होगी, जिनमें से अनेक 'नाट्यशास्त्र' के संस्करण में यत्र-तत्र मिश्रित हैं। इन सूत्रों में कही हुई बात को ही अनेक आनुवंश्य श्लोकों में कहा गया है। श्लोकों का 'आनुवंश्य' कहा जाना ही इस बात का प्रमाण है कि वे संकलनकर्ता की कृति नहीं।

पंडितमंडली ने 'नाट्यशास्त्र' के श्लोकों की संख्या सवा लाख बताई है।[२] प्रतीत होता है कि 'नाट्यशास्त्र' का संक्षिप्त संस्करण वर्तमान 'षट्साहस्री' है।

'नाट्यशास्त्र' में 'अंश' स्वर की व्याख्या करते समय उसे राग का निवासस्थान एवं राग का प्रवर्तक बताया गया है।[३] यह भी कहा गया है कि अंतर स्वरों का प्रयोग जब अवरोही में भी होता है, तब वे 'जातिरागों' के जनक होते हैं।[४]

ब्रह्मा के बताए हुए सात शुद्ध रागों का विनियोग नाटक की विभिन्न संधियों में बताया गया है। वे राग हैं मध्यमग्राम, षड्जग्राम, शुद्ध साधारित, पंचम, कैशिक, षाडव एवं कैशिक मध्यम। पश्चाद्वर्ती आचार्यों ने इन सातों शुद्ध रागों के लक्षण एवं उदाहरण दिए हैं।

'नाट्यशास्त्र' के विधिवत् अध्ययन के पूर्व ही अनेक सज्जनों ने महर्षि भरत के सिद्धांतों के संबंध में जो अनेक भ्रामक धारणाएँ प्रचारित की हैं, उनमें यह भी एक है कि महर्षि के 'नाट्यशास्त्र' में राग शब्द का प्रयोग एवं रागों की चर्चा नहीं है।[५]

---

१. यत्कीर्तिधरेण नन्दिकेश्वरमतमत्रागमित्वेन वर्शितं।
तदस्माभिः साक्षान्न दृष्टं, तत्प्रत्ययात्तु लिख्यते संक्षेपतः। —अभिनवभारती

२. सपादलक्षं भरतनिर्मितशास्त्रमादिमम्। —पंडितमंडली

३. रागश्च यस्मिन् वसति यस्माच्चैव प्रवर्तते। —नाट्यशास्त्र

४. अंतरस्वरसंयोगो नित्यमारोहिसंश्रयः।
कार्य्यो ह्यल्पो विशेषेण नावरोही कदाचन।
क्रियमाणोऽवरोही स्यादल्पो वा यदि वा बहुः।
जातिरागं श्रुतिञ्चैव निहन्यादन्तरस्वराः॥ —नाट्यशास्त्र

५. मुखे तु मध्यमग्रामः षड्जः प्रतिमुखे तथा। गर्भे साधारितश्चैव ह्यवमर्शे तु पंचमः।
संहारे कैशिकः प्रोक्तः पूर्वरंगे तु षाडवः। चित्रस्याष्टादशाङ्गस्य त्वन्ते कैशिकमध्यमः॥
शुद्धानां विनियोगोय ब्रह्मणा समुदाहृतः। —नाट्यशास्त्र

'भरतनाट्यशास्त्र' में रामायण के किसी पात्र की चर्चा नहीं मिलती, इससे सिद्ध है कि भरत के मूल सूत्रों में भी रामायण के किसी पात्र की चर्चा नहीं होगी। वाल्मीकि के अयोध्यावर्णन में नाटकसंघों की चर्चा है, अतः प्रत्यक्ष है कि नाट्य के आविर्भाव का काल रामायण-काल से पूर्व है।

'नाट्यशास्त्र' के अनुसार पृथ्वी पर नाट्य के प्रचलन का आदिकाल नहुष का समय है। पुराणों में पुरूरवा को चंद्रमा का पौत्र, बुध का पुत्र एवं नहुष का पिता बताया गया है। नहुष का काल पौराणिक दृष्टि से राम की अपेक्षा कहीं पूर्व है। इस दृष्टि से भी महर्षि भरत का काल रामायण से पूर्व होना चाहिए।

'भरतनाट्यशास्त्र' के वर्तमान रूप की भाषा वाल्मीकीय रामायण की भाषा की अपेक्षा अवश्य आधुनिक है। फलतः 'नाट्यशास्त्र' के वर्तमान रूप का ग्रथन रामायण के पश्चात् का है।[1]

'भरतनाट्यशास्त्र' में कई वीणाओं की चर्चा है,[2] वे हैं—विपंची, चित्रा, कच्छपी एवं घोषक इत्यादि। आचार्य्य अभिनवगुप्त के अनुसार भरत मत्तकोकिला-वादक थे। मत्तकोकिला में इक्कीस तार होते थे, जिन पर तीनों सप्तकों की अभिव्यक्ति होती थी।

९. कोहल

कोहल महर्षि भरत के पुत्र एवं नाट्यवेद को व्याख्यात रूप में प्रस्तुत करनेवाले हुए हैं। इन्होंने भरत के सिद्धांतों का विस्तृत निरूपण किया। इन्होंने श्रुतियों को असंख्य बताया है।[3]

कोहल-कृत कहे जानेवाले ग्रंथ के खंडित भाग ही उपलब्ध होते हैं। 'कोहलमतम्' नामक एक छोटी-सी पुस्तक भी मिलती है, जिसमें 'पुष्पांजलि' के लक्षण का प्रतिपादन किया गया है। 'कोहलरहस्यम्' नामक एक और ग्रंथ भी उपलब्ध होता है, जो नाम से ही किसी कोहलानुयायी व्यक्ति की कृति प्रतीत होता है।

१०. दत्तिल

दत्तिल मुनि भी महर्षि भरत के पुत्र थे। इन्हें गांधर्वशास्त्र के संक्षेप का कर्ता कहा जाता है। इनकी चर्चा प्रथम शती ई० के एक शिलालेख में है।[4] मूर्च्छनाभेदों के

१. ग्रंथ (नाट्यशास्त्र) के केवल तीन अध्यायों में संगीत पर उन (भरत) के विस्तृत वक्तव्य हैं, पर उसमें राग-रागिनियों का कोई उल्लेख नहीं है।
—भातखंडे, 'उत्तरभारतीय संगीत का सं० इतिहास' पृ० ४, संगीत कार्यालय, हाथरस से प्रकाशित।

२. विपंची चैत्र चित्रा च दारवीष्वङ्गसंज्ञिते।
कच्छपी घोषकादीनि प्रत्यङ्गानि तथैव च॥ —नाट्यशास्त्र

३. द्वाविंशतिं केचिदुदाहरन्ति श्रुतीः श्रुतिज्ञानविचारदक्षाः।
षट्षष्टिभिन्नाः खलु केचिदासामानन्त्यमन्ये प्रतिपादयन्ति॥ —कोहल

४. ई० प० १०० वर्षे एकस्मिन् शिलाशासनेऽस्य नामदृश्यते। —प्रो० रामकृष्ण कवि

प्रकार पर इनके मत का अनुगमन मतंग ने किया है, शार्ङ्गदेव ने नहीं। 'रत्नाकर' के व्याख्याता सिंहभूपाल ने अनेक अवसरों पर इनका मत उद्धृत किया है।

११. स्कंद

एक द्राविड़ ग्रंथ से पता चलता है कि इन्होंने भी अगस्त्य को नाट्यशास्त्र की शिक्षा दी।

१२. शुक्र

शृङ्गारशेखरकृत 'अभिनयभूषण' ग्रंथ के अनुसार शुक्रमत के प्रतिपादक ग्रंथ का नाम 'शुक्रमतम्' है। शारदातनय एवं अन्य ग्रंथकारों ने भी शुक्रमत की चर्चा की है।

१३. विश्वावसु

इनके विषय में विशिष्ट विवरण अभी उपलब्ध नहीं हुआ है। अनुश्रुति इन्हें अर्जुन का गुरु बतलाती है।

१४. अर्जुन

ये विश्वावसु के शिष्य एवं प्रसिद्ध पांडव वीर थे। इन्होंने अज्ञातवास के समय विराटपुत्री उत्तरा को 'ध्रुव' आदि सप्ततालों की शिक्षा देने के लिए 'सप्ततालदीपिका' नामक ग्रंथ की रचना की। अनेक ग्रंथकारों ने प्रबंध-प्रकरण में 'सप्ततालदीपिका' प्रमाणरूप में उद्धृत की है।

विकास-युग

संगीत की नाट्यशास्त्रोपदिष्ट शैली अनेक नवीनताओं की जननी थी। षड्ज-पंचम-भाव के आधार पर काकली निषाद से आधुनिक 'तीव्र मध्यम', तीव्र मध्यम से आधुनिक 'कोमल ऋषभ' एवं कोमल ऋषभ से 'कोमल धैवत' जैसे स्वरांतरालों की सृष्टि संभव थी, परंतु इन अंतरालों का प्रयोग जाति-संगीत में नहीं होता था। भरत की प्रथम सारणा के षड्ज को आधार मानने पर ऐसे स्वरांतरालों का दर्शन भी चतुःसारणा में होता था, जो स्थूल रूप से षाड्जग्रामिक सप्तक अथवा माध्यमग्रामिक सप्तक में दिखाई न देते थे। निषाद एवं गांधार के दोनों रूप ऩि, नि या ग़, ग का क्रमशः प्रयोग जाति-संगीत में न था, परंतु इन स्वरांतरालों की सत्ता, भरत के श्रुति-मंडल में थी अवश्य। यदि आज भी कोई भरतोपदिष्ट 'ऩि, निरे, ग, म, मं, ध, नि' का उच्चारण करे, तो उसे आधुनिक भैरव ठाठ मिल जाएगा।

अस्तु, कालांतर में रुचिभेद से देश-देश में अनेक राग दृष्टिगोचर होने लगे, जो जात्याधारित होने पर भी शुद्ध जातियों के नियमों से बँधे न थे, परंतु जातियों के विभिन्न रूपों में होनेवाली विकृतियाँ जिनकी जननी थीं। फलतः आचार्यों का ध्यान इस ओर गया एवं देशी रागों के लक्षण-ग्रंथों की सृष्टि हुई।

'देशी' संगीत के कुछ प्रमुख आचार्य ये हैं :—

१५. याष्टिक

इनकी रचना 'याष्टिकसंहिता' है, जिसके अनेक श्लोक मतंग ने उद्धृत किए हैं। दक्ष इनके शिष्य थे। याष्टिक ने 'भाषा', 'विभाषा' एवं 'अंतरभाषा' नामक राग-भेद बताए हैं।

१६. आंजनेय

आंजनेय के सिद्धांतों का प्रतिपादक ग्रंथ 'आंजनेयसंहिता' है, इसे 'हनुमत्संहिता' और 'भरतरत्नाकर' भी कहते हैं। प्रो० रामकृष्ण कवि के अनुसार 'हनुमन्मत' में अठारह श्रुतियाँ हैं।

रघुनाथ का कथन है कि एक बार आंजनेय कदलीवन में पहुँचे, जहाँ याष्टिक मुनि अपने दक्ष इत्यादि शिष्यों को संगीतविद्या की शिक्षा दे रहे थे। देशी रागों एवं उनके स्वरों की श्रुतियों में शास्त्रवर्णित स्थिति से विरोध देखकर दक्ष इत्यादि शिष्यों ने महर्षि याष्टिक से पूछा कि सप्तस्वरों में, जिनकी संख्या विकृत रूपों को मिलाकर बारह हो जाती है, एक स्वर की अधिक से अधिक चार श्रुतियाँ हैं, अधिक नहीं; परंतु देशी रागों में एक श्रुति एवं सप्तश्रुति स्वर भी हैं। इनका शास्त्र से विरोध है, परंतु इनका त्याग करें तो रागप्राप्ति नहीं होती। इस पर याष्टिक मुनि ने उनकी शंका का इस प्रकार समाधान किया कि शास्त्रविरोध भी न रहा और रागप्राप्ति हो गई।

याष्टिक मुनि के द्वारा उपदिष्ट शैली एवं यक्षसमूहों की गानशैली को ध्यान में रखकर आंजनेय ने लक्ष्याविरोधी शास्त्र की रचना की।[1]

आंजनेय का कथन है कि जिन रागों में श्रुति, स्वर, ग्राम, जाति इत्यादि का नियम नहीं होता और जिन पर विभिन्न लोकरुचियों का प्रभाव प्रधान होता है, वे 'देशी' राग हैं।[2]

---

१. कदाचिदागात्कदलीवनान्तमासेदिवान् याष्टिकमाञ्जनेयः ।
संगीतविद्योपनिषद्रहस्यमध्यापयन्तं धुरिदक्षमुख्यान् ॥
देशीयरागेष्वपि तत्स्वरेषु श्रुतिष्वमूषामपि लक्षणेषु ।
नानाविरोधानिह याष्टिकं तं ते दक्षमुख्यास्त्वयति पर्य्यपृच्छन् ।
सप्तस्वरा द्वादश वै कृता ये तेषां चतस्रः श्रुतयो न चान्याः ।
पंचश्रुतिः षट्श्रुतिकस्वरश्च सप्तश्रुतिश्चास्ति हि देशिरागे ॥
एवं विरोधे परिशंक्यमाने ततस्त्ववादीत् परिहारमेवम् ॥
शास्त्रस्य लक्षस्य मिथो विरोधो न स्याद्यथा स्यादपरागलाभः ।
स पर्य्यभाषीदिति तान् विरोधान् द्राग्याष्टिको रामपदाब्जसेवी ।
तां याष्टिकोक्तामविरोधरीतिं यक्षौघगीतामपि गानशैलीम् ।
आलोच्य बुद्ध्या चिरमाञ्जनेयो लक्ष्याविरुद्धं प्रणिनाय शास्त्रम् । —रघुनाथ

२. येषां श्रुतिस्वरग्रामजात्यादिनियमो न हि । नानादेशगतिच्छाया देशिरागास्तु ते स्मृतः ॥
—आंजनेय

१७. वृद्ध काश्यप

ये स्वरों की संख्या पंद्रह मानते थे।[१] रागभाषाविभाग पर विचार करके इन्होंने देशी रागों का विवेचन किया है। यह रागभाषाविभाग विकृत स्वरों के प्रयोग के कारण श्रुतिस्वरविभाग से भिन्न कहा जाता है। मतंग, अभिनवगुप्त इत्यादि आचार्यों ने काश्यप के मत की चर्चा आदरपूर्वक की है। इनके सिद्धांतों का प्रतिपादक ग्रंथ 'काश्यप संहिता' है।

१८. विशाखिल

विशाखिल सप्तगीतों[२] के प्रामाणिक आचार्य माने जाते हैं। मतंग ने तान-मूर्च्छनाभेद के संबंध में इनसे मतभेद प्रकट किया है। इनका काल तीसरी या चौथी शती ई० बताया जाता है।

नान्यदेव का कथन है कि विशाखिल ने ध्रुवागीतों के उदाहरण भी दिए हैं। विशाखिल का ग्रंथ अभी उपलब्ध नहीं हुआ है।

१९. शार्दूल

इनका काल चौथी या पाँचवीं शती ई० है। ये अभिनय के भी प्रामाणिक लेखक हुए हैं। इनके ग्रंथ 'हस्ताभिनय' में हस्ताभिनय के सोलह भेद हैं; यह ग्रंथ अभी उपलब्ध नहीं हुआ है।

शार्दूल ने सोलह भाषागीतियों को रागविशेष कहा है। मतंग ने इन्हें उद्धृत किया है। शार्ङ्गदेव भी इन्हें अपना उपजीव्य आचार्य कहते हैं। रघुनाथ ने श्रुतिभेदों के वर्णन के समय इनकी चर्चा की है।

२०. राहुल

ये एक बौद्ध आचार्य थे। इनका काल पाँचवीं शती ई० या इससे कुछ पूर्व है। इन्होंने 'भरतवार्तिकम्' नाम से 'नाट्यशास्त्र' की व्याख्या की है। अभिनवगुप्त इत्यादि आचार्यों ने 'भरतवार्तिकम्' से श्लोक उद्धृत किए हैं। ये शार्ङ्गदेव के भी उपजीव्य हैं।

२१. मतंग

जनश्रुति इनका काल छठी शती ई० बताती है। प्रो० रामकृष्ण कवि इनका काल नवीं शती ई० का मध्यभाग मानते हैं, परंतु अभिनवगुप्त का कथन है कि भगवान् शंकर की आराधना के लिए मतंग इत्यादि ने बाँस से वंश का आविष्कार किया, अतः मतंग एक प्राचीन मुनि हैं।[३]

---

१. काकल्यन्तरयोगेन चतुस्त्रिद्वयेककश्रुतीन्। स्वरान् सर्वान् प्रयुञ्जीत रागभाषासु सर्वथा।
स्वराः षड्जादयः सप्त तथा चोत्कृष्टपञ्चमः। अथ धैवतकश्चान्यः काकल्यन्तरसंज्ञकौ॥
षड्जमध्यमगान्धाराः साधारा इति सर्वदा। जातिष्वेते प्रयोक्तव्याः स्वराः पञ्चदशैव तु।
—काश्यप

२. सप्तगीत हैं—मद्रक, अपरान्तक, उल्लोप्य, प्रकरी, ओवेणक, रोविन्दक और उत्तर।

३. आचार्य अभिनवगुप्त की भरत टीका, अध्याय ३०, पृष्ठ १३९

मतंग के ग्रंथ का नाम 'बृहद्देशी' है, जिसमें आठ अध्याय हैं। ताल और वाद्य पर भी इस ग्रंथ में विचार किया गया है। परवर्ती सभी आचार्यों ने मतंग का मत सम्मानपूर्वक उद्धृत किया है। 'बृहद्देशी' का वर्तमान संस्करण मूल संस्करण नहीं। मतंग ने स्वयं को भरत का शिष्य कहा है।

'बृहद्देशी' के वर्तमान संस्करण में काश्यप, नंदी, कोहल, दत्तिल, दुर्गशक्ति, याष्टिक, वल्लभ, विश्वावसु, शार्दूल, विशाखिल इत्यादि पूर्वाचार्यों की चर्चा है।

इस ग्रंथ में भरतोक्त सप्तस्वर-मूर्च्छनाएँ मानी तो हैं, परंतु रागसिद्धि में भी मूर्च्छना को कारण मानकर उसका आकार विस्तृत करके उसे 'द्वादशस्वर' मानने पर बल दिया है, जिसमें एक सप्तक के अतिरिक्त पाँच स्वर और सम्मिलित किए हैं। यह द्वादशस्वर-मूर्च्छनावाद नंदिकेश्वर का कहा जाता है।

आचार्य अभिनवगुप्त ने द्वादशस्वरमूर्च्छनावाद का युक्तियुक्त खंडन किया है। पश्चाद्वर्ती आचार्यों ने भी द्वादशस्वरमूर्च्छनावाद की उपेक्षा की है। शार्ङ्गदेव ने जातियों के रूप तो मतंग से लिए हैं, परंतु मूर्च्छना सप्तस्वर ही मानी हैं।

मतंग चित्रा-वादक भी थे।[1] चित्रा पर सात तार होते थे,[2] जिनपर क्रमशः सातों स्वरों की अभिव्यक्ति होती थी।

प्रो० रामकृष्ण कवि ने मतंग को 'किन्नरी' वीणा का आविष्कारक कहा है। मतंग से पूर्व वीणा पर पर्दे नहीं होते थे। इन्होंने ही सर्वप्रथम वीणा पर सारिकाओं की योजना की। भारतीय संगीत को मतंग की यह बहुत बड़ी देन है।

मतंग की किन्नरी पर चौदह पर्दे होते थे और अठारह भी।[3] तीव्र गांधार एवं काकली निषाद के लिए अलग पर्दे नहीं होते थे, अपितु 'प्रवेश' अथवा 'निग्रह' क्रिया से उनकी सिद्धि की जाती थी। 'बृहद्देशी' का वाद्याध्याय आज उपलब्ध नहीं है।

किन्नरी पर तीन तार चढ़े होते थे, एक 'बाज' का और दो 'चिकारियाँ'। जब बाज का तार षड्ज में तथा चिकारियाँ क्रमशः षड्ज और पंचम में मिली रहती थीं और अठारह पर्दों पर क्रमशः छठे पर्दे तक मंद्र सप्तक, सातवें से तेरहवें तक मध्य-सप्तक एवं चौदहवें से अठारहवें तक तार सप्तक के पाँच स्वरों की अभिव्यक्ति होती थी, तब वीणा षाड्जग्रामिक कहलाती थी।[4]

---

१. मतङ्गो वादकस्तस्याश्चैत्रिको नाम नापरः। —नान्यदेव

२. सप्तभिस्तु भवेच्चित्रा। —नाट्यशास्त्र

३. ....सारिकाः स्युः चतुर्दश।
अष्टादशाथवा दण्डपृष्ठे न्यस्ता यथायथम्। —कुम्भ, मतंगकिन्नरीलक्षण

४. मौलोर्ध्वतन्त्रिकापार्श्वतन्त्र्यौ द्वे षड्जगे यदि।
ह्रस्वा पञ्चमगा चेत्स्यात् षड्जग्रामो भवेदयम्॥ —कुम्भ, मतंगकिन्नरीलक्षण

यदि बाज का तार मध्यम में तथा दोनों चिकारियाँ क्रमशः षड्ज और मध्यम में मिली होती थीं, षाड्जग्रामिक स्वरों को दो श्रुति चढ़ाकर उन्हें धैवत की संज्ञा दे दी जाती थी, तब किन्नरी पर मध्यमग्राम ध्वनित होता था।[1]

मूर्च्छना के अनुसार जब बाज के तार की ध्वनि की संज्ञा ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत या निषाद होती थी, तब उसी के अनुसार श्रुतिसंख्या के आधार पर पर्दों को ऊपर-नीचे सरकाकर मूर्च्छना के अग्रिम स्वरों की सिद्धि की जाती थी।[2]

बाज का काम केवल एक तार पर होता था। किसी भी स्वर से सप्तक का आरंभ मानने पर संपूर्ण मंद्र सप्तक, संपूर्ण मध्य सप्तक एवं तार सप्तक के पाँच स्वरों की प्राप्ति वादक को एक तार पर हो जाती थी। इस प्रकार एक स्वर-युक्त तार पर तथा अठारह स्वर अठारह पर्दों पर मिलने के कारण वादक उन्नीस स्वर (अर्थात् तीनों सप्तकों के स्वरों में दो कम) प्राप्त कर लेता था।

चौदह पर्दोंवाली किन्नरी पर संपूर्ण मंद्र सप्तक, संपूर्ण मध्य सप्तक एवं तार सप्तक के एक स्वर की प्राप्ति होती थी।

आधुनिक वे सभी तंत्री-वाद्य किन्नरी का विकसित रूप हैं, जिन पर पर्दे विद्यमान हैं।

उत्तर-भारतीय वीणा पर सारिकाएँ स्थापित करने का वर्तमान क्रम मध्य-युगीन है, जो शार्ङ्गदेव के कहीं पश्चात् सोलहवीं शती ई० में स्थिर हुआ है।[3] साधारणतया यह कहा जा सकता है कि यह रूप 'मध्यमादि' मूर्च्छना है, परंतु वास्तविकता यह नहीं है।

शार्ङ्गदेव के पश्चात् सारिकाओं को अचल कर डाला गया, फलतः स्वरों की भरतोक्त संज्ञाओं में अंतर पड़ गया।[4]

सितार एवं सरस्वती-वीणा पर सारिकाओं की वर्तमान स्थापना का प्रकार ईरानी रीति से प्रभावित है। इसी प्रभाव ने भारतीय संगीत में 'कोमल ऋषभ' एवं 'कोमल धैवत' जैसी स्वरसंज्ञाओं को जन्म दिया है। वर्तमान तीव्र ऋषभ का एक श्रुति चढ़कर पंचम से संवाद करने लगना भी वैदेशिक प्रभाव है। 'तीव्र मध्यम' का 'पत पंचम' नाम से प्रयोग भी इसी युग की देन है।

---

१. ऊर्ध्वतन्त्री यदि भवेन्मध्यमस्वरयोगिनी। तत्पार्श्वे तन्त्रिकाद्वन्द्वं षड्जमध्यमगं यदि। मध्यमग्रामगा ज्ञेया तदेयं किन्नरी बुधैः। —कुम्भ, मतंगकिन्नरीलक्षण

२. येन येन स्वरेणैव योगस्तंत्र्याः प्रतन्यते।
सारणाभेदमाश्रित्य सा स्यात्तत्तत्स्वराह्वया॥
तां तां च मूर्च्छनामस्यामभ्यसेत्तद्विदग्रणीः॥
स्वस्थाने प्रकृतीकृत्य षड्जं स्वश्रुतिपेशलम्।
स्वरप्रबन्धनाः स्थाप्याः दण्डपृष्ठेऽपसारिका॥ —कुम्भ, मतंगकिन्नरीलक्षण

३. शार्ङ्गदेवार्वाचीनैः....वीणाः नियतस्थानसारीकत्वेन प्रयुक्ताः। प्रो० रामकृष्ण कवि

४. " " "

जिन संस्कृत-ग्रंथकारों ने वर्तमान सारणा का वर्णन किया है, उन्होंने इसका आधार केवल अपने 'गुरु' को बताया है,[1] किसी भी पुरातन ग्रंथ को नहीं।

कर्नाटक की वर्तमान वीणा का सारिका-स्थापन गोविंदाचार्य के द्वारा सत्रहवीं शती में हुआ है।[2] इस मत में श्रुतियाँ चौबीस हैं। वेंकटमखी के बहत्तर मेलों में भरत के शुद्ध गांधार का अभाव एवं 'पीलू' के कोमल गांधार का अस्तित्व मेलपद्धति पर ईरानी पद्धति का प्रभाव सिद्ध करता है।

सोलहवीं शती के आरंभ में विजयनगर-नरेश कृष्णदेवराय के सभापंडित सोमनार्य या सोम भट्ट मेलपद्धति के आदिम उद्भावक हुए हैं।[3] इनके गुरु का नाम सीताराम था, जो नाम से उत्तर-भारतीय प्रतीत होते हैं। सत्रहवीं शती ई० में 'संगीत सुधा' के लेखक गोविंद दीक्षित मेल-पद्धति का प्रवर्तक चौदहवीं शती के पूर्वार्द्ध में विद्यमान विजयनगर-साम्राज्य की स्थापना के प्रेरक विद्यारण्य को कहते हैं।

ईरानी संगीत में स्वरों की संख्या बारह है, जिन्हें 'नग़मा' कहा जाता है। सितार आदि वाद्यों पर इन बारह स्वरों को उत्पन्न करनेवाली सारिकाएँ 'पर्दा' कहलाते हैं। मध्ययुगीन उत्तर-भारतीय ग्रंथकारों ने 'मुक़ाम' शब्द का अनुवाद 'संस्थान' किया है। बारह स्वरों के मध्य-मध्य में स्वरस्थापना करने से ईरानी चौबीस 'शअ्बः' का जन्म होता है। ईरानी शुद्ध ठाठ या मुक़ाम बिलावल जैसा होता था, जिसका धैवत आधुनिक तीव्र ऋषभ का संवादी होने के कारण भरत के धैवत से एक प्रमाण-श्रुति चढ़ा होता था।

---

१. चतुर्थ्यापि पुनस्तन्त्र्या मन्द्रमध्यमयुक्तया ।
षट्सु तास्वपि सारीषु भवेयुः क्रमशः स्वराः ॥
पतपः प्रथमः शुद्धः पञ्चमस्तदनन्तरम् ।
शुद्धो धः शुद्धनिः पश्चान्निषादः कैशिकी ततः ॥
षड्जः पताविरित्येते प्रोक्ता मन्द्रस्वरा मया ।
स्वीयकल्पनया नोक्ताः प्रामाण्यं तेषु विद्यते ॥
गुरुणा मे यथोद्दिष्टाः वीणायां सुप्रपञ्चिताः ।

—श्रीकण्ठ (१५८३ ई०)

2. Govinda the author of 'Sangrahachoodamani', should find a place in our notices, though he is neither a king nor attached to any royal court and himself a poor scholar in Sanskrit. His whereabouts and time are not known. But it is he who made all the modifications in Vina now in use and settled seventy-two 'Melakartas' once for all.

—प्रो० रामकृष्ण कवि

3. Somanarya of 'Ashtavadhana' is probably Somabhatta......or at least the pupil of Sitarama under whom Somabhatta studied. Somanarya wrote 'Svararagasudharasa' and 'Natyachoodamani'. He tries to devise a new method of classifying Ragas into ninty-six Melas, which classification was discarded even by his contemporaries.

—प्रो० रामकृष्ण कवि

कर्नाटक-संगीत के ग्रंथ 'संग्रह-चूड़ामणि' में भी आजकल श्रुतियाँ 'चौबीस' हैं, जो हमारे विनम्र विचार में ईरानी 'शअ्बः' से प्रभावित हैं, जिनकी संख्या चौबीस है। सारें बाईस हैं, सारिकांतर भी बाईस हैं, कुल चौबीस सारिकाएँ हैं।[१]

आधुनिक दाक्षिणात्य गायकों ने हनुमन्मत का आश्रय लेकर नियमराहित्यपूर्वक सुलभ होने के कारण यथेच्छ विदेशीय गानशैली का आश्रय लेकर अनेक रागों का प्रवर्तन संप्रदाय में किया है।[२]

भारत के औदीच्य एवं दाक्षिणात्य संगीत पर ईरानी संगीत का प्रभाव पृथक् अनुसंधान का विषय है। हमने यहाँ संकेतमात्र किया है।

आधुनिक वीणाओं तथा उनकी सारणाओं की चर्चा करना यहाँ आवश्यक समझा गया, क्योंकि कुछ सज्जन उत्तर-भारतीय सरस्वती-वीणा या सितार पर विद्यमान आधुनिक सारिका-स्थापन को अनादि या सनातन मानकर प्राचीन संगीत की खोज करते एवं विलक्षण परिणाम पर पहुँचते हैं, जिससे नई भ्रांतियों की सृष्टि होती है।

भरत से लेकर मध्ययुग तक सातों स्वर भिन्न-भिन्न रागों में स्थायी स्वर हुआ करते थे। जिस स्वर पर राग का 'उपवेशन' होता था, वह स्थायी स्वर कहलाता था।[3] सारिकाओं की अचल स्थापना के परिणामस्वरूप प्रत्येक स्थायी स्वर को 'षड्ज' कहा जाने लगा, फलतः अगले सभी स्वरों की संज्ञाएँ बदल गईं। उदाहरण के रूप में यदि आज सरस्वती-वीणा में चिकारियाँ निषाद (कोमल निषाद) में मिलाकर 'नि़, नि, रे, ग, म, मं, ध, नि़ का वादन किया जाए, तो ये स्वर आधुनिक 'सा, रे़, ग, म, प, ध, नि, सां' सुनाई देंगे। इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप जो तीव्र निषाद करुणा का जनक हैं, वह बलात् 'कोमल ऋषभ' और करुणा का जनक गांधार 'शुद्ध मध्यम' बन जाता है।

वास्तविक स्थिति यह है कि प्राचीन जातिविभाग में जो अनेक विशेषताएँ स्वतः स्पष्ट होती हैं, वे मेलविभाग में विचार का विषय बन जाती हैं।[४] मेलविभाग की उद्भावना भावों के साथ स्वरों के संबंध को दृष्टि में रखकर नहीं की गई।

---

१. अयं क्रमो दक्षिणदेशेऽद्यतनकालोपयुक्तायां वीणायां प्रयुक्तः।
संग्रहचूडामणिग्रंथादुद्धृतः। तत्र श्रुतयः चतुर्विंशतिः।
सार्य्यस्तु द्वादश, सार्यन्तरे पुनर्द्वादश। आहत्य चतुर्विंशतिः सार्यः॥ प्रो॰ रामकृष्ण कवि

२. अधुनातनैः गायकैः हनुमन्मतमाश्रित्य नियमराहित्येन सुलभत्वाद्यथेच्छं
विदेशीयगानशैली छायामपि संश्रित्य बहवो रागाः सम्प्रदाये प्रवर्तिताः।
—प्रो॰ रामकृष्ण कवि

३. (क) उपोह्यते स्वरो यस्माद्येन गीतं प्रवर्तते।
तस्मादुपोहनं ज्ञेयं स्थायिस्वरसमाश्रयम्। —भरत
(ख) यत्रोपवेश्यते रागः स्थायी रागः स कथ्यते। —शार्ङ्गदेव

४. प्राचीनविभागेऽष्टादशजातिनामके भरतादिमहर्षिसम्प्रदायसिद्धे तारमन्द्रव्यवस्था षाडवौडुवव्यवस्था स्वरस्य बहुत्वाल्पत्वे ग्रहांशन्यासविभागश्च ते सर्वे गायकस्य स्पष्टाः भवन्ति। मेलज्ञाने तेऽन्वेषणीया विचार्य्या एव वा। जातिविभागे वीणायाः चलसारीकत्वाद्वादकानां श्रुतिस्वरज्ञाननिष्कर्ष आवश्यको भवति। —प्रो॰ रामकृष्ण कवि

व्याख्या-काल

२२. कीर्तिधर

आचार्य अभिनवगुप्त ने 'नाट्यशास्त्र' के छठे एवं उनतीसवें अध्याय की व्याख्या करते समय इनकी चर्चा की है। इनके ग्रंथ का नाम 'कीर्तिधरीयम्' है। रस एवं संगीत के ये प्रामाणिक आचार्य हैं, 'नाट्यशास्त्र' के व्याख्याता हैं और शाङ्र्गदेव जैसे आचार्यों के उपजीव्य।

२३. सुधाकलश

इनका काल नवीं शती ई० के लगभग है। ये राजशेखर के गुरु जैनाचार्य के शिष्य थे। इनकी रचना 'संगीतोपनिषत्सार' है।

२४. लोल्लट

ये 'नाट्यशास्त्र' के प्रसिद्ध व्याख्याता हुए हैं। इस शास्त्र का प्रत्येक विद्यार्थी इनके नाम से परिचित है। इनके द्वारा विरचित व्याख्या 'गुणनिका' कहलाती है। आचार्य अभिनवगुप्त ने इनके रससंबंधी सिद्धांत का खंडन किया है। ये शाङ्र्गदेव के उपजीव्य आचार्यों में हैं।

२५. घंटक

'नाट्यशास्त्र' के व्याख्याता हुए हैं। आचार्य अभिनवगुप्त ने इनकी चर्चा की है। 'नाट्यशास्त्र' का संक्षिप्ततम संस्करण इनकी व्याख्या का विषय बना है।

२६. रुद्रट

ये कश्मीरनिवासी थे। इनका समय नवीं शती ई० है। ये अलंकारशास्त्र के प्रसिद्ध एवं प्रामाणिक विद्वान् हुए हैं। इनका नाम शतानंद भी था। इनके पिता वामक सामवेदी ब्राह्मण थे। राजशेखर ने काकु के संबंध में इनके मत का खंडन किया है।

२७. सागरनंदी

इनका काल ८८० ई० है। ये 'नाटकरत्नकोष' एवं 'निघंटुरत्नकोष' के कर्ता हुए हैं। 'अमरकोष' की व्याख्या में सुभूतिचंद्र तथा 'संगीतराज' में कुंभ ने इनका नाम लिया है। 'नाटकरत्नकोष' में राजशेखर-कृत श्लोक हैं। अभिनवगुप्त ने इनके कुछ सिद्धांतों का खंडन किया है।

२८. अभिनवगुप्त

इनका काल दशम शती ई० का अंतिम भाग है। ये प्रत्यभिज्ञादर्शन, नाट्य, संगीत एवं अलंकारशास्त्र के प्रामाणिकतम आचार्य हैं। इन्होंने वितस्ता नदी के तीर पर स्थित प्रवरपुर के एक मठ में 'भरतनाट्यशास्त्र' की अमर टीका 'अभिनव भारती' की रचना की।

आचार्य अभिनव गुप्त की गणना विश्व के महान् और इने-गिने मनीषियों में है। ये सिद्ध कवि, अनुपम आलोचक, महान् दार्शनिक और कर्मठ योगी थे। इनका जन्म कश्मीर में हुआ और इन्होंने (वर्तमान गुलमर्ग-मार्ग पर स्थित) मगम गाँव के पास अपने बारह सौ शिष्यों के साथ समाधि ली। इनका जन्म ९५० और ९६० ई० के मध्य में हुआ।

आचार्य अभिनव गुप्त के पूर्वज अत्रि गुप्त कश्मीर नरेश महाराज ललितादित्य के निमंत्रण पर कन्नौज से कश्मीर आए और वहीं बस गए। आचार्य अभिनव गुप्त के पिता नरसिंह गुप्त और पितामह वराह गुप्त अपने प्रकांड पांडित्य के लिए प्रसिद्ध थे।

आचार्य अभिनव गुप्त के बाल्यकाल में ही उनके सिर से क्रमशः माता और पिता की छत्रच्छाया उठ गई, परंतु उन्होंने अपने दुर्दमनीय मनोबल और असामान्य प्रतिभा से ज्ञानार्जन किया।

आचार्य अभिनव गुप्त को अपनी जननी विमलकला से आध्यात्मिक साधना में प्रेरणा मिली। सौभाग्यवश उन्हें अत्यंत दुर्लभ गुरुओं का सत्संग मिला। उनमें से कुछ बौद्ध शास्त्रों के महान् पंडित थे, कुछ बड़े जैन आचार्य थे और कुछ महान् शैव।

आचार्य अभिनव गुप्त ने अध्यात्म-शास्त्र, साहित्य-शास्त्र, सौन्दर्य-शास्त्र, संगीत-शास्त्र तथा सभी आस्तिक और नास्तिक दर्शनों का अध्ययन किया।

वे अपने युग के अनुपम वीणा-वादक थे और संगीत के समस्त अंगों पर उनका अधिकार था। ये प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के अनुपम व्याख्याता थे। दार्शनिक जगत् में इनका महान् ग्रंथ 'तंत्रालोक' अत्यंत आदर की दृष्टि से देखा जाता है। साहित्य-शास्त्र के विद्वान् इनके एक अन्य ग्रंथ 'लोचन' पर मुग्ध हैं, जो आचार्य आनंदवर्धन के प्रसिद्ध ग्रंथ 'ध्वन्यालोक' की टीका है।

'नाट्यशास्त्र' में संपूर्ण जीवन के अभिनय की शिक्षा दी गई है। आचार्य अभिनव गुप्त ने इसी 'नाट्यशास्त्र' पर अपनी प्रसिद्ध और अनुपम टीका 'अभिनव-भारती' लिखी है, जिसकी तुलना केवल पतंजलि मुनि के महाभाष्य से की जा सकती है।

अभिनव गुप्त के एक नास्तिक अध्यापक का विचार था कि 'नाट्यशास्त्र' किसी एक व्यक्ति की कृति न होकर कुछ ऐसे ग्रंथों के खंडों का संकलन है, जो ब्रह्ममत, सदाशिव-मत और भरत-मत का प्रतिपादन करते थे, संग्रहकर्ता ने अपने संकलन में ब्रह्म-मत की श्रेष्ठता सिद्ध की है परंतु आचार्य अभिनव गुप्त अपने इन नास्तिक उपाध्याय से सहमत नहीं हैं और 'नाट्यशास्त्र' को एक ही संप्रदाय का ग्रंथ और एक ही व्यक्ति की कृति मानते हैं।

रस के संबंध में आज आचार्य अभिनव गुप्त का अभिव्यंजनावाद ही प्रमाण माना जाता है।

'अभिनव-भारती' के अध्ययन से ज्ञात होता है कि 'नाट्य-शास्त्र' के अनेक स्थलों की व्याख्या पर पूर्वाचार्यों में मतभेद था, ऐसे स्थलों पर विस्तारपूर्वक विचार 'अभिनव-भारती' में किया गया है।

'नाट्य-शास्त्र' के अंतिम आठ अध्यायों के नाम क्रमशः 'जातिविकल्प' (स्वर, ग्राम, मूर्च्छना, तान, रागजननी जाति और राग का वर्णन), 'ततातोद्यविधान' (तंत्री वाद्यों का विधान), 'सुषिरातोद्यविधि' (सुषिर वाद्यों की विधि), 'तालाध्याय', 'ध्रुवाविधान' (ध्रुवा नामक गीतों का वर्णन), 'गुण-दोष विचार, 'पुष्कर वाद्य वर्णन' (अवनद्ध वाद्धों का वर्णन), 'भूमिका विकल्पाध्याय', 'नटशापाध्याय' हैं।

इन अध्यायों पर लिखित अभिनव भारती का प्रकाशन १९६४ ई० में हुआ है।

संगीत-जगत् में अनेक भ्रांत मान्यताएँ 'अभिनव भारती' के अध्ययन से नष्ट हो जाती हैं।

आचार्य अभिनव गुप्त की दृष्टि सर्वथा वैज्ञानिक है। उन्होंने प्रमाणपूर्वक सिद्ध किया है कि चतुःश्रुतिक, त्रिश्रुतिक और द्विश्रुतिक स्वर ही क्रमशः उदात्त, अनुदात्त और स्वरित हैं।

भरत की चारों प्रसिद्ध सारणाओं की व्याख्या 'अभिनव भारती' में बड़े वैज्ञानिक ढंग से की गई है। यदि स्वर्गीय भातखंडे जी को इसके अध्ययन का अवसर मिला होता, तो वे न तो समस्त श्रुतियों का प्रमाण समान मानते और न स्वरों की तथाकथित शुद्धअवस्था को उनकी आदिम श्रुति पर लेआते।

अंश, वादी और स्थायी स्वर एक ही ध्वनि के विभिन्न नाम हैं और उसकी अलग-अलग विशेषताओं को प्रकट करते हैं, यह तथ्य 'अभिनव भारती' के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है।

अभिनव गुप्त की दृष्टि में मतंग उन प्राचीनतम मुनियों में हैं, जिन्होंने भगवान् शंकर की आराधना के लिए सुषिर वाद्यों का आविष्कार किया था।

आचार्य अभिनवगुप्त की दृष्टि में काश्यप मुनि भरत की अपेक्षा पूर्ववर्ती हैं और भरत ने 'नाट्यशास्त्र' में सात ग्राम-रागों का वर्णन करके काश्यप के मत से ही सहमति प्रकट की है[1]। अभिनवगुप्त ने ये बताया है कि भरत की प्रधान वीणा मत्तकोकिला है।

आचार्य अभिनव गुप्त ने संगीत-संबंधी अध्यायों की व्याख्या में अपने महान् गुरु उत्पल देव के मत का उल्लेख अनेक स्थानों पर किया है,[2] जिससे सिद्ध है कि उन्होंने 'नाट्यशास्त्र' की शिक्षा विधिवत् संप्रदाय के अंतर्गत ली थी। एक अन्य उपाध्याय के मत का उल्लेख भी उन्होंने नाट्य-शास्त्र के शिक्षक के रूप में किया है[3] और अपने परमगुरु[4] 'भट्टतौत' के[5] मत का सादर उल्लेख भी।

---

१. 'काश्यप-मुनिप्रभितिभिर्निरूपितमति ग्रामरागगानं स्वीकरोति। अभिनवभारती–अध्याय ३२, पृष्ठ ३९०।

२. पूर्वोक्त, पृष्ठ ३३, ४२, ८६, ८७, १६४, २९१, ३८८

३. पूर्वोक्त पृष्ठ ६, १६, ७०, ९९, ११९, १५८, २२३, २७२, २८०, २९८, ३०१, ३२३, ३६४, ४२८।

४. पूर्वोक्त पृष्ठ २९१, ४११।

५. पृष्ठ १७, २७१, २८२, ३७४, ३९७।

'नारदीय शिक्षा' के कुछ निर्णायक स्थल

भगवान् नारद ने कहा है कि अहंकारयुक्त, मूढ़, आलसी, श्वास के रोगी और चंचल व्यक्ति विद्या नहीं प्राप्त करते।[1] 'अहंकारी' व्यक्ति तो उसी को 'सत्य' समझता है, जिसे वह 'सत्य' समझे बैठा है; वह भला किसी की सुनने ही क्यों लगा। 'मूढ़' व्यक्ति लकड़ी के कुन्दे की भाँति होता है; आप लाख चिल्लाइए, भला वह क्या समझेगा। 'आलसी' को निद्रा और विश्राम से अवकाश ही कहाँ है। 'दमे का रोगी' खाँसने से ही अवकाश न पाएगा; और 'चंचल' व्यक्ति का मन कक्षा में न लगकर 'पिक्चर हाउस' का चिन्तन कर रहा होगा।

प्रतीत होता है कि ऐसे लोगों से तंग आकर भगवान् नारद ने 'नारदीय शिक्षा' में अपने विचार एकत्र कर दिए। अब लोग चाहें, तो उन पर मनन कर सकते हैं।

तीन सवन

संगीत के विनम्र विद्यार्थी यह जानते हैं कि स्वरों के उच्चारण-स्थान तीन हैं—'हृदय', 'कंठ' और 'शिर'। हृदय-स्थान से स्वरों का उच्चारण 'प्रातः सवन' कहलाता है। प्रातःकाल में मंद्रस्थानीय स्वरों का उच्चारण होता है, तथापि सातों स्वरों की अभिव्यक्ति भली-भाँति नहीं होती; कभी-कभी मंद्रस्वरों में से कुछ का मानस चिन्तन करना होता है। कंठ-स्थान से मध्यस्थानीय स्वरों का उच्चारण 'माध्यन्दिन (मध्याह्नकालीन) सवन' कहलाता है और तार-स्थान के स्वरों का उच्चारण (जिन्हें लगाते समय कनपटी इत्यादि पर जोर पड़ता है) 'तृतीय सवन' कहलाता है।[2]

'सामवेद' में स्वरों का प्रयोग अवरोहात्मक होता है, अतः वागीश्वरी में प्रयोज्य मध्यम, गांधार, ऋषभ और षड्ज सामवेदियों की भाषा में क्रमशः प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ कहलाए।

इसके पश्चात् अवरोह की ओर एक नए स्वर का ज्ञान सामवेदियों को हुआ, जिसका नाम उन्होंने 'मंद्र' रखा। ज्ञान या खोज की दृष्टि से यह स्वर पाँचवाँ था, जिसे तुंबुरु ने 'धैवत' कहा। धैवत के बाद तुंबुरु को 'निषाद' का ज्ञान हुआ, जिसे खोज की दृष्टि से 'छठा' कहा गया। 'निषाद' का दूसरा नाम 'अतिस्वर' या 'परिस्वार' भी हुआ। इसके पश्चात् मंद्रस्थान में ही एक अन्य स्वर की प्राप्ति हुई और इसे 'सातवाँ' कहा गया, क्योंकि उपलब्धि-क्रम में यह 'सातवाँ' था। मंद्र स्थान में इसका उच्चारण सबके लिए सरल नहीं था, अतः इसे प्रथम के ऊपर स्थापित करके

---

१. पञ्चविद्यां न गृह्णन्ति चण्डाः स्तब्धाश्च ये नराः।
अलसाः श्वासरोगाश्च येषां च विसृतं मनः॥ —ना० शि०, (२–८–१४)

२. उरः कण्ठः शिरश्चैव स्थानानि त्रीणि वाङ्मये।
सवनान्याहुरेतानि.................. ॥
उरः सप्तविचारं स्यात्तथा कण्ठस्तथा शिरः।
न च सप्तोरसि व्यक्ताः.................. ॥ —वही (१–१–७, ८)

'क्रुष्ट' कहा गया, क्योंकि इसके प्रयोग में उच्चतम ध्वनि की अपेक्षा कहीं अधिक बल लगाना पड़ता था। अतः जो स्वर वीणा-वादकों के 'म, ग, रि, स, ध, नि, प (प)' थे, वे सामवेदियों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पंचम, षष्ठ और सप्तम कहलाए।[1]

गात्र-वीणा में सामिक स्वरों के नाम

सामगान करनेवाले 'क्रुष्ट स्वर' का उच्चारण करते समय परस्पर मिली हुई सब अँगुलियों से दाहिने हाथ के अँगूठे के अग्रभाग का और प्रथम (मध्यम) स्वर का उच्चारण करते समय अँगूठे के मँझले पोरुए का स्पर्श करते हैं। द्वितीय, (गांधार), तृतीय (ऋषभ), चतुर्थ (षड्ज) और पंचम (धैवत) का उच्चारण करते समय दाहिने हाथ के अँगूठे के अग्रभाग से, क्रमशः तर्जनी, मध्यमा, अनामिका और कनिष्ठा के मँझले पोरुओं का स्पर्श करते हैं। षष्ठ (निषाद) के लिए कोई अँगुली नहीं बचती, अतः इसे 'परिस्वार' (अतिस्वार्य) भी कहा जाता है।[2] 'ध, नि, प' को क्रमशः पंचम, षष्ठ और सप्तम कहने का रहस्य संप्रदाय से अपरिचित व्यक्ति नहीं समझ सकते।[3]

गांधर्व का लौकिक क्रम

गांधर्व में स्वरों का रूप आरोहात्मक है। अतः 'नारदीय-शिक्षा' के प्रथम प्रपाठक की द्वितीय कंडिका का पाँचवाँ श्लोक है :—

षड्जश्च ऋषभश्चैव गान्धारो मध्यमस्तथा।
पञ्चमो धैवतश्चैव निषादः सप्तमः स्वरः॥

इसमें आरोह-क्रम से सात स्वर बताए गए हैं, जिनमें पाँचवाँ स्वर पंचम और सातवाँ स्वर निषाद है।

स्वरों के दर्शन या उपलब्धि के क्रम में 'ध, नि, प' क्रमशः पाँचवें, छठे और सातवें हैं, परंतु उपलब्ध स्वरों को आरोह में सँजोने पर 'प, ध, नि' क्रमशः पाँचवें, छठे और सातवें हो जाते हैं।

---

१. यः सामगानां प्रथमः स वेणोर्मध्यमः स्वरः।
यो द्वितीयः स गांधारस्तृतीयस्त्वृषभः स्मृतः॥
चतुर्थः षड्ज इत्याहुः पंचमो धैवतो भवेत्।
षष्ठो निषादो विज्ञेयः सप्तमः पंचमः स्मृतः॥ —वही, १–५–१, २

२. अङ्गुष्ठस्योत्तमे क्रुष्टोऽङ्गुष्ठे तु प्रथमः स्वरः।
प्रदेशिन्यां तु गान्धारः ऋषभस्तदनन्तरम्॥
अनामिकायां षड्जस्तु कनिष्ठायां च धैवतः।
अपर्वत्वादसंज्ञत्वादव्ययत्वाच्च नित्यशः।
मन्द्रो हि नहि भूतस्तु परिस्वार इति स्मृतः॥ —वही, १–७–३, ५

३. 'ध्वनि और संगीत' के लेखक ने सम्भवतः 'नारदीय-शिक्षा' नहीं देखी थी, देखिए पृ० १३९, १४०

उदात्त, अनुदात्त और स्वरित

स्वरों के ये नाम 'ऋग्वेद' में प्रयुक्त होते हैं और ये भी अवरोहात्मक हैं। उदात्त, अनुदात्त और स्वरित को ही पाणिनि ने क्रमशः 'उच्चैः नीचैः और समाहार' कहा है।

ऋग्वेदियों को गांधर्व के स्वर सिखाने के लिए नारद ने प्रथम प्रपाठक की आठवीं कण्डिका के आठवें श्लोक में कहा :—

उदात्तो निषाद गान्धारौ (प्रभवत इति शेषः)

अर्थात्—जब 'उदात्त' स्वर परवर्ती हो, तब निषाद और गांधार का जन्म होता है (गांधार से परवर्ती 'उदात्त' मध्यम है और निषाद से परवर्ती उदात्त 'षड्ज' है)। संस्कृत के विद्वान् कहेंगे—'उदात्ते परतः स्थिते निषादगान्धारौ प्रभवतः।'

अनुदात्त ऋषभ धैवतौ (प्रभवत इति शेषः)

अर्थात्—जब 'अनुदात्त' स्वर परवर्ती हो, तो ऋषभ और धैवत का जन्म होता है। (ऋषभ से परवर्ती 'अनुदात्त' गांधार है और धैवत का परवर्ती 'अनुदात्त' निषाद है। संस्कृत के विद्वानों की भाषा होगी—'अनुदात्ते परतः स्थिते ऋषभ-धैवतौ प्रभवतः।'

स्वरितप्रभवा ह्येते षड्जमध्यमपञ्चमाः (भवन्तीतिशेषः)

अर्थात्—जब 'स्वरित' स्वर परवर्ती हो, तब षड्ज, मध्यम और पंचम का जन्म होता है (षड्ज से परवर्ती 'स्वरित' ऋषभ, मध्यम से परवर्ती 'स्वरित' मध्यम-ग्रामीय त्रिश्रुतिक ऋषभ और षड्जग्रामीय पंचम से परवर्ती 'स्वरित' धैवत होता है। संस्कृत-व्याकरण के मर्मज्ञों की भाषा में यों कहा जाएगा—'स्वरिते परतः स्थिते येषां प्रभवस्ते षड्जमध्यमपंचमा भवन्ति।'

ये श्लोक उन लोगों के लिए हैं, जो 'ऋग्वेद' के स्वरों से परिचित हैं और जिन्हें गांधर्व के लौकिक स्वर सीखने हैं।

महान् वैणिक 'नारदीय शिक्षा' के मर्मज्ञ और 'नाट्यशास्त्र' के व्याख्याता आचार्य अभिनवगुप्त का कथन

अभिनवभारतीकार आचार्य अभिनवगुप्त ने वीणा, गांधर्व और 'ऋग्वेद' का समन्वय करते हुए कहा—'ऊँचे होने के कारण चतुःश्रुति स्वर उदात्त हैं, नीचे होने के कारण द्विश्रुति स्वर अनुदात्त हैं, समाहारगुण से युक्त और मँझोले होने के कारण त्रिश्रुति स्वर स्वरित हैं, श्रोत्रीय (सामगान करनेवाले) लोग 'स्वरित' में ही कंपितत्व का व्यवहार करते हैं।[1]

'नारदीय शिक्षा' में 'दारुवीणा' का विवेचन नहीं है, अन्यथा चतुःश्रुति, द्विश्रुति, त्रिश्रुति जैसे शब्दों का प्रयोग भी वहाँ अवश्य होता।

---

१. चतुःश्रुतिरुदात्त उच्चैस्त्वात्, द्विश्रुतिरनुदात्तः नीचैस्त्वात्, त्रिश्रुतिः स्वरितः मध्यवर्तितया समाहारत्वात्। तथा हि—स्वरित एव कम्पितत्वं व्यवहरन्ति श्रोत्रियाः। 'अभिनव भारती', खंड चतुर्थ, पृ० ४

स्वरित शब्द के साथ अत्याचार

आधार स्वर को 'स्वर' ही कहा जाता है। आधार स्वर का बोध करानेवाली तंत्री 'श्रुतितंत्री' भी कहलाती है।

'स्वरित' शब्द ऋग्वेदियों का है और इसके अनेक प्रकार हैं, उनमें 'स्वार' शब्द संगीत की दृष्टि से उपयोगी है। 'नारदीय-शिक्षा' के प्रथम प्रपाठक की छठी कारिका में यह प्रश्न उठाया गया है—"उच्च की अपेक्षा उच्चतर और नीच की अपेक्षा नीचतर स्थान नहीं होता, तो 'स्वार' नामक अन्य स्वर का स्थान क्या है ?"[1] अगली ही कारिका में इस प्रश्न का उत्तर यों दिया गया है—उच्च, नीच के मध्य में जो 'साधारण' नामक श्रुति है, उसी को शिक्षक लोग स्वार कहते हैं। अर्थात् उच्च या उदात्त मध्यम से दो श्रुति नीचे और नीच या द्विश्रुतिक गांधार से दो श्रुति ऊपर जिस अंतरगांधार की स्थिति है, वही 'स्वार' है।[2] अंतरगांधार ही षड्जग्रामीय मध्यमादि मूर्च्छना का धैवत भी है और त्रिश्रुतिक भी है। अतः मध्यमादि मूर्च्छना में स्वरित या स्वार भी है। इस दृष्टि से 'प, म, ग' में ही 'सं नि॒ ध' की भी प्रतीति होती है। शोभाकर भट्ट ने इसी कारिका के भाष्य में स्थिति स्पष्ट कर दी है।[3] अंतरगांधार को आचार्य शार्ङ्गदेव ने 'अंतर साधारण' कहा है।

नारद की मूर्च्छनाएँ

'नारदीय शिक्षा' में षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद से आरंभ होनेवाली मूर्च्छनाओं को क्रमशः प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पंचम, षष्ठ एवं सप्तम मूर्च्छना कहा गया है।[4] मूर्च्छनाओं का यह क्रम आरोहात्मक है, भरत मुनि ने इसके विपरीत षड्ज, निषाद, धैवत, पंचम, मध्यम, गांधार एवं ऋषभ से आरंभ होनेवाली मूर्च्छनाओं को प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पंचम, षष्ठ एवं सप्तम कहा है।

नारद मूर्च्छनाओं का निरूपण 'कंठ' के आधार पर कर रहे हैं। उनका मध्यस्थानीय षड्ज वहाँ है, जहाँ आज के गायकों का मंद्र पंचम है, अतः वे सुविधापूर्वक सातों मूर्च्छनाओं का प्रदर्शन कंठ के द्वारा आरोहात्मक क्रम से ही कर सकते हैं। भरत अपनी मूर्च्छनाओं का वर्णन इक्कीस तारोंवाली त्रिसप्तकीय वीणा पर कर

---

१. उच्चादुच्चतरंनास्ति नीचान्नीचतरं तथा।
वैस्वर्यं स्वारसंज्ञायां किं स्थानं स्वार उच्यते॥

२. उच्चनीचस्य मध्ये यत् साधारणमितिश्रुतिः।
तं पातंस्वार संज्ञायां प्रतिजानन्ति शैक्षिकाः॥

३. षड्जे तूत्तरमन्द्रा स्यादृषभे चाभिरुद्गता।
अश्वक्रान्ता तु गान्धारे तृतीया मूर्च्छना स्मृता।
मध्यमे खलु सौवीरा हृष्यका पञ्चमे स्वरे॥
धैवते चापि विज्ञेया मूर्च्छना तूत्तरायता।
निषादाद्रजनीं विद्यादृषीणां सप्तमूर्च्छनाः॥ —वही १-२-११-१२-१३

रहे हैं, जिस पर मंद्र स्थानीय स्वरों की अभिव्यक्ति अनायास हो जाती है, अतः उनका क्रम 'नारदीय शिक्षा' के क्रम से भिन्न है।

एक बात और भी ध्यान देने योग्य है कि नारदोक्त मूर्च्छनाओं में 'सौवीरा' और 'हृष्यका' भरत के अनुसार मध्यमग्रामीय हैं। अवशिष्ट मूर्च्छनाएँ षड्जग्रामीय हैं। षड्ज-ग्राम और मध्यम-ग्राम की सात-सात पृथक् मूर्च्छनाओं का वर्णन या नाम-करण 'नारदीय शिक्षा' में नहीं है।

'नारदीय शिक्षा' में ग्राम-विभाग का अभाव

'नारदीय शिक्षा' में ग्राम-निर्देश तो है, ग्राम-विभाग नहीं है। बाईस श्रुतियों का ज्ञान सारणा-क्रिया के परिणाम स्वरूप होता है। सारणा-क्रिया वीणा में ही संभव है। 'नारदीय शिक्षा' में दारु-वीणा का उल्लेखमात्र प्रसंगवशात् है, परंतु दारु-वीणा को आधार मानकर किसी विषय का विवेचन नहीं किया गया है, क्योंकि 'नारदीय-शिक्षा' का प्रतिपाद्य विषय 'सार्ववैदिक स्वर' हैं, गांधर्वशास्त्र नहीं।

यह सत्य है कि 'सामवेद' में सातों स्वरों का प्रयोग होता है, परंतु तीनों सप्तकों का प्रयोग तो 'गांधर्व' में ही होता है, अतः 'सामवेद' को संगीतप्रयोज्य सातों स्वरों का जनक तो कहा है, परंतु सामगान लौकिक 'गांधर्व' नहीं है।

'नारदीय शिक्षा' 'नाट्यशास्त्र' की अपेक्षा पूर्ववर्ती ग्रंथ है। आचार्य अभिनवगुप्त ने 'नाट्यशास्त्र' के जिस संस्करण पर टीका की है, उसमें 'नारदीय शिक्षा' के ये श्लोकार्ध ज्यों-के-त्यों विद्यमान हैं :—[1]

> श्रुतयोऽन्या द्वितीयस्य मृदुमध्यायताः स्मृताः।
> आयतत्वं च चेन्नीचे मृदुत्वं च विपर्यये।
> स्वस्वरे मध्यमत्वं ॥ नारदीय० प्रपाठक १, कं० ७

इन वाक्यों का अर्थ है कि जब गांधार के पश्चात् उससे नीचे ऋषभ का प्रयोग हो, तब गांधार की श्रुति 'आयत' होती है, इसकी विपरीत अवस्था में, अर्थात् जब गांधार के पश्चात् उसकी अपेक्षा ऊँचे (मध्यम) का प्रयोग हो, तो गांधार की 'मृदु' श्रुति होती है।

प्रयोग की सूक्ष्मता के कारण होनेवाली ऐसी केशाग्र उच्चता-नीचता मूर्च्छनाओं का आधार नहीं बनती,[2] इसी लिए 'नाट्यशास्त्र' के अलंकार-प्रकरण में इन सूक्ष्मताओं की चर्चा है, अथवा 'साधारण प्रकरण' में भी है। मूर्च्छना-प्रकरण में इनके लिए कोई अवकाश नहीं है। हाँ, मध्यमग्रामीय पंचम और षड्जग्रामीय पंचम का पारस्परिक केशाग्र अंतराल अवश्य बताया गया है।

आशा है, प्रस्तुत स्पष्टीकरण से संगीत-जगत् का कुछ लाभ होगा।

---

१. अभिनवभारती, अध्याय २६, पृ० ८६

२. दीप्तायताद्याश्च पञ्चश्रुतयः पृथक् स्वरादीनां प्रयुक्तिविशेषसाध्याः उक्ताः।
—अभिनवभारती, चतुर्थ खंड, पृ० १२

वाल्मीकि और संगीत

'नाट्यशास्त्र' के अनुसार, आदिकाव्य 'रामायण' के प्रणेता भगवान् वाल्मीकि उन ऋषियों में हैं, जिन्होंने 'नाट्यशास्त्र' का उपदेश भरत मुनि से प्राप्त किया। इसी लिए आदिकाव्य 'रामायण' को पाठ्य और गेय, दोनों में ही मधुर कहा गया है। तंत्री पर अवसर के अनुसार इसकी योजना द्रुत, विलंबित और मध्य लय में की जा सकती है। षड्जा, आर्षभी, गांधारी, मध्यमा, पंचमी, धैवती और नैषादी इन सातों रागजननी जातियों का रसानुसारी विनियोग इसमें संभव है। गांधर्व के तत्त्व को समझनेवाले वे व्यक्ति जो वीणा के मंद्र, मध्य और तार-स्थानों में अभीष्ट मूर्च्छना के स्थापन में समर्थ हैं, आदिकाव्य को इन्हीं रूपों में प्रस्तुत करते थे।[1]

महर्षि वाल्मीकि ने राम के पुत्र कुश और लव को 'रामायण' के गेय रूप का उपदेश स्वयं किया था और उन दोनों से कहा था कि तुम लोग ऋषियों के यातायात के मार्गों में, ब्राह्मणों के निवास-स्थानों में, राजमार्गों और गलियों में (अश्वमेघ में निमंत्रित) राजाओं के घरों में, राम के भवन के द्वार पर और विशेषतया ऋत्विजों के समक्ष 'रामायण' का गान करना। फलों और मूलों का सेवन करने से न तो तुम लोग थकोगे ही और न रागभ्रष्ट होगे। यदि 'रामायण' सुनने के लिए तुम्हें महाराज राम बुलाएँ तो विराजमान ऋषियों के समक्ष मेरी की हुई गान-योजना के अनुसार गाना। मेरे उपदेश के अनुसार द्रुत, विलंबित और मध्य-लय का उपयोग करते हुए एक-एक दिन में बीस-बीस सर्गों का गान करना। धन की इच्छा से तनिक भी लोभ न करना, क्योंकि फल-मूल का सेवन करनेवाले आश्रमवासी व्यक्तियों को धन से क्या करना है? यदि राम पूछें कि तुम किनके पुत्र हो, तो इतना ही कहना कि हम वाल्मीकि के शिष्य हैं। ये मधुर तंत्रियाँ हैं। इन्हें मंद्र, मध्य एवं तार-स्थान में मिलाकर प्रसन्न मन से मधुर रूप में गाना।[2]

---

१. काव्यं रामायणं कृत्स्नं सीतायाश्चरितं महत्।
पौलस्त्यवधमित्येवं चकार चरितव्रतः॥
पाठ्ये गेये च मधुरं प्रमाणैस्त्रिभिरन्वितम्।
जातिभिः सप्तभिर्युक्तं तन्त्रीलयसमन्वितम्॥
रसैः शृङ्गारकरुणहास्यरौद्रभयानकैः।
बीभत्सादिरसैर्युक्तं काव्यमेतदगायताम्॥
तौ तु गान्धर्वतत्त्वज्ञौ मूर्च्छनास्थानकोविदौ।
भ्रातरौ स्वरसम्पन्नौ गन्धर्वाविव रूपिणौ॥

—बालकांड, अध्याय ४, श्लोक ७-१०

२. स शिष्यावब्रवीद् धृष्टौ युवां गत्वा समाहितौ।
कृत्स्नं रामायणं काव्यं गायतां परया मुदा॥
ऋषिवाटेषु पुण्येषु ब्राह्मणावसथेषु च।
रथ्यासु राजमार्गेषु पार्थिवानां गृहेषु च॥

भगवान् रामचन्द्र ने जिस परिषद् में कुशीलव अर्थात् कुश और लव का गान सुना था; उसमें राजा, पंडित, पौर तथा सभी कलाओं के विशेषज्ञ निमन्त्रित किए गए थे; इनमें गांधर्व के विशेषज्ञ भी थे।[1] इन दोनों भाइयों ने जो गान किया, वह ताल और लय से युक्त, अच्छे स्वर और शब्दों में गुंफित तथा तंत्री के स्वर, लय और भाषा के व्यंजनों से गुंफित था।[2]

कुश-लव के द्वारा प्रयुक्त गान-प्रकार को 'वाल्मीकि-रामायण' में पूर्व-आचार्य द्वारा विनिर्मित कहा है और 'रामायण' के प्रसिद्ध टीकाकार राम नामक विद्वान् ने इस पूर्व-आचार्य का अर्थ भरत मुनि ही किया है।

कुछ आधुनिक विद्वान् 'वाल्मीकि-रामायण' के बालकांड और उत्तरकांड को प्रक्षिप्त मानते हैं, ऐसे लोगों के मनस्तोष के लिए उन कांडों से सामग्री प्रस्तुत की जा रही है, जो अन्य कांडों में मिलती है।

अयोध्यापुरी की सांगीतिक स्थिति को स्पष्ट करनेवाले प्रमाण अयोध्याकांड में कम नहीं हैं।

भगवान् राम के राज्याभिषेक की तैयारी के समय वादित्रों के संघ, गणिकाएँ और अलंकृत सुन्दरियाँ विद्यमान थीं।[3] मुरज और पणव इत्यादि वाद्यों के मेघ-गर्जन के समान शब्द से महाराज दशरथ का महल गूँजा करता था।[4] जिस दिन राम का

रामस्य भवनद्वारि यत्र कर्म च कुर्वते ।
ऋत्विजामग्रतश्चैव तत्र गेयं विशेषतः ॥
इमानि च फलान्यत्र स्वादूनि विविधानि च ।
जातानि पर्वताग्रेषु आस्वाद्यास्वाद्य गायताम् ॥
न यास्यथः श्रमं वत्सौ भक्षयित्वा फलान्यथ ।
मूलानि च सुमृष्टानि न रागात्परिहास्यथः ॥
यदि शब्दापयेद्रामः श्रवणाय महीपतिः ।
ऋषीणामुपविष्टानां यथायोगं प्रवर्तताम् ॥
दिवसे विंशतिः सर्गा गेया मधुरया गिरा ।
प्रमाणैर्बहुभिस्तत्र यथोद्दिष्टं मया पुरा ॥
लोभश्चापि न कर्तव्यः स्वल्पोऽपि धनवाञ्छया ।
किं धनेनाश्रमस्थानां फलमूलाशिनां सदा ॥
यदि पृच्छेत्स काकुत्स्थो युवां कस्येति दारकौ ।
वाल्मीकेरथ शिष्यौ द्वौ ब्रूतमेवं नराधिपम् ॥
इमास्तन्त्रीः सुमधुराः स्थानं वाऽपूर्वदर्शनम् ।
मूर्च्छयित्वा सुमधुरं गायतां विगतज्वरौ ॥ —उत्तरकांड, सर्ग ९३, श्लो० ४–१३

१. उत्तरकाण्ड, अध्याय ९४, श्लोक ४–६

२. शुश्राव तत्तालयोपपन्नं सर्गान्वितं सुस्वरशब्दयुक्तम् । —उत्तर०, सर्ग ९४, श्लो० ३१

३. सर्वे वादित्र संघाश्च वेश्याश्चालङ्कृताः स्त्रियः । —अयो०, सर्ग १४, श्लोक ४०

४. मुरजपणवमेघघोषवद् दशरथवेश्म बभूव यत्पुरा । —अयो०, सर्ग ३९, श्लोक ४१

राज्याभिषेक होनेवाला था, उस दिन प्रभातवेला में श्रुतिशील गायक गा रहे थे, जो तंत्रियों में अभीष्ट श्रुतियों का विभाजन करने में समर्थ थे।[1] समर्थ वादक वाद्यों का वादन कर रहे थे। राजमहल में पले हुए विभिन्न पक्षी इस ध्वनि से जागकर अपने-अपने पिंजरों में चहकने लगे थे। पवित्र शब्दों का उच्चारण हो रहा था, वीणाओं की मधुर ध्वनि गुंजित हो रही थी और आशीर्वचनों एवं प्रशंसा-गीतों से वह भवन पूर्ण हो गया था।[2]

भरत की ननसाल गिरिव्रज में भी वादन, लास्य व नाटक का प्रभूत प्रचार था।[3] जब उन्होंने ननसाल में दुःस्वप्न देखा, तब उनके विनोद के लिए गान, वादन, नृत्य की सभाएँ आयोजित की गईं। भरत जब ननसाल से अयोध्या में आए तब उन्हें अयोध्या में भेरी, मृदंग और वीणा का शब्द न सुनाई दिया और उन्हें अमंगल की आशंका होने लगी।[4]

किष्किन्धापुरी में भी संगीत का भलीभाँति प्रचार था। वहाँ के वानरजातीय व्यक्ति मृदंग-ध्वनि के साथ नाचते थे और वह नगरी गीत और वाद्य से भलीभाँति गूँजती रहती थी।[5]

लंकापुरी के अंतःपुर में हनुमान् रात्रि के समय पहुँच गए हैं। उन्होंने देखा कि रावण के अंतःपुर में नृत्य-वाद्य में कुशल सुन्दरियाँ संभवतः नाचती और गाती हुई ही थककर सो गई हैं। वाल्मीकि कहते हैं कि कोई सुन्दरी वीणा को हृदय से लगाए ही सो गई है और ऐसा प्रतीत हो रहा है मानो महानदी में बहती हुई किसी नलिनी को पोत का आश्रय मिल गया हो। कोई छोटे से मड्डुक को बगल में लिए सो रही है, मानो छोटे बच्चेवाली वात्सल्यमयी माँ हो।

कोई पटह नामक वाद्य पर अपने वक्ष का भार डाले सो रही है, मानो उसे चिरकाल के पश्चात् पति का आलिङ्गन प्राप्त हुआ हो। कोइ वीणा का आलिङ्गन किए सो रही है मानो उसने प्रियतम को बाहुपाश में जकड़ रखा हो। कोई नर्तकी

---

१. गायकाः श्रुतिशीलश्च निगदन्तः पृथक् पृथक्। —अयो०, सर्ग ६५, श्लोक २

२. ततस्तु स्तुवतां तेषां सूतानां पाणिवादकाः।
अपदानान्युदाहृत्य पाणिवादान्य वादयन्॥
तेन शब्देन विहगाः प्रतिबुद्धा विसस्वनुः।
शाखास्थाः पंजरस्थाश्च ये राजकुल गोचराः॥
व्याहृताः पुण्यशब्दाश्च वीणानां चापि निःस्वनाः।
आशीर्गेयं च गाथानां पूरयामास वेश्म तत्॥ —अयो०, सर्ग ६५, श्लोक ४–६

३. वादयन्ति तथा शान्ति लासयन्त्यपि चापरे।
नाटकान्यपरे प्राहुर्हास्यानि विविधानि च॥ —अयो०, सर्ग ६९, श्लोक ४

४. भेरी मृदंगवीणानां कोणसंघट्टितः पुनः।
किमद्य शब्दो विरतः सदाऽदीनगतिः पुरा॥ —अयो०, सर्ग ७१, श्लोक २९

५. गीतवादित्रनिर्घोषः श्रूयते जयतां वर।
नर्दतां वानराणां च मृदंगाडम्बरैः सह॥ —कि०, सर्ग २७, श्लोक २७

विपंची नामक अंगवीणा को बाँहों में लिए निद्रामग्न थी। मृदंग, पणव और डिंडिम को लिए भी सुंदरियाँ सो रही हैं।[1]

'नाट्यशास्त्र' की परंपरा में वीणा केवल मत्तकोकिला नामक वाद्य को कहते हैं, जिसमें तीन सप्तकों के इक्कीस स्वरों के लिए इक्कीस तार होते हैं और विपंची एक अंगवाद्य है, जिसमें नौ तार होते हैं—सात मूल स्वरों के लिए और दो अंतर गांधार व काकली निषाद के लिए। वाल्मीकि ने वीणा और विपंची जैसे सारिकाहीन वाद्यों की चर्चा तो की है, परंतु किन्नरी जैसे सारिकायुक्त वाद्य की चर्चा नहीं की हैं। वस्तुतः उस युग में सारिकायुक्त वाद्यों का आविष्कार ही नहीं हुआ था।

हनुमान् रावण की पानभूमि में भी गए थे। वहाँ भी उन्होंने गीत, वादन, नृत्य आदि से थकी हुई और मदिरा के मद में चूर कामिनियों को मुरजों, मृदंगों और चेलिका नामक ताल वाद्यों पर लुढ़के हुए देखा।[2]

महर्षि वाल्मीकि ने प्रकृति में भी संगीत का दर्शन भली-भाँति किया है। पम्पासरोवर को देख कर राम कहते हैं :—

"पवन फूलों के भार से लदी हुई डालियोंवाले वृक्षों की टहनियों को हिलाता हुआ शब्द कर रहा है और चंचल भ्रमर अपनी गूँज से उसकी संगति कर रहे हैं। पर्वतों की कंदराओं से निकलता हुआ पवन गीत-जैसा प्रतीत हो रहा है, जो

---

१. काचिद् वीणां परिष्वज्य प्रसुप्ता सम्प्रकाशते।
महानदी प्रकीर्णेव नलिनी पोतमाश्रिता॥
अन्या कक्षगतेनैव मड्डुकेनासितेक्षणा।
प्रसुप्ता भामिनी भाति बालपुत्रेव वत्सला॥
पटहं चारुसर्वाङ्गी पीड्य शेते शुभस्तनी।
चिरस्य रमणं लब्ध्वा परिष्वज्येव कामिनी॥
काचिद् वीणां परिष्वज्य सुप्ता कमललोचना।
रहः प्रियतमं गृह्य सकामेव हि कामिनी॥
विपञ्चीं परिगृह्यान्या नियता नृत्यशालिनी।
निद्रावशमनुप्राप्ता सहकान्तेव भामिनी॥
अन्या कनकसङ्काशैर्मृदुपीनैर्मनोरमैः।
मृदङ्गं परिपीड्याङ्गैः प्रसुप्ता मत्तलोचना॥
भुजपार्श्वान्तरस्थेन कक्षगेन कृशोदरी।
पणवेन सहानिन्द्या सुप्ता मंदकृतश्रमा॥
डिण्डिमं परिगृह्यान्या तथैवासक्तडिण्डिमा।
प्रसुप्ता तरुणं वत्स मुपगृह्य व भामिनी॥ सु० कांड, सर्ग १०, श्लो० ३७–४४

२. क्रीडितेनापराः क्लान्ता गीतेन च तथा पराः।
नृत्येन चापराः क्लान्ताः पानविप्रहतास्तथा॥
मुरजेषु मृदङ्गेषु चेलिकासु च संस्थिताः।
तथास्तरणमुख्येषु संविष्टाश्चापराः स्त्रियः॥ सु० कांड, सर्ग ११, श्लो० ४–५

(मत्तकोकिला वीणा के क्वण के समान) उन्मत्त कोकिलों के शब्द से पादपों को नचा जैसा रहा है।"[1]

वर्षाकाल में वन की प्राकृतिक शोभा को देखकर राम कहते हैं :—

"तंत्री की मधुर ध्वनि के समान भौंरों ने अपनी गूँज छेड़ दी है, मेढ़कों ने अपने शब्द के रूप में सूत्रधार के समान कंठताल आरंभ कर दिया है और मृदंगों-जैसी ध्वनि मेघ करने लगे हैं, कहीं नाच कर, कहीं केकाध्वनि करके, कहीं अपने सुंदर पंख फैलाकर मोर प्रसन्न हैं, वनों में संगीत-जैसा छा गया है।"[2]

शरद् ऋतु की श्री को देखकर राम कहते हैं :—

"उषःकाल में पवन के संचार से शब्द हो रहा है, उसमें वेणु के स्वरों से व्यंजित सांगीतिक ध्वनि मिश्रित है। बैलों की रँभाहट और कंदराओं में पवन का शब्द परस्पर संवर्द्धन कर रहे हैं'।"[3]

रामायण के पात्रों में रावण और हनुमान्, दोनों की प्रसिद्धि संगीताचार्यों के रूप में है। हनुमान् के साथ प्रथम परिचय के पश्चात् भगवान् राम हनुमान् के विषय में कहते हैं :—

"जिस प्रकार हनुमान् ने संभाषण किया है, उस प्रकार वह व्यक्ति नहीं कर सकता, जिसने 'ऋग्वेद', 'यजुर्वेद' और 'सामवेद' का अध्ययन विधिपूर्वक विनीत भाव से न किया हो। अवश्य ही हनुमान् ने समस्त व्याकरण गुरुमुख से पढ़ा है, क्योंकि समस्त संभाषण में कहीं भी त्रुटि नहीं हुई; मुख, नेत्र, ललाट भौंह में कहीं दोष नहीं दिखाई दिया। इन्होंने वाणी में हृदयस्थित और कंठस्थित मध्यम स्वर का आश्रय लिया। इनके वाक्य अव्यर्थ, असंदिग्ध, अविलंबित और अनायास रहे। यदि हनुमान् पर कोई तलवार ताने खड़ा हो, तो भी ये उर, कंठ और मूर्धा नामक स्थानों से व्यक्त की हुई अपनी विलक्षण वाणी के द्वारा उसे वशीभूत कर लेंगे।"[4]

---

१. मत्तकोकिलसन्नादैर्नर्तयन्निव पादपान् ।
शैलकन्दर निष्क्रान्तः प्रगीत इव चानिलः ॥ कि०, सर्ग १, श्लो० १५

२. षट्पादतन्त्रीमधुराभिधानं प्लवङ्गमोदीरितकण्ठतालम् ।
आविष्कृतं मेघमृदङ्गनादैर्वनेषु सङ्गीतमिव प्रवृत्तम् ॥ कि०, सर्ग २८, श्लो० ३६
क्वचित्प्रनृत्तः क्वचिदुन्नदद्भिः क्वचिच्च वृक्षाग्रनिषण्णकायैः ।
व्यालम्बबर्हाभरणैर्मयूरैर्वनेषु सङ्गीतमिव प्रवृत्तम् ॥ कि०, सर्ग २८, श्लो० ३७

३. वेणुस्वरव्यञ्जिततूर्यमिश्रः प्रत्यूषकालेऽनिलसम्प्रवृत्तः ।
सम्मूर्च्छितो गर्गरगोवृषाणामन्योन्यमापूरयतीव शब्दः ॥ कि०, सर्ग ३०, श्लो० ५०

४. नानृग्वेदविनीतस्य नायजुर्वेदधारिणः ।
नासामवेदविदुषः शक्यमेवं विभाषितुम् ॥
नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम् ।
बहु व्याहरताऽनेन न किञ्चिदपशब्दितम् ।
न मुखे नेत्रयोश्चापि ललाटे च भ्रुवोस्तथा ॥
अन्येष्वपि च सर्वेषु दोषः संविदितः क्वचित् ॥

लंकेश रावण क्रुद्ध अवस्था में भी संगीत को नहीं भूलते। उनका कहना है :—

"वह राम मेरी धनुष-रूपी वीणा को नहीं जानता, जिसे मैं बाण-रूपी कोणों से बजाता हूँ। मैं संग्राम में शत्रुओं को बहाकर ले जानेवाली उस सेना-रूपी नदी में घुसकर महारंग का वादन करूँगा, जो प्रत्यंचा के घोर शब्द से गूँजती होगी, घायलों के आर्तनाद का स्वर जिसमें होगा और नाराचतल का नाद होगा।"

प्राकृतिक दृश्य में अथवा अन्य परिस्थितियों पर संगीत-सभा का आरोप बैजू, तानसेन और हरिदास डागुर इत्यादि ने भी किया; इस प्रवृत्ति का परिचय वाल्मीकि के युग से मिलता है।

'कुशीलवौ' शब्द का प्रयोग वाल्मीकि ने कुश और लव की जोड़ी के लिए किया है, परंतु इस शब्द का अर्थ कालांतर में 'चारण' हो गया।[१] संभव है, गाने-बजाने का कार्य करनेवालों ने समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए स्वयं को कुश और लव की परंपरा से संबद्ध घोषित किया हो, परंतु परिणाम उलटा हुआ। 'कुशीलव' शब्द का अर्थ अमरकोष के टीकाकार महेश्वर ने कुत्सितशील से युक्त किया है और इस शब्द को कथक शब्द का पर्याय बताया है।[२] 'कथक' शब्द की चर्चा 'संगीत-रत्नाकर' में है।[३] 'मनुस्मृति' के तीसरे अध्याय में कुशीलव की गणना वर्जनीय व्यक्तियों में है।[४] 'वाल्मीकि रामायण' में कुशीलव शब्द का चारण के अर्थ में प्रयोग नहीं होता था।

वाल्मीकि ने उपयुक्त अवसरों पर गान, वादन, नर्तन और नाट्य से संबद्ध परिभाषाओं की चर्चा की है। गीत के चार अंग स्वर, पद, ताल और मार्ग होते हैं। स्वर से तात्पर्य गान का रागपक्ष है। वाल्मीकि ने स्वरपक्ष से संबद्ध जिन परिभाषाओं का प्रयोग किया है, वे हैं स्थान, स्वर, श्रुति, मूर्च्छना, स्थान-मूर्च्छना, जाति और करण। देखा जाए तो इसमें सारी स्वरविधि ही आ गई है। मानव-कंठ मंद्र, मध्य और तार इन तीन स्थानों में सीमित है, जिनके उद्गमस्थल क्रमशः हृदय, कंठ और शिर हैं। इन तीनों स्थानों से व्यक्त होनेवाली रंजक ध्वनियाँ स्वर हैं। इन स्वरों के आरोहावरोहयुक्त विभिन्न स्वरसप्तक मूर्च्छनाएँ हैं। स्वरों के विशिष्ट क्रम से युक्त सन्निवेश-विशेष सात हैं, यही षाड्जी, आर्षभी, गांधारी, मध्यमा, पंचमी,

---

अविस्तरमसन्दिग्धमविलम्बितमव्यथम्।
उरःस्थं कण्ठगं वाक्यं वर्तते मध्यमस्वरम्॥
संस्कारक्रमसम्पन्नामद्भुतामविलम्बिताम्।
उच्चारयति कल्याणीं वाचं हृदयहर्षिणीम्॥
अनया चित्रया वाचा त्रिस्थानव्यञ्जनस्थया।
कस्य नाराध्यते चित्तमुद्यतासेररेरपि॥ कि० कांड, सर्ग ३, श्लो० २८–३३

१. चारणास्तु कुशीलवाः। अमरकोष द्वि० काण्ड, वर्ग १०, श्लो० १२

२. चारणः कुशीलवः। द्वे कथकानां विशेषणे। कुत्सितशीलमस्त्यस्य इति कुशीलवः। (पूर्वोक्त शब्द पर महेश्वर की टीका)

३. कथका बन्दिनश्चात्र विद्यावन्तः प्रियंवदाः। सं० रत्ना०, नृत्याध्याय, श्लो० १३४८

४. कुशीलवोऽवकीर्णी च। मनुस्मृति, अध्याय ३, पृ० ५५।

धैवती और नैषादी नामक जातियाँ हैं, जो ग्रामरागों की जननी हैं। विभिन्न रसों में इन जातियों का विनियोग है, इसलिए महर्षि वाल्मीकि ने इन सातों जातियों का रसानुसारी विनियोग अपने काव्य में उपयुक्त स्थलों पर किया था।

पूर्वोक्त तीनों स्थानों की वीणा-तंत्रियों में विभिन्न मूर्च्छनाओं को मिलाना स्थान-मूर्च्छन कहलाता है और करण आलाप का एक विशेष प्रकार कहलाता है।

'रामायण' के श्लोकों का गान सात नाम-स्वर जातियों में बताया गया है, संसर्गज जातियों अथवा ग्रामरागों में नहीं, परंतु 'नाट्य-शास्त्र' में सात ग्राम-रागों का विनियोग नाटक में विभिन्न अवसरों पर बताया गया है और वाल्मीकि ने भी नाट्य-संघों, समाजों और नाटकों की चर्चा की है, इससे सिद्ध है कि वाल्मीकि के युग में जातियों से उत्पन्न विभिन्न रागों का प्रचलन भलीभाँति था।

रावण के अंतःपुर में वीणा और विपंची-जैसे वाद्यों की चर्चा का साथ-साथ होना इस तथ्य का परिचायक है कि उस युग में भारतीय वृन्दगान की परंपरा विकसित थी और वह पटह, मृदंग, डिंडिम, पणव, मुरज, मुडक, आडंबर और चेलिका जैसे अवनद्ध वाद्यों के द्वारा किया जाता था, क्योंकि स्वाति ने छोटे-बड़े और मझोले आकार के नील कमलों की पंखुड़ियों पर वर्षा की बूँदों और जल-धाराओं के आधार से उत्पन्न ध्वनियों का अनुकरण करने के लिए ही विश्वकर्मा की सहायता से विविध वाद्यों का निर्माण किया था।

सुषिर वाद्यों में वेणु और शंख इत्यादि की चर्चा भी वाल्मीकि ने की है। तालविधि की परिभाषाओं में मात्रा, ताल, कला, लय, प्रमाण, मार्ग, शम्या, गीति और अक्षरसम की चर्चा रामायण में आई है।

पाँच लघु अक्षरों के उच्चारण काल को एक मात्रा कहते हैं। कई मात्राओं का समूह ताल कहलाता है, गीत की योजना इसके अनुसार होती है और यह गीत का आधार होती है। दो लघुओं का समुच्चय गुरु या कला कहलाता है, कला का अर्थ ताल-भाग है, और ताल-बोधक शब्द एवं निःशब्द हस्तक्रियाएँ भी कला कहलाती हैं। ताल का मध्यवर्ती काल लय है। लय के तीन प्रमाण द्रुत, मध्य और विलंबित हैं, इन प्रमाणों के अनुसार ही दक्षिण, वार्तिक और चित्र नामक तीन मार्ग होते हैं। दाहिने हाथ से बाएँ हाथ पर ताल देना शम्या कहलाता है। सार्थक शब्दों अथवा शब्दखंडों के प्रयोग की लयसंबंधी विविधताओं से पदाश्रित गीतियों का जन्म होता है, वे हैं मागधी, अर्धमागधी, संभाविता और पृथुला। गेय वृत्त में लघु गुरु की योजना के अनुसार ही लघु गुरु की योजना अवनद्ध वाद्य में करना अक्षरसम कहलाता है।

विभिन्न अंगों से अभिनय करने की छोटी-से-छोटी क्रिया करण कहलाती है। कई करणों की योजना एक अंगहार की सृष्टि करती है। वाल्मीकि ने करणों और अंगहारों का यथास्थान उल्लेख किया है और नृत्य तथा नाट्य का भी।

ये अंतःसाक्ष्य यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं कि वाल्मीकि एक प्रामाणिक वाग्गेयकार थे और उनकी परंपरा भरतोक्त थी।

वाल्मीकि ने नारद-तुम्बुरु, गोप, हाहा और हूहू इत्यादि गंधर्वों एवं अलम्बुषा, मिश्रकेशी और वामना इत्यादि अप्सराओं की चर्चा की है।

कालिदास और संगीत

संस्कृत में प्रसिद्ध उक्ति है :—

न सा विद्या न सा रीतिर्न तच्छास्त्रं न सा कला ।
जायते यन्न काव्यांगमहो भारो महान् कवेः ॥

अर्थात्—जो काव्य का अंग न हो, ऐसी न कोई विद्या है, न कोई रीति, न कोई शास्त्र है, न कला। अहो ! कवि का उत्तरदायित्व महान् है ।

कालिदास का उत्तरदायित्व तो महान् ही नहीं, महत्तम है; क्योंकि वे कवि-मात्र नहीं, कविकुल-गुरु हैं ।

'भरतनाट्यशास्त्र' से महाकवि कालिदास का प्रगाढ़ परिचय है । 'विक्रमोर्वशीय' के तृतीय अंक में भरत के शिष्य गालव और पेलव पात्र के रूप में आते हैं। 'नाट्यशास्त्र' में गालव की गणना उन ऋषियों में की गई है, जिन्होंने भरत मुनि से 'नाट्यशास्त्र' का उपदेश लिया। संगीत 'नाट्यशास्त्र' का अनिवार्य अंग भी है और स्वतंत्र कला भी। इस शास्त्र के सिद्धांत और प्रयोग, दोनों ही पक्षों पर महाकवि कालिदास का भली-भाँति अधिकार था ।

कालिदास की रचनाओं में 'वीणा' और 'वल्लकी' जैसे शब्दों का प्रयोग तो है, परंतु 'किन्नरी' शब्द का प्रयोग नहीं। किन्नरी ही वह सर्वप्रथम तंत्री-वाद्य है, जिसमें सारिकाओं या सारों का प्रयोग होता है। कालिदास के ग्रंथों में किन्नरी की चर्चा न होना, इस तथ्य का प्रबल प्रमाण है कि उनकी रचनाएँ तब की हैं, जबकि सारिका-वाद्यों का आविष्कार सम्भवतः नहीं हुआ था ।

'नाट्यशास्त्र' की परंपरा में 'मत्तकोकिला' नामक तंत्री-वाद्य को ही 'वीणा' कहा जाता है, जिसमें तीनों सप्तकों के प्रत्यक्षीकरण के लिए इक्कीस तंत्रियाँ होती हैं। आचार्य अभिनवगुप्त ने इस तथ्य का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि तंत्री-वाद्यों में मत्तकोकिला ही प्रमुख है, जिसे 'वीणा' कहा जाता है। मत्तकोकिला में वांछनीय स्वर-सप्तक या मूर्च्छना की प्राप्ति के लिए तंत्रियों को यथापरिमाण कसा अथवा ढीला किया जाता है। इस क्रिया को 'सारण' कहते हैं ।

'मेघदूत' में यक्ष अपनी प्रियतमा का वर्णन करते हुए मेघ से कहता है :—

उत्संगे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणां ।
मद्गोत्रांकं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा ॥
तंत्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथंचित् ।
भूयो भूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती ॥

अर्थात्—ओ सौम्य ! मेरी प्रियतमा अपनी गोद में या मलिन वसन पर वीणा को रखे हुए अपनी ही मिलाई हुई मूर्च्छना को बार-बार भूलती हुई, आँसुओं से भीगी हुई तंत्री को यथास्थान मिलाकर, मेरे नाम से अंकित गेय पद को गाने की कामना करती होगी ।

यह छंद भी कह रहा है कि यक्ष-पत्नी की वीणा सारिका-हीन है और उसपर मूर्च्छनाप्राप्ति के लिए तार को ही उतारना-चढ़ाना पड़ता है।

'नाट्यशास्त्र' में सात ग्राम-राग गिनाए गए हैं। इन रागों में कैशिक या शुद्ध कैशिक का व्यवहार दिन के प्रथम प्रहर में होता है। इसमें प्रयोज्य स्वर-सप्तक स्थूल रूप में गौरी-मनोहारी मेल जैसा है और इसका देवता मंगल है। कैशिक राग के प्रयोग की चर्चा 'कुमारसम्भव' के अष्टम सर्ग में इस प्रकार आई है :—

स व्यबुध्यत बुधस्तवोचितः शातकुम्भकमलाकरैः समम्।
मूर्च्छना परिगृहीतकैशिकैः किन्नरैरुषसि गीतमंगलः॥

अर्थात्—किन्नरगणों के द्वारा मूर्च्छना-विशेष में छेड़े हुए कैशिक राग से युक्त मंगलगीत को सुनकर बुधों के द्वारा स्तुति के योग्य भगवान् शंकर स्वर्णाभ कमलों के विकास के साथ ही जागते थे।

इस पद्य में 'गीत-मंगल' शब्द में ध्वनि है, जो कैशिक राग के देवता मंगल की ओर संकेत करती है।

उस समय अवनद्ध वाद्यों में तीन मुख भी होते थे—दाहिनी, बाईं और ऊपर की ओर। जब दाहिने मुख पर षड्ज, बाएँ मुख पर गांधार और ऊपरवाले मुख पर मध्यम-ग्रामीय पंचम की स्थापना लेप द्वारा की जाती थी, तब इस क्रिया को 'मायूरी मार्जना' कहा जाता था।

'मालविकाग्निमित्र' के प्रथम अंक में मृदंग की ध्वनि को सुनकर परिव्राजिका कहती है :—

जीमूतस्तनितविशंकिभिर्मयूरैरुद्ग्रीवैरनुरसितस्य पुष्करस्य।
निर्ह्लादिन्युपहितमध्यमस्वरोत्था मायूरी मदयति मार्जना मनांसि॥

अर्थात्—मिलाए हुए पुष्कर वाद्य पर मध्यस्थानीय आरंभिक स्वर से उठनेवाली आह्लादक मार्जना उन मोरों के मन को मदमत्त कर रही है, जिन्हें मृदंग-वादन सुनकर मेघ-गर्जन का भ्रम हो रहा है।

'नाट्यशास्त्र' में 'मायूरी' शब्द की अन्वर्थता पर विचार नहीं किया गया है। महाकवि की यह उक्ति 'मायूरी' शब्द के प्राणों का परिचय दे रही है। प्रस्तुत श्लोक में प्रयुक्त मध्यम स्वर का अर्थ सप्तक का मध्यम स्वर नहीं, अपितु मंद्र, मध्य और तार, इन तीनों स्थानों के मध्य में स्थित मध्य-स्थान का आरंभक स्वर है। 'नाट्यशास्त्र' के मूर्च्छना-प्रकरण में मध्यम स्वर इसी अर्थ में प्रयुक्त है। नील-कमल पर वर्षा की बूँदों के आघात से उत्पन्न ध्वनि का अनुकरण करनेवाले वाद्यों का नाम ही 'पुष्कर-वाद्य' पड़ गया और इन वाद्यों पर मढ़ी हुई पुड़ी को भी 'पुष्कर' कहा जाने लगा। मायूरी मार्जना के प्रभाव के वर्णनवाली पूर्वोक्त उक्ति में 'पुष्कर' शब्द का प्रयोग भी कविकुल-गुरु ने साभिप्राय किया है, जो वर्षा की धाराओं के साथ नील-कमलों के पत्रों के संबंध की ओर संकेत करता है।

राग-प्रयोज्य स्वरावली के आरोह को प्राचीन परंपरा में 'तान' कहा जाता था। स्वर-वाद्यों द्वारा अभीष्ट राग के स्वरों का पहले से ही छेड़ा जाना

'तानप्रदायित्व' कहलाता था। 'कुमारसंभव' में हिमालय का वर्णन करते हुए कालिदास कहते हैं :—

यः पूरयन् कीचकरन्ध्रभागान् दरीमुखोत्थेन समीरणेन।
उद्गास्यतामिच्छति किन्नराणां तानप्रदायित्वमिवोपगन्तुम् ॥

अर्थात्—वह 'हिमालय' घाटियों से उठनेवाले पवन के द्वारा छिद्रयुक्त बाँसों में ध्वनि उत्पन्न करके गाने के लिए उत्सुक किन्नरों के लिए तानप्रदायी सिद्ध होने की चेष्टा कर रहा था।

महाकवि कालिदास ने शकुन्तला और हंसपदिका के द्वारा प्राकृत गाथा छंद का प्रयोग गीत की वस्तु या चीज के रूप में कराया है।

विरह-पीड़ित शकुन्तला दुष्यन्त को प्रेम-पत्र लिखती है। इसे 'मदनलेख', 'ललितपद-बंधन' और 'गीत-वस्तु' कहा गया है। 'गीत-वस्तु' इस प्रकार है :—

तुज्झ न आणे हिअअं मम उण कामो दिवावि रत्तिम्मि।
निग्घिण तवइ वलीयं तुइ वुत्त मणोरहाइं अंगाइं ॥

अर्थात्—ओ निर्दय, मैं तेरी बात तो नहीं जानती, परंतु निरंतर तुझमें रमे हुए मेरे अंग-प्रत्यंग को काम बलपूर्वक तप्त करता है।

महाराज दुष्यंत के अंतःपुर की संगीतशाला में महारानी हंसपदिका गाने का अभ्यास करती है। गान-विद्या को संगीत-शास्त्र में 'वर्ण' कहते हैं। किसी भी राग में प्रयुक्त स्वर-सन्निवेष उस राग का 'वर्ण' कहलाता है। राग के विशेष वर्ण का अभ्यास 'वर्ण-परिचय' कहलाता है। उस अभ्यास में गाई जानेवाली वस्तु को महाराज दुष्यंत कलविशुद्धा गीति का स्वर-संयोग अर्थात् स्वर-योजना कहते हैं। गीति-वस्तु इस प्रकार है :—

अहिणवमहुलोलुवो भवं तह परिचुम्बि चूअमंजरीं।
कमलवसइ मेत्तणिव्वुदो महुअर विह्मरि ओसि णं कहम् ॥

अर्थात्—मधुप, तुम तो अभिनव मधु के लोभी हो। आम्र-मंजरी का चुंबन करके भी तुम भला उसे कैसे भूल गए और कमलिनी के केश में बंद हो गए हो !

'मालविकाग्निमित्र' में भी मालविका में शरमिष्ठावृत चतुष्पदा गीति का 'छलिक' नामक प्रयोग नृत्यपूर्वक किया है।

इस वस्तु की प्रत्येक पंक्ति एक पद है। चार पद होने के कारण इसे 'चतुष्पदा' कहा गया है।

गीत-वस्तु अथवा गीति के रूप में कालिदास ने जिन गेय पदों का प्रयोग किया है, वे 'नाट्यशास्त्र' के 'ध्रुवाध्याय' में वर्णित लक्षणों के अनुसार हैं। भरत मुनि ने पाठ्य और गेय छंदों का वर्गीकरण अलग-अलग किया है।

मालविका के द्वारा गाई हुई चतुष्पदा गीति के विषय में मूल्यांकन करती हुई कालिदास की परिचारिका कहती है :—

अंगैरन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्यगर्थः
पादन्यासो लयमनुगतस्तन्मयत्वं रसेषु ।
शाखायोनिर्मृदुरभिनयस्तद्विकल्पानुवृत्तौ
भावो भावं नुदति विषयाद्रागबन्धस्स एवं ॥

अर्थात्—सिर, हाथ, वक्ष, पार्श्व, कटि और चरण, इन छह अंगों में ही वचनों को अंतर्निहित रखकर इन अंगों से अर्थ का अभिनय भली-भाँति किया गया। लय के अनुसार पादन्यास हुआ। रसों में तन्मयता रही। शाखा, अर्थात् हस्त-व्यापारों से मृदु अभिनय किया गया। इस अभिनय की विविधता की अनुवृत्ति में एक भाव के द्वारा अन्य भाव को प्रेरणा मिली। विषय-वस्तु के साथ राग-बंध भी वही रहा।

कम-से-कम शब्दों में आलोचक की व्यापक और मर्मस्पर्शिनी दृष्टि का परिचय मिल रहा है। स्वर, पद, ताल, अर्थ, अभिनय, सभी पक्षों पर इस आलोचना में कालिदास की दृष्टि गई है।

कालिदास ने कई आदर्श दृश्य-काव्यों की रचना की। 'नाट्यशास्त्र' उन्होंने अपने गुरुओं से विधिवत् पढ़ा था और निःसंदेह वे नाट्य के प्रत्येक तत्व के मर्मज्ञ और प्रयोगकुशल मनीषी थे। 'विक्रमोर्वशीय' में देवदूत चित्रलेखा से कहता है :—

चित्रलेखे त्वरय, त्वरयोर्वशीम्।
मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयो नियुक्तः।
ललिताभिनयं तमद्य भर्ता मरुतां द्रष्टुमनाः स लोकपालः ॥

अर्थात्—चित्रलेखे! उर्वशी को जल्दी लाओ। आप लोगों को भरत मुनि ने जिस अष्टरसाश्रय प्रयोग का उपयोग दिया है, ललित अभिनय से युक्त उस प्रयोग को लानेवालों के सहित इंद्र देखना चाहता है।

इस प्रयोग में, सरस्वती-कृत 'लक्ष्मी-स्वयंवर' नामक काव्य-बंध में मेनका ने वारुणी और उर्वशी ने लक्ष्मी का अभिनय किया।

संगीत में गीत, वाद्य और नृत्य, तीनों का ही अंतर्भाव होता है। इन तीनों पक्षों पर कालिदास को पूर्ण अधिकार था।

'संगीत' शब्द का प्रयोग कालिदास ने अनेक स्थानों पर किया है। उनके ग्रंथों का सूक्ष्म अध्ययन संगीत-जगत् की प्रवृत्तियों से भी भली-भाँति परिचित कराता है।

प्रायः समानविद्याः परस्पर यशः पुरोभागाः।

अर्थात्—समान विद्यावाले आचार्य परस्पर एक-दूसरे का यश नहीं देख सकते। 'मालविकाग्निमित्र' में परिव्राजिका के मुख से कालिदास ने कहलवाया है :—

श्लिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था
संक्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता।
यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां
धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव ॥

अर्थात्—कुछ गुणी तो स्वयं ही प्रयोग करने में समर्थ होते हैं और कुछ गुणी

अच्छी शिक्षा दे सकते हैं, परंतु जो समर्थ प्रयोक्ता भी हो और सफल शिक्षक भी, ऐसे ही गुणी शिक्षकों में शिरोमणि हैं।

कालिदास की यह उक्ति उनके युग में तीनों ही प्रकार के गुणियों का अस्तित्व सूचित करती है।

> लब्धास्पदोऽस्मीति विवादभीरोस्तितिक्षमाणस्य परेण निन्दाम्।
> यस्यागमः केवलजीविकायै तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति।

अर्थात्—जो व्यक्ति यह समझकर अपनी निन्दा सह लेता है कि मुझे तो स्थान की प्राप्ति हो ही गई है और शास्त्र जिसके लिए केवल जीविका के साधन रह गए हैं, उसे ज्ञान का बेचनेवाला वणिक् कहा गया है। 'विद्याविक्रयी' शब्द तो गाली है।

भले ही एक व्यक्ति सर्वज्ञ हो, परन्तु उसके निर्णय के लिए भी कालिदास के युग में साक्ष्य अपेक्षित था। महारानी धारिणी चाहती हैं कि पंडिता कौशिकी ही गणदास और हरदत्त की शिष्याओं को एकांत में सुनकर निर्णय दे दें। मालविका महाराज के समक्ष न आ सके, परंतु पंडिता कहती है:—

> देवी नैतन्न्याय्यम्। सर्वज्ञस्याप्येकाकिनो निर्णयाभ्युपगमो दोषाय।

अर्थात्—देवी, यह सुझाव न्याय-युक्त नहीं है। भले ही कोई व्यक्ति सर्वज्ञ हो, परन्तु उस अकेले का निर्णय भ्रमपूर्ण हो सकता है।

हंगरी, रूस और मंगोलिया के संगीत पर भारतीय प्रभाव

'वाल्मीकि-रामायण', के अध्ययन से पता चलता है कि हिमालय को पार करने के बाद सुदूर उत्तर में स्थित ऐसे देशों से सुग्रीव भली-भाँति परिचित था, जहाँ के आकाश में न तो चन्द्रमा उदित होता था और न जिसे नक्षत्र-मण्डल सुशोभित करता था। सूर्य के उदित न होने पर भी वे प्रदेश दिन के प्रकाश से युक्त थे। वहाँ 'उत्तर कुरु' निवास करते थे; यक्ष, गन्धर्व और किन्नर जातियाँ भी वहाँ रहती थीं। वे रति-परायण थीं। उस भास्करहीन, परन्तु सूर्य-प्रकाश जैसे प्रकाश से युक्त प्रदेश के निवासियों की मुखच्छवि सूर्यप्रभा-जैसी थी। वे रमणियों के साथ निरन्तर विलास करते थे और वे प्रदेश गीत एवं वाद्य की ध्वनियों से गूँजते रहते थे। सुग्रीव की जाति के लोग वहाँ जा सकते थे, जाते रहते थे।

मनु ने कहा है कि पौण्ड्रक, औड्र, द्रविड़, कांबोज, यवन, शक, पारद, पल्लव, चीन, किरात, दरद और खश नामक जातियाँ पहले क्षत्रिय थीं और ब्राह्मणों के 'अदर्शन' के कारण 'वृषल' (आचारशून्य) हो गईं।

वाल्मीकि और मनु के पूर्वोक्त शब्द उस विद्यार्थी के मन:पटल पर अंकित हो जाते हैं, जो भारतीय प्रभाव को विदेशों में ढूँढ़ना चाहता है।

यदि ऐसा विद्यार्थी संगीत के आर्ष ग्रंथों पर विचार करने में रुचि रखता हो, तो उसे 'नाट्य-शास्त्र' में ऐसी सामग्री मिलेगी, जो यह सिद्ध करेगी कि भरत ने जिन अठारह 'जातियों' (रागजनक स्वरसन्निवेशों) का वर्णन किया है, उनमें 'षड्जोदीच्यवा', 'मध्यमोदीच्यवा' और 'गांधारोदीच्यवा' 'उदीची' (सुदूर उत्तर) की ही देन हैं।

इस तथ्य को जाननेवाले विचारक की रुचि यदि इतिहास में भी हो तो वह उन 'यायावर' (घुमन्तु) जातियों की कहानी से भी परिचित होगा, जो समस्त भूमंडल को अपना घर समझती हैं और निरंतर विचरण करती रहती हैं। घाटियाँ, दर्रे, नदियाँ, पहाड़ों की चोटियाँ इत्यादि सभी अन्तराय जिनके लिए विघ्न नहीं बन सके और जो अपने साथ भारतीय प्रभाव दूर-दूर तक ले गईं।

इन पंक्तियों के विनम्र लेखक के समक्ष १९६८ ई० में उस सांस्कृतिक शिष्य-मंडल के नेतृत्व का प्रस्ताव आया, जो सांस्कृतिक आदान-प्रदान के कार्यक्रम के अंतर्गत हंगरी, रूस और मंगोलिया की यात्रा करनेवाला था, तब उसके मस्तिष्क में वाल्मीकि, मनु, भरत इत्यादि की उक्तियाँ बिजली की भाँति कौंध गईं और 'यायावरों' की स्मृति भी मन:पटल पर उभर आई।

शिष्ट-मंडल में तीन व्यक्ति थे। मैं, मेरी धर्मपत्नी श्रीमती सुलोचना यजुर्वेदी और मेरे नवयुवक मित्र श्री विनयकुमार अग्रवाल। सुलोचना जी गायिका हैं और विनयकुमार जी सितार-वादक।

सुलोचना जी, कालिदास के शब्दों में, गृहणी, सचिव, सखी और ललित कलाविधि में मेरी प्रिय शिष्या हैं और विनयकुमार अग्रवाल पंडित रविशंकर के शिष्य हैं, जिनके गुरु की शिक्षा मेरे सम्प्रदाय के अंतर्गत मेरे जन्मस्थान रामपुर, उत्तर प्रदेश में हुई है। दोनों ही अनुशासन प्रिय हैं। और यह जानने के लिए उत्सुक थे कि मैं विदेश में जाकर क्या कहूँगा, क्या करूँगा।

हम लोगों के पास एक तानपूरा, एक सुरबहार, एक सितार, एक स्वर-मंडल और तबले की एक जोड़ी थी। 'नाट्यशास्त्र', 'बृहद्देशी', 'संगीत-रत्नाकर', 'संगीतराज' तथा अन्य आवश्यक ग्रंथ भी हमारे साथ थे।

मैं इस ऐतिहासिक तथ्य से परिचित था कि ईसा की दशम शती ई० का अन्त और ग्यारहवीं शती का आरम्भ महमूद गजनवी से भारत को पददलित कराता रहा और लगभग इसी समय रूस के शासक ब्लाडीमीर ने ईसाई धर्म अंगीकृत किया। मुसलमानों और ईसाइयों के संबंध परस्पर जैसे रहे हैं, सभी जानते हैं।

छठी शताब्दी ई० में सम्पूर्ण महाभारत का अनुवाद आर्मीनिया में हो चुका था। सातवीं शती में हमारे संगीत-ग्रंथ स्पेन तक पहुँच चुके थे। 'पंचतंत्र' का अनुवाद भारतीय संगीत के मूल तत्वों को देश-देशांतर में ले गया था। अतः मेरा विचार था कि दशम शती ई० से पूर्व भारत के सांस्कृतिक संबंध दूर-दूर देशों तक थे। इस शिष्ट-मंडल का नेतृत्व करते समय मेरी दृष्टि अनुसंधानात्मक थी। मैं चाहता था कि भारतीय संगीत तथा हंगरी, रूस और मंगोलिया के मूल संगीत में यदि कोई सादृश्य है, तो उसकी तथा उसके कारणों की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया जाए। मैंने अपने मन में निश्चय किया कि मैं पहले ध्यानपूर्वक आतिथेय देशों का संगीत सुनूँगा, यदि कुछ सादृश्य दिखाई देगा, तो उसे नोट करता रहूँगा। इस उपलब्ध ज्ञान को ही शिष्टमंडल के भाषणों एवं प्रदर्शनों का आधार बनाऊँगा। मेरी रुचि आतिथेय देशों के 'लोक-संगीत' की ओर अधिक थी, क्योंकि 'लोक-संगीत' पर ईसाइयत के प्रभाव की आशंका मुझे नहीं थी। अनुभव ने मेरे अनुमान की यथार्थता सिद्ध कर दी।

१८ अप्रैल, १९६८ ई० को हम लोग वायुयान द्वारा हंगरी पहुँचे। वैरा गाथी नामक एक महिला हम लोगों के स्वागत के लिए आई थीं। वह भारत आ चुकी हैं और हिंदी भी बोल लेती हैं। उन्होंने 'दुभाषिए' का कार्य करने के लिए हमें श्रीमती इल्दीको पुश्काश नामक महिला की सेवाएँ उपलब्ध करा दीं। श्रीमती पुश्काश को हम लोग 'इरा बहन' कहने लगे। वे ग्रीक, रशियन एवं इंडोलाजी में एम० ए० हैं, संस्कृत भी कुछ जानती हैं और भारत में दस मास बिता चुकी हैं। इरा बहन हमारी देखभाल भली-भाँति करती थीं, विभिन्न नगरों की यात्रा में हमारे साथ रहती थीं और हमारे भाषणों का हंगेरियन अनुवाद श्रोताओं के समक्ष करती थीं।

हम लोग ११ मई, १९६८ तक हंगरी में अतिथि रहे।

हमें यह तथ्य जानकर सुखद आश्चर्य हुआ कि हंगरी-निवासियों को अभिमान है कि उनके पूर्वज एशिया से हंगरी पहुँचे थे। हंगरी-निवासियों ने अपने पुराने लोक-संगीत को जीवित रखा है, जो यूरोप से सर्वथा अप्रभावित है। 'जिप्सी' जाति के

लोग हंगरी में पर्याप्त हैं। हंगरी के शोधकर्त्ता जिप्सी संगीत को अपनी अमूल्य निधि मानते हैं। हम लोगों को 'जिप्सियों' में ले जाया गया। 'जिप्सी' नर-नारियों का सामूहिक गान सुनकर हमें ऐसा लगा कि हम भारत की ही एक प्रजाति का संगीत सुन रहे हैं। ये 'जिप्सी' अपने मूल में भारतीय हैं। उनके गान में 'शिवरंजनी' के स्वर थे। हम लोगों ने भी जिप्सियों के सम्मुख 'शिवरंजनी' ही प्रस्तुत किया, वे लोग प्रसन्न होकर आश्चर्यपूर्वक सहमति एवं स्वीकृति की मुद्रा में सिर हिलाने लगे। वे यह जानकर अत्यन्त प्रसन्न हुए कि हम लोग भारत से आए हैं।

हंगरी के लोक-संगीताश्रित कार्यक्रमों को सुनकर हमने यह निष्कर्ष निकाला कि वहाँ के एशियाई संगीत में भोपाली, मालकोस, मेघ, दुर्गा और धानी-जैसे राग भली-भाँति प्रचलित हैं। बिलावल, खमाज, काफी, आसावरी, भैरवी और कल्याण ठाठ भली-भाँति प्रचार में हैं और वे लोग उस 'मूर्च्छना-पद्धति' द्वारा उन्हें प्राप्त करते हैं, जो 'नाट्यशास्त्र', 'संगीतरत्नाकर' और 'संगीतराज' जैसे भारतीय ग्रंथों के स्वर-शास्त्र का तो मेरुदंड है, पर व्यवहार में आज भारत से बहिष्कृत हो गई है।

यह तथ्य जानने के पश्चात् मैंने यह निश्चय किया कि मैं अपने भाषणों और प्रदर्शनों के लिए वही भारतीय राग चुनूँगा, जिनकी स्वरावलियाँ हंगरी के एशियाई संगीत में प्रचलित हैं। इसी योजना के अनुसार हम लोगों ने 'बुडापेस्ट' में सात, 'पेज' में दो, 'देब्रिसेन' में दो तथा 'मिश्कोल्त्स' में एक—कुल बारह—कार्यक्रम प्रस्तुत किए।

हम विलंबित गति में श्रोताओं को प्रयोज्य स्वरावलि बताते थे। हमारे संकेत पर श्रोता हमारे साथ उस स्वरावलि का आरोह-अवरोह करने लगते थे। ऐसा सर्वत्र हुआ। श्रोताओं को इस पर आश्चर्य-मिश्रित हर्ष होता था।

हमारा तात्पर्य एक ओर तो भारतीय रागों के कर्णमधुर आलापों से श्रोताओं को रिझाना था, तो दूसरी ओर यह भी सिद्ध करना था कि हंगरी के एशियाई संगीत और कुछ भारतीय रागों का मूल एक है। मूर्च्छना-पद्धति के ग्रंथ आज भी भारत में पर्याप्त सीमा तक सुरक्षित हैं। ऐसे ग्रंथों का आशय समझने की ओर हंगेरियन शोध-कर्त्ताओं का ध्यान जाना चाहिए।

बुडापेस्ट-विश्वविद्यालय में इंडोयूरोपियन-स्टडीज विभाग के प्रोफेसर हारमत्ता ने नाट्यशास्त्रोक्त उन छह भारतीय रागों की चर्चा हम लोगों से की, जिनका उल्लेख उन्हें छठी शती ई० के एक चीनी यात्री के विवरण में प्राप्त हुआ था। मैंने उन्हें बताया कि इन रागों का पूर्ण विवरण 'बृहद्देशी' 'संगीत-रत्नाकर' और 'संगीतराज' में है। मैंने भी अपने ग्रन्थ 'भरत का संगीत-सिद्धांत' में उन्हें स्पष्ट किया है।

समन्वयात्मक दृष्टि से भारत और हंगरी के विद्वान् यदि संगीत के क्षेत्र में शोध-कार्य करें, तो उसके अनेक सत्परिणाम हो सकते हैं।

हंगरी में एक वर्ग ऐसा है, जो यूरोप के 'टेम्पर्ड स्केल' के प्रति अधिक रुचि नहीं रखता।

हंगेरियन बंधुओं ने हमें स्नेह दिया। यहाँ के भारतीय दूतावास से हमें भरपूर सहायता मिली।

हंगरी छोड़ते हुए हमें ऐसा लगा कि मानो हम अपना देश छोड़ रहे हों।

सोवियत संघ एशिया और यूरोप का संगम है। संघ में बोली जानेवाली भाषाएँ अनेक हैं। संघ की राष्ट्रभाषा 'रूसी' भारोपीय परिवार की भाषा है और उसमें संस्कृत भाषा के शब्द भी कम नहीं हैं। भारतीय मूल की जाति 'जिप्सी' इस देश में भी स्थान-स्थान पर है। यह जाति रूस में 'त्सेगाने' कहलाती है। 'त्सेगाने' संस्कृत के 'यक्ष-गायन' का अपभ्रंश प्रतीत होता है, जिसका अर्थ 'यक्ष-गवैया' है।

हम लोगों को रूस के विभिन्न प्रदेशों का संगीत सुनने का अवसर मिला। साइबेरिया की बाइकाल झील के आस-पास के लोक-संगीत में भारतीय राग 'सिंदूरा' के दर्शन हुए। स्मोलेन्स्क में 'भोपाली' विराजमान है, 'दोन' नदी के आसपास 'दुर्गा' के स्वर गूँजते हैं, बेलग्रेड की अनेक 'धुनें' भारतीय धुनों के सदृश हैं। कीव में 'झंझोटी', 'गुनकली', जौनपुरी' दिखाई दीं और येरवान में 'जोगिया', 'गुनकली' इत्यादि के दर्शन हुए।

रूस के लोग भी मूर्च्छना-पद्धति से भली-भाँति परिचित हैं।

हम लोग रूस में 'कम्पोजर्स-यूनियन' के अतिथि थे, इसी संस्था ने हमें रूस के विभिन्न नगर दिखाने और विभिन्न कार्यक्रम आयोजित करने का प्रबन्ध किया था।

रूस के विभिन्न संग्रहालयों में हमने लोक-वाद्यों का संग्रह देखा, यदि उन लोक-वाद्यों के साथ भारतीय लोक-वाद्य रख दिए जाएँ, तो एक ही परिवार प्रतीत होगा।

लेनिनग्राड के प्रबुद्ध श्रोताओं को जब हमने इस तथ्य से अवगत कराया कि पाणिनि का काल पायथोगोरस से पूर्व है, वाल्मीकि पाणिनि की अपेक्षा पूर्ववर्ती हैं और नाट्यशास्त्र जिस सम्प्रदाय का ग्रंथ है, वह सम्प्रदाय वाल्मीकि की अपेक्षा कहीं अधिक प्राचीन है, इस सम्प्रदाय के एक महापुरुष तुम्बुरु नामक गंधर्व ने ही सप्तक को पूर्ण किया है, उनसे पूर्व संसार को केवल पाँच स्वरों का ज्ञान था। भारतीय मनीषी वाल्मीकि से कहीं पूर्व 'प्रमाण श्रुति' नामक सूक्ष्म अंतराल का ज्ञान प्राप्त कर चुके थे। उन्होंने देश-देशांतर में प्रचलित 'धुनों' का वर्गीकरण वैज्ञानिक आधार पर कर लिया था। उनके सिद्धांत का प्रतिपादन करनेवाले ग्रंथ भारत में विद्यमान हैं। 'बृहद्देशी', 'संगीत-रत्नाकर' और 'संगीतराज' में प्राचीन संगीत लिपि-बद्ध है, तब उन लोगों ने अविश्वाससूचक मुद्रा में हमारी ओर देखा। हमने जब निवेदन किया कि 'नाट्यशास्त्र', 'बृहद्देशी', 'संगीतरत्नाकर' और 'संगीतराज' हम लोग साथ लाए हैं। हम लोग अंतिम तीन ग्रंथों में विद्यमान स्वर-लिपि दिखा सकते हैं, उसके अनुसार गा-बजाकर सुना सकते हैं, तब वे हमारे निवेदन की सत्यता की परीक्षा के लिए हमारे आवास पर आए। वास्तविकता सिद्ध होने पर उन्हें आश्चर्य हुआ।

इस 'अविश्वास' और 'आश्चर्य' का कारण खोजने पर पता चला कि भारत के एक महान् सितार-वादक रूस में यह घोषणा कर आए हैं कि भारत में

स्वरांकन-पद्धति का प्रचार अभी-अभी हुआ है, जबकि वास्तविकता यह है कि बारहवीं शती ई० में यूरोप ने स्वरांकन-पद्धति भारत से ली है।

कीव में यूक्रेनियन लोक-गीत सुनकर हमारा हृदय प्रसन्नता से भर गया। हर्ष और शोक की व्यंजना के लिए वहाँ के नर-नारी सर्वथा उन्हीं स्वरावलियों का उपयोग कर रहे थे, जिनका उपयोग हमारे लोकगीतों में होता है। वहाँ लोकनर्तकों की वेषभूषा भारतीय वेषभूषा से मिलती है। शलवार वे लोग पहनते हैं और उसे सलवार ही कहते भी हैं। विभिन्न वेषभूषाओं में विभिन्न लोकनृत्य देखकर हमें भाँगड़ा, गरबा और रास याद आ गए।

येरवान पहुँचकर जब हमने लोकगीतों पर आश्रित एक विशिष्ट कार्यक्रम सुना, तब हमारे आश्चर्य की सीमा न रही। हमारे अनेक राग उन लोकगीतों में मचल रहे थे। वादक प्रायः उसी शैली से स्वरावलियों का विस्तार कर रहे थे, जिस प्रकार हम लोग करते हैं।

हमने अपने दुभाषिए से कहा कि हम इन स्वरावलियों से भली-भाँति परिचित हैं। हमसे अनुरोध किया गया कि हम लोग मंच पर चलें और आर्मीनियन श्रोताओं के लिए कुछ प्रस्तुत करें। हम लोगों ने प्रसन्नतापूर्वक यह अनुरोध स्वीकार किया और हम लोग मंच पर गए।

सुलोचना जी रस और भाव को समझती हैं। महाराष्ट्र-कन्या होने के कारण उनमें उत्साह, आत्मविश्वास का प्राचुर्य है। उन्होंने 'जोगिया' राग चुना और प्रायः पच्चीस मिनट तक उस राग का विस्तार किया। हाल गूँज उठा। सन्नाटा छाया हुआ था, येरवान के वादक अत्यंत सफलतापूर्वक सुलोचना जी की संगति कर रहे थे। हम लोग भी अत्यंत प्रसन्न थे और श्रोता भी।

इस कार्यक्रम में येरवान की एक गायिका के साथ सुलोचना जी का 'जुगल-बंदी-आलाप' हुआ, क्योंकि स्वर तो भाषा-निरपेक्ष है। सुलोचना जी ने 'गुनकली' आरंभ की, प्रायः पंद्रह मिनट तक 'आलाप' की भाषा में दोनों गायिकाएँ जैसे प्रश्नोत्तर करती रहीं। सभी लोग प्रसन्न, चकित और गद्गद थे।

४ जून से ११ जून तक हम लोग 'मंगोलिया' रहे।

बौद्ध धर्म के महायान-सम्प्रदाय का प्रचार मंगोलिया में रहा है। इस सम्प्रदाय के धार्मिक ग्रंथ मूलतः संस्कृत भाषा में हैं। महाकाली, महावक्त्र, वैश्रवण, सिततारा और श्यामतारा की मूर्तियाँ यहाँ के संग्रहालयों में हैं और यहाँ के मठों से सम्बद्ध ग्रंथागारों में हस्तलिखित ग्रंथों का विपुल भंडार है। उनमें संगीत के ग्रंथ भी हैं।

हमें मंगोलिया के लोक-संगीत पर आश्रित एक कार्यक्रम बहुत अच्छा लगा। अनेक लोकगीतों में भारतीय स्वरावलियों और छंदों का प्रयोग हो रहा था। लोक-नृत्यों में सहजता, प्राकृतिक छटा और निर्मल उत्साह के दर्शन हुए। कलाकारों की वेषभूषा में रंग-बिरंगेपन से स्नेह प्रकृति के साहचर्य का परिणाम है। वहाँ के नृत्य में भी पनघट पर की जानेवाली छेड़छाड़ के दर्शन हुए। 'गगरिया' के स्थान पर वहाँ लोहे की दो बाल्टियाँ थीं, ग्वालबालों के स्थान पर तीन मित्र थे।

रागों के आलाप की प्रथा भारत की भाँति मंगोलिया में भी है। राष्ट्रीय वाद्य-वृन्द में हमें भोपाली, धानी, मालकोंस, मेघ और दुर्गा के दर्शन मंगोलिया में भी हुए।

तंत्री वाद्यों में स्वर मूर्त हो जाते हैं। मेरे मित्र और सहयोगी श्री विनयकुमार अग्रवाल बी० एस-सी होने के साथ-ही-साथ सितार-वादक और दिल्ली विश्वविद्यालय में लेक्चरार हैं। हंगरी, रूस और मंगोलिया में जहाँ श्री अग्रवाल ने सितार के अनेक सुन्दर कार्यक्रम प्रस्तुत किए, वहाँ स्वर-मंडल पर ध्वनियों के सूक्ष्म अंतरालों की भी सिद्धि की।

१२ जून, १९६८ को हमने मास्को के लिए प्रस्थान किया। इसी तारीख की रात्रि को मास्को के भारतीय दूतावास में प्रथम सचिव श्री एल० एल० मेहरोत्रा के आवास पर एक छोटे-से प्रीतिभोज का आयोजन था।

प्राय: दो महीने के इस लंबे प्रवास के पश्चात् १३ जून, १९६८ को हम स्वदेश के लिए मास्को के हवाई अड्डे से चले और १४ जून, १९६८ को 'पालम' पहुँचे।

ध्रुवपद के विषयों का स्रोत

भारतीय मनीषियों की दृष्टि में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चार पुरुषार्थ हैं। इन पुरुषार्थों की प्राप्ति मानवजीवन का ध्येय है। प्रथम तीन पुरुषार्थ इस जीवन में प्राप्त होते हैं और यदि परस्पर अविरोधी रूप में, मनुष्य इन तीनों पुरुषार्थों का साधन करता रहे, तो परम पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति में बाधा नहीं पड़ती। धर्म, अभ्युदय और निःश्रेयस्, दोनों का साधन कहा गया है। जो अभ्युदय में बाधा डालता हो, वह धर्म नहीं है और जो निःश्रेयस्-विरोधी हो, वह भी अधर्म है। जीवन में संतुलन बनाए रखकर धर्म के दोनों पक्षों की सिद्धि विवेकशील मानव का कर्तव्य है।

श्रेय की ओर प्रवृत्ति प्रयत्न से होती है और प्रेय की ओर मनुष्य स्वतः झुक जाता है। श्रेय भी मनुष्य को ललित प्रतीत हो, उसमें से उपदेश की कटुता निकलकर कांता-वाक्य जैसी मधुरता और प्रियता आ जाए, इसी लिए ललित कलाओं का विकास हुआ है। काव्य का प्रयोजन यश, अर्थ, व्यवहार-ज्ञान, अमंगल की शांति और लोक-रंजन है। यही स्थिति 'गीत' की है। उसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों का साधन बताया गया है। वीणावादक ब्राह्मण किसी युग में यज्ञों में वीणावादन करते थे, गाते थे। याजकों के धर्म की और गायक-वादक ब्राह्मणों के अर्थ की सिद्धि गीत से होती थी। 'श्रुति' कहती है, स्त्रियाँ गायक की कामना करती हैं, अर्थात् गीत काम-सिद्धि का साधन है। आहत नाद की सिद्धि से गायक को अनाहत की प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि गीत भी पुरुषार्थ-चतुष्टय का साधन है।

काव्य गीत का अंग है और काव्य के लिए संगीत-शास्त्र में 'पद' शब्द का प्रयोग हुआ है। यह पद, निबद्ध और अनिबद्ध दो रूपों में विभाजित है। अनिबद्ध पद की संज्ञा चूर्ण-पद भी है। ये शब्द क्रमशः पद्य और गद्य के नामांतर हैं।

वाणी की रचना करके उसे गेय-रूप में ढालनेवाले व्यक्ति वाग्गेयकार होते हैं, जिनमें व्याकरण, कोष, छंद, अलंकार, रस, भाव तथा देश-स्थितियों का ज्ञान अनिवार्य बताया गया है। इनकी बहुत बड़ी एक विशेषता परिचित-परिज्ञान बताई गई है, जिससे कि ये श्रोताओं के प्रत्येक वर्ग को संतुष्ट कर सकें। इस दृष्टि से सिद्ध होता है कि वाग्गेयकार को जहाँ एक ओर संगीत के शास्त्रीय एवं व्यावहारिक, दोनों पक्षों में निष्णात होना चाहिए, वहाँ उसे उन सभी बातों में चूडांत पंडित होना चाहिए, जो सत्साहित्य के निर्माण के लिए आवश्यक हैं। इस दृष्टि से वाग्गेयकार का स्थान बहुत ऊँचा और कर्तव्य कठिन है।

लोक की भिन्नरुचिता को दृष्टि में रखते हुए विचारकों ने गीतों का वर्गीकरण किया। भरत का कथन है कि आचार्य (संगीत के मर्मज्ञ) 'सम' गीत को पसंद करते हैं। पंडितों के लिए 'व्यक्त' गीत रुचिकर होता है। नारियाँ 'मधुर' गीत पर रीझती हैं और अन्य लोग 'विक्रुष्ट' गीत की कामना करते हैं।

सम : जिसकी गति न द्रुत हो, न विलंबित, जो ऊँचे-नीचे स्वरों से युक्त हो, साथ-ही-साथ जिसमें पद और ताल की योजना हो, वह गीत 'सम' कहलाता है।

व्यक्त : क्रिया-कारक से युक्त, संधि-दोष-हीन और स्वरों के व्यक्त रूप से युक्त गीत की संज्ञा व्यक्त' है।

मधुर : ललित अक्षरों से युक्त शृंगाररसपूर्ण और श्राव्य नाद एवं समता (काव्य और संगीत का संतुलन) से संवलित रूप 'मधुर' कहलाता है।

विकृष्ट : तालस्वरयुक्त और प्रयोगबहुल गीत 'विकृष्ट' है।

'पार्श्वदेव' का कथन है कि उच्च-नीच स्वरों एवं वीररस-प्रयोज्य अक्षरों से युक्त आरभटी-वृत्ति-संवलित और उत्साहपूर्ण गीत वीरों को प्रिय होता है; शृंगाररस-भूषित प्रेम का उद्दीपन करनेवाले शब्दों से युक्त तथा कठिन कंठ-ध्वनि से गाया जानेवाला गीत विरही जनों को भला प्रतीत होता है। उलटे-सीधे शब्दों से युक्त स्वरभंगी-प्रधान और परिहासपूर्ण गीत विटों का मनमोहक है। गूढ़ार्थ और परमार्थ को प्रकट करनेवाले वाक्यों से युक्त ऐसे गीत योगिवल्लभ होते हैं, जिनका विषय अध्यात्म होता है। शुभ वाक्यों एवं मंगलमय शब्दों से युक्त विवाहादि उत्सव में प्रयोग के लिए विरचित मंगल-गीत महिलाओं को प्रिय होता है। देवता की स्तुति से युक्त, उनके प्रभाव को बतानेवाला और श्रोताओं में आस्तिक्य भाव-संचार करनेवाला गीत भक्तों को प्रिय होता है और गमक-बहुल, रूक्ष एवं विषम गीत वादिवल्लभ है (संगीत के उस्तादों को प्रिय है)।

उपर्युक्त वर्गीकरण से हमें यह ज्ञान होता है कि वाग्गेयकार का कर्तव्य कितना कठिन है। साहित्यकार या कवि जहाँ अरसिक श्रोता की अरसिकता पर उपेक्षापूर्वक हँसकर छुटकारा पा लेता है, वहाँ वाग्गेयकार अथवा गायक को यह सुविधा नहीं। गीत की तो योजना ही सबको रिझाने के लिए है। भरत के रंगस्थल में स्त्रियाँ, बच्चे और मूर्ख भी हैं। रंजन करना गायक का कार्य है और गायक को सर्व-लोक-रंजक सामग्री देना वाग्गेयकार का। अतः वाग्गेयकारों का कार्य कवियों की अपेक्षा कहीं कठिन है। कवि अपनी रचना का आस्वाद सहृदयों को करा सकता है, परंतु वाग्गेयकार द्वारा प्रस्तुत सामग्री में जनता के प्रत्येक वर्ग को रिझानेवाले तत्त्व होने चाहिए।

पंद्रहवीं शती ईसवी के ध्रुवपदकारों की योग्यता उपर्युक्त वाग्गेयकारों की अपेक्षा कम थी, परंतु उनकी समस्याएँ वही थीं, क्योंकि लोक सदा ही भिन्न-रुचि होता है। उनकी प्रवृत्तियाँ भी वही थीं, उनका कार्य आनुवंशिक था और कुछ विशेषताएँ उनकी घुट्टी में पड़ी हुई थीं। अतः ध्रुवपदकारों की रचनाओं पर विचार करते समय हमें उपर्युक्त तथ्यों को ध्यान में रखना चाहिए।

ज्ञातव्य है कि वैदिक संगीत के आधार पर ही नाराशंसी गाथाओं का निर्माण हो चुका था और वैदिक गायक नाराशंसी गाथाओं के गानेवालों को अच्छा नहीं समझते थे। लोकरंजन के लिए संगीत के प्रयोक्ताओं की दृष्टि में वैदिक लोग विनोद के पात्र-भर रह गए थे। यह प्रवृत्ति तब से लेकर आज तक चली आई है। निश्शंक शार्ङ्गदेव-जैसे चतुर्मुख आचार्य ने 'छांदस' व्यक्तियों को 'अविदग्ध' कहा है और 'मनुस्मृति' में हम गीत, वाद्य और नृत्य का निषेध देखते हैं तथा यह व्यवस्था पाते हैं कि सवर्णों को गीत, वाद्य और नृत्य से आजीविका का उपार्जन नहीं करना चाहिए। 'मनुस्मृति' सूतों, मागधों और नटों को वर्णसंकरता का परिणाम बताती है। ब्राह्मणी और

क्षत्रिय के धर्म-बाह्य संबंध या परिणाम 'सूत', ब्राह्मणी और वैश्य के अधर्मयुक्त देह-संबंध का फल 'मागध' और व्रात्य (धर्मच्युत) क्षत्रिय के सवर्णा में उत्पन्न संतान 'नट' कहलाती है।

वर्णसंकर जातियों की आजीविका के लिए जब उनके व्यवसायों की व्यवस्था की गई, तब सूतों, मागधों और नटों को कुछ कार्यों के करने का अधिकार मिला। उन कार्यों से आजीविका कमाना सवर्ण जातियों के लिए निषिद्ध कर दिया गया। सूतों, मागधों और नटों की चर्चा हम अत्यंत आरंभिक कहे जानेवाले युग में भी पाते हैं। 'वाल्मीकि-रामायण' में सूतों, नटों इत्यादि की चर्चा अनेक स्थानों पर आई है। ये हमें स्तुतिकर्ताओं एवं संगीतजीवियों के रूप में मिलते हैं।

'नाट्य-शास्त्र' के 'नटशाप' अध्याय में बताया गया है कि ऋषियों के शाप से भरतमुनि के पुत्रों का वंश शूद्राचार, अशौच एवं स्त्री-बालोपजीवी हो गया। जाति-वाची 'भरत' शब्द का अर्थ 'जायाजीव' (स्त्रियों की कमाई खानेवाला) हुआ। अमर-कोष में 'शैलाली', 'शैलूष', 'जायाजीव', 'कृशाश्वी', 'भरत', 'नट', 'चारण' और 'कुशीलव' संगीतजीवी जातियों में गिनाए गए हैं।

'कुशीलव' का मूल राम के पुत्र कुश और लव के जोड़े में है। 'वाल्मीकि-रामायण' में इन दोनों भाइयों के नाम का साथ-साथ प्रयोग 'कुशीलवौ' कहकर अनेक स्थलों पर किया गया है।

'वाल्मीकि-रामायण' के टीकाकार 'राम' ने लिखा है कि कुशीलव शब्द में पृषोदरादि गणप्रभाव से 'कुश' का 'कुशीभाव' हो जाता है और 'कुश' और 'लव' के वाचक 'कुशीलव' पद की सिद्धि होती है। हम यह जानते हैं कि कुश और लव—इन दोनों को भगवान् वाल्मीकि ने 'रामायण' की शिक्षा गेय-रूप में भी दी थी और दोनों ने सर्वथा अपरिचित रहकर भगवान् रामचंद्र की सभा में गुणियों के समक्ष इसका गान किया था। रामायण-गान के लिए कुश और लव को अयोध्या भेजते समय वाल्मीकि ने उपदेश दिया था कि तुम्हें जब रामचंद्र राजसभा में गान के लिए बुलाएँ, तो धन की इच्छा से तनिक भी लोभ न करना, क्योंकि फल-मूल पर निर्वाह करनेवाले आश्रमस्थ व्यक्तियों को धन का क्या करना है। प्रतीत यह होता है कि कालांतर में कुछ 'संगीत-जीवियों ने अपने-आपको गायक-वादक होने के कारण कुश और लव के संप्रदाय से संबद्ध बताना आरंभ कर दिया। परिणाम यह हुआ कि कुशीलव शब्द नित्य द्विवच-नांत न रहकर जातिवाची बन गया। 'अमरकोष' के टीकाकार महेश्वर ने कुशीलव शब्द का अर्थ 'कुत्सितशील से युक्त' कर डाला। महेश्वर की यह चेष्टा जातिवाची कुशीलव शब्द को बलात् अन्वर्थ बनाने का प्रयत्न है।

अस्तु यह सिद्ध है कि संगीतजीवी ध्रुवपदकारों की परंपरा अत्यंत प्राचीन है और वे अपनी लीक की रक्षा प्रतिकूल परिस्थितियों में भी करते चले आ रहे थे।

बात-बात पर नैतिकता की दुहाई देनेवाले कुछ सज्जन भारतीय संस्कृति को ब्राह्मण-युग, क्षत्रिय-युग इत्यादि में बाँटकर और नटों, नर्त्तकों, गणिकाओं, वेश्याओं तथा उनके आश्रयदाताओं को क्षत्रिय-युग की देन कहकर उस भरत को भी निवृत्ति-

मार्गियों में गिना डालते हैं, जिसके नाट्य-शास्त्र का मुख्य प्रयोजन जनरंजन है और जिसमें कवियों, गायकों, नटों, विटों, नायिकाओं की ही चर्चा मुख्य विषय है। यहाँ इतना कहे बिना नहीं रहा जाता कि पाश्चात्यों ने भारत पर शासन करने के लिए यहाँ की वर्ण-व्यवस्था का चित्र वर्ण-भेद के रूप में करके हिंदुओं में परस्पर फूट डालने के लिए ही सवर्ण-असवर्ण और उच्च-नीच के भेद को उभारा और भारतीय मूल-ग्रंथों के पठन-पाठन की परंपरा से असंपृक्त भारतीयों को अपने 'नारे' दोहराने के लिए 'मसाला' दे दिया।

जैसा कहा जा चुका है कि धर्म, अर्थ और काम का संतुलित साधन एक आदर्श है, परंतु ब्रह्मवादी जनक-जैसे व्यक्तियों की सेनाएँ नहीं उत्पन्न होतीं और न शंकराचार्य-जैसे व्यक्ति ही प्रतिदिन उत्पन्न हुआ करते हैं। ऐसे व्यक्ति लोक के लिए आदर्श होते हैं, परंतु लोक के समस्त व्यक्तियों को अपने समान बना देने में कभी सफल नहीं होते।

आश्रयदाताओं की प्रशंसा, नायिकाओं के रूप-वर्णन और ईश्वरों के विलास को हेय दृष्टि से देखनेवाले व्यक्तियों में अधिकांश ऐसे होते हैं, जिनके लिए ये स्थितियाँ स्वप्न-मात्र होती हैं। 'अयोध्या' का तथा 'किष्किन्धा' और 'लंकापुरी' के अंतःपुरों का जो वर्णन महर्षि वाल्मीकि ने किया है, वह उन मूर्तियों की आँखें खोल देनेवाला है, जिन्होंने संभवतः वाल्मीकि और भरत के ग्रंथों का दर्शन किए बिना ही इन वस्तुओं को तथाकथित क्षत्रिय संस्कृति की देन बना डाला है। वाल्मीकि और भरत को एक तथाकथित ब्राह्मण-युग में जिस निर्दयता के साथ इन बेचारों ने ढकेला है, वह अपना उदाहरण स्वयं है।

पंद्रहवीं शती ईसवी के ध्रुवपदकारों ने जिन सम्राट् आश्रयदाताओं के गुणों का वर्णन किया है, वे कालचक्र के कारण अहिंदू हैं। यदि यही हिंदू होते, तो उनके विलास संभवतः हमारी दृष्टि में उतनी घृणा का विषय न बनते, क्योंकि 'मालविका-ग्निमित्र' और 'मालतीमाधव'-जैसे नाटकों के नायकों को हम घृणा की दृष्टि से नहीं देखते और इन नाटकों के काव्यगत सौष्ठव पर निरंतर मुग्ध होते आ रहे हैं।

राजनीतिक दृष्टि से हम मुगल-सम्राटों के विषय में कोई भी सम्मति रखें, परंतु इतना हमें मानना होगा कि अकबर से लेकर बहादुरशाह द्वितीय तक काव्य, संगीत और विलास की जो परंपराएँ उनके दरबारों और अंतःपुरों में रही हैं, वे उन्हें भारत से ही मिली हैं। सचमुच तो इन परंपराओं की रक्षा करने के लिए हमें उनका कृतज्ञ होना चाहिए।

'श्रीमद्भागवत' के अनुसार इतिहास के सर्वप्रथम राजा स्वयंभुवमनु की कन्या एवं महर्षि कपिल की माता देवहूति ने अपने पति कर्दम के प्रभाव से जो प्रासाद प्राप्त किया था, उसमें सहस्रों अलंकृत सुंदरियाँ उन दोनों की सेवा के लिए विद्यमान थीं। अतः मुगलों के बड़े-बड़े महलों में सहस्रों दासियों की उपस्थिति न तो आश्चर्य का विषय होना चाहिए, न आपत्ति का।

स्मृतिकार मनु परदाराओं से बातचीत करने की अनुमति केवल भिक्षुकों, बन्दीजनों, यज्ञ के लिए दीक्षित ब्राह्मणों और भृत्यजनों को देते हैं, परंतु नट इत्यादि

जाति की स्त्रियों से वार्तालाप की अनुमति वे सभी को निर्बाधरूप में देते हैं, क्योंकि 'नट' तो अपनी स्त्रियों को अलंकृत करके आजीविका कमाने के लिए पर-पुरुषों के पास प्रच्छन्नरूप से भेजते ही हैं। बादशाह, अमीर या कलाकार यदि रूपाजीवाओं पर रीझते और नायिका-भेद के वर्णन में आनंद लेते हैं, तो वे बेचारे हमारी दृष्टि में मनु के नियम का उल्लंघन नहीं करते।

जिन कलावंतों, ढारियों अथवा अन्य संगीतजीवियों की चर्चा ध्रुवपदकार के रूप में की जाती है, उनकी आजीविका का आनुवंशिक साधन संगीत था। इसी लिए हम उनमें ब्राह्मण इत्यादि सवर्ण जातियों में उत्पन्न व्यक्तियों का प्रायः अभाव पाते हैं। जिन जातियों का आनुवंशिक कार्य विरुद अथवा स्तुति का गान करना रहा, वे जब मुसलमान हुईं, तब भी उनकी आजीविका का साधन यथापूर्व बना रहा। कलावंत, ढारी इत्यादि जातियाँ भी प्राचीन संगीतजीवी जातियों का मध्यकालीन रूप हैं। बंदीजनों में स्तुति-पाठ के साथ-ही-साथ गान-वादन भी आजीविका का साधन हो गया था, आज भी है। इस जाति ने जहाँ अनेक समर्थ कवि उत्पन्न किए, वहाँ अच्छे 'वाग्गेयकार' भी। इन जातियों में साहित्य एवं संगीत, दोनों की सेवा करनेवाली महान् विभूतियाँ हुई हैं। आज भी ग्वालियर इत्यादि स्थानों में इसके उदाहरण विद्यमान हैं।

राज्याश्रित ब्रजभाषा-कवियों ने जीवन की जिन झाँकियों को अपने काव्य का विषय बनाया है, वे सभी ध्रुवपदकारों के साहित्य का भी विषय बनी हैं। उनका स्रोत एक है और वे उतनी ही महत्त्वपूर्ण हैं। ध्रुवपदकारों ने अपनी जिन कृतियों से वाङ्मय के प्रासाद को सजाया है, वे उतने ही समादर की अधिकारिणी हैं, जितना कि हम पाठ्य अथवा श्रव्य रचनाओं को देते हैं। मानव-जीवन को जिन चार आश्रमों में हमारे पूर्वजों ने बाँटा है, वे चतुवर्ग के साधन हैं; परंतु विशिष्ट-विशिष्ट पुरुषार्थ के साधन में विशिष्ट-विशिष्ट आश्रम अधिक उपयुक्त हैं। धर्म की चिंता प्रतिक्षण की जानी चाहिए, परंतु विशेषतया मोक्ष का साधन बुढ़ापे की बात समझी जाती है।

जिस प्रकार राज्याश्रित ब्रजभाषा-कवियों के मन में वृद्धावस्था एक प्रकार के 'निर्वेद' का उदय करती थी और वे चौथेपन में 'काशी', 'वृंदावन' अथवा 'गंगातीर' का आश्रय लेना चाहते थे, उसी प्रकार 'ध्रुवपदकार' भी चौथेपन में प्रायः 'हरिनाम' की ओर झुकते थे। अनेक देवी-देवताओं की स्तुति में सफल छंदों की रचना करनेवाले पद्माकर भट्ट जिस प्रकार अपनी उन रचनाओं के कारण भक्तों की कोटि में नहीं आ पाते, उसी प्रकार बुढ़ापे में शिथिलेन्द्रिय गायकों की 'विरक्तिपरक' रचनाएँ उन्हें भक्त नहीं सिद्ध कर सकतीं। गायक-वादक और 'ध्रुवपदरचनाकार' राज्याश्रित थे तथा उनका राजकीय वातावरण से प्रभावित होना आश्चर्य की बात नहीं है। वे एक विशिष्ट वर्ग के व्यक्ति थे, जो अनुकूल स्थिति पाकर ही पनपते हैं, लहलहाते हैं और इस स्थिति के अभाव में मुरझा जाते हैं।

ध्रुवपद, स्व० भातखंडे और वास्तविकता

उत्तर-भारत में प्रचलित संगीत-पद्धति से सम्बद्ध विभिन्न विषयों के संबंध में स्वर्गीय भातखंडे जी ने अपने विचार प्रकट किए हैं। 'हिंदुस्तानी संगीत-पद्धति' के चारों भागों में उन्होंने जो कुछ भी कहा है, वह अनेक दृष्टियों से मननीय है, परंतु 'क्रमिक-पुस्तक-मालिका' के विभिन्न भागों में बंदिशों से पूर्व अर्थात् विषय-प्रवेश में जो कुछ कहा है, वह संगीत-शिक्षकों और विद्यार्थियों में प्रायः पढ़ा जाता है। 'क्रमिक-पुस्तक-मालिका' में जो कुछ भी लिखा है, उसे 'वेदवाक्य' समझकर दुहरानेवाले व्यक्तियों की संख्या बहुत है, परंतु उसपर गंभीरतापूर्वक विचार करके किसी निष्कर्ष तक पहुँचने के लिए सचेष्ट व्यक्ति अनुसंधान का विषय है।

प्रस्तुत पंक्तियों का उद्देश्य 'क्रमिक-पुस्तक-मालिका' के चौथे और छठे भाग में व्यक्त किए हुए ध्रुवपद-संबंधी कथनों पर विचार करना है।

ध्रुवपद की उत्पत्ति और लक्षण

भातखंडे जी का कथन है कि ध्रुवपद का गान कब से प्रारंभ हुआ, यह आज ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता, फिर भी वह विगत पाँच सौ वर्षों से उत्तर की ओर लोकप्रिय है, ऐसा कहने के लिए ऐतिहासिक आधार है।[1] भातखंडे ने भावभट्ट के ग्रंथ 'अनूप-संगीत-रत्नाकर' में दिया हुआ निम्नलिखित लक्षण उद्धृत किया है :—

गीर्वाणमध्यदेशीय भाषासाहित्यराजितम् ।
द्विचतुर्वाक्यसंपन्नं नर-नारी कथाश्रयम् ॥
शृंगाररसभावाढ्यं रागालापपदात्मकम् ।
पादान्तानुप्रासयुक्तं पादान्तयुगकं च वा ॥
प्रतिपादं यत्र बद्धमेवं पादचतुष्टयम् ।
उद्ग्राहध्रुवकाभोगान्तरं ध्रुवपदं स्मृतम् ॥[2]

भातखंडे जी के शब्दों में ध्रुवपद का यह वर्णन (लक्षण ?) अच्छा है।

इस लक्षण के अनुसार (अ) ध्रुवपद की भाषा संस्कृत अथवा मध्यदेशीय होनी चाहिए, (आ) वह दो या चार वाक्यों से युक्त हो, (इ) उसमें नर-नारी (दाम्पत्य-जीवन) की कथा हो, (ई) शृंगाररस (और तदनुकूल) भावों से युक्त हो, (उ) रागालाप और पद (गेयकाव्य) से संपन्न हो, (ऊ) जिसमें चार चरण हों और चरण के अंत में पादान्त अनुप्रास (तुक) अथवा पादान्तयुग्म से युक्त हो। उद्ग्राह, ध्रुवक, आभोग और अंतर से युक्त हो।

बड़ी मनोरंजक बात यह है कि भातखंडे जी ध्रुवपद के इस लक्षण की प्रशंसा भी करते हैं और उनकी सम्मति में ध्रुवपद-गान हिन्दुस्तान की मर्दाना और जोरदार गायकी है।[3] शृंगार-रस में 'मर्दानापन' और 'जोरदारी' की कल्पना कमर-तोड़ है।

---

१. क्र० पु० मा०, भा० ४, पृ० ४६
२. वही, पृ० ४५
३. वही, पृ० ४७

यहाँ शिवाजी के पिता शाहजी के सभापंडित वेद का दिया हुआ 'ध्रुवपदनृत्त' का लक्षण उद्धृत करना अप्रासंगिक न होगा। पंडित वेद का कथन है :—

गीयमाने ध्रुवपदे गीते भावमनोहरे। नर्तनं तनुयात् पात्रं कान्ताहास्यादि दृष्टिजम् ॥
नानागतिलसद्भावमुखरागादिसंयुतम् । सुकुमारांगविन्यासं दन्तोद्योतिलहावकम् ॥
खंडमानेन रचितं मध्ये-मध्ये च कम्पनम् । यत्र नृत्यंभवेदेवं ध्रुपदाख्यं तदाभवेत् ॥
प्रायशो मध्यदेशीयभाषया यत्र धातवः। उद्ग्राह ध्रुवकाभोगास्त्रय एते भवन्ति ते।
उद्ग्राहरहितं केचित्परे त्वाभोगवर्जितम् । उद्ग्राहाभोगरहितमन्वर्थमपरे जगुः ॥[1]

अर्थात्—जब भावों से मनोहर ध्रुवपद नामक गीत गाया जा रहा हो, तब पात्र को ऐसा नर्तन करना चाहिए, जिसमें प्रियतमा के हास्य, कटाक्ष इत्यादि का प्रदर्शन हो, विविध गतियों या चेष्टाओं के द्वारा भावों की अभिव्यक्ति हो, मुखराग इत्यादि से युक्त हो, जिसमें सुकुमार अंग-विन्यास हो, दंतप्रभा से जिसमें हावों (नायिका की स्वाभाविक चेष्टाओं) की अभिव्यक्ति हो, जिसकी रचना (ध्रुवपद के) खंडों के मान (नाप) से की गई हो, जिसके बीच-बीच में कंपन हो, ऐसा नृत्य ध्रुवपद-नृत्य कहलाता है। जिसमें उद्ग्राह, ध्रुवक और आभोग नामक तीन धातुएँ मध्यदेशीय भाषा से युक्त होती हैं, और कुछ लोग उसे उद्ग्राहरहित, कुछ लोग आभोगरहित और कुछ लोग उसे उद्ग्राह और आभोग से रहित अर्थात् ध्रुवकमात्र कहते हैं, जो अन्वर्थ (अर्थ के अनुकूल) है।

ध्रुवपद के गाने के समय उसी प्रकार नर्तन किया जाता था, जिस प्रकार ठुमरी गाते समय अच्छन महाराज-जैसे गुणी ठुमरी के भावों का अभिनय करते थे। अकबरी दरबार के प्रसिद्ध इतिहास-लेखक अबुल्-फ़ज़्ल ने 'दफ़ज़न' कही जानेवाली नारियों के विषय में परिचय देते हुए कहा है :—

"Dufzan are chiefly panjabee women, who play on the Duffs and Dhol, and sing Dhrupad, and the sohela, or Nuptial and birthday songs. Formerly they appeared only before women, but now they will exhibit in public"......[2]

अर्थात्—प्रधानतया वे पंजाबी नारियाँ 'दफ़ज़न' कहलाती हैं, जो दफ़ और ढोल बजाती तथा ध्रुवपद, सुहेला, विवाह-संबंधी गीत अथवा वर्षगाँठ के गीत गाती हैं। पहले वे महिलाओं के सामने ही आती थीं, परंतु आजकल वे जनता के समक्ष प्रदर्शन करती हैं।

अबुल्-फ़ज़्ल ने हमें अकबर के युग की झाँकी दी है और वेद के लक्षण में शाहजहाँ और औरंगज़ेब का युग बोल रहा है।

यदि आज कोई विद्यार्थी ध्रुवपद के विषय में निबंध लिखते समय यह लिखे कि ध्रुवपद के साथ तदनुकूल नृत्य भी उचित है, तो ध्रुवपद-गान को मर्दाना और

---

१. 'भरत कोष', पृ० २९९

२. फ्रांसिस ग्लैडविन के द्वारा किया हुआ 'आईने-अकबरी' का अनुवाद, पृ० ७३४

जोरदार गायकी समझनेवाले 'क्रमिक-पुस्तक-मालिका'-पाठी परीक्षक उसे अनुत्तीर्ण किए बिना जल न पिएँगे।

शुद्धसूडक्रमस्थ एला इत्यादि प्रबंधों में उद्ग्राह, मेलापक, ध्रुव और आभोग नामक चार धातुएँ होती थीं, परंतु सालगसूड प्रबंधों का एक भेद ध्रुवक होता था। उसका लक्षण यों है :—

एकधातुर्गिखण्डः स्याधत्रोद्ग्राहस्ततः परम्।
किंचिदुच्चं भवेत्खण्डं द्विरभ्येस्तमिदं त्रयम्॥
ततो द्विखण्ड आभोगस्तस्य स्यात् खण्डमादिमम्।
एकधातु द्विखण्ड च खण्डमुच्चतरे परम्॥
स्तुत्यनामांकितश्चासौ क्वचिदुच्चैकखण्डकः।
उद्ग्राहस्यान्यखण्डे च न्यासः स ध्रुवको भवेत्॥[1]

"जिसमें समान रूप से गाए जानेवाले दो खंडों से युक्त उद्ग्राह हो, तत्पश्चात् कुछ ऊँचा 'अंतरा' नामक खंड हो, इन तीनों खंडों को दो-दो बार दुहराकर दो आवृत्ति की जानी चाहिए। तत्पश्चात् दो खंडों से युक्त आभोग हो, उसके प्रथम खंड में समानरूपेण गाए जानेवाले दो भाग हों, दूसरा खंड कुछ ऊँचा हो और उसमें उस व्यक्ति का नाम हो, जिसकी स्तुति की जा रही हो। कुछ लोगों की सम्मति में आभोग ऊँचे गाए जानेवाले एक खंड से युक्त होना चाहिए, यह प्रबंध ध्रुव या ध्रुवक कहलाता है।"

'ध्रुव' में प्रयोज्य काव्य 'ध्रुवपद' कहलाता है।

ध्रुव नामक प्रबंध के सोलह भेद इस प्रकार हैं :—

नाम	खंड परिणाम	ताल	रस
१. जयन्त	ग्यारह अक्षरों का खंड	आदिताल	श्रृंगार
२. शेखर	बारह " " "	निस्सारु	वीर
३. उत्साह	तेरह " " "	प्रतिमंठ	हास्य
४. मधुर	चौदह " " "	हयलीला	करुण
५. निर्मल	पंद्रह " " "	क्रीडा	श्रृंगार
६. कुन्तल	सोलह " " "	लघुशेखर	अद्भुत
७. कामल	सत्रह " " "	झम्पा	वियोग श्रृंगार
८. चार	अठारह " " "	निस्सारु	वीर
९. नन्दर	उन्नीस " " "	एकताली	वीर, श्रृंगार
१०. चन्द्रशेखर	बीस " " "	प्रतिमंठ	वीर, हास्य, श्रृंगार
११. कामोद	इक्कीस " " "	"	श्रृंगार
१२. विजय	बाईस " " "	द्वितीय	हास्य
१३. कंदर्प	तेईस " " "	आदि	हास्य, श्रृंगार, करुण
१४. जयमंगल	चौबीस " " "	क्रीडा	श्रृंगार, वीर
१५. तिलक	पच्चीस " " "	एकताली	वीर, श्रृंगार
१६. ललित	छब्बीस " " "	प्रतिमंठ	श्रृंगार

१. 'संगीतरत्नाकर' प्रबन्धाध्याय, पृ० ३१३

'ध्रुव' के इन सोलह भेदों के अनुसार इनमें 'प्रयोज्य पद' भी सोलह प्रकार के हो जाते हैं, अर्थात् खंड के परिमाण, ताल और रस के आधार पर 'ध्रुवपद' के सोलह भेद हैं। कुछ लोगों के अनुसार अक्षर-संख्या-नियम का पालन सब खंडों में और कुछ लोगों के अनुसार केवल दो खंडों में होना चाहिए।

इन सोलहों प्रकारों के गान का फल क्रमशः १. नायक, श्रोता और गायक की आयु और श्री का वर्द्धन, २. ऋद्धि और सौभाग्य की प्राप्ति कराना, ३. वंशवृद्धि, ४. भोगों की प्राप्ति, ५. कांति-वृद्धि, ६. अभीष्ट-सिद्धि, ७. सिद्धिदान, ८. हर्ष और उत्कर्ष की प्राप्ति, ९. आठों सिद्धियों की प्राप्ति, १०. अभीष्ट फल की प्राप्ति, ११. अभीष्ट सिद्धि, १२. आयुष्य वृद्धि, १३. भोग-प्राप्ति, १४. विजय और उत्साह की प्राप्ति, १५. पूर्ववत् फल की प्राप्ति, १६. सर्वसिद्धि है। 'ध्रुव' के इन भेदों पर विचार करते समय कल्लिनाथ पंद्रहवीं ईसवी के पूर्वार्द्ध में ग्वालियर-नरेश मानसिंह तोमर के राज्यारोहण-काल १४८६ ई० से ६०-७० वर्ष पूर्व कहते हैं :—

'ननु जयंतादिषु षोडशसु ध्रुवेषु षोडक्षरसंख्या नियम उक्त, स वर्तमानेषु केषुचिद् ध्रुवेषु न दृश्यते। तत्कथं तेषां लक्षणहीनत्वेऽपि लोके परिग्रह इति चेत्, सत्यमेतत्। अत्राक्षरशब्देन पदान्यप्युच्यन्ते। यथायमक्षरार्थ इति पदार्थो वर्ण्यते। तेन क्वचित्पदानां वा संख्याया नियमो द्रष्टव्यः। यत्र सोऽपि नास्ति, तत्राक्षरादेः संख्यानियमाभावान्नियभोक्ता दृष्टफलस्याभाव एव, न तु दृश्य फलस्य जन रञ्जनादेरपि। तेनतेषां लोकपरिग्रहो ऽप्युपपन्न एव। अनियताक्षर रसताल युक्त स्योद् ग्राहाद्यवयव सन्निवेशस्याविशिष्टत्वेन तेषामपि लक्षणत्वाद् ध्रुवव्यवहारो न हीयत एव।'

अर्थात्—'यदि यह कहा जाए कि जयंत इत्यादि सोलह ध्रुवों में जो अक्षरों की संख्या का नियम बताया गया है, वह वर्तमान कुछ ध्रुवों में नहीं दिखाई देता तो ऐसी अवस्था में उन लक्षणहीन वस्तुओं का ग्रहण लोक में उन्हें 'ध्रुव' कहकर क्यों होता है। यह कथन सत्य है, परंतु यहाँ अक्षर शब्द से सार्थक शब्दों का ग्रहण भी होता है, जैसे कि अक्षरार्थ को पदार्थ भी कहा जाता है। इसलिए यदि अक्षर-संख्या-नियम के अभाव की अवस्था में शब्दों की संख्या में नियम देखा जाना चाहिए। जहाँ वह भी नहीं है, वहाँ अक्षर इत्यादि की संख्या के नियम का अभाव होने के कारण अदृष्ट फल का अभाव ही है, परंतु जनरंजन इत्यादि दृष्ट (प्रत्यक्ष) फल का अभाव तो नहीं है। अतः लोक में ऐसी वस्तुओं का 'ध्रुव' के रूप में ग्रहण उपयुक्त ही है। अक्षर, रस, ताल इत्यादि के उक्त नियमों से रहित, परंतु उद्ग्राह इत्यादि अवयवों से युक्त, वस्तुओं को पूर्वोक्त सोलह भेदों में से किसी एक भेद के अंतर्गत नहीं रखा जा सकता, परंतु उनको 'ध्रुव' मानने में कोई हानि नहीं।[1]

कल्लिनाथ के इस वक्तव्य से यह तथ्य स्पष्ट है :—

यद्यपि शास्त्रोक्त ध्रुवभेद कल्लिनाथ के युग में प्रचलित थे, तथापि कामचार के कारण ऐसे प्रबंध भी प्रचलित हो गए थे, जिनमें 'ध्रुव' के शास्त्रोक्त अवयव उद्ग्राह इत्यादि तो थे, परंतु अक्षर-संख्या-नियम, तालविनियोग, रसविनियोग इत्यादि के

---

१. सं० र०, अडयार सं० प्रबंधा०, ८. ३१२

विषय में स्वतंत्रता बरती गई थी। ऐसी अवस्था में भी उन्हें ध्रुव कहा जाता था और उनमें प्रयोज्य काव्य ध्रुवपद कहलाता था।

मानसिंह तोमर ने जब गुणियों की सहायता से संगीतोद्धार का कार्य किया, तब बैजू, बख्शू जैसे उत्तर-भारतीय कलाकारों के अतिरिक्त नायक पांडवी का सहयोग भी उसे प्राप्त था, जो कुरुक्षेत्र में स्नान करने के लिए दक्षिण से आया हुआ था।[1] अतः ध्रुवपद के जिस ढाँचे में मानसिंह ने मध्यदेशीय भाषा का अमृत प्रतिष्ठित किया, वह ढाँचा उसका आविष्कार न होकर कल्लिनाथ द्वारा वर्णित 'ध्रुव' की कामचार-प्रधान स्थिति का परिणाम था, जिसका मूल 'संगीत-रत्नाकर' में वर्णित 'ध्रुव' नामक सालगसूड प्रबंध के भेदों में है। उद्ग्राह (स्थायी), 'अंतरा', 'आभोग' नामक अवयवों से युक्त सभी गेय रचनाएँ ध्रुवपद कहलाने लगीं। उनका विषय, रस, ताल इत्यादि वाग्गेयकार की रुचि के अनुरूप पूर्वोक्त सोलह ध्रुवभेदों से कुछ भी हो सकता था, अन्य तालों में भी ध्रुवपद हो सकते थे।

तोमर के द्वारा लिखाए हुए ग्रंथ 'मानकुतूहल' के फारसी अनुवाद 'राग-दर्पण' में ध्रुवपद का लक्षण यों किया है :—

राग-दर्पणकृत ध्रुवपद-लक्षण

'इसमें चार पंक्तियाँ होती हैं, इसकी भाषा देशी होती है, समस्त रसों में इसे बाँधा जाता है। स्वदेश से हमारा तात्पर्य ग्वालियर है, जो आगरा के राज्य का केंद्र है, जिसके उत्तर में मथुरा तक, पूर्व में उन्नाव तक, दक्षिण में ऊंज तक और पश्चिम में बारां तक क्षेत्र है। हिंदुस्तान में इस भाग की भाषा सबसे अच्छी है। यह खंड भारत में वैसा ही है, जिस प्रकार ईरान में शीराज।'[2]

इस लक्षण में अक्षर-संख्या-नियम नहीं, सभी रसों का इसमें विनियोग है और भाषा पूर्वोक्त प्रदेश की है। ताल की कोई चर्चा नहीं, अर्थात् रचयिता के लिए इस विषय में भी स्वतंत्रता है।

तानसेन की दृष्टि में ध्रुवपद

तानसेन के एक ध्रुवपद से उनकी ध्रुवपद-संबंधी धारणा का यह परिचय मिलता है :—

'ध्रुवपद की चार तुकें होनी चाहिए, उसे शुद्ध अक्षरों से युक्त अच्छे गुरुओं के शिष्यों द्वारा विरचित, यथावसर नवरसों में किसी भी रस से सम्पन्न, प्रकृति की दृष्टि से राग एवं रस से सम्बद्ध सामंजस्य से पूर्ण होना चाहिए।'[3]

इस दृष्टिकोण में अक्षर-संख्या-नियम का अभाव है, ताल की चर्चा नहीं, सभी रसों का विनियोग है।

अबुल् फ़ज्ल की दृष्टि में ध्रुवपद

'ध्रुवपद तीन या चार पंक्तियों से निर्मित पद है, उन पंक्तियों की लंबाई कुछ भी हो सकती है। इन ध्रुवपदों का विषय प्रधानतया उन व्यक्तियों की प्रशंसा होती है,

---

१. रागदर्पण, प्रथम अध्याय रामपुर-प्रति

२. मानसिंह मानकुतूहल, पृ० ५८

३. रागमाला, रामपुर-प्रति

जो अपने पौरुष अथवा गुणों के कारण प्रसिद्ध होते हैं। ध्रुवपद आगरा, ग्वालियर और आस-पास के प्रदेशों में प्रचलित गीत है।[१]

इस लक्षण में अक्षर-संख्या अथवा ताल की चर्चा नहीं। पौरुष अथवा गुणों के कारण प्रसिद्ध व्यक्तियों की प्रशंसा को ध्रुवपद का विषय बताया गया है। यह नहीं भूलना चाहिए कि दफजन वर्ग की पंजाबी नारियों को ध्रुवपद-गायिका भी अबुल्-फज्ल ने कहा है।

शाहजी के सभापंडित वेंद और शाहजहाँ के सभापंडित भावभट्ट की परिभाषाएँ पहले दी जा चुकी हैं, उनमें ध्रुवपद को शृंगाररसप्रधान कहा गया है। अक्षर-संख्या-नियम अथवा ताल-विशेष का विनियोग वहाँ भी नहीं है।

मुहम्मद करम इमाम की दृष्टि में ध्रुवपद

वाजिदअलीशाह के आश्रित मुहम्मद करम इमाम का कथन है :—

"ध्रुवपद में चार-पाँच चरण होते हैं और दो भी होते हैं। चरण का अर्थ 'तुक' है। स्थायी, अंतरा, भोग और आभोग ये चारों तुकों के नाम हैं। तुक को खंड भी कहा जाता है।"[२]

निष्कर्ष

पूर्वोक्त तथ्यों के आधार पर यों कहा जा सकता है कि सालगसूड प्रबंधों के अंतर्गत 'ध्रुव' नामक प्रबंध के सोलह भेद अक्षर-संख्या, ताल और रस के आधार पर होते थे, जिनमें उद्ग्राह, अंतर और आभोग नामक तीन धातु होते थे। कालांतर में अक्षर-संख्या नियम, ताल और रस के विषय में कामचार के परिणाम-स्वरूप पूर्वोक्त धातुओं से युक्त गीत भी 'ध्रुव' कहलाने लगे और उनमें प्रयोज्य पद (काव्य) को 'ध्रुवपद' कहा गया। मानसिंह तोमर के युग में यह रूप प्रचलित था, जिसमें अपने प्रदेश की भाषा का प्रयोग मानसिंह तोमर ने किया। ध्रुवपद में प्रत्येक रस से सम्बद्ध काव्य हो सकता था। 'ध्रुवपदगान' का प्रचार मानसिंह तोमर के पश्चात् अन्य मुस्लिम दरबारों में भी हुआ। पुरुष भी 'ध्रुवपद' गाते थे और नारियाँ भी उसका गान करती थीं। 'ध्रुवपद' गाते समय तदनुकूल नृत्य भी होता था।

बंदिशों और स्वर-लिपियों के अतिरिक्त भातखंडे जी का ध्यान संगीत के अन्य पक्षों की ओर अधिक न था। अन्यथा 'संगीत-रत्नाकर', 'आईने अकबरी' या 'मअदन-उल्-मूसिकी' ग्रंथ उनकी पहुँच से बाहर न थे।

'ध्रुवपद' की गायकी को जोरदार और मर्दाना कहना भातखंडे जी की या तो मौलिकता है या पखावजी से भिड़न्त करनेवाले ध्रुवपद-गायकों के संसर्ग का परिणाम है। इसी दृष्टिकोण ने ध्रुवपद-गायकी को कुश्ती बना दिया है।

स्व० भातखंडे जी की दृष्टि में ध्रुवपद-गान शुद्ध और आदरणीय है। उनकी प्रबल इच्छा थी कि ध्रुवपद-गान का पुनः प्रसार हो।

---

१. आईने-अकबरी, पूर्वोक्त संस्करण, पृ० १३०

२. मअदनउल्-मूसिकी, पृ० १५६

ध्रुवपद की गायकी :—

भातखंडे जी का कथन है :—

"रामपुर की ओर तानसेनी शिष्य-परंपरा तथा पूर्व की ओर सभी स्थानों की ध्रुवपद-परंपरा में ताल की खट-खट बिलकुल नहीं। पहले तो राग का सर्वांगपूर्ण आलाप (जिसे हम व्यवहार में नोम्-तोम् कहते हैं) करके, उसके बाद उसी राग का ध्रुवपद 'तालीमे-बरहुक्म' (शिक्षानुसार) शुद्ध मुद्रा एवं शुद्ध वाणी रखकर गाना ही वहाँ की प्रथा है। वे लोग लय की खट-खट होरी, सादरा, तराने इत्यादि गीतों में करते हैं।...............

"...............वर्तमान समय में गायक तथा पखावजी की संगति का ध्रुवपद सुनने की बजाय प्रायः उनकी विसंगति या प्रतियोगिता का ध्रुवपद ही सुनाई देता है। परिणाम में 'कौन हारा, कौन जीता' इसकी दिल्लगी उड़ती है और संगीतानंद शून्य हो जाता है। इस प्रकार के गान का आदर यदि श्रोताओं द्वारा न हो, तो उचित ही है।"[1]

उपर्युक्त विचार स्व० भातखंडे जी ने अपने जीवन के अंतिम क्षणों में प्रकट किए हैं। सन् १९२३ ई० में उन्होंने कहा था :—

"ध्रुवपद में दुगुन, चौगुन, बोलतान, गमक इत्यादि प्रकार हो सकते हैं। रामपुर की तानसेन-परंपरा के ध्रुवपद-गायक तो ऐसा भी कहते हैं कि प्राचीन काल में दुगुन, चौगुन, बोलतान इत्यादि प्रकार ध्रुवपद में निषिद्ध माने जाते थे। वे प्रकार केवल धमार गीत में चलते थे, परंतु आजकल प्रचार में दुगुन, चौगुन और बोलतान ये प्रकार भी ध्रुवपद में पाए जाते हैं।"[2]

अपने मृत्यु-काल (१९३६ ई०) से तेरह वर्ष पूर्व १९२३ ई० में दिए वक्तव्य में स्व० भातखंडे जी ध्रुवपद में दुगुन, चौगुन की ओर झुके हुए प्रतीत होते हैं, परंतु 'क्रमिकपुस्तक-मालिका', भाग ६ में दिए पूर्वोक्त वक्तव्य में वे ध्रुवपद में लय की खट-पट को पसंद नहीं करते तथा तानसेन-परंपरा और पूर्व की ओर की परंपरा की ओर विशेष उन्मुख प्रतीत होते हैं।

'क्रमिक-पुस्तक-मालिका', भाग ४ में भातखंडे जी ने ध्रुवपद-गान को स्वयं मर्दाना और जोरदार कहा है। यह कथन उनकी उस प्रवृत्ति का परिणाम है, जो उन्हें ध्रुवपद में लय की खट-पट की अनुमति देती थी। परंतु १९३७ ई० में प्रकाशित 'क्रमिक-पुस्तक-मालिका' के छठे भाग में उनका कथन है कि कुछ व्यक्ति ऐसा समझते हैं कि ध्रुवपद ताल की धूमधाम का गान है।[3] स्वयं भातखंडे जी को ध्रुवपद में ताल की धर-पकड़ अपने जीवन के अंतिम क्षणों में रुचिकर न रही थी। वे कहते हैं :—

---

१. क्र० पु० मा०, भाग ६, पृ० ४६
२. " " " " ६, पृ० ४३
३. " " " " ४, पृ० ४७-४८

"ताल-प्रधान ध्रुवपद गाने की प्रथा कब और किसके द्वारा आरंभ हुई ? यह ज्ञात नहीं। बड़े-बड़े राजाओं के दरबार में गायक और वादकों के दंगल होते थे। संभवतः इन्हीं दंगलों में से गायक और पखावजी की स्पर्धा की कल्पना से 'धा' से 'धा' को स्पर्श न करने देने का दाँव निकला होगा।

"............अनेक पखावजी तथा तबलिए ऐसी भावना रखते हैं कि जब हम बजाने के लिए बैठते हैं, तब हमारे सामने हिंदुस्तान के एक भी गायक या तंतकार की गाने-बजाने की हिम्मत नहीं होती। बस, इसी में वे अपने को धन्य समझते हैं। इस प्रकार की भावनावाले लोगों के गले में एक तख्ती लटकाकर लिख दिया जाए, 'कभी किसी को न गाने देनेवाला तबलची या पखावजी' और फिर उन्हें अजायबघर में दर्शकों के कौतूहल के लिए रख छोड़ें, तो अच्छा होगा, क्योंकि ऐसे लोगों का और कोई दूसरा उपयोग ही नहीं।"[1]

ताल-प्रधान ध्रुवपद के विषय में भातखंडे जी की प्रस्तुत धारणा बताती है कि वे अपने जीवन के अंतिम क्षणों में रामपुर-परंपरा के दृष्टिकोण का पूर्ण समर्थन करते थे और गायक-वादकों की पारस्परिक 'धरपकड़' को रस का विनाशक मानने लगे थे।

कुछ लोगों को संतुष्ट करने के लिए भातखंडे जी ने कहा है :—

"ताल-प्रधान गान तभी मनोरंजक हो सकेगा, जब गायक तथा ताल-वादक दोनों पारस्परिक सम्पर्क में रहनेवाले तथा सहयोग के द्वारा कार्य करनेवाले हों। इसके साथ ही योग्य स्वर-स्थान तथा कंठमाधुर्य भी गाने में आवश्यक है।"[2]

वास्तव में भातखंडे जी का यह कथन होरी इत्यादि के विषय में समझा जाना चाहिए, क्योंकि दरबार में तो ध्रुवपद-गायक, वीणा-वादक, सुरसिंगार-वादक, सरोदिए और पखावजी साथ-साथ जन्म बिताते थे। यदि साथ-साथ रहने से ही ध्रुवपद में ताल-प्रधान गायकी उचित समझी जाती, तो रामपुर-परंपरा उसे व्यवहार में लाती।

ताल-प्रधान गायकी में जब गायक-वादक 'जोर आजमाई' करते हैं, तब गायकों को श्वास, स्वर इत्यादि के संतुलन पर अधिकार नहीं रहता, अंग-प्रत्यंग को लय की कुश्ती में झँझोड़ डालने के कारण संगीत-भूमिका में भूकम्प आ जाता है, जो माधुर्य और रस का विनाश कर देता है।

ध्रुवपद-गायकी में इसी विनाशकर प्रथा ने घुसकर उसका पतन किया। फलतः ध्रुवपद को 'शिकार का हाँका' कहा जाने लगा।[3]

पाठ्यक्रम में दुगुन-चौगुन

भातखंडे जी का मत कुछ भी रहा हो, संगीत-परीक्षाओं के वर्तमान पाठ्य-क्रम में ध्रुवपद की मूल स्वरलिपि की दुगुन, तिगुन, चौगुन विद्यार्थियों के लिए अकारण

१. क्र० पु० मा०, भाग ६, पृ० ४२
२. " " " " " पृ० ४३
३. " " " " " पृ० ४३

गायत्री का अनिवार्य जप समझी जाने लगी है। दुगुन, तिगुन, चौगुन इत्यादि का संबंध गीत-प्रयोज्य अक्षरों से है, क्योंकि यह गान-शैली 'पदाश्रित' है, 'स्वराश्रित' नहीं। इस तथ्य की उपेक्षा करके ध्रुवपद या होरी की मूल स्वरावलि की दुगुन, तिगुन, चौगुन करना व्यर्थ की बाजीगरी या उत्पातमात्र है।

पदाश्रित गीति की परंपरा का पूर्व-रूप इस प्रकार है :—

'देवं रुद्रं वंदे' वाक्य को यदि बारह मात्राओं में कहा जाए, तो इस वाक्य का प्रत्येक अक्षर दो मात्राओं में आएगा।

यदि प्रथम चार मात्राओं में 'देवं' कहा जाए और उसकी अपेक्षा दुगुनी लय में अग्रिम चार मात्राओं में 'देवं रुद्रं' कहा जाए, तत्पश्चात् दो मात्राओं में चौगुन लय करते हुए 'देवं रुद्रं' कहा जाए और अंतिम दो मात्राओं में 'वंदे' कहा जाए तो 'मागधी' नामक पदाश्रित गीति होगी। 'संगीत-रत्नाकर' में इसका प्रसार यों किया है :—

मागधी

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२
मा	गा	मा	धा	धनि	धनि	संनि	धा	रिग	रिग	मग	रिस
दे	–	वं	–	दे	वं	रु	द्रं	देवं	रुद्रं	वं	दे
मूल लय				दुगुन				चौगुन		दुगुन	

अर्ध मागधी (एक प्रकार)

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२
मा	री	गा	सा	सा	सा	धा	नी	पा	धा	मा	पा
दे	–	वं	–	वं	रु	द्रं	–	द्रं	वं	दे	–
मूल लय				दुगुन				दुगुन			

पाँचवीं मात्रा में 'देवं' के 'वं' और नवीं मात्रा में 'रुद्रं' के 'द्रं' को दुहराया गया है। 'वं रुद्रं' या 'द्रं वंदे' का कोई अर्थ नहीं, परंतु चमत्कार-प्रदर्शन के लिए शब्दों के अंश लेकर ये अक्षरसमूह बनाए गए हैं।

अर्ध मागधी (दूसरा प्रकार)

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२
मा	मा	मा	मा	धा	सा	धा	नी	पा	निध	मा	मा
दे	–	वं	–	दे	वं	रु	द्रं	रु	द्रं	व	न्दे
मूल लय				दुगुन				दुगुन			

यहाँ 'देवं रुद्रं' अर्थात् प्रथम दो शब्दों को दुगुन लय में तत्पश्चात् दूसरे और तीसरे शब्द को दुगुन लय में कहा गया है।

संभाविता

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२
धा	मा	मा	रिग	रीं	गा	सा	सा	नी	धा	सा	नी
म	–	वत्या	–	दे	–	वं	–	रु	–	द्रं	–

१३	१४	१५	१६
धा	नी	मा	मा
वं	–	दे	–

यहाँ सोलह मात्राओं में आठ दीर्घ अक्षरों का प्रयोग है। दीर्घ अक्षरों का आधिक्य इस गीति का प्रधान लक्षण है।

पृथुला

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
मा	गा	री	सा	सा	धनि	धा	धा	धा	सा	धा	नी	पा	निधप	मा	मा
सु	र	न	त	ह	र	प	द	यु	ग	लं	–	त्र	ण	म	त

यहाँ पंद्रह अक्षर ह्रस्व हैं। ह्रस्व अक्षरों का आधिक्य इस गीति का प्रमुख लक्षण है।

इस प्रकार विचार करने से पता चलता है कि दुगुन, चौगुन का प्रयोग 'मागधी' और 'अर्धमागधी' गीतियों में ही है। वहाँ भी स्वर-लिपि की नहीं, शब्दों या अक्षरों की दुगुन, चौगुन है।

आज का बिहार-प्रदेश 'मगध' के अंतर्गत था, जहाँ की पादाश्रित गान-शैली 'मागधी' और मागधी से प्रभावित आस-पास के क्षेत्रों की गान-शैली 'अर्धमागधी' कहलाती थी।

संभव है कि बिहार की ध्रुवपद-गान-शैली पर यह प्राचीन प्रभाव हो।

तिगुनरूपी त्रिशंकु पूर्वोक्त गीतियों में भी कहीं नहीं है। भातखंडे जी कहते हैं :—

"विद्यार्थी की आवाज के धर्म के अनुसार उसे ध्रुवपद, खयाल टप्पा या ठुमरी इनमें से किसी एक विषय पर विशेष ध्यान देकर उसमें निपुणता प्राप्त करने की ओर ध्यान आकर्षित करना हितकर होगा। बारीक या पतली आवाजवाले व्यक्ति के लिए ध्रुवपद गाने का प्रयत्न करना जितना व्यर्थ है, उसी भाँति मोटी व भारी आवाज-वाले व्यक्ति को ठुमरी गाना व्यर्थ सिद्ध होगा।"

यदि भातखंडे जी का यह कथन यथार्थ है, तो सुकुमार छात्राओं से ध्रुवपद-धमार का गान कराना और उनसे दुगुन, तिगुन की कवायद कराना भातखंडे-धर्म के लिए तो सर्वथा अनुचित है। छात्राओं से मर्दाना और जोरदार गायकी की आशा करना उन्हें लयसंबंधी धरपकड़ में उलझाना भला कहाँ तक संगत है।

देखा यह जाता है कि परीक्षण के समय परीक्षिकाएँ भी होरी, ध्रुवपद की तिगुन के संबंध में परीक्षार्थिनियों का तेल निकालती हैं, जो स्वयं सदा लय से नाराज रहती हैं और जिनके गुरु प्रसिद्ध लयशत्रु हैं।

होरी हो या ध्रुवपद, उनकी आदर्श स्वरावलियों में ताल और राग के धर्म के अनुसार विशिष्ट स्वरों की रोकथाम होती है, मीड़ों का प्रयोग होता है, 'तिगुन'-जैसे उत्पात में 'क्रियाओं' के झटके 'वस्तु' के अंग-प्रत्यंगों को झँझोड़, मरोड़ या बटकर उसका कचूमर बना देते हैं। रामपुर-परंपरा इसी लिए ध्रुवपदों को तो लय के इस बंदर-बाँट से सर्वथा दूर रखती है। होरी, सादरे इत्यादि में यह परंपरा गीतप्रयोज्य शब्दों या शब्दांशों को लय-वैचित्र्य का आधार बनाती है, मूल स्वरसन्निवेश को नहीं।

रामपुर-परंपरा से संबद्ध होने के कारण हमारा विनम्र सुझाव यह है कि पाठ्यक्रम में इस प्रकार का संशोधन किया जाना चाहिए कि भातखंडे जी की निम्न-लिखित गुरु-परंपरा का सन्मत सुरक्षित रहे।

भातखंडे जी की ध्रुवपद-सम्बद्ध गुरु-परंपरा यों है :—

१. हिज हाई-नेस दी नवाब साहब हामिदअली खाँ बहादुर (रामपुर-नरेश और तानसेन-परंपरा के अनुयायी)।

२. साहबजादा सआदतअली खाँ साहब बहादुर (छम्मन साहब तानसेन-परंपरा के अनुयायी), रामपुर।

३. बासत खाँ के पुत्र खाँ साहब मुहम्मद अली खाँ (तानसेन-परंपरा रामपुर)।

४. अमीर खाँ के पुत्र खाँ साहब मुहम्मद वजीर खाँ (तानसेन-परंपरा)।

भातखंडे जी ने कहा है कि **मैं अप्रसिद्ध रागों के विषय में रामपुर की तानसेन-परंपरा को मानता हूँ, इस परंपरा से सम्बद्ध व्यक्ति मेरे गुरु हैं। अप्रसिद्ध राग यदि अन्य गायकों द्वारा अलग विधि से गाए जाएँ, तो उनका मत मुझे मान्य नहीं होगा।**[1]

अप्रसिद्ध रागों के संबंध में जब भातखंडे का तानसेन-परंपरा की ओर इतना आग्रह है, तो ध्रुवपद-गायकी के संबंध में भातखंडे-सम्प्रदाय के द्वारा रामपुर-परंपरा के मत की उपेक्षा क्यों हो ?

ध्रुवपद की बानियाँ

भातखंडे जी कहते हैं :—

ध्रुवपद गायकों को कलावंत की संज्ञा दी जाती है। इन कलावंतों के, उनकी भिन्न-भिन्न वाणी द्वारा खंडार, नौहार, डागुर एवं गोबरहार ऐसे वर्ग होते थे। इन वाणियों की उत्पत्ति कहाँ से हुई, इस प्रश्न का निश्चित रूप से उत्तर नहीं दिया जा सकता। तथापि अनेक विद्वानों का ऐसा मत है कि प्राचीन काल में शुद्धा, भिन्ना, वेसरा, गौडी, साधारणी इत्यादि जो गीतियाँ, अर्थात् गाने की विभिन्न रीतियाँ प्रसिद्ध थीं, उन्हीं में उपर्युक्त वाणियाँ उत्पन्न हुई होंगी। प्रत्येक घराने के गायक अपने पूर्वजों की वाणी से ही गाने का अभ्यास करते थे।.... वर्तमान समय में वाणियों का रहस्य भली-भाँति जाननेवाले गायक शायद ही मिलेंगे।[2]

---

१. क्र० पु० मा०, भाग ४, पृ० ४७

२. क्र० पु० मा०, भाग ४, पृ० ४६

अत्यन्त आश्चर्य की बात है कि संस्कृत भाषा से अपरिचित न होते हुए भी भातखंडे जी ने 'वाणी' शब्द का अर्थ 'स्वराश्रित गान-शैली' समझ लिया। स्वराश्रित गीतियाँ तो शुद्ध राग, भिन्न राग, वेसर राग, गौड़ राग एवं साधारण राग इत्यादि रागों को जन्म देनेवाली हैं न कि प्रबंध-भेदों को जन्म देती हैं। भगवान् जाने वे कौन-कौन विद्वान् थे? जिनके मत का उल्लेख स्व० भातखंडे जी-जैसे बाल की खाल निकालनेवाले शोधकर्ता ने सहमतिसूचक शैली में किया है।

'बानी' का अर्थ बोली या 'उक्ति' होता है, 'गान-शैली' नहीं।

पूर्वोक्त चारों बानियों की चर्चा इस ध्रुवपद में है, जो तानसेन के नाम से 'डागुर' वर्ग को नीचा दिखाने के लिए गढ़ा गया है :—

'बानी चारों के व्योहार सुनि लीजै हो गुनीजन तब पावै यह विद्यासार।' राजा 'गुबरहार', 'फौजदार' 'खंडार', दीवान 'डागुर', वकसी 'नौहार'। अचल सुर पंचम, चल सुर रिषभ, मध्यम, धैवत, निषाद, गांधार। सप्त सुर, तीन ग्राम, इकईस मूर्च्छना, बाईस सुरति, उनचास कूट तान तानसेन अधार।

इस ध्रुवपद में 'गुबरहार' को राजा अर्थात् सर्वश्रेष्ठ, 'खंडार' को फौजदार (फौजदारी न्यायालय का न्यायाधीश), 'डागुर' को दीवान (अर्थमंत्री) और 'नौहार' को बख्शी (सैनिकों को वेतन बाँटनेवाला या कस्बों में कर वसूल करनेवाला) कहकर इन चारों की हैसियत बताई है। इस दृष्टि से 'गोबरहारी' सर्वश्रेष्ठ है और खंडारी, डागुर तथा नौहारी उसकी अधीन या वशवर्तिनी हैं।

भातखंडे जी ने तानसेन को वृन्दावन के बाबा हरिदास स्वामी डागुर का शिष्य कहा है। भातखंडे जी को यह ज्ञात नहीं था कि वृंदावन-वासी रसिकशिरोमणि स्वामी हरिदास जी और हरिदास डागुर सर्वथा दो विभिन्न व्यक्ति हैं। 'हरिदास डागुर' तो तानसेन की अपेक्षा 'जूनियर' थे। यदि हरिदास डागुर तानसेन के गुरु होते और सममुच यह ध्रुवपद तानसेनकृत होता तो इसमें 'राजा, के स्थान पर 'डागुरी' वाणी को रखा गया होता।

तानसेनकृत 'संगीतसार' में षड्ज-पंचम को अचल नहीं बताया गया है। इस ध्रुवपद में ये दोनों स्वर अचल हैं और मनोरंजक बात यह है कि तीनों ग्राम, इक्कीसों मूर्च्छना, बाईस श्रुतियाँ भी डटी हुई हैं, जिनका संबंध षड्ज-पंचम की अचलता के साथ साँप-नेवले जैसा है। इन सब कारणों से यह सिद्ध है कि यह ध्रुवपद अप्रामाणिक है।

मुहम्मद करम इमाम ने तानसेन की वाणी 'गौरारी' ('ग्वालियरी-ग्वारियरी-ग्वारेरी-गौरारी), समोखनसिंह की 'खंडहारी', ब्रजचंद की 'डांगरी' और श्रीचंद की 'नौहारी' बताई है। मुहम्मद करम इमाम के अनुसार ये चारों क्रमशः ग्वालियर, खंडहर और डांगर (दिल्ली के पास) के निवासी थे।

वास्तव में मानसिंह द्वारा प्रवर्तित ध्रुवपदों की चर्चा तानसेन के अनेक ध्रुवपदों में है। यही गौरारी या ग्वालियरी बोली है। 'गुबरहारी' शब्द अपभ्रंश है।

'खंडार' नामक दुर्ग पर बाबर के आक्रमण के समय राणा साँगा ने अधिकार किया था। इस प्रदेश के निवासियों की बोली (विभाषा) ही खंडारी बानी है।

दिल्ली के निकट विद्यमान 'दांग' या 'डाँग' प्रदेश के (डाँग निवासी) लोगों की बोली डाँगरी (डागुरी) बानी है।

नौहार जाति के लोगों की बोली नौहारी हुई।

मानसिंह के द्वारा प्रवर्तित शैली में जब इन प्रदेशों के लोगों के द्वारा अपनी-अपनी बोली में ध्रुवपदों की रचना हुई और अकबरी दरबार में उनका प्रवेश हुआ, तब भाषा-संबंधी वर्गीकरण के लिए गौरारी, खंडारी, डाँगरी और नौहारी बानी (गान-शैली नहीं) शब्द प्रचार में आए।

ध्रुवपद में साहित्य

ग्वालियर-नरेश महाराज मानसिंह के राज्यकाल में पंद्रहवीं शती ई० के अंतिम पंद्रह वर्ष और सोलहवीं शती ई० के आदिम सोलह वर्ष आते हैं। राणा साँगा-जैसे पराक्रमी मेवाड़-नरेश और विजयनगर के प्रतापी एवं विद्या-व्यसनी भूपाल कृष्ण देवराय के राज्यकाल का पर्याप्त भाग भी मानसिंह तोमर के राज्यकाल में आता है। इन तीनों ही महाविभूतियों ने जीवन-भर बर्बरताओं के विरुद्ध संघर्ष किए और भारत की वास्तविक भावनाएँ इनके प्रश्रय में फली-फूलीं।

मानसिंह तोमर ने अपने प्रदेश की लोक-भाषा को राज्य-भाषा होने का गौरव प्रदान किया और उसमें गीत-रचना स्वयं करके तथा अन्य प्रतिभाशाली गायकों को भी इस ओर प्रवृत्त करके ऐसे गीतों की रचना कराई, जो अबुल्फ़ज़्ल के कथनानुसार श्रोताओं के प्रत्येक वर्ग को रुचिकर हुए।

एक ओर तो इन गीतों में देवी-देवताओं की स्तुति थी, जिनका बहिष्कार दिल्ली और आसपास के प्रदेशों की राजसभाओं से मुस्लिम शासन की स्थापना के कारण हो चुका था और दूसरी ओर दाम्पत्य जीवन के मनोरम चित्र थे, जो प्रत्येक सहृदय को अपनी ओर खींचते थे। प्रतापी आश्रयदाताओं के विरुद-वर्णन की झाँकियाँ भी हमें इनमें मिलती हैं, जो कलाकारों के हृदय से निकले हुए धन्यवाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अनेक उन उत्सवों की चर्चाएँ भी इन गीतों में हैं, जो जीवन की कठोर वास्तविकताओं को जन-जन के मन से कुछ समय के लिए तिरोहित कर देती हैं।

मानसिंह का राज्यकाल जिस समय आरंभ हुआ, उस समय हरिदासजी की आयु प्रायः छह-सात वर्ष और सूरदासजी की आयु प्रायः चार-पाँच वर्ष थी। मानसिंह की मृत्यु के समय हरिदासजी प्रायः छत्तीस और सूरदासजी प्रायः चौंतीस वर्ष के थे। इस समय तक मानसिंह तोमर के दरबार में सहस्रों गीतों की रचना हो चुकी थी और उस 'मान-कुतूहल' का निर्माण हो चुका था, जिसमें नायिका-भेद जैसे काव्यांगों पर भी चर्चा की गई थी।

साहित्य के पंडितों का संबंध राज्याश्रय के अभाव और नाट्यशालाओं के विनाश के कारण साहित्य के गेय रूप के साथ न रहा था। 'नाट्यशास्त्र' का अध्ययन कहानियों की वस्तु रह गया था और अभिनवगुप्त-जैसे आचार्यों की चर्चा दर्शन के क्षेत्र अथवा भरत के प्रसिद्ध रस-सूत्र की व्याख्या तक सीमित रह गई थी। इस स्थिति में पर्याप्त सुधार न हुआ और बीसवीं शती के एक प्रसिद्ध हिंदी-आलोचक ने स्वामी हरिदासजी की रचनाओं को ऊबड़-खाबड़ कहकर ध्रुवपदों की चलती चर्चा कर दी थी। अतएव ध्रुवपद-साहित्य आज तक साहित्य के आलोचकों के विचार का विषय न बना। ये इस तथ्य से अपरिचित थे कि गेयत्व के लिए पद्यत्व अनिवार्य नहीं। प्रबंधों के शिल्प-विधान से इनका परिचय न था और यह भी सत्य है कि संगीत को ये सज्जन उपेक्षणीय दृष्टि से देखते थे।

बीसवीं शती ई० में वहाँ 'संगीतरत्नाकर' भी पूर्णतया उपेक्षित हुआ, जो मानसिंह तोमर और राजा रामचंद्र बघेला की राजसभाओं से लेकर मुगल सम्राट् शाहजहाँ तक के दरबारों में विचार का विषय बना रहा था, फलतः अनेक व्यक्तियों की दृष्टि में केवल स्वर और राग रह गए। कुछ व्यक्तियों को यह शिकायत रही कि प्राप्त ध्रुवपदों के साथ उनकी ऐसी स्वरलिपि भी क्यों नत्थी नहीं है, जो पढ़ते ही उनकी समझ में आ सके। उन्होंने दुर्भाग्यवश इस ओर ध्यान नहीं दिया कि 'संगीत-रत्नाकर' में समस्त अध्याय सात हैं, केवल दो नहीं।

अस्तु, वाग्गेयकारों की उत्तम परंपरा के उच्छेद ने आज तक ध्रुवपदों का वास्तविक मूल्यांकन नहीं होने दिया है।

ऐतिहासिक, सांगीतिक, सामाजिक, साहित्यिक तथा और भी अनेक दृष्टियों से ध्रुवपद-संग्रहों में हमारे लिए बहुमूल्य सामग्री है। इस अवसर पर इन दिशाओं में संकेत-मात्र ही संभव है।

तानसेन के जन्मकाल पर प्रकाश डालनेवाला एक ध्रुवपद है :—

छत्रपति मान राजा, तुम चिरंजीव रहौ जौलो ध्रुव मेरू तारो।
चहुँ देस से गुनीजन आवत, तुम पै धावत सबहिं को जग उज्यारौ॥
तुमसे जो नहीं और कासे जाय कहूँ दौर, मोयँ रक्षा करन हारौ।
देत करोरन गुनीजन कौ अजाचक किये तानसेन प्रतिपारौ॥

तानसेन का यह ध्रुवपद छत्रपति राजा मान की प्रशंसा में है। यह राजा मान अकबर के दरबारी मानसिंह नहीं हैं, क्योंकि न तो ये छत्रपति थे और न तानसेन के प्रतिपालक। अप्रैल, १५८९ ई० को तानसेन की मृत्यु होने तक अकबरी दरबार के मानसिंह केवल कुँवर मानसिंह थे। नवम्बर १५८९ ई० में अर्थात् तानसेन की मृत्यु के प्रायः सात महीने पश्चात् अपने पिता भगवानदास के मरने पर मानसिंह को 'राजा' की पदवी मिली थी। अतः पूर्वोक्त ध्रुवपद मानसिंह तोमर की ही प्रशंसा में है, जो इस बात का साक्षी है कि मानसिंह तोमर के मृत्युकाल १५१६ ई० से पूर्व तानसेन ऐसे ध्रुवपदों की रचना में समर्थ हो गए थे, जो मानसिंह तोमर के सम्मुख प्रस्तुत किए जा सकें। यह तथ्य बताता है कि मानसिंह तोमर की मृत्यु के समय तानसेन की आयु पच्चीस वर्ष से कम नहीं थी। इसका अर्थ यह है कि तानसेन के आनुमानिक जन्मवर्ष सन् १४९१ ई० में शेख मुहम्मद गौस केवल नौ वर्ष के थे। इस संबंध में इससे अधिक कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है।

एक ध्रुवपद में राजाराम बघेला की दानशीलता के साथ-ही-साथ शरणागत-वत्सलता की भी प्रशंसा है, उससे तानसेन के धर्म पर भी हल्का-सा प्रकाश पड़ता है। 'आईने-अकबरी', 'मुन्तखबुतवारीख' और 'मआसिरूल्उमरा' जैसे इतिहासग्रंथ साक्षी हैं कि तानसेन अकबरी दरबार में बलात् लाए गए थे और उन्हें दरबार में भेज देने का अकबरी आदेश पहली ही बार नहीं मान लिया गया था। इस ध्रुवपद में तानसेन की मनःस्थिति का चित्रण है। ध्रुवपद यों है :—

मगन रौर दालिद्र भौ कौन हरै, जो निरंद के जिअ में जौन धरै।
कहा भयौ जौ भये छत्रपति नरेस, रामराजा कौ परसाद पायें

बिना बिपतिसागर कौन तीर तरै ।
बलि भए, बेन भए, सत्त हरिचंद भए, जिनकी कीरति कौन तीर, करै
बीर भानजू को नंद, काटन दुखदंद-फंद, विनती करत तानसेन डरै ।
उतरि दिसा तौ पछिम जो उगै भान दैव को रामुस्यान करै ।

इस ध्रुवपद में 'जो निरंद के जिअ में जौन धरै' 'कहा भयौ जो भए छत्रपति नरेस' और 'विनती करत तानसेन डरै' शब्द ध्यान देने योग्य हैं। ध्रुवपद का अर्थ यह है कि जो राजाराम के हृदय में भी परमात्मा 'जौन' (यवन अकबर) को बिठा दे, तो कोलाहल (विलाप) में मग्न गरीबों का भय कौन हरै। क्या हुआ, जो (अकवर-जैसे) छत्रपति नरेस हो गए, राजा रामचंद्र का प्रसाद पाए बिना विपति के समुद्र से कौन पार करे और कौन पार उतरै। बलि, बेन, सत्य हरिश्चंद्र-जैसे व्यक्ति हो गए, उनकी कीर्ति का निस्तार और वैसे कृत्य कौन करे। वीरमान का पुत्र दुःख-द्वन्द्व के फंदों को काटनेवाला है (परंतु इस स्थिति में), उसकी विनती करते हुए तानसेन डरता है, तथापि रामचंद्र (शरण) देने में तभी कृपणता कर सकता है, जब सूर्य अपनी दिशा से उतर कर पश्चिम में उदित होने लगे।

अकबर को 'यवन' कहकर इस ध्रुवपद में जैसी उपेक्षा तानसेन ने की है, वह यह सिद्ध करती है कि वे स्वयं यवन नहीं हुए थे। यह ध्रुवपद हमारे पास एक हस्तलिखित ध्रुवपद- संग्रह में है।

'औरंगजेब नामा' जैसा इतिहास-ग्रंथ साक्षी है कि सिंहासन पर बैठने के दस वर्ष बाद तक औरंगजेब गाना-बजाना भली-भाँति दरबार में सुनता था। खुशहाल खाँ, विसराम खाँ और रसवीन खाँ जैसे गायक उसके आश्रित थे। यहाँ तक कि दरबार में गाना-बजाना बंद होने के पश्चात् भी सन् १६७१ में विसराम खाँ की मृत्यु होने पर औरंगजेब ने खुशहाल खाँ को तथा विसराम खाँ के पुत्र भूपत को मातमी खिलअतें दी थीं।

औरंगजेब का ज्योतिषियों को मुहूर्त दिखाना और वर्ष में कई बार तुलादान करना भी 'औरंगजेब नामा' से सिद्ध है। औरंगजेब के अंतःपुर में तो गाना-बजाना कभी बन्द नहीं हुआ और इतिहासकार मनुक्कि कहता है कि बेगमों और शहजादियों के मनोरंजन के लिए औरंगजेब गायिकाओं और नर्त्तकियों की नियुक्ति करता रहा। औरंगजेब के संबंध में दो रचनाएँ देना पर्याप्त होगा :—

उतिम लगुन सब सगुन गुन-गाइनि ब्रह्मा बिस्न महेस व्यास कीनौ
साहि औरंगजेब तखत बैठे आनन्दन ।
नग खींचत धाम बिसालि वरगातिनि मधम्हा (वधावा) गावत,
तिनिके साहि रीझि हरत दुख दंदन ।
एकै निर्तन लास-तंड एकै बम्हावत कवि बंदी, करि पंडित काबि कतर
हैं छेदन । कनिक झर लगाए साहि आलमगीर पीर इहि लोक के
लोगन तारे, जे फंदेई रहत दुख-दालिद्र के फंदन ।

दूसरा गीत यद्यपि 'बनरा' है, परंतु गीत-साहित्य के ऐतिहासिक महत्त्व पर प्रकाश डालता है। बेदारबख्श औरंगजेब का पोता और आजम का लड़का था, इसका

विवाह औरंगजेब के राज्यकाल में २६ जुलाई, १६८६ ई० को हुआ था, जबकि औरंगजेब के दरबार में गाना-बजाना बंद हुए सोलह-सत्रह वर्ष बीत चुके थे। यह गीत साक्षी है कि औरंगजेब के अंतःपुर में गाना-बजाना सदा होता रहा है। गीत यों है :—

सुघर बना बनि आइलो गाओ सब मिलि विदारबकस प्यारौ ।
चिर चिरंजीजौ साहि आजम कौ नंदन जौलों घरनि धुअतारौ ॥

ध्रुवपदों के संगीत-शास्त्र संबंधी महत्त्व पर केवल दो ध्रुवपद प्रस्तुत करने ही पर्याप्त होंगे। तानसेन की वह रचना यों है :—

धैवत पंचम मधिम गंधार रेखब परज सुर साधि साधि गुनी
निषादरे। तेरह अलंकार, बाईस श्रुति साधि, वाद उचारि सा रे
ग म प ध नि सा सुघर स नि ध प म ग रे। त्रिविध त्रिविध
सुरन मध्य तृतीय तृतीय विर्तत जानत विद्वान सप्तसुर, तीनि ग्राम,
इकईस मूर्च्छना, छत्तीस भेद नाद वाद तानसेन विधान रे।

षड्जग्राम के ध, प, म, ग, रे, सा, नि भरत की षड्जग्रामीय निषादादि मूर्च्छना का अवरोहात्मक रूप है, तानतेन इसकी साधना करके अलंकारों और श्रुतियों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए कहते हैं, क्योंकि 'संगीत-रत्नाकर' जैसे अकबरी दरबार में विचारणीय ग्रंथ मूर्च्छना-पद्धति में लिखे हुए हैं। इतना करने के पश्चात् तानसेन का कथन है कि 'सा, रे, ग, म, प, ध, नि' का उच्चारण करो। यह निर्देश बताता है, भरत के षड्जग्रामीय नि, सा, रे, ग, म, प, ध, 'अकबरी युग में' सा, रे, ग, म, प, ध, नि' कहलाने लगे थे।

अदारंग का एक ध्रुवपद है :—

होत मधिम खरज पंचम रिखब धैवत गंधार निषाद मधिम पंचमसुर।
अदारंग जाकौ ब्यौरो काहू सौं न बूझिए, जे जानत हैं तिनि पायौ बड़ौ गुर॥

षड्जग्रामीय सांतरा मूर्च्छना को मध्यमग्रामीय मूर्च्छना में परिवर्तित करने-वाले 'भरतसूत्र' का यह सीधा-सादा भावार्थ है, जो यह सिद्ध करता है कि तानसेन और उसके वंशजों को ग्राम एवं मूर्च्छना के सिद्धांतों का भली-भाँति ज्ञान था। अनेक ध्रुवपदों में 'सपत गुप्त' 'सपत प्रकट' स्वरों की मूर्च्छनानुसारिणी और मेलानु-सारिणी, दोनों संज्ञाओं की ओर संकेत किया गया है।

दशहरा, दीवाली, वसंत, ईद, वर्षगाँठ-जैसे अवसरों से सम्बद्ध ध्रुवपद भी हैं, जिनमें हम औरंगजेब और वसंत से सम्बद्ध एक ध्रुवपद प्रस्तुत कर रहे हैं, जिसमें 'मंगलामुखियाँ' ईश्वर से यह प्रार्थना कर रही हैं कि औरंगजेब हमारे साथ इसी प्रकार धमारी खेलते रहें।

चिरंजीव रहौ सुख संचति संपति साही कौं एकछत्र दिलीराज करवर होउ
बुर्हेपुर जस कीरति अधिकाई। रोमस (लोमश) कै सी आर्बल (आयुर्बल)
सौफल फल जनलेखन, लाख करोर बरस लौं आर्बल बाढ़ै तिहारी। और जौ
मन अंछा होई तुम्हारी अब सोई करता करम करै ऐसी सुफल होई हमारी।

अनगिन आनंद बसंत मुबारक साहिनसाहि औरंगजेब जू तुम ऐसी ही अनगिन बरस लौं हम मंगलामुखीनि संग खेलौं धमारी।

नख-शिख अंगवर्णन, ऋतुवर्णन, नायिका-भेद इत्यादि पारस्परिक विषयों का निर्वाह ध्रुवपदों में भली-भाँति हुआ है। अर्थालंकारों का सुन्दर प्रयोग हमें ध्रुवपदों में दिखाई देता है। सांगरूपकों के प्रयोग में ध्रुवपद-रचनाकार सिद्धहस्त थे।

तानसेन के नयन-वर्णन-संबंधी ध्रुवपदों की दो झाँकियाँ इस प्रकार हैं।

झूमि-झूमि आवत नैना भारे तिहारे। बिथुरी अलकैं स्याम घन सी लागत झपकि-झपकि उघरि जात मेरे जान तारे। अरून बरन नैना ता मैं लाल लाल डोरे ता पर यह मौज वारि वारि डारैं। तानसेनि कौ प्रभु सदाई छके रहत कोकिल की धुनि मोहि बिन अंजन कारैं।

बिखरी-बिखरी अलकों को घन कहना तो कोई नई बात नहीं, परंतु उन अलकों में ढक-ढककर उघड़ जानेवाले नैनों को तारे कहना विलक्षण उत्प्रेक्षा है।

एक अन्य ध्रुवपद में तानसेन ने पति की ओर नायिका की तिरछी चितवन को यह कहा है कि मानो त्रिवेनी उलट कर बही हो।

'सेत, स्याम, रतनार' नयनों को एकसाथ 'त्रिवेणी' कह देना तो बढ़िया बात है ही, परंतु उस त्रिवेणी को मानिनी के द्वारा उल्टा बहा देना एक समर्थ कवि का ही कार्य है। 'उत्प्रेक्षा' और संदेह का सुन्दर प्रयोग इस ध्रुवपद में है:—

त्रिवेणी उलटि बही मानो तिरछी चितवनि त्रीआ पिया तन देखो। त्रिवेणी गंगा सलिता (सरिता) को संग लिए सागर सौ कछु अनवन देखो। कैधौं कहूँ पतितन घेरी कैधौं कहूँ पास मोछ कैधौं बहुराइवे के ठनगन पैरवे। तानसेन के प्रभु मोहिनी सी पढ़ि डरति कैधौं कहूँ जागे संकर मुनि देखो।"

अकबर के नाम से रचित एक ध्रुवपद में कहा गया है कि नायक के साथ में नायिका रात-भर जागी है और उसके लाल नेत्र बंधूक पुष्प के समान प्रतीत होते हैं, पुतलियाँ बंधूक पुष्पों में लटपटाते हुए भौंरों के समान प्रतीत होती हैं, जिन पर उड़कर मजीठ का रंग पड़ गया हो।

लाल के संग ललनि रैन जागी और लाल लोइनि लागिरी मानो बन्धूक पुहुप डीठे। ता मध पुतरी एसी लागै मानौ भँवर लटपटात उनि मध उडि परे रंग नजीठे। उनिके हेस-मैंष रहिहौ मेरे जान कमल विजन मीन मृग लागे हैं सीठे। साहि अकबर की सौ हौ वामैं रीझी अलक लड़े फुनि बड़े छबीले ढीले चितवत नीके।

मुसलमान, गजल, कव्वाली और खयाल

दक्षिण-भारत के कुछ लोगों का कथन है कि मुसलमानों ने भारतीय संगीत को भ्रष्ट कर दिया और कुछ मुसलमान बंधुओं का विश्वास है कि मुसलमानों ने भारतीय संगीत को सजाया और सँवारा। आइए, इतिहास की दृष्टि से वास्तविकता का अध्ययन करें।

अरब के साथ भारतवर्ष के व्यापारिक और सांस्कृतिक संबंध सहस्रों वर्षों से हैं। हजरत मुहम्मद के जन्म से पूर्व के कुछ अरबी ग्रंथ रामपुर के रजा-पुस्तकालय में सुरक्षित हैं, जिनमें कुछ गीतों की विशिष्ट 'स्वरलिपि' भी है, जो सामगान करनेवाले ब्राह्मणों की 'गात्रवीणा-विधि' से प्रभावित है। यह तथ्य इस बात का परिचायक है कि अरब लोग भारतीय स्वरविधि से उस समय परिचय प्राप्त कर चुके थे, जिस समय इस्लाम का उदय भी नहीं हुआ था। दक्षिण-भारत में अरब उपनिवेशों की स्थापना का इतिहास तो बहुत पुराना है। ८६८ ई० में जाहृज नामक एक अरब-लेखक ने भारतीय संगीत की भूरि-भूरि प्रशंसा की है और 'इकतारे' (एकतंत्री वीणा?) की चर्चा विशेषतया की है।[१] स्पेन के एक इतिहासकार काजी साइद उंदलुस्मी ने १०७० ई० में लिखा है कि एक भारतीय संगीत-ग्रंथ हम तक पहुँच चुका है, जिसमें रागों और स्वरों का वर्णन है।[२] अमीर खुसरो ने भारतीय संगीत को विश्व-भर में सर्वश्रेष्ठ कहा है और इस तथ्य का भी उद्घाटन किया है कि भारतीय संगीत की शिक्षा लेने के लिए विदेशों से अनेक विद्यार्थी भारत आते रहे हैं।[३]

आज कुछ भी कहा जाए, परंतु पूर्वोक्त तथ्य यह सिद्ध करते हैं कि अरब विद्वान् भारतीय संगीत के अत्यंत प्रशंसक थे, उसे सीखने के लिए उत्सुक थे और खुसरो-जैसे भारत में उत्पन्न, प्रतिभाशाली मुसलमानों को भारतीय संगीत के सर्वश्रेष्ठ होने पर गर्व था।

सिंध पर मुहम्मदबिन कासिम का आक्रमण ७१२ ई० में हुआ। विजय के पश्चात् मुहम्मदबिन कासिम ने ब्राह्मणों को उच्च पदों पर नियुक्त किया और शासन-कार्य उन्हें सौंप दिया। अरब सैनिक भारत में बस गए और उन्होंने भारतीय नारियों से विवाह किया। परिणाम यह हुआ कि मनसूरा, कुजदार, कदावेल, वैजा, महफूजा और मुलतान-जैसी बस्तियाँ अरब और भारत के संगीत का संगम-स्थल बन गईं।

न तो भारत में बस जानेवाले अरब मुसलमान तत्काल अपना संगीत भूल सकते थे और न उनकी भारतीय पत्नियाँ भारतीय धुनों को तिलांजलि दे सकती थीं, फलतः पूर्वोक्त बस्तियों में उत्पन्न संतानें जो-कुछ गुनगुनाती थीं, वह अरब और भारतीय धुनों का संकर था। यद्यपि अरब मुसलमानों ने पूर्वोक्त बस्तियों को अपनी

---

१. 'अरब और हिंद के ताल्लुकात', लेखक सैयद सुलेमान नदवी, हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, पृष्ठ १५७।

२. वही, पृष्ठ १५८।

३. 'खिलजीकालीन भारत', पृष्ठ १८०

संस्कृति का केंद्र बना दिया, अपनी विद्याओं के शिक्षण-प्रशिक्षण की व्यवस्था भी वहाँ की, तथापि मातृभूमि, मातृभाषा और मातृसंगीत से अलग-थलग रह पाना अरबों की उन संतानों के लिए संभव न था, जिनका जन्म भारतीय नारियों के गर्भ से हुआ था।

७५३ ई० और ७७४ ई० के मध्य में अनेक भारतीय ग्रंथ अरब ले जाए गए, उनका अरबी अनुवाद हुआ। इस समय बगदाद पर खलीफा मंसूर का शासन था। खलीफा हारूँ (७८६-८०८ ई०) के युग में अनेक अरब-विद्यार्थी विभिन्न विद्याओं के अध्ययन के लिए भारत भेजे गए और भारतीय विद्वानों को बगदाद बुलाया गया।

८७१ ई० में सिंध खलीफाओं के शासन से मुक्त हो गया और भारतीय अरबों ने स्वतंत्र शासक-वंशों की स्थापना की।

सिंध पर अरबों का प्रभाव जितना बढ़ता गया, ब्राह्मणों का प्रभाव उतना ही घटता गया। सिंध का संगीत अरबों के प्रभाव से युक्त है।

प्रसिद्ध संगीत-मर्मज्ञ शेख बहाउद्दीन जकरिया का संगीत-संप्रदाय अरबों से अधिक प्रभावित है। ये सूफियों की सुहरवर्दी-परंपरा के महापुरुष थे, इनका कार्य-क्षेत्र सिंध था। पंजाब और सिंध के लोक-गीतों की धुनें इस संप्रदाय से अधिक प्रभावित हैं।

भारतीय संगीत के विद्यार्थी को यह तथ्य अपने सम्मुख सदैव रखना चाहिए कि खैबर की घाटी से होकर भारत में आनेवाले मुसलमानों का स्वभाव, चरित्र, संगीत इत्यादि उन मुसलमानों से सर्वथा भिन्न था, जो मुसलमान अरब से भारत आए थे। अरबी, अरब मुसलमानों की मातृभाषा थी, गजनवियों या गोरियों की नहीं। मुसलमानों के इन दोनों वर्गों में धार्मिक संबंध भले ही हों, सांस्कृतिक संबंध नहीं थे।

मुलतान पर अरब मुसलमानों के प्रभाव से जिन धुनों या रागों का जन्म हुआ, वे उन धुनों या रागों की अपेक्षा सर्वथा पृथक् स्वभाव के थे, जिनका जन्म अजमेर पर मुईनुद्दीन चिश्ती अजमेरी ने अजमेर की भाषा और अजमेर में प्रचलित धुनों और छंदों में अपनी बात कहने के लिए अपने कव्वालों को प्रेरित किया, जबकि अरबों के सामने ऐसा कोई 'मिशन' न था। यही कारण है कि चिश्ती-परंपरा के प्रसिद्ध पुरुष शेख निजामुद्दीन चिश्ती की दरगाह में खुसरो की जो रचनाएँ गाई जाती हैं, वे सर्वथा भारतीय हैं। उनकी धुनें या तर्जें सर्वथा प्रादेशिक लोक-गीतों से प्रभावित हैं, उन्हें मूर्च्छना-पद्धति में वर्गीकृत किया जा सकता है, जबकि 'मुलतानी-काफी' या 'सिंधी-काफी' की धुनों को मूर्च्छना-पद्धति में वर्गीकृत नहीं किया जा सकता।

खुसरो ने कहा है कि मुझे ईरानी संगीत के चारों उसूलों और बारह परदों का ज्ञान है, परंतु उन्होंने प्रशंसा भारतीय संगीत की ही की है। उसे अरबों के संगीत की अपेक्षा श्रेष्ठ कहा है। खुसरो के इस कथन से यह सिद्ध होता है कि उनका प्रत्यक्ष परिचय ईरानी संगीत के सिद्धांतों से तो था, परंतु उस अरब-संगीत से नहीं, जिसका प्रभाव सिंध पर था। अरब-संगीत और ईरानी संगीत एक ही बात नहीं हैं। यह सत्य है कि खुसरो ने भारतीय रागों के वर्गीकरण में मुकाम-पद्धति का आश्रय लिया,

क्योंकि वर्गीकरण की यह पद्धति अरब विजेताओं के प्रभाव से ईरान में भी प्रचलित हो गई थी, परंतु इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि ईरानी धुनें बदल गई थीं।

यह भी कहा जाता है कि खुसरो ने भारतीय और अभारतीय रागों के संकर से कुछ जटिल रागों का निर्माण भी किया था, परंतु ये राग चिरंजीवी न हुए।

अस्तु, अब तक के विचारों का सार यह है कि अरब मुसलमान भी भारतीय संगीत के प्रशंसक थे और खुसरो भी। अरबों के संगीत का प्रभाव सिंध के संगीत पर हुआ और मुहम्मद गोरी की सेनाओं के साथ भारत आए हुए शैख मुईनुद्दीन चिश्ती अजमेरी के कव्वालों में भारतीयता अधिक रही। चिश्ती-परंपरा के अमीर खुसरो पर भारतीय प्रभाव अधिक था और शैख बहाउद्दीन जकरिया पर उन कलाकारों का, जो उनसे पूर्व अरबों से प्रभावित हो चुके थे।

शैख बहाउद्दीन जकरिया का संगीत-संप्रदाय और खुसरो का 'इंद्रप्रस्थ (दिल्ली)-मत'[1] पृथक्-पृथक् हैं, भले ही इनके राग-वर्गीकरण की पद्धति सदृश हो।

आज 'गजल' और 'कव्वाली' को भले ही 'लाइट म्यूजिक' समझा जाता है, परंतु इतिहास कुछ और है। मुसलमानों के संदर्भ में 'गजल' और 'कव्वाली' को देखा जाए।

गजल

'गजल' अरबी भाषा का स्त्रीलिंग शब्द है, जिसका अर्थ है—'प्रेमपात्र से वार्तालाप'। उर्दू और फारसी की कविता का एक विशेष प्रकार 'गजल' कहलाता है। एक गजल में कम-से-कम पाँच और अधिक-से-अधिक ग्यारह शेर होते हैं। सारे शेर एक ही 'रदीफ' और 'काफिए' में होते हैं और प्रत्येक शेर में एक स्वतंत्र भाव होता है। गजल का प्रथम शेर 'मत्ला' और अंतिम शेर 'मक्ता' कहलाता है। मक्ते में शायर अपना उपनाम रखता है। गजल का संग्रह 'दीवान' कहलाता है।

शृंगारपरक होने के कारण काव्य-रसिकों और संगीतानुरागियों को गजलें परम प्रिय रही हैं और सूफियों को भी। काजी हमीदुद्दीन नागौरी के कव्वाल महमूद ने सुलतान शम्सुद्दीन इल्तुतमिश (रा० का० १२१०-१२३५ ई०) को ग़जल गाकर मुग्ध कर दिया था।[2] गयासुद्दीन बलबन (रा० का० १२६५-१२८७ ई०) के पुत्र मुहम्मद ने शैख बहाउद्दीन जकरिया के पुत्र शैख कदवा को अपनी सभा में निमंत्रित किया था, उस समय अरबी गजलें गाई गई थीं।[3] कैकुबाद (रा० का० १२८७-१२९० ई०) के युग में तो गली-गली गजल-गायक उत्पन्न हो गए।[4] जलालुद्दीन खिलजी के युग में

१. 'इंद्रप्रस्थ-मत' के विषय में जानने के लिए पढ़िए, 'मुसलमान और भारतीय संगीत', राजकमल-प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ ३१–३८।

२. 'मुसलमान और भारतीय संगीत', पृष्ठ ५७।

३. 'मुसलमान और भारतीय संगीत', पृष्ठ ५७।

४. 'मुसलमान और भारतीय संगीत', पृष्ठ ५८।

अमीर खुसरो रूपवती गायिकाओं और सुंदर किशोरों की छवि का वर्णन अपनी गजलों में करते थे।[१] अलाउद्दीन खिलजी (१२९६-१३१६ ई०) के युग में महमूद, मुहम्मद और खुदादी प्रसिद्ध गजल-गायक थे।[२] कुतुबुद्दीन खिलजी (१३१६-१३२० ई०), गयासुद्दीन तुगलक (१३२०-१३२५ ई०) और मुहम्मद तुगलक (१३२५-१३५१ ई०) के युग में भी गजल लोकप्रिय थी। फीरोज तुगलक (१३५१-१३८८ ई०) के युग में भी गजल का सम्मान था।[३]

बहमनी सुलतान मुहम्मद शाह प्रथम के दरबार में खुसरो की गजलें गानेवाले तीनसौ गायक थे।[४]

सन् १५३५ ई० में बैजू ने हुमायूँ को फारसी गजल गाकर ही रिझाया था।[५] अकबर का संरक्षक बैरम खाँ रामदास की गजलों की शैली पर ही मुग्ध था।[६] बैजू और रामदास-जैसे कलावंतों का प्रभूत अधिकार गजल गाने पर भी था। जहाँगीर ने गजल-गायक शौकी को 'आनंद खाँ' उपाधि दी थी।[७]

तात्पर्य यह है कि आज 'गजल' को संगीत की दृष्टि से भले ही हेय समझा जाने लगा हो, परंतु वास्तविक रूप में गजल गाना सरल बात नहीं है। संगीत-मर्मज्ञ बादशाहों और सूफियों ने गजल का सम्मान सदैव किया है।

गजलों में प्रयोज्य प्रायः सभी छंद भारतीय छंदःशास्त्र के अंतर्गत आते हैं और भारतीय रागों की शुद्धता की रक्षा करते हुए गजल गानेवाले गायक विशिष्ट परंपराओं में होते रहे हैं।

क़व्वाली

'कौल' का अर्थ 'कथन, वचन, बात, प्रवचन, प्रतिज्ञा या विशिष्ट उक्ति' है। 'कौल' का गानेवाला 'कव्वाल' है। कव्वालों की गान-शैली 'कव्वाली' और कव्वालों की गान-शैली में गाई जानेवाली गजलें ही गेय रूप में 'कव्वाली' कहलाती हैं। कव्वाली में तान, पलटा, जमजमा, बोलबाँट सभी-कुछ होता है। प्रसिद्ध खयाल-गायक उस्ताद तानरस खाँ बहुत अच्छे कव्वाल थे। गजलों को एक विशिष्ट शैली में गानेवाले कव्वाल सूफियों के साथ सदा से रहा करते थे। शैख मुईनुद्दीन चिश्ती (मृत्यु १२३५ ई०) की सेवा में भी कव्वाल थे, शैख कुतुबुद्दीन बख्त्यार काफी (मृत्यु १२३६ ई०) का तो स्वर्गवास ही कव्वाली सुनते-सुनते हुआ था। शैख निजामुद्दीन चिश्ती के जनाजे के साथ-साथ उनकी वसीयत के अनुसार कव्वाल लोग गाते हुए चल रहे थे,

---

१. 'मुसलमान और भारतीय संगीत', पृष्ठ ५८।
२. 'मुसलमान और भारतीय संगीत', पृष्ठ ५९।
३. 'मुसलमान और भारतीय संगीत', पृष्ठ ६०-६१।
४. मुसलमान और भारतीय संगीत', पृष्ठ ६६।
५. 'आजकल' (उर्दू) अगस्त, १९५६, पृष्ठ १०५।
६. 'मंतखबुत्तवारीख', लो-कृत अनुवाद, खंड २, पृष्ठ ३७।
७. 'जहाँगीरनामा', पृष्ठ ३९६, ब्रजरत्नदास-कृत हिंदी-अनुवाद।

'कौल' और 'गजल' की चर्चा विजयनगर के प्रतापी सम्राट् कृष्णदेवराय के सभा-पंडित लक्ष्मीनारायण ने अपने ग्रंथ 'संगीत-सूर्योदय' में की है।

अत: गजल और कव्वाली का आदर्श रूप सदा से सम्माननीय रहा है। प्रसिद्ध उस्ताद बड़े मुहम्मद खाँ कव्वाल-बच्चे ही थे, जिनकी नकल हस्सू खाँ और हद्दू खाँ ने की, अत: ग्वालियर की खयाल-गायकी कव्वालों के बच्चों से प्रभावित है।

'गजल' का विषय लौकिक प्रेम है, यदि गज़ल के प्रेमपात्र को ईश्वर समझकर भक्तिभावमग्न हुआ और गाया जाए, तो वही 'कव्वाली' है। लौकिक प्रेम या ईश्वरीय भक्ति को किसी संप्रदाय का एकाधिकार तो नहीं कहा जा सकता।

कव्वाली सुनकर भाव-मग्न हो जानेवाले, आनंद में झूमकर नाचनेवाले सज्जन चाहे हमीदुद्दीन नागौरी हों अथवा कीर्तन-पदों पर नाचनेवाले चैतन्य महाप्रभु हों, दोनों में क्या अंतर है!

संगीत का प्रयोजन और गेय वस्तुओं का विषय-विभाजन समस्त संसार में सदृश है। 'लय' भी ब्रह्मांड-भर में एक है। विचारक का कार्य संगीत के ढाँचे पर विचार करना रह जाता है।

गजलों और कव्वालियों का प्रभाव उन-उन स्थानों पर अधिक रहा, जिन-जिन स्थानों पर चिश्ती-परंपरा के सूफी संतों का प्रभाव था। बहमनी सुलतानों और उनके उत्तराधिकारियों की सभाएँ गजल-गायकों के स्वरों से गूँजती रहीं।

दिल्ली से स्वतंत्र होकर जब जौनपुर मुस्लिम विद्याओं का केंद्र बना, तब गजलें और कव्वालियाँ वहाँ खूब फलीं-फूलीं और खुसरो का संप्रदाय वहाँ विकसित हुआ। हुसेनशाह शर्की-जैसे जौनपुर के सुलतान खुसरो-पद्धति के महापंडित और नवीन संकीर्ण रागों के आविष्कारक हुए।

हुसेनशाह शर्की के युग के अंतिम भाग में ही मानसिंह तोमर ने ब्रज-भाषा के माध्यम से ध्रुवपद-पद्धति का पुनरुत्थान किया। बैजू, बख्शू, तानसेन इत्यादि के माध्यम से ध्रुवपद मुगल-दरबार में सम्मानित हुआ, क्योंकि मुगलों की राजधानी होने का गौरव आगरा को प्राप्त था, परंतु इस युग में भी ध्रुवपद-संप्रदाय को पराजित करने के लिए खुसरो-संप्रदाय प्रयत्नशील था। बाबर के युग में उसके एक अमीर शैख घूरन अनुपम संगीत-निष्णात थे। इसी युग में शैख अदहन भी अच्छे संगीतज्ञ थे।[1] इन्हीं शैख अदहन के शिष्य शैख बंभू ने गा-बजाकर अकबर को प्रसन्न किया और प्रतियोगिता के लिए अत्यंत वृद्ध तानसेन को १५७५ ई० में ललकारा था। इस अवसर पर अबुल्-फज्ल के पिता शैख मुबारक ने तानसेन के कंठ-स्वर को जंगली जानवरों की आवाज-जैसा बताया था।[2]

जब दिल्ली को पुन: मुगलों की राजधानी होने का गौरव प्राप्त हुआ, तब दरबार पर सूफी प्रभाव के कारण पुनः कव्वालों की तूती बोलने लगी। मुहम्मद शाह

१, मुसलमान और भारतीय संगीत', पृष्ठ ७१।

२. 'मुंतखबुत्तवारीख', खंड २, पृष्ठ २४५।

रँगीले के युग में ताज खाँ, उनके पुत्र जानी और गुलाम रसूल, मुइनुद्दीन, बुरहानी, जट्टा, अल्लाहबंदे इत्यादि प्रसिद्ध कव्वाल थे ।[१] सदारंग-जैसे कलावंत को इन्हीं कव्वालों से पाला पड़ा था । वे स्वयं भी सूफियों के मुरीद थे । तानरस खाँ अंतिम मुगल बादशाह बहादुरशाह जफर के गवैये थे और जैसा कि कहा जा चुका है, कव्वाली भी खूब गाते थे ।

'खयाल' शब्द का अर्थ 'विचार' या 'कल्पना' है । 'खयाल' शब्द 'ध्यान' का अनुवाद है । राजस्थान में कवि-कल्पना अथवा ऐतिहासिक घटना के आधार पर बनाए हुए चित्र 'खयाल' कहलाते हैं । चंग बजाकर लावनी गानेवाले लोग उन गीतों को 'खयाल' कहते हैं, जिनमें ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन होता है ।

शाह बुरहानुद्दीन जानम (सोलहवीं शती का उत्तरार्द्ध)-जैसे प्रसिद्ध सूफियों की ऐसी रचनाएँ 'खयाल' कही गई हैं, जिनमें 'प्रेम की पीर' का चित्रण है ।[२] पीर, पैगंबर की प्रार्थना या ध्यान से युक्त वे रचनाएँ 'खयाल' कही गईं, जो गजल की भाँति छंदोबद्ध नहीं थीं । इसलिए 'गजल', 'कव्वाली' और 'खयाल' गाना एक ही वर्ग का कार्य था । खयाल में दो धातु 'स्थायी' और 'अंतरा' होते थे । ये खयाल-गायक खयाल को 'बंडा' या 'लँगड़ा ध्रुवपद' कहते थे । एक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि कव्वालों ने 'खयाल' के द्वारा 'ध्रुवपद' का जवाब दिया था ।

मुहम्मद शाह रँगीले के युग तक गायक लोग शब्द और अर्थ के शत्रु नहीं थे । सदारंग-जैसे सुशिक्षित व्यक्ति महाकवि देव-जैसे आचार्य के शिष्य थे । उस युग तक निरक्षर होना गुणी होने का प्रमाण-पत्र नहीं समझा जाता था । उस युग में रहीमसेन और तानसेन (तृतीय)-जैसे कलावंत कवित्त भी गाते थे, शुजाअत खाँ कवित्त गाते थे, खयाल-गायक शाह दानियाल भी कवित्त गाते थे ।[३] कवित्त वास्तव में गेय छंद है । उस युग के गायक ब्रजभाषा-साहित्य से भली-भाँति परिचित और नायिका-भेद के मर्मज्ञ होते थे । खयाल उस समय लोक में अत्यंत प्रिय था, क्योंकि उस समय के खयाल-गायक शब्दों को समझते, उनका ठीक उच्चारण करते और उन्हें राग तथा लय से सजाते थे ।

वाजिदअली शाह के युग में कलाकारों के अज्ञान के कारण प्रभावपूर्ण गाना प्रायः समाप्त हो गया था । कहीं-कहीं किसी सीमा तक खयाल, ध्रुवपद, होली और सरगम गाना रह गया था और उस गाने के कद्रदान कम रह गए थे ।[४] कव्वाल लोगों में अज्ञान व्याप्त हो गया था और कव्वालों को 'बिगड़ा हुआ गवैया' कहा जाने लगा था । आचार्य देव-जैसे महाकवि और संगीत-मर्मज्ञ अवध के दरबार के लिए स्वप्न हो गए थे । ठुमरी, दादरा, नकटा (नुक्ता) का प्रचार हो गया था । रईस लोग राग को खटराग समझने लगे थे ।[५]

---

१. 'मुसलमान और भारतीय संगीत', पृष्ठ ७६ ।
२. 'मुसलमान और भारतीय संगीत', पृष्ठ ११२ ।
३. 'मुसलमान और भारतीय संगीत', पृष्ठ ७८ ।
४. 'मुसलमान और भारतीय संगीत', पृष्ठ ८१ ।
५. मुसलमान और भारतीय संगीत', पृष्ठ ८२ ।

'अर्थ' शब्द का तात्पर्य 'प्रयोजन' से है। अर्थहीन वस्तु निरर्थक या निष्प्रयोजन है। इसी लिए अर्थहीन तानबाजी लोक की दृष्टि में निष्प्रयोजन या निरर्थक है। आज गाए जानेवाले निरर्थक खयालों से जनता दूर भागती है। आज खयाल की जो दुर्दशा हो गई है, उसका संपूर्ण उत्तरदायित्व कलाकारों पर है।

बंगाल, महाराष्ट्र इत्यादि प्रदेशों के संगीत-रसिकों ने ध्रुवपद और खयाल सीखने में रुचि दिखाई, तब उन्हें प्रायः ऐसे उस्ताद मिले, जो शब्द, अर्थ और उच्चारण इत्यादि से भली-भाँति परिचित नहीं थे। उन्होंने अपने अहिंदीभाषी शिष्यों को यह समझा दिया कि शास्त्रीय गान में अर्थ पर विचार करने की आवश्यकता ही नहीं है। परिणाम यह हुआ कि आलोचकों तक की बुद्धि भ्रष्ट हो गई।

एक महाराष्ट्र आलोचक लिखते हैं:—

'संगीत के उभरने के साथ शब्दार्थ पीछे छोड़ दिया जाता है, छोड़ दिया जाना चाहिए। संगीत को चाहिए कि उसे (शब्दार्थ को) खा जाए और शब्दार्थ को भी चाहिए कि वह खाया जाए।'[1]

जब आलोचकों का दृष्टिकोण यह हो जाए, तब संगीत की नैया का भगवान् ही मालिक है। अमीर खुसरो या सदारंग यदि इस युग में होते, तो अवश्य ही पागल हो जाते।

बंदिशों के साहित्य को भ्रष्ट करने का उत्तरदायित्व भी शब्दार्थ की ओर ध्यान न देनेवाले उस्तादों पर है। 'क्रमिक पुस्तक-मालिका' में संगृहीत, परंतु अर्थ की दृष्टि से अपूर्ण एवं भ्रष्ट बंदिशों के प्रचार का उत्तरदायित्व उस परंपरा के नेताओं पर है।

इस युग में तो ऐसे व्यक्ति भी उस्ताद कहलाने लगे, जिन्होंने केवल मुखड़ा गाकर जीवन बिता दिया और नई पीढ़ी के मन में यह बात डाल गए कि न तो बंदिश की आवश्यकता है और न अर्थ की। तबले पर ठेका आरंभ कराकर 'आ, ई, ऊ, ओ' का आधार लो, बहलावे करो, तानें मारो, टीप पर खड़े न हो, गला बराबर हिलाते रहो, बस गवैए बन जाओगे। यही कारण है कि जो 'गाना' कभी बजाने और नाचने की अपेक्षा 'उत्तम' कहलाता था, उसकी 'रीढ़' ही गायब हो गई है। उसका अस्थिपंजर लुप्त हो गया है।

सितार और सरोद के लोकप्रिय होने का कारण यह है कि इन्हें बजानेवाले आलाप में लय का ढोंग नहीं करते, जबकि गायक प्रायः आरंभ से ही तबले पर ठेका आरंभ करा देते हैं, उस ठेके की लय का गायक के तथाकथित विलंबित गान से कोई संबंध नहीं होता। 'तिरकिट' देखकर 'सम' आ जाना पर्याप्त समझा जाता है। 'लय' की डोर इस गाने में नहीं रहती।

सितार या सरोद के 'जोड़' में ताल भले ही न हो, 'लय' रहती है, एक क्रम रहता है। ये लोग जब 'मसीतखानी' गत बजाते हैं, तब श्रोताओं के सम्मुख

१. 'अनूपरागविलास', भूमिका, पृष्ठ १३।

ठेका स्पष्ट रहता है, सितार-वादक एवं सरोद-वादक तरह-तरह से बनकर आते हैं और मुखड़ा पकड़ते हैं। तबलेवाले तंत्री-वादकों के साथ बजाकर इस युग में यशस्वी हुए हैं। अच्छे तबला-वादक अतिविलंबित-प्रेमी गायकों को दूर से ही नमस्कार करना चाहते हैं। इस स्थिति की जिम्मेदारी भी 'उस्तादों' पर है।

एक स्वर्गीय खयाल-गायक को कान्फ्रेंसों में तीन हजार, सात हजार या दस हजार रुपए दक्षिणा कभी नहीं मिली, जबकि इतनी दक्षिणा लेनेवाले तंत्री-वादक अनेक हैं। तंत्री-वादकों को केवल राग के नहीं, ताल और लय के पैसे भी मिलते हैं।

शब्द और अर्थ केवल गायक की संपत्ति थे। राग, ताल और लय तो बीन, सितार, सरोद और बाँसुरी में भी हैं। शब्द, अर्थ और लय की ओर जब गायकों ने ध्यान देना छोड़ दिया, तो उनके पैसे भी उसी हिसाब से कम हो गए।

यद्यपि शिक्षा का प्रयोजन ही योग्य गुरु के द्वारा शिष्य की चिंतन-शक्ति में विकास किया जाना है, तथापि आज का नवयुवक यह सोचने लगा है कि शिक्षण से मौलिक चिंतन में बाधा आती है, क्योंकि उसे उसकी शंकाओं का युक्तियुक्त समाधान करनेवाले 'उस्ताद' नहीं मिलते।

प्रत्येक युग में मानव नवीनता की खोज में पागल रहा है, आज भी संगीत-जगत् में ऐसे व्यक्ति हैं, जो नए मार्ग की खोज में हैं, परंतु इनमें से अधिकांश ऐसे हैं, जिनमें पर्याप्त अध्ययन की कमी है, ये प्रचलित रागों में मनमाना उत्पात करके लोगों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। इनकी 'बंदिशों' की भाषा प्रायः अशुद्ध होती है, इनके द्वारा आविष्कृत राग सचमुच बीहड़ होते हैं।

आज भारतीय संगीत को पुनः गंभीर चिंतन की आवश्यकता है।

ठुमरी में सनातन सांगीतिक तत्त्व

सौन्दर्य वहीं है, जहाँ प्रतिक्षण नवीनता हो। नदी वही होती है, परंतु उसमें प्रतिक्षण मचलती हुई लहरियाँ नव-नव होती हैं, इसी लिए सहृदयों का मन उनमें सदा रमता है। संगमर्मर की बनी हुई नारी-मूर्ति में किसी एक भावना को उभारकर कलाकार पारखियों की दृष्टि में प्रशंसा का पात्र भले ही बन जाए, परंतु उस नारी-मूर्ति के वियोग में कोई 'प्रेमी' तड़प नहीं सकता। मूर्ति जड़ है, उसके 'अंतर' कहाँ है ? अंधा, काना, लूला, लँगड़ा, कृपण, उदार कैसा भी दर्शक क्यों न हो, मूर्ति तो उसी 'पोज' में खड़ी रहती है, उसमें न अनुराग है न विराग। इसलिए सौन्दर्य्य अनंतता में है। प्रकृति चिरसुंदरी है, क्योंकि उसके सौन्दर्य्य में प्रतिक्षण नवीनता है।

प्रियतमा का प्रत्येक भ्रू विलास, भिन्न परिस्थितियों और पृष्ठभूमियों के कारण नया होता है। विभिन्न भावों को व्यक्त करनेवाली दृष्टि-तरंगें सर्वथा विभिन्न होती हैं। उसका रूठना, मचलना, इठलाना, उमड़ना नया-नया होता है। इसी लिए जिनके पास 'नजर' है, उन्हें प्रतिक्षण 'हुस्न' पाकीज:तर, पवित्रतर, दिखाई देता है। 'दीदए कोर' (अंधे की आँख) की बात छोड़िए।

सौंदर्य अनंत है, उसकी अभिव्यक्ति के साधन अनंत हैं। सौंदर्य-बोध से प्राप्त होनेवाला आनंद भी अनंत है, अतः सौंदर्य और उसकी अनुभूति से प्राप्त होनेवाले आनंद के रूपों और प्रकारों पर विचार करनेवाला 'शास्त्र' भी अनंतता की ओर इंगित करता और हमें चिंतन करने में समर्थ बनाता है। जिस भाँति बड़े-बूढ़े हमें अँगुली पकड़कर चलना सिखाते हैं और हममें चलने की सामर्थ्य आने पर हमें निश्चित होकर चलने के लिए स्वतंत्र छोड़ देते हैं, उसी प्रकार 'शास्त्र' कहे जानेवाले पूर्वजों के वचन हमें विचार करना सिखाते हैं, हमारी चिंतनशक्ति को परिपक्व बनाते हैं और हमें स्वतंत्र अनुशीलन के लिए प्रेरित करते हैं। इसी लिए शास्त्र न अनुदार है और न जड़। जिन 'पोथों' में ये गुण नहीं हैं, वे अपरिपक्व विचारों का 'जंगल' भले ही हों, 'शास्त्र' कदापि नहीं हैं। 'शास्ता' का अर्थ 'गुरु', 'शिष्य' का अर्थ 'शासन का पात्र' और 'शास्त्र' का अर्थ 'शासन करने का साधन' है। यदि वास्तविक रूप में कोई ग्रंथ 'शास्त्र' है, तो वह उनको भी शासित करने का साधन है, जो कल 'शिष्य' थे, आज 'गुरु' हैं। अतः सच्चा 'शास्त्र' 'गुरुओं का भी गुरु' है।

इस बीसवीं शती ई० में अनेक ऐसे 'पोथे' लिखे गए हैं, जिन्हें प्रयत्नपूर्वक 'संगीत का शास्त्र' कहलवाया गया है, परंतु जो 'शास्त्रत्व' की कसौटी पर खरे नहीं उतरते। अतः उनमें की गई किसी वस्तु की प्रशंसा भी निरर्थक है और निन्दा भी निष्प्रयोजन। इनकी चर्चा व्यर्थ है।

संगीत का प्रयोजन सांसारिक चिंताओं से दबे हुए या थके हुए मानव को उन चिन्ताओं से मुक्त कराकर अलौकिक सुख की प्राप्ति कराना है। जिसमें यह गुण हो, उसे ही भलीभाँति गाया हुआ या संगीत (सम्यक्-गीत) कहना चाहिए, अन्यथा वह कोलाहल-मात्र है, भले ही वह कोई भी शैली या प्रकार हो।

स्वर, भाषा, ताल और मार्ग का आश्रय लेकर 'गीत' मानव की भावना को व्यक्त करता है, 'वादन' गीत का सहायक होता है और 'नृत्य' उस भावना को मूर्त कर देता है। इसलिए गीत, वाद्य और नृत्य मिलकर 'संगीत' कहलाते हैं।

गीत 'संगीत' का 'अंश' है। हाँ, इतना अवश्य है कि वह प्रधान अंश है, वाद्य और नृत्य उसके सहायक हैं, परंतु गीत सम्पूर्ण 'संगीत' नहीं है।

गीत के (मानव के द्वारा गेय गीत के) भी चार अंग, राग, भाषा, ताल और मार्ग हैं। इन चारों का प्रयोजन भावना की अभिव्यक्ति है। इसी लिए ये चारों परस्पर सहायक या पूरक हैं; चारों मिलकर 'गीत' है, इनमें से अकेला रहकर कोई भी 'गीत' नहीं है।

अब 'राग' पर विचार करें। किसी स्वर-सप्तक के आरोहावरोह को 'राग' नहीं कहा जाता। अलंकार या पलटे भी राग नहीं होते। विशिष्ट क्रम और विशिष्ट अनुपात से किया जानेवाला स्वरों का वह प्रयोग राग है, जिसमें विशिष्ट-विशिष्ट स्वरों पर ठहराव हों। राग की स्थापना क्रमशः और शनैः-शनैः होती है, इस स्थापना का आधार प्रत्येक राग के चार 'स्थान' या 'मुकाम' होते हैं, जिनके आधार पर 'बढ़त' की जाती है। यह 'बढ़त' श्रोताओं के मन को एक विशिष्ट भावना में रँगती है और वह रंग धीरे-धीरे गाढ़ा होता जाता है।

कुछ रंग खालिस होते हैं और कुछ रंग विभिन्न रंगों के मिश्रण से बनते हैं। इसी प्रकार कुछ राग विभिन्न रागों के 'संकर' का परिणाम हैं। इन संकीर्ण रागों का एक अपना सौन्दर्य है।

राग-भावनाओं को व्यंजित अवश्य करते हैं, परंतु यह व्यंजना गूँगे के द्वारा की हुई भाव-व्यंजना के समान है, जो चीख, कराह, चिल्ला या घिघया तो सकता है, शब्द और वाक्य का उच्चारण करने में समर्थ नहीं होता।

भाषा 'राग' के इस गूँगेपन को दूर करती है। इसी लिए गीत का दूसरा अंग 'भाषा' है। 'राग' और 'भाषा' दोनों ही भावना की अभिव्यक्ति के लिए हैं।

रूठा उससे जाता है, जिस पर विश्वास हो कि वह नाक रगड़ेगा और मनाएगा। मचला या इठलाया उसके सामने जाता है, जिस पर यह भरोसा हो कि वह एक-एक अदा पर जी-जान से निछावर हो जाएगा। जिद उससे की जाती है, जिसमें उसे पूरा करने का दम और इरादा हो। आँसू उसके सामने ढलकाए जाते हैं, जो उन्हें कोमल पंखुड़ियों से पोंछने के लिए आतुर हो जाए। रूठना, मचलना, इठलाना, हठ, आँसू बहाना इत्यादि प्रेम और अखंड विश्वास को अभिव्यक्त करते हैं। इन विभिन्न भावों को व्यक्त करने में जब कोई एक राग समर्थ नहीं होता, तब आविर्भाव-तिरोभाव का आश्रय लेकर विभिन्न भावों को प्रस्तुत किया जाता है।

आविर्भाव का अर्थ 'साम्मुख्य' और तिरोभाव का अर्थ 'छिपना' है। सम्मुख होना और बात है और उत्पन्न होना अलग बात। छिपना और चीज है और विनाश अलग चीज।

रूठने, मचलने, इठलाने, शिकवा करने, मनने, मुँह फेरने, झूठ-मूठ आँसू

बहाने, बेवजह तकरार करने, तरसने, तड़पने, निहारने, ताकने, भौंहें तानने के अंदाज अनोखे और बेशुमार होते हैं, इन्हें कोई गिन नहीं सकता। आविर्भाव, तिरोभाव की छवियाँ भी इसी लिए अनंत हैं। जरा गर्दन आड़ी करके भी मुँह छिपाया जाता है और फेरकर भी। पर्दे के पीछे भी बिजली की तरह कौंधकर छिपा जाता है और किसी की गोद में भी। यह सब कौन गिना सकता है ? इसी लिए रागिनी जब अपनी सखियों में आँखमिचौली करती है, तब रागिनी की इस लुका-छिपी को 'रागभगत' नहीं जान सकते। अप्सराओं के इठलाते हुए विलास से चकित होकर ये अपनी बोली बोलने लगते हैं।

और इन सब क्रियाओं की एक गति होती है, जिसमें न 'हड़बड़ाहट' होती है और न 'मरियलपन'। मध्यलय से इस गति की व्यंजना होती है। इस स्थिति का अभिनय जब होता है, तब वह संगीत पूर्णता को प्राप्त होता है, जो नारी के बाह्य और आभ्यन्तर का निदर्शन कराता है।

'वृत्ति' शब्द का अर्थ 'बरत' या 'चलन' है। इस प्रयोजनकी सिद्धि के लिए कैशिकी वृत्ति का आश्रय लिया जाता है। कैशिकी वृत्ति का अर्थ ही सुन्दर केशराशि-वाली प्रमदाओं का अंदाज है।

युवतियों के कुछ सात्त्विक आभूषण यौवन में होते हैं। सूक्ष्म दृष्टि रखनेवाले सहृदयों ने ऐसे अट्ठाईस अलंकार गिने हैं, जो इस प्रकार हैं :—

(१) भाव, (२) हाव, (३) हेला; ये अंगज अर्थात् शरीर से उत्पन्न होनेवाले हैं। (४) शोभा, (५) कान्ति, (६) दीप्ति, (७) माधुर्य्य, (८) प्रगल्भता, (९) औदार्य, (१०) धैर्य्य; ये सात स्वाभाविक होते हैं, इन्हें यत्न से नहीं उत्पन्न किया जा सकता। (११) लीला, (१२) विलास, (१३) विच्छित्ति, (१४) विब्बोक, (१५) किलकिञ्चित, (१६) मोट्टायित, (१७) कुट्टमित, (१८) विभ्रम, (१९) ललित, (२०) मद, (२१) विहृत, (२२) तपन, (२३) मौग्ध्य, (२४) विक्षेप, (२५) कुतूहल, (२६) हसित, (२७) चकित, (२८) केलि; ये यत्न से भी सिद्ध किए जा सकते हैं।

इनमें से पहले दस पुरुषों में भी संभव हैं, परंतु अंतिम अठारह सुंदरियों में ही चमत्कारकारक होते हैं।

इन्हें समझ लेना अप्रासंगिक न होगा।

१. भाव—जन्म से निर्विकार चित्त में उद्बुद्धमात्र 'भाव' है।

२. हाव—भौंह, नेत्र इत्यादि की विलक्षण चेष्टाओं से संभोग-विषयक अभिलाषा को स्वल्प-रूप में प्रकाशित करनेवाला भाव ही 'हाव' कहलाता है।

३. हेला—अत्यंत स्फुटता से लक्षित भाव 'हेला' कहलाता है।

४. शोभा—रूप, यौवन, लालित्य, सुखभोग आदि से संपन्न शरीर के सौन्दर्य को 'शोभा' कहते हैं।

५. कान्ति—यौवनोचित उमंगों से उमड़ती हुई शोभा ही 'कान्ति' कहलाती है।

६. दीप्ति—अत्यंत विस्तृत कान्ति ही 'दीप्ति' कहलाती है।

७. माधुर्य्य–प्रत्येक दशा में रमणीयता 'माधुर्य्य' है।

८. प्रगल्भता–संकोचहीनता का नाम 'प्रागल्भ्य' है।

९. औदार्य्य–सदा विनीत रहना उदारता है।

१०. धैर्य्य–अपनी प्रशंसा से युक्त अचंचल मनोवृत्ति 'धैर्य्य' है।

११. लीला–प्रेम के आधिक्य के कारण अंग, वेष, अलंकार तथा वाणी से प्रियतम का अभिनय 'लीला' है।

१२. विलास–प्रियतम के दर्शन के कारण चलने-फिरने, उठने-बैठने, बोलने, देखने इत्यादि में आई हुई विशेषता 'विलास' कहलाती है।

१३. विच्छित्ति–कान्ति को बढ़ानेवाली थोड़ी-सी वेष-रचना 'विच्छित्ति' कहलाती है।

१४. विव्वोक–अत्यंत गर्व के कारण अभीष्ट वस्तु में भी अनादर दिखाना 'विव्वोक' है।

१५. किलकिंचित–अभीष्टतम के संगम से उत्पन्न हर्ष के कारण मुस्कराने, झूठमूठ रोने, हँसने, डरी हुई-सी होने, रोष करने, थकान-जैसी दिखाने का मिश्रण 'किलकिंचित' कहलाता है।

१६. मोट्टायित–प्रियतम की चर्चा सुनने में डूबी हुई सुन्दरी के द्वारा जमुहाई, अँगड़ाई इत्यादि लिया जाना 'मोट्टायित' है।

१७. कुट्टमित–प्रियतम के द्वारा किए हुए विभिन्न स्पर्शों से सुख का अनुभव करने पर भी हाथ, पैर, सिर पटकना 'कुट्टमित' है

१८. विभ्रम–प्रियतम के आगमन इत्यादि पर हर्ष और अनुराग इत्यादि के कारण हड़बड़ाकर आभूषणों को कहीं-का-कहीं पहन लेना, अंजन, अधर-राग और तिलक को कहीं-का-कहीं लगा लेना 'विभ्रम' है।

१९. ललित–अंगों का सुकुमार विन्यास 'ललित' है।

२०. मद–सौभाग्य और यौवन के गर्व से उत्पन्न विशिष्ट मनोविकार 'मद' है।

२१. विहृत–लज्जा के कारण, बोलने के अवसर पर भी चुप्पी साध जाना 'विहृत' है।

२२. तपन–वियोगावस्था में कामोद्वेग की चेष्टाएँ 'तपन' हैं।

२३. मौग्ध्य–जानी-बूझी बात को भी प्रियतम से अनजान बनकर पूछना 'मौग्ध्य' है।

२४. विक्षेप–प्रियतम के निकट रहकर सिंगार अधूरा करना, अकारण ही इधर-उधर देखना, धीरे-से कुछ रहस्य कहना 'विक्षेप' है।

२५. **कुतूहल**—सुंदर वस्तुओं का दर्शन करने के लिए उत्पन्न चंचलता 'कुतूहल' है।

२६. **हसित**—यौवनोद्रेक के कारण उत्पन्न अकारण हास 'हसित' है।

२७. **चकित**—प्रियतम के समक्ष जानबूझकर, अकारण ही भयभीत या विस्मित हो जाना 'चकित' है।

२८. **केलि**—विहार में प्रियतम के साथ क्रीड़ा करना 'केलि' है।

सुंदरियों के ये अलंकार सार्वभौम और सनातन हैं। लोकगीत, नाटक, महाकाव्य, मसनवी, मुक्तक काव्य कुछ भी हो, किसी भाषा का हो, उसमें इन अलंकारों का दर्शन सर्वत्र होगा।

पाठकों को शिकायत हो सकती है कि अभी तक ठुमरी की चर्चा नहीं हुई, परंतु 'मानदंड' या 'बाट' तो बन चुके हैं, 'नाप' और 'तोल' बाकी है।

'ठुमरी' शब्द के 'ठुम' और 'री' दो अंश हैं। १९४५ या १९४६ ई० में हमने लखनऊ-रेडियो से प्रसारित एक वार्ता में कहा था। 'ठुम' ठुमकने का द्योतक है और 'री' अंतरंग सखी से अपने अंतर की बात कहने का। 'ठुमरी' का विषय नायिका के अंतर की असंख्य भाव-लहरियों का चित्रण है, यही विषय 'रेख्ती' नामक फ़ारसी-काव्य का भी है, जिसकी परंपरा उर्दू-काव्य में भी आई है।

इसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए कैशिकी वृत्ति का आश्रय लेकर जब स्वर, भाषा, ताल और मार्ग का प्रयोग किया जाता है, तब ठुमरी नामक 'गीत' की सृष्टि होती है। जब वादन के द्वारा यह गीत उपरंजित होता है, और अभिनय के द्वारा इसे पूर्ण करके 'संगीत' बना दिया जाता है, तब वे भावनाएँ मूर्त होकर आ जाती हैं, जिनके द्वारा भगवान् ने 'मोहिनी' रूप धारण करके योगिराज देवाधिदेव जैसे काम-रिपु को मनमाना नाच नचाया था और गोपियों में जिन भावनाओं के मूर्त होने पर मायापति 'लीलापुरुषोत्तम कन्हैया' बनकर छछिया-भर छाछ पर नाचे थे।

जब 'राग' का विकास नहीं हुआ था, तब भी 'स्वर' था। चार या तीन स्वरों के प्रयोग से राग नहीं बनता, परंतु सामगान को 'गान' या 'गीति' तो कहते ही हैं। जब भावनाओं की गहराई को व्यक्त करने में चार स्वर पूर्णतया समर्थ न हुए तो पाँच, छह या सात स्वरों का आश्रय लिया गया। तीनों स्थानों मंद्र, मध्य, तार में स्वर-विलास विस्तृत हुआ। विशुद्ध या प्रधान भावनाओं को व्यक्त करने के लिए शुद्ध (आजकल शुद्ध कहे जानेवाले नहीं) स्वरों से उद्‌भूत मूर्च्छनाओं का उपयोग किया गया। विविधता की अभिव्यक्ति के लिए विकृत (आजकल विकृत कहे जानेवाले नहीं) स्वरों का उपयोग भी किया गया। जटिल या संकीर्ण भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए अनेक देशी रागों का निर्माण हुआ और कश्यप इत्यादि आचार्य इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि प्रत्येक स्वर का उत्कर्ष और अपकर्ष संभव है और वह अनेक भावनाओं का व्यंजक होगा।

दूसरी ओर मानव-हृदय की मिश्रित और जटिल भावनाओं के चित्रण के लिए संकीर्ण रागों की योजना हुई। अनेक रागच्छायाओं का प्रयोग, आविर्भाव-तिरोभाव

के नियम से हुआ और उस गान-शैली की सृष्टि हुई, जिसमें उन सभी गान-शैलियों का मिश्रण हुआ, जो विभिन्न प्रकार के रागों को जन्म देती थीं। 'साधारणी' गीति उपजी।

घूँघट में मुँह छिपाए हुई, अधखुले घूँघटवाली, प्रियतम से दृष्टि मिलते ही लज्जा से नेत्र झुका लेनेवाली और भौंहें तरेरे प्रियतम की ओर तिरछी चितवन से ताकती नवोढा का व्यक्तित्व एक ही है, परंतु छवियाँ पृथक्-पृथक् हैं। ठुमरी-गान में विभिन्न रागों की छाया इन छवियों को सम्मुख लाती है।

राग 'उपकरण' है, उसकी शुद्धि 'साधन' है, 'साध्य' नहीं। साध्य तो भावनाओं का चित्रण है।

यदि ठाठवादियों से कोई पूछे कि आपकी शुद्धता की क्या परिभाषा है? बिलावल ठाठ के स्वरों को आप 'शुद्ध' कहते हैं। इस ठाठ के संपूर्ण रागों को हम शुद्ध समझें क्या? क्योंकि षाड्व और औडुव तो विकृत अवस्थाएँ हैं, आपकी जमा-पूँजी तो ठाठ है, जिसमें सात नहीं, आठ स्वर हैं।

बिलावल के अतिरिक्त जब अन्य ठाठ ही 'शुद्ध' नहीं, तो उनमें गाए जानेवाले राग भला शुद्ध कैसे होंगे? कल्याण ठाठ का राग और नाम शुद्ध कल्याण? काफी ठाठ में घुसेड़ा हुआ, मध्यम और निषाद के दोनों रूपों से युक्त राग, नाम है—'शुद्ध सारंग'। 'आँखों के अंधे नाम नयनसुख।' आप और आपका शास्त्र, दोनों ही अभूतपूर्व हैं।

स्वरों का भावनानुकूल, वैचित्र्यमय प्रयोग ठुमरी का स्वर-पक्ष है, जिसके प्रयोग करने के लिए बड़ी 'तमीज' चाहिए। इस 'तमीज़' को लेकर इस युग में भैया गनपतराव पैदा हुए थे। उनकी कला के विवेचन के लिए इस स्थान पर अवकाश नहीं। यह स्वतंत्र लेख का विषय है।

ठुमरी की भाषा उसके विषय, उसकी प्रकृति के अनुकूल उस प्रदेश की लोक-भाषाओं में से है, ठुमरी जहाँ उपजी है। 'हिंदी-साहित्य-सम्मेलन' या 'अंजुमन-तरक्किए उर्दू' ने अब तक उसे अपने साँचे में ढालने का प्रयत्न कभी नहीं किया।

ठुमरी में 'स्वर' और 'शब्द' दोनों परस्पर पूरक हैं। एक ही शब्द को नई-नई छवियाँ स्वर देते हैं। उसे हम 'फुलेल' कहेंगे। वह न केवल 'तेल' है, न 'फूल', अपितु फूलों की गंध से बसा हुआ तेल है। 'फुलेल' का ग्राहक 'स्निग्धता' और 'सुगंध' दोनों साथ-साथ चाहता है। 'स्निग्धता' और 'सुगंध' भी 'लक्ष्य' नहीं, 'रसमग्नता' या 'प्रसन्नता' के साधन मात्र हैं। वह उपभोक्ता है, 'फुलेल' का व्यापारी नहीं है। प्रत्येक पदार्थ उपभोक्ता के लिए है, व्यापारी के लिए तो 'नफा' है।

'लय' में तो ठुमरी प्रतिष्ठित है, जो बोल-बाँट की ठुमरियों में थिरकती और मचलती है। बोल-बनाव की ठुमरी की 'लय' के विषय में मौन ही श्रेष्ठ है। श्रोता स्वयं ही ताल देकर उसकी परीक्षा करें, तो ठीक है।

हमें हँसी तब आती है, जब कुछ श्रीमान् लोग ठुमरी को क्षुद्र कहते हैं। कारण देख लेना चाहिए।

कला के द्वारा जब अनुराग, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय इत्यादि उन सनातन भावों की अभिव्यक्ति होती है, जो मानव-मात्र के मन में स्थित

हैं, तब कला श्रोताओं के अंतर को छूती अर्थात् मानव-मन के तारों को झनझना देती है और वे कला की सृष्टि में तन्मय होकर कुछ समय के लिए अपनी-अपनी चिंता भूल जाते हैं। स्वर, भाषा, ताल, मार्ग, वादन और अभिनय इस तन्मयता की प्राप्ति के साधन हैं, यह तन्मयता ही रसानुभूति है।

जब कोई भी कलाकार इस ध्येय को भूल जाएगा, तब वह 'टेकनीक' को लक्ष्य मान बैठेगा। वादक का कार्य गायक को सहारा देना और उसके दोषों को छिपाते हुए उस मनःस्थिति को प्रगाढ़तर बनाना है, जिसका निर्माण गायक का लक्ष्य है। यही कार्य 'संगति' है। जब संगति 'संग्राम' में बदल जाए, तब परिणाम स्पष्ट है।

ध्रुवपद-गायकों ने जब दहाड़ने और चिल्लाने के साथ पखावजी के साथ धर-पकड़ को उस्तादी समझ लिया, तब ध्रुवपद को 'चौकीदारी' या 'हाँका' कहा जाने लगा। खयालियों ने उसे 'अकबर की हड्डी' कहना आरंभ किया और स्वर तथा वाणी के संयोग को लय में झुलाने लगे। लोगों ने खयाल को पसंद किया, परंतु ध्रुवपद्दिए बोले—'लाहौलविलाकुव्वत ! इन्होंने राग का सत्यानाश कर दिया।'

खयालिए अपने प्रभाव के कारण उस युग में जीते, परंतु जिन गुणों ने उनकी जीत कराई थी, धीरे-धीरे उन्हें भूलकर वे भी 'संग्राम' में जब उलझे, तब सत्यानाश हुआ।

अमुक खाँ साहब की तानों से घोड़े पिछाड़ी तुड़ाने लगते थे, छत से चूना झड़ने लगता था। तान जो शुरू हुई, तो हुई, खत्म ही न होती थी; जैसी विशेषताओं ने जब अर्थ की हत्या और रस की कपाल-क्रिया करा दी, तब ठुमरी जीती; उसमें गीत, वाद्य, नृत्य का सुंदर संयोग जो है। मजा यह है कि अब खयालिए फर्माते हैं 'अस्तग़्फ़-रुल्लाह ! क्या वाहियात है !! ठुमरी में राग नहीं रहता।' कोई यह कहे कि हुज़ूर, आपको भी राग-शुद्धि का खयाल है ? आपके 'हर्राटों' और 'सर्राटों' में वह भला कब रहता है ? आप मिहरबानी फर्माएँ।

हरितालिका तीज के उपवास से किंचित् कृश, नहाई-धोई, उस कुलवधू की पवित्रता की सीमाएँ उसे एक विशिष्ट छवि देती हैं, जो भगवती पार्वती के पूजन में दत्तचित्त है; परंतु वही सुहागिन जब प्रियतम की गोद में मचल रही हो, तब गंगा-जल, पत्र, पुष्प, नैवेद्य, धूप-दीप इत्यादि की चर्चा एक बेतुकापन है। 'नीकी पै फीकी लगै, बिन औसर की बात।'

ठुमरी की एक प्रकृति है। वह 'बिरहिन' भी है और 'मदभरी सुहागिन' भी। उसे संयोग में वियोग की आशंका है। वियोग में उसे संयोग की स्मृतियाँ बेचैन बनाती हैं। इसलिए हूक और टेर से वह शून्य कभी नहीं है। टीस न होने पर भी वह टीस का अभिनय करती है और जब उसमें सचमुच टीस होती है, तब सुननेवालों की आँखों से गंगा-जमुना बहती हैं।

दाम्पत्य-भावनाएँ सम्पूर्ण जीवन नहीं हैं, परंतु जीवन का आधार अवश्य हैं। ठुमरी का क्षेत्र अपना है, निजी है। सब-कुछ स्वयं में समेट लेने का दावा ठुमरी को नहीं है।

होली

बच्चों की भाँति उछलते बूढ़े, निर्भय होकर सबके सामने हुड़दंग मचाते बच्चे, सम्मानपूर्वक चांडाल को गले लगाते कर्मकांडी विद्वान्, निस्संकोच एक-दूसरे पर धूल उछालते सफेदपोश रईस, सास-ननद की ओर से निश्चिन्त खिलखिलाती और धमा-चौकड़ी मचाती हुई कुलवधुएँ, मालिकों के सामने निश्चिन्त होकर 'अररर कबीर !' कहते हुए सेवक; होली के अवसर पर जो उन्मुक्त, रंगीन एवं स्वच्छन्द वातावरण प्रस्तुत करते हैं, उसमें स्वयं को भूल जाना, उसी वातावरण का अंग बन जाना भला कौन न चाहेगा ?

राजा और रंक की दूरी को सर्वथा समाप्त कर देनेवाला, किसी को किसी से कुछ भी कह डालने का सामाजिक अधिकार देनेवाला, परिचित-अपरिचित सभी से विनोद का अवसर प्रस्तुत करनेवाला त्यौहार 'होली' उन सभी में उल्लास का संचार कर देता है, जिनमें कुछ जीवन बचा है ।

ब्रज की होली प्रसिद्ध है । मुगल बादशाह और उनके दरबार भी इसके रंग में ओत-प्रोत हो गए । 'आगरा' मुगलों की राजधानी रहा । राजनीतिक दृष्टि से भले ही मुगल जीते हों, सांस्कृतिक दृष्टि से ब्रज की होली जीती, ब्रजभाषा के कवि जीते, ध्रुवपद-धमार के गायक जीते । महलों और दरबारों को होली ने रँग दिया । वसंत से ही होली की रंगीनी लोगों पर छाने लगती ।

जलालुद्दीन बादशाह अकबर का संदेसा लेकर कोई दूती किसी मानिनी के पास गई है । हठीली मानिनी होली के अवसर पर भी हठ किए है, परंतु जब उसे 'फगुआ' (होली का उपहार) दिया जाएगा, तब होली की 'रीत' को देखते हुए तो उसे मानना ही पड़ेगा । जलालुद्दीन की मुद्रा से अंकित प्रस्तुत धमार में यही कहा गया है :—

> होली खेलेई बनेगी, रूसे अब न बनैगी ।
> मेरौ कह्यौ तू मानि नवेली, जब वा रंग में सनैगी ।।
> कई बेर आई-गई तू नहीं मानत ऊँची करि ठोढी भौंहें तनैगी ।
> साहि जलालुद्दीन फगुआ दीजै, आपु ते आपु मनैगी ।।

अपने मुँह पर घूँघट डाले कोई गोरी किसी पर रंग डाल रही है, परंतु उसके अंग की सुगंध सारा भांडा फोड़े दे रही है, परिचित चेष्टाएँ भी सारी पोल खोले दे रही हैं, उसके अंग-अंग भीगे हैं, जो साफ तौर पर 'श्याम' की प्रीति से चिह्नित हैं, केवल घूँघट से क्या होता है । अकबर के समकालीन 'चंचल ससि' इस बात को यों कहते हैं :—

> उठत तरंग सुगन्ध की, छबीली आउत है तेरे अंग ।
> खेलत होरी छिपाउत काहे कौं, वे न गए तेरे ढंग ।।
> लाज भरे नैना रतनारे, भीजे हैं अंग-अंग ।
> 'चंचल ससि' अब प्रगट देखियत, रँगे श्याम के रंग ।।

अकबर के समसामयिक ओरछा-नरेश मधुकरसाहि के पुत्र इंद्रजीत सिंह 'धीरज' की कल्पना में वे सखियाँ हैं, जो बरसाने से यशोदा के साथ होली खेलने के लिए आई हैं, समधिन को सुहावनी गालियाँ दे रही हैं, परंतु नेहभरी दीठ पर लुभा गई हैं, नंद के द्वार पर 'चाचर' की धूम मची है। 'धीरज' के शब्द हैं :—

सखी जोबन मदमाती होरी खेलन आई।
लै लै नाउँ महरि रानी कौ गारी देत सुहाई॥
बरसाने की अति सरसानी नेह नजर सों लुभ्याई।
धीरज अली नंद के द्वारे चाचर धूम मचाई॥

मुगलों के अंतःपुर और संगीत-गोष्ठियों में होली की रंगीनियों का राज्य रहा। और तो और, औरंगजेब तक मंगलामुखियों के साथ 'धमारी' खेलते रहे।

मुहम्मदशाह पर तो ऐसा रंग चढ़ा कि वह 'रंगीले' के नाम से ही प्रसिद्ध हो गया। मुहम्मदशाह की मुद्रा से अंकित कुछ होरियाँ प्रस्तुत हैं, जो 'सदारंग' की रचनाएँ हैं।

मुहम्मदशाह को रिझाने का उपाय गुणियों के पास यही है कि स्वर में डूबी हुई तानों से युक्त होरियाँ गाएँ, गा-गाकर शाह को रिझाएँ, चतुर लोग धूम से बाजे बजाएँ, नीके फाग रचाएँ, शाह जिस प्रकार रीझें, उसी प्रकार रिझाया जाए। मूल शब्द हैं :—

सुरसनीताननि होरी गाओ, गाई-गाई साहि को रिझाओ।
चतुर बाजे गहगड सों बजाओ, नीके फागु रचाओ।
जिहि विधि रिझाई महमदसाहि को बहुभाँतिनि मान मनाओ॥

मान की भी कोई सीमा होती है, रूठने का भी कोई अवसर होता है। भला होली खेलते समय भी क्या रूठना! सागर की भाँति गहरा मान भी भला कोई मान है? मनाते-मनाते हार जानेवाले मुहम्मदशाह को मनाकर ले आना कच्ची गागर को भर लाने के समान असंभव है। यही सत्य इन शब्दों में है :—

हौं तो कौं कौ लौं सिख देहौं री नागर।
तू तौ होरी खेलत छिन-छिन मैं रिसाइ, विनि कौ मन
राखै ना, रस गुन के आगर।
ऐसो मान गहरो न कीजै री, ज्यों सागर॥

अब की महमदसाहि कौ काउ मनाइ लै आवै तौ भरौंगी काची गागर॥

'मुहम्मदशाह' किसी सौभाग्यगर्विता के महलों में फाग खेलने आए हैं, वह प्रियतम के अंग-अंग को सुगन्धित करेगी, अब मान न करेगी, अच्छी-अच्छी तानों से, रंग-रस के प्रत्येक प्रकार से अपने जीवनधन की सेवा करेगी। सहृदय प्रियतम की कृपा जब उस पर है, तो भला सौतें क्या कर लेंगी, उसकी अपनी हितैषिणियाँ तो मन-चीते काम कर ही लेंगी, उसके महल में चहल-पहल है। शब्द यों है :—

"बनिक बन आए री, लालन खेलत फागु आज अनुराग भाग मेरे महल। करि सुगंध, अंग-अंग लाइ-लाइ मुख गाइ-गाइ नीकी तान मानिनी जीवन गलफरं सुरस की करौंगी टहल।

मुहम्मदसाहि रिसाल हो दयाल मो पर कृपा कीजै, मेरौ कहा करैंगी सौतें, सहल हितुअनि बहु सुख पाई भाई प्रभु, मनचीते कारज करे मची चाचर भई अति चहल-पहल।

किसी चपला ने 'होरी' में युद्ध जीता है। डफ 'ढाल' है, 'कोमलता' खड्ग है, 'सौत का गुमान' प्रतियोगी है, जिसे नायिका ने अपने 'रागरूपी' योद्धा के द्वारा जीत लिया है, मृदंग 'तोप' है, गुलाल की गेंद 'गोला' है, सौत के अभिमान का 'गढ़' इस सामग्री के द्वारा छीन लिया गया है, मुहम्मदशाह का सुहाग उस पर छाया है, जिसने सौत के हितैषियों के मुख धूमिल कर दिए हैं। बात इस प्रकार कही गई है :—

अबकें होरी में प्यारी लरिबे के सामान तें कीने।
डफ ढाल कोमलता खर्ग लिए सौतिनि के गुमान सुभट राग मारि लीने ॥
मृदंग तोप गेंद गोला गुलाल लिए ताकी अवाज सुनि गरूर गढ़ छीनि लीने।
महमदसाहि कौ सुहाग चढ़ौ वाके हितुअनि के मुख धुन्द फोर दीने ॥

होली के हुड़दंग से घबरानेवालों की भी कमी नहीं। होली खेलनेवाले मस्तों की टोली के बाजों की ध्वनि सुनते ही मुँह छिपानेवाले जब पकड़े जाते हैं, तब उनकी 'गत' अच्छी तरह बनाई जाती है। लालन नाचते-गाते आ रहे हैं, ढप, मृदंग, करताल, मंजीरे की जोड़ी सभी की ध्वनि धूम मचा रही है। कोई बेचारी डरकर भागती है, परंतु बचने का अवसर कहाँ है ? चित्र यों है :—

कैसे नाचत आवै री ललना करि हो-हो खेलत होरी।
डफ मृदंग खटतारि संगति सों और बाजति मंजीरनि की जोरी ॥
देखि डरपि भाजी मैं जब, तब दृष्टि बचाइ निरखि मेरी ओरी।
ऐसौ निलन सदारंग मधमातौ लाज न करत काहु की थोरी खेलत होरी ॥

अदारंग, मनरंग, नूररंग इत्यादि अनेक कलाकारों ने होली के रम्य चित्र अपनी गेय उक्तियों में प्रस्तुत किए हैं।

अनेक अज्ञातनाम रसिकों ने भी गेय साहित्य की श्रीवृद्धि की है।

कुछ नायिकाओं की उक्तियाँ प्रस्तुत हैं :—

कोई श्रीमान् जी अनुरक्त तो अन्यत्र हैं, परंतु मुट्ठी-भर गुलाल उसकी आँखों की ओर फेंक रहे हैं, जो उनकी बाट जोहती रही है। उत्तर मिलता है :—

मुठि कित मेलत हो, हो लाल।
मोरे दृगन में तुम ही बसत हो काहें कौं डारी गुलाल ॥
चित जु तुम्हारौ विनि सों लागौ जिहि हित सो धन वाल।
कान्ह, आपने घर ही जइयें फेरि खेलियों काल ॥

नयनों की पिचकारी में प्रेम का रंग भरकर लक्ष्यवेध किया, और होली मना ली गई। यही बात यों कही गई है :—

नैननि पिचकारी प्रेम रंग भरि-भरि सैननिहु तकि मारी।
उत तें आयो नन्द लाड़िलौ जोरी गाँठि हितकारी ॥

किसी मदमाती गुजरी की चटकीली चुनरी पर भरपूर रंग डालने के अपराधी कन्हैया पकड़ में आए हैं, वह उनके नैनों में काजल पोतने पर यों तुली है :—

अब कैसे भाजि जैहौं काजर दै हौं नैननि कोर।
चूनरि मोरी अति चटकीली कीनी सरबोर॥

रूपगर्विता 'गोरी' भला 'साँवले' कन्हैया से होली कैसे खेले। कहती है :—

काम्ह को खेलै होरी जा ब्रज में तोरे संग।
हम गोरी तुम जाति के साँवरे कैसे मिलैगो रंग॥

उत्तर मिलता है :—

सोने की परख कसौटी जानै, तेरी परख मेरो अंग।

इस चुटीले उत्तर की व्याख्या अनावश्यक है, उत्तर मिलता है वक्रोक्ति में :—

जाते भए कुबिजा के मिहरबाँ जाने तिहारे ढंग॥

होली ही जो ठहरी। होली के मद में मस्त किसी गोपी की यह उक्ति ध्यान देने योग्य है :—

आजु हरि पकरि नचाए नचो री।
लै गयो चित्त चुरावन मोहन जो मेरे धन होरी।
बाँधौंगी कंचन-खम्भ कलेवर दो भुजाडंड डोरी।

यहाँ तक तो ठीक है, परंतु इससे आगे जो कहा गया है, वह होली में ही कहा जाना उचित है :—

राखौंगी कठिन कठोर कुचनि पर लै न सकै कोऊ चोरी।
प्याऊँगी अधर मधुर रस, गोरस फेरि करै नहिं जोरी।
काम जगाइ के डंड करौंगी खेलौंगी हरि सों होरी।
लोकलाज कुल कान तजौंगी, आनंद भरत किसोरी।
सूरदास प्रभु की बलि जैये अविचल रहौ जिहि जोरी॥

भगवान् जाने, ये कौन-से सूरदास हैं!

लाख होली सही, परंतु फिर भी सीमाएँ होती हैं। नंदगाँववालों में 'एक' है जो व्यंजक उक्तियाँ गा रहा है, ढप की आड़ ले-ले कर इधर घूर रहा है। बरसाने की किसी गोपी के शब्द हैं :—

अरी यह कौन है नंदगाँव वारौन में पेचहि पेच भरी बातें गावै।
ओट किये उत को डफ की इतकों अँखियाँ ठहरावै।
साँवरे अंग, कमल से नैना, सैननि हा हा खावै।
नागर होरी भई तौ कहा इनैं कोउ सखी समझावै॥

यह तो रही मिलन की बात, विरहिणी की होली भी प्रस्तुत है :—

अजब रंग बावरि खेलत होरी।
रोवत-रोवत नैन अरुन भए निस-दिन नीर ढरो री।
भीजत रहत सहज नित चूनर, कोउ न करत बरजोरी॥

इस बेचारी का रंग रोते-रोते लाल है, चूनर स्वयं भीज रही है, बरजोरी करनेवाला ही कोई नहीं। अतीत की स्मृति में डूबी हुई कहती है :—

बीते दिनन की बतियाँ कहाँ सखि, उन सों मान करो री।
पाँय परत सखि हम मुसकाने, लाज गुलाल धरो री॥

वास्तविकता उससे फिर कहलाती है :—

एतो संदेसो कोउ कहियो मोहन सों पाँय पकरि, कर जोरी।
जोवत-जोवत गैल तिहारी कोउ अचल भई ब्रज गोरी॥

गाँवों, देहातों और छोटे नगरों में होली का उल्लास आज भी बचा है, लंगोटी में फाग खेलनेवाले मस्त, सदा मस्त रहते हैं।

स्वरस्थापन की प्राचीन प्रणाली

यो यत्सम्यग्विजानीते स तद्वदति तत्त्वतः । स सम्प्रदायः कथितो विष्णुना लोकजिष्णुना ॥

अर्थात्—"जो जिस बात को भलीभाँति जानता है, वह उसे तत्त्वपूर्वक कहता है । लोकजयी विष्णु ने उसे ही संप्रदाय कहा है ।"

एक आचार्य्य का कथन है :—

शास्त्रानुक्तस्यापि शास्त्रेणाभ्यनुज्ञातस्य शास्त्राविरोधिनोऽर्थविशेषस्याचार्यशिष्यपरम्परया यदुपदेशप्रदानं सम्प्रदायः ।[1]

अर्थात्—"जो अर्थविशेष शास्त्र में उक्त न हो, परंतु शास्त्र के द्वारा अभ्यनुज्ञात एवं शास्त्र का अविरोधी हो, आचार्य्यशिष्यपरम्परा के द्वारा उसका उपदेशदान 'सम्प्रदाय' कहलाता है ।"

उपर्युक्त उद्धरणों में 'सम्यक् ज्ञान', 'तत्त्वपूर्वक विवेचन' एवं 'आचार्यशिष्यपरम्परा के द्वारा उपदेशप्रदान' को सम्प्रदाय की विशेषता बताया गया है ।

बात यह है कि 'तत्त्वज्ञ' या 'विशेषज्ञ' आचार्य विभिन्न छात्रों की बुद्धि के अनुसार विषय को बोधगम्य कराने के लिए विभिन्न शैलियों में विभिन्न शब्दों का आश्रय लेकर उन्हें तत्त्व का बोध कराता है, परंतु शैली की विभिन्नता होने पर भी उसके कथन का तत्त्व शास्त्र का अविरोधी एवं शास्त्र द्वारा अभ्यनुज्ञात होता है ।

जब किसी भी सम्प्रदाय का उच्छेद हो जाता है, तब अत्यंत संक्षिप्त शास्त्रवाक्यों का रहस्य साधारण व्यक्तियों के लिए दुर्ग्रह हो जाता है, परंतु मननशील, विचक्षण एवं श्रद्धालु साधक उस रहस्य को हृदयंगम करने में समर्थ हो सकते हैं ।

यदि अविशेषज्ञ व्यक्ति 'आचार्य' के स्थान पर प्रतिष्ठित हो जाए, तो वह स्वयं तो बहकता ही है, औरों को भी मार्गभ्रष्ट करता है । इस संबंध में एक प्राचीन कथन है :—

अविशेषज्ञस्याचार्यस्याधिको दोषः न केवलमज्ञत्वात्स्वयं प्रत्यवेति अन्यानपि प्रत्यवायेन योजयति ।

उच्छिन्नप्राय 'भरत-सम्प्रदाय' में पाश्चात्य अविशेषज्ञों की कृपा (!) के परिणामस्वरूप नवीन प्रत्यवाय हुआ, जिसने संगीत-क्षेत्र में आज प्राचीन ग्रंथों के प्रति अवांछनीय एवं घातक अश्रद्धा उत्पन्न कर दी है । इस स्थिति को दूर करना प्रत्येक अधिकारी व्यक्ति का परम पुनीत कर्त्तव्य है । इस कर्त्तव्य के पूर्ण होने पर हमारे मुनिवाक्यों पर पाश्चात्यों द्वारा लगाए हुए 'अस्पष्टतारूपी' मिथ्या कलंक का युक्तियुक्त परिमार्जन हो सकेगा ।

---

१. 'संगीतरत्नाकर', नृत्याध्याय, कल्लिनाथ की टीका, अडयार संस्करण, पृ० २९

× × × ×

'सिद्धांत-ग्रंथों' एवं 'संग्रह-ग्रंथों' में एक ही विषय का प्रतिपादन होने पर भी कभी-कभी 'क्रम' और 'शैली' में भेद होता है और उसके कारण भ्रम होने की संभावना भी हो सकती है, ऐसी स्थिति में 'सिद्धांत-ग्रंथों' का भलीभाँति परिशीलन ही उपयोगी होता है।

श्रुतियों को स्वर का कारण मानने की परंपरा 'नाट्यशास्त्र' की अपेक्षा कहीं अर्वाचीन है। 'नाट्यशास्त्र' की 'स्वरविधि' में विषय-प्रतिपादन का क्रम निम्नोक्त है :—

(अ) स्वरसंज्ञाएँ।

(आ) वादी, संवादी, अनुवादी, विवादी के रूप में चतुर्विध स्वर या उनके चतुर्विध संबंध।

(इ) वादी, संवादी का लक्षण।

(ई) मध्यमग्राम में 'पंचम-ऋषभ' तथा षड्जग्राम में 'षड्ज-पंचम' के पारस्परिक संवाद को प्रतिपादित करनेवाला श्लोक।

(उ) विवादी एवं अनुवादी का लक्षण एवं कुछ उदाहरण।

(ऊ) वादी, संवादी, अनुवादी एवं विवादी संज्ञाओं की अन्वर्थता।

(ए) षड्जग्रामीय स्वरों की स्थापना का ज्ञान करानेवाला श्लोक, जिसमें षड्जग्राम में श्रुतिनिदर्शन बताया गया है और जिसके रहस्य से परिचित होने पर मध्यमग्रामीय स्वरों का भी ज्ञान हो जाता है।

(ऐ) षड्जग्राम एवं मध्यमग्राम से परिचित व्यक्ति के लिए एक 'स्थान' में श्रुतिसंख्या एवं श्रुति-परिमाणों की प्राप्ति का उपाय 'चतुःसारणा'।

(ओ) दोनों ग्रामों में स्वरों की संख्या का स्मरण रखने के लिए संग्रह-श्लोक, जिनमें 'चतुःसारणा' का निष्कर्ष पद्यबद्ध है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'नाट्यशास्त्र' क्रमशः स्वर-स्थापना एवं ग्राम-ज्ञान के पश्चात् श्रुतियों की बाईस संख्या एवं उनके परिमाणों का ज्ञान संभव मानता है। स्थूल के पश्चात् ही सूक्ष्म का ज्ञान संभव है।

× × × ×

श्रुति-संख्या-निर्देश का प्रयोजन वस्तुतः पूर्ववर्ती स्वर की अपेक्षा परवर्ती स्वर की ऊँचाई बताना है।

षड्जग्राम की प्रथम मूर्च्छना का आदिम स्वर षड्ज है, जो अन्य स्वरों का जनक है, इससे पूर्ववर्ती किसी स्वर का अस्तित्व इस मूर्च्छना में संभव नहीं, जिसकी अपेक्षा षड्ज की ऊँचाई बताई जाए, फलतः इसके पश्चाद्वर्ती स्वरों की ऊँचाई इसकी अपेक्षा बताने के लिए ही 'नाट्यशास्त्र' में क्रमशः ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत एवं निषाद की श्रुति-संख्या का निर्देश किया है, तत्पश्चात् षड्ज की श्रुतियाँ बताई हैं, क्योंकि इसी पश्चाद्वर्ती अथवा अग्रिम-स्थानीय षड्ज की अपेक्षा पूर्ववर्ती निषाद का अस्तित्व सम्भव है। ऊँचाई अथवा नीचाई सापेक्ष हैं, जब आदिम षड्ज की अपेक्षा

पूर्ववर्ती किसी स्वर का अस्तित्व ही नहीं, तब किसकी अपेक्षा आदिम षड्ज की ऊँचाई बताई जाए। 'नाट्यशास्त्र' का यह रहस्यगर्भ श्लोक है :—

तिस्रो द्वे च चतस्रश्च चतस्रस्तिस्र एव च।
द्वे चतस्रश्च षड्जाख्ये ग्रामे श्रुतिनिदर्शनम् ॥

अर्थात्—'षड्जग्राम में श्रुतियों की स्थिति क्रमशः तीन, दो, चार, चार, तीन, दो, चार है।'

दत्तिल ने भी किसी एक ध्वनि को षड्ज मानकर उसके पश्चात् ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत, निषाद एवं तत्पश्चात् षड्ज की श्रुति-संख्या का निर्देश किया है।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भरत और दत्तिल, दोनों ही किसी भी एक ध्वनि को 'षड्ज' मानकर तत्पश्चात् क्रमशः 'रे़, ग़, म़, प़, ध़, नि़, सा' की स्थापना का उपाय बताते हैं। यह रूप यों होगा :—

गृहीत स़ रे़ ग़ म़ प़
१, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११, १२, १३,
ध़ नि़ सा
१४, १५, १६, १७, १८, १९, २०, २१, २२

श्रुति-संख्या का यह क्रम कुछ विलक्षण अवश्य प्रतीत होगा, परंतु भरत एवं दत्तिल का वह विधान, जिसमें षड्ज की श्रुति-संख्या का निर्देश सब स्वरों के पश्चात् दिया है, हमें यही क्रम देता है। इस क्रम में षड्ज की अपेक्षा अन्य स्वरों की ठीक-ठीक ऊँचाई का ठीक-ठीक ज्ञान होता है और गृहीत 'स' की अपेक्षा अंतिम 'स' ठीक बाईस श्रुतियों के अंतर पर स्थित है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भरत एवं दत्तिल हमें 'अष्टक' का बोध कराते हैं, जिसमें आदिम ध्वनि 'षड्ज' के रूप में गृहीत है और अन्य सात स्वर उस 'गृहीत' ध्वनि के आधार पर स्थापित हैं।

'नाट्यशास्त्र' में स्वरों को चतुःश्रुतिक, त्रिश्रुतिक अवश्य कहा गया है, परंतु यह कहीं नहीं कहा गया है कि षड्ज इत्यादि स्वर क्रमशः चौथी, सातवीं, नवीं, तेरहवीं, सत्रहवीं, बीसवीं एवं बाईसवीं श्रुति पर स्थित हैं। यह भाषा पाश्चात्कालीन उन संग्रह-ग्रंथकारों की है, जो श्रुतियों को स्वरों का कारण मानते और स्वरों के प्रतिपादन से पूर्व श्रुतियों का विवेचन करते थे। इस क्रम-भेद ने ही एक आधुनिक विचारक के मन में यह विचार उत्पन्न किया कि षड्ज तो मूल ध्वनि है, उससे पूर्व तीन श्रुतियों का अस्तित्व ही असंभव है, फलतः षड्ज इत्यादि स्वरों की शुद्धावस्था उनकी प्रथम श्रुति पर माननी चाहिए, परंतु इस विचारक ने भी यह नहीं सोचा कि श्रुतिनिर्देश का प्रयोजन ही दो ध्वनियों का अंतर बताना है।

भातखंडे जी की भ्रष्ट श्रुति-संख्या के अनर्गल परिणाम

षड्ज इत्यादि स्वरों को उनकी प्रथम श्रुति पर मानने के अत्यंत अवांछनीय परिणाम हुए हैं। यह स्थिति इस प्रकार है :—

सा रे ग म प
१, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११, १२, १३, १४,
ध नि
१५, १६, १७, १८, १९, २०, २१, २२

परिणाम यों हैं :—

(अ) 'धैवत' मध्यम के पश्चात् आठ श्रुतियों के अंतर पर आ गया है, जबकि 'भरत' का धैवत मध्यम के पश्चात् सात श्रुतियों के अंतर पर स्थिति है।

(आ) 'पंचम' ऋषभ के पश्चात् नौ श्रुतियों के अंतर पर आ गया है, जबकि भरत का षाड्जग्रामिक पंचम ऋषभ के पश्चात् दश श्रुतियों के अंतर पर स्थिति है।

(इ) 'धैवत्' गांधार (अंतर) के पश्चात् दश श्रुतियों के अंतर पर आ गया है, जिससे इन दोनों स्वरों का प्रत्यक्ष षड्ज-मध्यम-भाव नष्ट हो गया है।

(ई) 'सा' के पश्चात् 'ध' का अंतर सत्रह श्रुति का हो गया है, जबकि भरत का धैवत 'सा' के पश्चात् सोलह श्रुतियों के अंतर पर है।

(उ) 'ऋषभ' षड्ज के पश्चात् चार श्रुतियों के अंतर पर चला गया है, जब कि भरत का ऋषभ 'षड्ज' के पश्चात् तीन श्रुतियों के अंतर पर है।

(ऊ) 'ग', 'नि' क्रमशः भरत के 'अन्तरगांधार' एवं 'काकली निषाद' हो गए हैं।

इस प्रकार इस दृष्टिकोण ने 'नाट्यशास्त्र' को समझने में एक और भयानक प्रत्यवाय उत्पन्न कर दिया है।

× × × ×

ग्रामों एवं उनमें स्थित स्वरों की ठीक-ठीक स्थिति जानने के निम्नलिखित तीन अखंडनीय आधार हैं :—

१. 'सा-म' का सनातन संवाद, जो षड्ज-मध्यम-भाव या नौ श्रुतियों के अंतर का बोधक है।

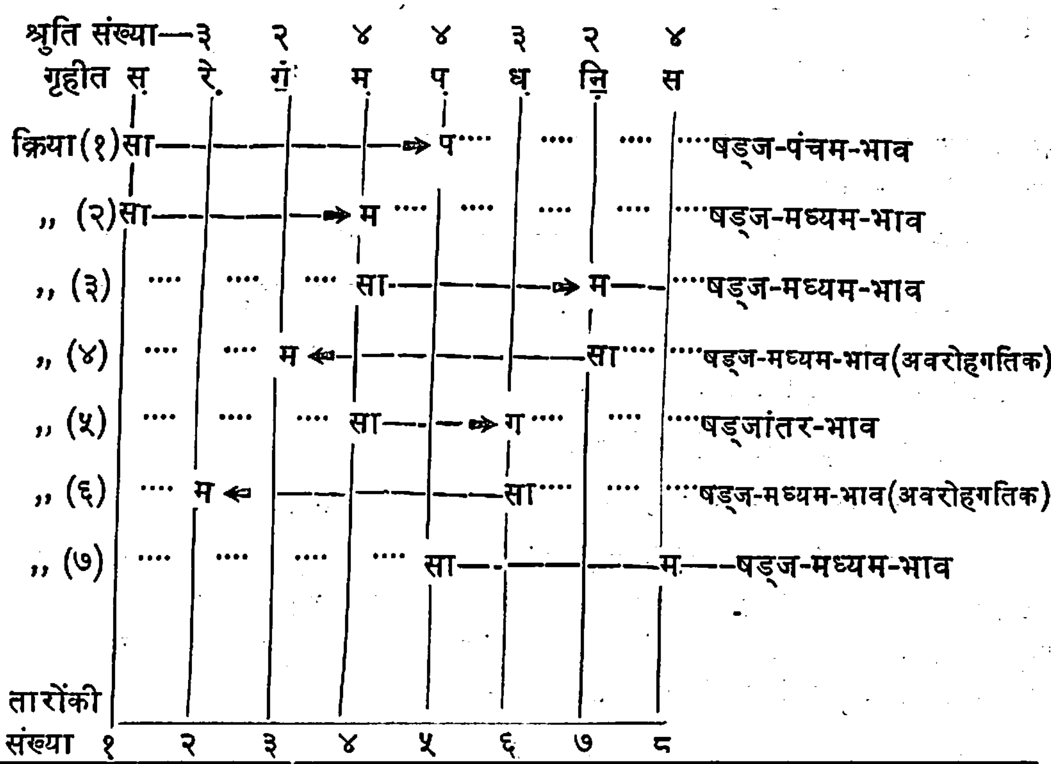
२. 'सा-प' का सनातन षड्जग्रामीय संवाद, जो तेरह श्रुतियों के अन्तर का बोधक या षड्ज-पंचम-भाव है।

३. 'सा-ग' और 'म-ध' का अन्तर, जो सात श्रुतियों के अन्तर का बोधक एवं हमारी भाषा में 'षड्जान्तर-भाव' या मध्यम-धैवत-भाव है।

प्राचीन अन्तरगांधार, उत्तर-भारतीय तीव्र गांधार (विहाग में प्रयोज्य), दाक्षिणात्यों का स्वयम्भू गांधार, षड्ज से सात श्रुतियों के अन्तर पर स्थित एक ही ध्वनि की विभिन्न संज्ञाएँ हैं। यह अन्तर भी उत्तर-भारतीय वीणा के 'सा-ग' 'म-ध' एवं 'प-नि' में आज प्राप्त है।

सात, नौ एवं तेरह श्रुतियों के इस ज्ञात अन्तर का आधार लेकर षड्जग्रामीय शुद्ध स्वरों की स्थापना स्वर-मंडल के तारों पर इस प्रकार की जा सकती है :—

स्वरमंडल पर भरतोक्त स्वरों की स्थापना



स्पष्टीकरण :—

क्रिया १. में गृहीत 'सा' का आधार लेकर पाँचवें तार पर पंचम की स्थापना की गई है, क्योंकि 'सा' के पश्चात् से 'प' तक तेरह श्रुतियों का अंतर मुनिबोधित है।

क्रिया २. में गृहीत 'सा' का आधार लेकर 'मध्यम' की स्थापना चौथे तार पर की गई है, क्योंकि 'सा' के पश्चात् मध्यम तक नौ श्रुतियों का अन्तर है।

क्रिया ३. में चौथे तार पर स्थित मध्यम का आधार लेकर सातवें तार पर निषाद की स्थापना की गई है, क्योंकि मध्यम के पश्चात् निषाद नौ श्रुतियों के अन्तर पर स्थित है।

क्रिया ४. में सातवें तार पर स्थित निषाद का आधार लेकर अवरोहगतिक षड्ज-मध्यम-भाव से तीसरे तार पर गांधार की स्थापना की गई है। क्योंकि निषाद की अपेक्षा गांधार नीचे की ओर तेरह श्रुतियों के अन्तर पर उसी प्रकार स्थित है, जिस प्रकार मध्य षड्ज की अपेक्षा मंद्र मध्यम।

क्रिया ५. में चौथे तार पर स्थित मध्यम का आधार लेकर षड्जांतरभाव से छठे तार पर धैवत की स्थापना की गई है, क्योंकि मध्यम के पश्चात् धैवत सात श्रुतियों के अन्तर पर स्थित है।

क्रिया ६. में छठे तार पर स्थित धैवत का आधार लेकर दूसरे तार पर ऋषभ की स्थापना अवरोहगति में उसी प्रकार की गई है, जिस प्रकार तीसरी क्रिया में निषाद का आधार लेकर गांधार की स्थापना की गई थी।

क्रिया ७. में पाँचवें तार पर स्थित 'पंचम' का आधार लेकर आठवें तार पर षड्ज की स्थापना की गई है।

'स़-म़', 'स़-प़', 'रे़-ध़', 'ग़-ऩि', 'म़-ऩि', 'म़-स' एवं 'प़-स' में परस्पर स्वर-संवाद तथा ऋषभ से दस श्रुतियों के पश्चात् स्थित होने के कारण 'रे-प' असंवाद इसमें कर्णगोचर होंगे।

यदि मध्यमग्रामीय स्वरों का दर्शन करना हो, तो मुनिप्रोक्त विधियाँ दो हैं :—

१. पंचम को इतना उतार दीजिए कि ऋषभ के साथ 'षड्ज-मध्यम-भाव' से उसका संवाद होने लगे। इस क्रिया के परिणाम-स्वरूप ऋषभ जितना उतरा है, वह अंतर 'प्रमाणश्रुति' है। फलत: आपको :—

'स़, ३रे़, २ग़, ४म़, ३प़, ४ध़, २ऩि, ४स'

मिलेंगे, जो मध्यमग्राम की चतुर्थ मूर्च्छना से प्राप्त अष्टक है।

२. षड्जग्रामीय स्वरों में से केवल गांधार को इतना चढ़ा दीजिए कि वह गृहीत षड्ज की अपेक्षा षड्जांतर भाव या सात श्रुतियों के अंतर पर स्थित हो जाए। फलत: यह षड्जग्राम की प्रथम 'सांतरा' (अन्तर गांधार सहित) मूर्च्छना से प्राप्त अष्टक होगा। इसकी श्रुति-संख्या निम्नोक्त होगी :—

स, ३रे, ४ग, २म, ४प, ३ध, २नि, ४स

यही स्वरावली मध्यमग्रामीय :—

म, ३प, ४ध, १नि, ४स, ३रे, २ग़, ४म

हो जाएगी, जो मध्यमग्रामीय प्रथम मूर्च्छना से प्राप्त अष्टक है।

नान्यदेव ने षड्जग्रामीय मूर्च्छना का रूप 'स, रे़, ग़, म़, प़, ध़, ऩि, स़' दिया है क्योंकि आरोहक्रिया गृहीत षड्ज के पश्चात् 'रे़ ग़, म़, प़, ध़, ऩि, स़' सात स्वरों में समाप्त होती है और अवरोहक्रिया 'स' के पश्चात् 'नि, ध, प, म, ग, रे, स' में होती है।

गृहीत स्वर के पश्चात् बाईसवीं श्रुति पर गृहीत स्वर का ही अग्रिमस्थानीय रूप होता है।

स्वरस्थापना के पश्चात् श्रुति-ज्ञान का आधार अष्टक ही है। स्वरस्थापना के पश्चात् सात स्वर-मूर्च्छना के रूप में हमें मिल सकते हैं।

इस प्रकार षड्जग्रामीय जो स्वर मध्यमग्रामीय संज्ञाएँ ग्रहण करते हैं, उन संज्ञाओं के साथ षड्जग्राम में भी उनका षड्ज-मध्यम-भाव है। निम्नस्थित षड्जग्रामीय स्वरों का उनके नीचे लिखी मध्यमग्रामीय संज्ञाओं से षड्ज-मध्यम-भाव स्पष्ट है।

षड्जग्रामीय स्वरसंज्ञाएँ } स, ३रे, ४ग, २म, ४प, ३ध, २नि, ४स

मध्यमग्रामीय स्वरसंज्ञाएँ } म, ३प, ४ध, २नि, ४स, ३रे, २ग, ४म

दोनों ग्रामों के स्वरों में षड्ज-मध्यम-भाव का यह अखंडनीय अस्तित्व भी 'मध्यमग्राम' की अन्वर्थता की ओर संकेत करता है।

संवाद की एक प्राचीन व्याख्या है :—

'एकत्र दृष्टस्य अन्यत्र दर्शनं संवादः'—

अर्थात्—"एक स्थान पर देखी हुई वस्तु या वैशिष्ट्य का दूसरे स्थान पर वैसा ही दर्शन 'संवाद' है।"

षड्जग्रामीय प्रथम सांतरा मूर्च्छना में ध्वनि एवं श्रुति-संख्या की दृष्टि से मध्यम-ग्रामीय प्रथम शुद्ध मूर्च्छना का तत्सदृश दर्शन भी 'संवाद' है। इस प्रकार 'संवाद' का अर्थ दो ध्वनियों का आनुकूल्य ही नहीं, सादृश्य एवं परस्पर प्रतिनिध हो सकना भी है।

षड्जग्रामीय 'सांतरा' मूर्च्छनाओं में मध्यमग्रामीय शुद्ध और 'सांतरा' मूर्च्छनाओं का दर्शन तो हो जाता है, परंतु 'सकाकली' मूर्च्छनाओं का दर्शन असंभव है, क्योंकि षड्जग्रामीय 'म–प', मध्यमग्रामीय 'नि–स' तो बन जाते हैं, परंतु षड्जग्राम में 'मध्यम' के दो श्रुति पश्चात् कोई ध्वनि नहीं, जो मध्यमग्रामीय 'काकली निषाद' का स्थान ले सके, अतः 'श्रीकंठ' जैसे पंडित के गुरु का यह मत समीचीन नहीं कि मध्यम-ग्राम अनावश्यक है।

कभी-कभी यह प्रश्न उठाया जाता है कि 'भरत' ने अपने स्वरों के स्थान तार की लंबाई पर क्यों नहीं बताए? उत्तर निम्नोक्त है :—

'नाट्यशास्त्र' के युग में सारिकायुक्त वाद्यों का अस्तित्व नहीं था। संपूर्ण 'नाट्य-शास्त्र' में सारिका अथवा उसके पर्य्यायवाची किसी शब्द का प्रयोग नहीं है।

प्रसिद्ध सारणाप्रकरण में वीणा की तंत्री एवं उपवादन दंड का ही उल्लेख है। उस युग के 'चित्रा' एवं 'विपंची' जैसे तंत्रीवाद्यों में पृथक्-पृथक् स्वरों की अभिव्यक्ति के लिए पृथक्-पृथक् तंत्रियाँ होती थीं।

कहा जाता है कि सर्वप्रथम सारिकायुक्त वाद्य 'किन्नरी' है, जो 'नाट्यशास्त्र' के युग की अपेक्षा अर्वाचीन है।

सारिकावाद्यों में तार और 'सारिका' (पर्दा, सुन्दरी या सार) में एक अनिवार्य अंतर रहता है, जिसके अभाव में वाद्य वादन योग्य न रहेगा।

यदि तार को बीचो-बीच में दबाकर सारिका का स्पर्श कराया जाए, तो दबने के कारण तार का दबाव कुछ-न-कुछ अवश्य बढ़ेगा, फलतः इस स्थिति में तार को छेड़ने से जो ध्वनि प्राप्त होगी, वह वांछनीय ध्वनि की अपेक्षा अणुमात्र चढ़ी हुई होगी। वांछनीय ध्वनि प्राप्त करने के लिए सारिका को मेरु (अटी या अटक) की ओर उतना सरकाना पड़ेगा, जितना सरकाने से उससे स्पृष्ट तार अभीष्ट ध्वनि को उत्पन्न कर सके। ऐसी स्थिति में तार मेरु से जितनी दूरी पर रहेगा, वह दूरी मेरु की ओर कम और 'घुड़च' की ओर अधिक होगी।

सारिका-वाद्यों में प्रत्येक सारिका की वास्तविक स्थापना वहीं होगी, जहाँ स्थापित सारिका से तार का स्पर्श अभीष्ट ध्वनि का जनक हो। तार एवं सारिका में अनिवार्य-रूपेण एक दूरी होने के कारण तार को मेरु की अपेक्षा जिस अंतर पर दबाना होगा, वह अंतर उस ध्वनि के गणितसिद्ध अंतर से अवश्यमेव कुछ-न-कुछ कम होगा।

यह तथ्य सिद्ध करता है कि लंबाई के आधार पर स्वरस्थान निश्चित करने के दृष्टिकोण का सारिका-वाद्यों में कोई विशेष व्यावहारिक महत्त्व नहीं।

जिन भारतीय आचार्यों ने मध्ययुग में अपने स्वरों के स्थान निश्चित किए, उन्होंने भी स्वर-स्थापना का वास्तविक कारण 'स्वरसंवादिता का ज्ञान' बताया है और तार की लंबाई पर स्वरस्थान निश्चित करने के दृष्टिकोण की व्यावहारिक अनुपयोगिता को स्वीकृत किया है।

मतंग मुनि के कुछ निर्णायक कथन

संगीत का प्रत्येक छात्र मतंग और उनके ग्रंथ 'बृहद्देशी' के नाम से परिचित है। यह ग्रंथ खंडित रूप में प्राप्त है, परंतु इसे ग्रंथ के प्राप्त रूप में भी विचारणीय सामग्री की कमी नहीं है। इसमें अनेक ऐसे महत्त्वपूर्ण स्थल हैं, जो जिज्ञासुओं की अनेक शंकाओं का समाधान करते हैं। इस लेख में 'बृहद्देशी' के कतिपय वाक्यों को समझने की चेष्टा की जाएगी।

भरत का ऋषभादि श्रुतिमंडल और उसका कारण

१. 'नाट्यशास्त्र' से परिचित सज्जन जानते हैं कि 'नाट्यशास्त्र' ने 'रे ग, म, प, ध, नि, सा' की श्रुतियाँ क्रमशः बताई हैं। श्रुति-संख्या-निर्देश का प्रयोजन पूर्ववर्ती स्वर की अपेक्षा परवर्ती स्वर की ऊँचाई बताना है, फलतः किसी ध्वनि को गृहीत रूप में 'षड्ज' की संज्ञा देने के पश्चात् ही परवर्ती स्वरों की ऊँचाई का बताया जाना संभव है, अतः ऋषभ की श्रुतियाँ बताने की उपयुक्तता है, क्योंकि उससे पूर्ववर्ती स्वर 'षड्ज' को स्थापित कर लिया है, षड्ज की श्रुतियाँ सबके पश्चात् अर्थात् निषाद की सत्ता के अनंतर बताई गई हैं।

ऋषभ से 'श्रुतिमंडल' का आरंभ करने का दूसरा प्रयोजन 'अंतर' स्वरों से युक्त मूर्च्छना की सिद्धि भी है। षड्ज से यदि 'श्रुतिमंडल' का आरंभ किया जाए, तो मूर्च्छना निषाद पर समाप्त हो जाएगी, परंतु ऋषभ से 'श्रुतिमंडल' का आरंभ करने पर मूर्च्छना की समाप्ति षड्ज पर होगी, जिससे दो श्रुति पूर्व काकली निषाद की स्थिति बताई जा सकी है। इस तत्त्व का स्पष्टीकरण करते हुए मतंग कहते हैं :—

भरतस्तु पुनर्ऋषभादि श्रुतिमंडलं दर्शयति। किमत्र कारणम् ? उच्यते। ग्रामद्वयेऽपि अंतर्मू(रमू?)र्च्छना प्रतिपादनार्थम्। यद्वा ग्रामद्वयेऽपि षड्जमध्यमौ ग्रामण्यौ भवतः। अन्यस्वरास्तदग्रेसरा इति।

(बृहद्देशी—अनंतशयन-संस्कृत-ग्रंथावलि, पृ० ११)

अर्थात्—'भरत तो ऋषभ से आरंभ होनेवाले श्रुतिमंडल का निदर्शन करते हैं, इसका क्या कारण है ? उत्तर यह है कि (भरत का यह निदर्शन) दोनों ग्रामों की अंतर-मूर्च्छनाओं का प्रतिपादन करने के लिए है। अथवा दोनों ग्रामों में षड्ज और मध्यम ही ग्रामणी (ग्राम में प्रधान, ग्राम के आधारभूत, ग्राम-स्थापना की प्राप्ति करानेवाले) होते हैं और अन्य स्वर इनके पश्चात् आते हैं।'

मतंग के ये संक्षिप्त शब्द भरत के ऋषभादि श्रुतिनिदर्शन के दोनों कारणों का स्पष्टीकरण करते हैं। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि षड्जग्रामीय 'रे, ४ ग, २ म, ४ प, ३ ध, २ नि, ४ सा', मध्यमग्रामीय 'प, ४ ध, २ नि, ४ सा, ३ रे, २ ग, ४ म' हो जाते हैं, अर्थात् षड्जग्रामीय ऋषभादि सांतरा मूर्च्छना ही मध्यमग्रामीय शुद्ध पंचमादि मूर्च्छना है। यह भी समझ लेना चाहिए कि षड्जग्रामीय काकलीनिषाद ही मध्यमग्रामीय अंतरगांधार है।

मतंग की द्विविध मूर्च्छनाएँ

२. मूर्च्छना : मतंग ने मूर्च्छना द्विविध बताई हैं—'सप्तस्वर' एवं 'द्वादशस्वर'। 'सप्तस्वर' मूर्च्छनाएँ उन्होंने चतुर्विध बताई हैं—पूर्णा, षाडवा, औडुविता और साधारणा। जो सात स्वरों से गाई जाती हो, वह 'पूर्ण', जो छह स्वरों से गाई जाती हो, वह 'षाडव', जो पाँच स्वरों से गाई जाती हो, वह 'औडुव' और जो काकली-निषाद एवं अंतरगांधार से युक्त करके गाई जाती हो, वह 'साधारणा' है।

मतंग के शब्द हैं :—

सा च मूर्च्छना द्विविधा सप्तस्वरमूर्च्छना द्वादशस्वरमूर्च्छना चेति। तत्र सप्तस्वर-मूर्च्छना चतुर्विधा पूर्णा, षाडवा औडुविता साधारणी चेति। तत्र सप्तभिः स्वरैर्या गीयते सा पूर्णा। षड्भिः स्वरैर्या गीयते सा षाडवा। पंचभिः स्वरैर्या गीयते सा औडुविता। काकल्यंतरैः स्वरैर्या गीयते सा साधारणा। (वही, पृ० २२)

मतंग ने 'मूर्च्छना' का लक्षण करते हुए कहा है :—

आरोहणावरोहणक्रमेण स्वरसप्तकम्।
मूर्च्छनाशब्दवाच्यं हि विज्ञेयं तद्विचक्षणैः॥ (वही, पृ० २२)

अर्थात्—'आरोहावरोह-क्रम से प्रयुज्यमान स्वरसप्तक को बुद्धिमानों के द्वारा 'मूर्च्छना' समझा जाना चाहिए।' 'मूर्च्छना' होने के लिए सप्तस्वरता अनिवार्य है, 'षाडव' और 'औडुव' के रूप में किए हुए मूर्च्छना के भेद इस सप्तस्वरता की कसौटी पर खरे नहीं उतरते। अतः सप्तस्वर-मूर्च्छनाओं की चतुर्विधता का प्रतिपादन मतंग ने एक अन्य दृष्टि से भी किया है। वे कहते हैं :—

षड्जग्रामे षड्जाद्याः (षड्जाद्याद्याः?) सप्तमूर्च्छना मध्यमग्रामे मध्यमा(मध्यमाद्याद्याः?) श्च सप्त। एताश्चतुर्दश मूर्च्छनाः प्रत्येकं चतुर्धा भवंति। शुद्धाः कर (का?) कलिकलिता सांतरा तद्द्वयोपेता चेति। एकैकस्या मूर्च्छनाश्चतुर्विधत्वात्..............(षट्पंचाशत् ?)।
(वही, पृ० ३१)

अर्थात्—'षड्ज-ग्राम में षड्ज इत्यादि स्वरों से तथा मध्यमग्राम में मध्यम इत्यादि स्वरों से आरंभ होनेवाली सात-सात मूर्च्छनाएँ होती हैं। इन चौदहों मूर्च्छनाओं में प्रत्येक के चार भेद शुद्धा, काकलीकलिता, सांतरा और अंतरकाकली-सहिता होते हैं। (चौदहों मूर्च्छनाओं में) एक-एक के चार-चार भेद होने के कारण इनकी संख्या छप्पन है।'

'मूर्च्छना' की सप्तस्वरता इसी वर्गीकरण में बनी रहती है, इसी लिए शार्ङ्गदेव ने मतंग के इसी मत का अनुसरण किया है।

यह ध्यान देने की बात है कि मतंग ने उसी मूर्च्छना को शुद्ध कहा है, जिसके स्वरों का अंतराल ग्राम की मूलभूत स्वर-व्यवस्था के अनुसार हो। गांधार और निषाद की चतुःश्रुति-अवस्था से युक्त मूर्च्छनाएँ मतंग की दृष्टि से 'शुद्ध' नहीं हैं। अतः यह प्रत्यक्ष है कि स्वरों के मूलभूत अंतराल से युक्त स्थिति को ही मतंग स्वरों की शुद्ध अवस्था मानते हैं।

'नाट्यशास्त्र' में कहा गया है :—

**क्रमयुक्ताः स्वराः सप्त मूर्च्छनास्त्वभिसंज्ञिताः । षट्पंचकस्वरास्तानाः षाडवौडुविताश्रयाः ।
साधारणकृताश्चैव काकलीसमलंकृताः । अंतरस्वरसंयुक्ता मूर्च्छना ग्रामयोर्द्वयोः ॥**

अर्थात्—'क्रमयुक्त सात स्वरों की संज्ञा मूर्च्छना है। उनके षाडवित और औडुवित रूप षट्स्वर एवं पंचस्वर तान हैं। दोनों ग्रामों में साधारणकृता, काकली-समलंकृता और अंतरस्वरयुक्ता मूर्च्छनाएँ भी होती हैं।"

द्वादशस्वरमूर्च्छना—बारह स्वरों की मूर्च्छना की कोई चर्चा 'नाट्यशास्त्र' में नहीं है। 'नाट्यशास्त्र' में मंद्र और तारस्थान परावधि या पराकाष्ठा की चर्चा है, जिसका तात्पर्य तीनों संपूर्ण स्थानों के इक्कीसों स्वरों के प्रयोग से है। मंद्र और तार-स्थानों की अवधि में संकोच की चर्चा भी 'नाट्यशास्त्र' करता है, परंतु उसका दृष्टिकोण व्यापक है।

द्वादशस्वर-मूर्च्छनावाद

मतंग ने 'जिस द्वादशस्वर-मूर्च्छनावाद' की चर्चा की है, उसका प्रयोजन मंद्र और तार-स्थान का सीमित प्रयोग है। 'नाट्यशास्त्र' में जहाँ मूर्च्छना का एकमात्र प्रयोजन 'स्थानप्राप्ति' माना गया है, वहाँ नंदिकेश्वर और उनके अनुयायी मतंग ने मूर्च्छना का प्रयोजन 'स्थानप्राप्ति' के साथ-साथ जाति, राग इत्यादि की सिद्धि भी माना है। राग की सिद्धि एक 'स्थान' के सात स्वरों में संभव नहीं, अतः इस संप्रदाय के व्यक्तियों ने मूर्च्छना का विस्तार बारह स्वर करके मूर्च्छना में मंद्र एवं तार-स्थान के कुछ स्वरों का भी ग्रहण कर लिया।

मतंग कहते हैं :—

चतुर्विधा मया प्रोक्ता मूर्च्छनाः (मूर्च्छाः) सप्तस्वरात्मिकाः । इदानीं तु प्रवक्ष्यामि द्वादशस्वरमूर्च्छनाम् ॥ तत्र मूर्च्छनानिर्देशः स्थानत्रितयप्राप्त्यर्थमिति वचनात् मंद्रतारसिद्ध्यर्थ-मितिवचनाच्च द्वादशस्वरसम्पन्ना मूर्च्छना द्रष्टव्याः प्रयोगकाले । तथा चाह कोहल :—

योजनीयो बुधैर्नित्यं क्रमो[1] लक्ष्यानुसारतः । संस्थाप्य मूर्च्छनां जातिरागभाषादिसिद्धये ।

नंदिकेश्वरेणाप्युक्तम्—

**'द्वादशस्वरसंपन्ना ज्ञातव्या मूर्च्छना बुधैः । जातिभाषादिसिद्ध्यर्थं तारमंद्रादिसिद्धये ॥'
यद्वाप्याचार्यैः सप्तस्वरमूर्च्छनाः प्रतिपादिताः स्थानत्रितयप्राप्त्यर्थं द्वादशस्वरैरेव मूर्च्छनाः प्रयुक्ताः ।**

(बृहद्देशी, पृ० ३२)

अर्थात्—'मैंने सप्तस्वरात्मक मूर्च्छनाएँ कह दीं, अब द्वादशस्वर-मूर्च्छनाएँ कहूँगा।'

मूर्च्छनाओं का निर्देश तीनों स्थानों की प्राप्ति तथा मंद्र तार की सिद्धि के लिए है, इस वचन के अनुसार प्रयोग के समय द्वादशस्वर-मूर्च्छनाएँ दर्शनीय हैं। कोहल ने भी कहा है :—

---

१. शार्ङ्गदेव ने 'क्रम' को मूर्च्छना के अंतर्गत कहा है, 'द्वादशस्वर मूर्च्छना' नहीं।

'जाति, राग और रागभाषाओं की सिद्धि के लिए मूर्च्छना का स्थापन करके बुद्धिमानों को चाहिए कि सदा लक्ष्य (प्रयोज्य जाति, राग, भाषा इत्यादि) के अनुसार स्वरक्रम की योजना करें।'

नंदिकेश्वर ने भी कहा है :—

'जाति, भाषा आदि की सिद्धि के लिए तथा तार, मंद्र इत्यादि की सिद्धि के लिए बुद्धिमानों को मूर्च्छना द्वादशस्वरसम्पन्न जानना चाहिए।' यद्यपि आचार्यों ने सप्तस्वर-मूर्च्छनाओं का प्रतिपादन किया है, (तथापि) तीनों स्थानों की प्राप्ति के लिए मूर्च्छना का प्रयोग बारह स्वरों के द्वारा ही किया गया है।

पूर्वोक्त पंक्तियों में मतंग ने कोहल का जो वचन उद्धृत किया है, उसमें मूर्च्छना की द्वादश-स्वरता की चर्चा न होकर केवल इतना है कि जाति, भाषा इत्यादि की सिद्धि के लिए मूर्च्छना स्थापित करके लक्ष्य के अनुसार स्वरक्रम की योजना करनी चाहिए, परंतु मतंग के द्वारा उद्धृत नंदिकेश्वर की उक्ति में द्वादशस्वर-मूर्च्छनाओं की चर्चा है, इससे यह सिद्ध है कि द्वादशस्वर-मूर्च्छनावाद के 'उद्भावक' मतंग नहीं हैं, 'अनुयायी' हैं।

रागों में तो 'अंश स्वर' (की-नोट) बदलता नहीं, अतः मतंग की बृहती किन्नरी में तो राग की मूर्च्छना का स्थापन करने पर प्रायः संपूर्ण तीनों स्थानों की प्राप्ति हो जाती है, परंतु 'जाति' में 'अंश स्वर' अनेक होते हैं और समस्त अंशों से युक्त 'जातियों' के लिए एक ही 'द्वादशस्वर-मूर्च्छना' का मतंगोक्त विनियोग विभिन्न अंशों से युक्त 'जातिप्रयोग' में मंद्र एवं तार-स्थानों का संकोच कर देता है। इस विषय का विस्तृत विवेचन हमने अपने ग्रंथ 'भरत का संगीत-सिद्धांत' में किया है।

पाठकों को यहाँ इतना समझ लेना चाहिए कि 'रागों' के लिए मतंग ने जो मूर्च्छनाएँ निर्दिष्ट की हैं, उनमें 'राग' का 'अंश स्वर' ही निरपवादरूप में मूर्च्छना का प्रथम स्वर है। 'जातियों' में 'अंश स्वर' अनेक होते हैं, इसलिए द्वादशस्वर-मूर्च्छनावादी' जातियों के लिए विनियुक्त अपनी मूर्च्छनाओं में इस नियम का पालन नहीं कर सके हैं।

'नाट्यशास्त्र' में जाति तथा राग के अंश स्वर का ही निर्देश

'नाट्यशास्त्र' में यह सब-कुछ नहीं है। वहाँ 'जातियों' की मूर्च्छना का निर्देश नहीं है। किसी भी 'जाति' या 'राग' के 'अंश स्वर' का वर्णन करने के पश्चात् उसकी मूर्च्छना बताने की आवश्यकता ही नहीं रहती, क्योंकि अंश-स्वर ही मूर्च्छना का निश्चायक स्वर होता है। जिस स्वर को 'अंश' करके 'जाति-प्रयोग' करना हो, वही स्वर मूर्च्छना का आरंभिक स्वर होना चाहिए।

द्वादशस्वरमूर्च्छनावाद वैणिकों की सुविधा के लिए

वस्तुतः वीणा-वादकों ने अपनी सुविधा के लिए 'द्वादशस्वरमूर्च्छनावाद' को जन्म दिया, जिससे किसी 'जाति' के विभिन्नांश रूपों का वादन करते समय 'तंत्रियों'

या 'सारिकाओं' को एक बार स्थापित करके उतारना-चढ़ाना न पड़े और 'चिकारी' विभिन्न स्वरों में मिलाकर यथावसर उनसे 'स्थायी' स्वर का कार्य ले लिया जाए।

द्वादशस्वरमूर्च्छनावादी यदि अभीष्ट द्वादशस्वरसमुदायों का नाम 'मूर्च्छना' न रखते, तो अधिक अच्छा होता। इस द्वादशस्वरसमुदाय में 'मूर्च्छनात्व' की हानि होती है।

३. अंश-स्वर

'नाट्यशास्त्र' के काशी-संस्करण का पाठ है :—

यस्मिन् वसति रागस्तु यस्याच्चैव प्रवर्तते। तेन वै तारमंद्राणां योऽत्यर्थमुपलभ्यते॥ मंद्रश्च तारविषया पंचस्वरपरागतिः। अनेकस्वरसंयोगो योऽत्यर्थमुपलभ्यते॥ अन्यच्च बलिनो यस्य संवादी चानुवाद्यपि। ग्रहोपन्यासश्चिन्यासंन्यासगोचरः। परिवार्य स्थितो यस्तु सोंऽशोः स्याद्-दशलक्षणः॥

संस्कृत भाषा में व्युत्पन्न व्यक्ति देखें कि इस पाठ के अनेक वाक्यांश अपूर्ण हैं, इस पाठ में कुछ अंशों की पुनरुक्ति है और कुल मिलाकर इस संपूर्ण पाठ का कोई एक संगत अर्थ नहीं बैठता।

'नाट्यशास्त्र' के निर्णय-सागर संस्करण का पाठ है :—

रागश्च यस्मिन् वसति यस्माच्चैव प्रवर्तते। (तेन वै तारमन्द्राणां योऽत्यर्थमुपलभ्यते।) मन्द्रतारविषया च पंचस्वरपरा गतिः। अनेकस्वरसंयोगे (गो ?) योऽत्यर्थमुपलभ्यते॥ अन्यश्च बलिनो यस्य संवादी चानुवाद्यपि। ग्रहापन्यासविन्याससंन्यासन्यासगोचरः। परिवार्य स्थितो यस्तु सोंऽशः स्याद्दशलक्षणः।

मर्मज्ञ सज्जन देख सकते हैं कि यह पाठ भी संगतिविहीन है। वास्तविक बात यह है कि ये दोनों ही पाठ विषय से अपरिचित प्रतिलिपि-कर्त्ताओं के प्रमाद का परिणाम हैं। इन पाठों के जंजाल में पड़े हुए विचारकों के समक्ष 'अंश' स्वर का रहस्य स्पष्ट नहीं हो पाता।

कल्लिनाथ के युग तक अंश स्वर-संबंधी 'नाट्यशास्त्र' का पाठ भ्रष्ट नहीं हुआ था। कल्लिनाथ ने नाट्यशास्त्रोक्त अंशस्वरलक्षण इस प्रकार दिया है :—

तथाऽऽह भरत :—

रागश्च यस्मिन् वसति यस्माच्चैव प्रवर्तते। नेता च तारमंद्राणां योऽत्यर्थमुपलभ्यते॥ ग्रहापन्यासविन्याससंन्यासन्यासयोगतः। अनुवृत्तश्च यश्चेह सोंऽशः स्याद्दशलक्षणः॥

(अड्यार-संस्करण, कलानिधि टीका, 'संगीत-रत्नाकर', स्वराध्याय, पृ० १८२)

यह पाठ स्पष्ट, शुद्ध और संगत है। 'नाट्यशास्त्र' की 'अभिनव-भारती' टीका के संपादक प्रो० रामकृष्ण कवि को भी 'नाट्यशास्त्र' के अंशस्वर-लक्षण का यही पाठ मिला है। 'भरतकोष' में यह पाठ संगृहीत है, यहाँ 'योगतः' के स्थान पर 'गोचरः' पाठ है और 'यश्चेह' के स्थान पर 'यस्येह' छप गया है।

'बृहद्देशी' का पाठ है :—

..................यस्माच्चैव प्रवर्तते । नेता च तारमन्द्राणां योऽत्यर्थमुपलभ्यते ॥
ग्रहापन्यासविन्याससंन्यासन्यासगोचरः । अनुवृत्तश्च यश्चेह सोंऽशः स्याद्दशलक्षणः ॥

(वही संस्करण, पृ० ५८)

'बृहद्देशी' के पाठ में प्रथम श्लोक का पूर्वार्द्ध छूट गया है, अवशिष्ट पाठ सर्वथा संगत, शुद्ध एवं 'भरतकोष' के अनुसार है।

शुद्ध पाठों के अनुसार अंश-स्वर राग का निवास (१), राग की प्रवृत्ति का आधार (२), तार (३), मंद्र (४), का नियामक, ग्रह (५), अपन्यास (६), विन्यास (७), संन्यास (८), न्यास (९), के द्वारा अनुवृत्त तथा बहुल (१०) होता है।

अंश स्वर ही स्थायी स्वर अथवा आधार स्वर

'जाति' और 'राग' का मूलभूत अंतर समझे बिना शार्ङ्गदेव-जैसे महामहिम आचार्य्यों पर अकारण धूल उछालनेवाले व्यक्ति इतना स्थूल तथ्य भी नहीं देख सकते कि मतंग और शार्ङ्गदेव—दोनों ने ही 'राग' की मूर्च्छना के आरंभक स्वर को अनिवार्य्य रूप में उस 'राग' का अंश-स्वर बताया है। इतना ही नहीं, अनेक रागों में न्यास-स्वर मूर्च्छना का प्रथम स्वर नहीं है। यह तथ्य सिद्ध करता है कि 'अंश' या 'स्थायी स्वर' ही मूर्च्छना का आदिम स्वर होने के कारण 'की नोट' या 'टोनिक' होता है। 'जातियाँ' रागों की जननी होती हैं, इसलिए उनमें निश्चित स्वर-सन्निवेश का प्रयोग 'की नोट' बदलकर भी होता है।

'अंश-स्वर' ही 'स्थायी-स्वर' है, इन दोनों ही परिभाषाओं का प्रयोग 'नाट्यशास्त्र', 'बृहद्देशी' तथा 'संगीत-रत्नाकर' में है। स्थायी-स्वर' 'की नोट' या 'टोनिक' का ही वाचक है। 'नाट्यशास्त्र' के पूर्वरंग, 'बृहद्देशी' के अलंकार-प्रकरण, 'संगीत-रत्नाकर' के अलंकार-प्रकरण तथा वाद्याध्याय एवं कल्लिनाथ की टीका का गहन अध्ययन जिन्होंने किया है और अभिनवगुप्त-जैसे आचार्य्यों के वाक्य जिनके चिंतन का विषय बने हैं, वे इस रहस्य से परिचित हैं। 'जातियों' एवं 'रागों' का प्रत्यक्ष प्रयोग करने-कराने के लिए इस रहस्य का ज्ञान अनिवार्य्य है।

मूर्च्छना-प्रसंग में 'मध्यम स्वर' का वास्तविक अर्थ

४· मूर्च्छनाओं के निर्देश का आरंभक स्थान वीणा का मध्यम स्वर—'एकतंत्री' वीणा की लंबाई आज की वीणाओं की अपेक्षा अधिक होती थी, इस पर सारिकाएँ नहीं होती थीं, तीनों संपूर्ण स्थानों के इक्कीसों स्वरों का वादन इस पर होता था। वीणा की तंत्री का केन्द्र-विन्दु 'मध्य-स्थान' का आरंभक स्थल होता था और मुक्त तार 'मन्द्र-स्थान' का। मध्यस्थान के आरंभक स्थान और 'घुड़च' के ठीक मध्य का भाग 'तार-स्थान' का आरंभक विंदु होता था। आज की वीणाओं की लंबाई की अपेक्षा 'एकतंत्री' की लंबाई अधिक होने के कारण एक ही तंत्री पर तीनों संपूर्ण-सप्तकों की प्राप्ति 'एकतंत्री' में हो जाती थी।

'मत्तकोकिला' वीणा में इक्कीस तार होते थे। पहला तार मंद्र-स्थान, आठवाँ तार मध्य-स्थान और पंद्रहवाँ तार तार-स्थान का आरंभक स्थल होता था।

'किन्नरी' में मुक्त तंत्री मंद्र-स्थान का आरंभक स्थल, सातवाँ पर्दा (जो तंत्री के ठीक बीच में होता था) मध्य-स्थान का आरंभक स्थल और चौदहवाँ पर्दा तारस्थान का आरंभक स्थल होता था। 'किन्नरी' में अधिक-से-अधिक अठारह पर्दे होते थे, जिनमें अंतिम पाँच पर्दों पर तार-स्थान के पाँच स्वर मिल जाते थे और अवशिष्ट दो स्वरों की प्राप्ति अंतिम पर्दे पर मींड़ के द्वारा होती थी।

'किन्नरी' भरतकालीन वाद्य नहीं है, किंतु तार की लंबाई पर स्वरों की उत्पत्ति के स्थल उस पर भी स्वाभाविक हैं।

भरत, मतंग इत्यादि मनीषियों के वाद्यों का तात्पर्य समझने के लिए उपर्युक्त तथ्य ध्यान में रखे जाने चाहिए।

'एकतंत्री' या 'किन्नरी' में तंत्री का केन्द्र-विंदु और मत्ताकोकिला में आठवाँ तार ही मध्यस्थान के मध्यसप्तक का आरंभक होने के कारण अपने स्थान से अविचलित रहता है। 'एकतंत्री' या 'किन्नरी' वीणाओं में तंत्री का केन्द्र-विंदु ही 'वीणा का मध्यम स्वर' है। वीणा का 'मध्यम या मध्यस्थ' स्वर सप्तक का 'मध्यम' नहीं है। विभिन्न मूर्च्छनाओं में विभिन्न स्वर मूर्च्छना के आदिम स्वर होते हैं, वीणा की तंत्री के मध्य भाग से उत्पन्न होनेवाली ध्वनि प्रत्येक मूर्च्छना के आदिम स्वर के मध्यस्थानीय रूप की संज्ञा का ग्रहण करती है। अतः यह स्पष्ट है कि वीणा का यह 'मध्यम' या 'मध्यस्थ' स्वर प्रत्येक मूर्च्छना के आदिम स्वर की संज्ञा ग्रहण करने के कारण 'अविनाशी' रहता है।

'एकतंत्री' वीणा में सारिकाएँ न होने के कारण मूर्च्छनाएँ स्थापित नहीं करनी पड़ती थीं। आधुनिक सारंगी, सरोद इत्यादि वाद्यों में जिस प्रकार अपने कानों के आधार पर वादक विभिन्न स्वरों की अभिव्यक्ति करते हैं, उसी प्रकार एकतंत्री में स्वराभिव्यक्ति का आधार वादक का कर्ण-प्रत्यय था। हाँ, मूर्च्छना के मध्यस्थानीय रूप का आरंभक स्थान तंत्री का केन्द्र-विंदु था।

मत्तकोकिला में पहली, आठवीं और पंद्रहवीं तंत्रियों की ध्वनि प्रत्येक मूर्च्छना के आरंभक स्वर का स्थान ग्रहण करती थी और अवशिष्ट तंत्रियों को स्थापनीय स्वरों की श्रुति-संख्या के अनुसार उतार-चढ़ाकर विभिन्न मूर्च्छनाओं की स्थापना की जाती थी।

किन्नरी में मुक्त तंत्री, सातवीं सारिका और चौदहवीं सारिका की ध्वनियाँ तीनों स्थानों का आरंभ करती थीं। गान-वादन क्रिया का आधारभूत स्थान मध्य-स्थान का आरंभक स्वर है। किन्नरी की सातवीं सारिका अपने स्थान पर अविचल रहती थी, क्योंकि इससे उत्पन्न होनेवाली ध्वनि प्रत्येक मूर्च्छना के आरंभक मध्य-स्थानीय स्वर की संज्ञा का ग्रहण करती थी। अतः यह ध्वनि 'अविनाशी' थी। अन्य सारिकाएँ विभिन्न मूर्च्छनाओं की स्थापनाओं के समय स्थापनीय स्वरों की श्रुति-संख्या के अनुसार इधर-उधर सरकाई जाती थीं।

मत्ताकोकिला में विभिन्न तंत्रियों को कसकर या ढीला करके और 'किन्नरी' में सारिकाओं को मेरु या घोड़ी की ओर सरकाकर किसी विशिष्ट मूर्च्छना के स्थान पर

किसी अन्य मूर्च्छना की स्थापना 'तानक्रिया' कहलाती थी। 'तानक्रिया' में विशेष मूर्च्छना पर आश्रित विशेष 'तान' की स्थापना में 'प्रवेश' एवं 'निग्रह' क्रिया का आधार लिया जाता था।

'स्थान' के आरंभक स्वर अर्थात् किन्नरी के सातवें पर्दे और मत्तकोकिला के आठवें तार की स्थिति अविचल होने के कारण उसे छूने-छेड़ने की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि उस पर तो प्रत्येक मूर्च्छना के आरंभक स्वर की स्थिति नैसर्गिक रूप में होती थी। 'तानक्रिया' में इस स्वर को जैसा-का-तैसा रहने देना ही 'असंस्पर्श' या 'निग्रह' कहलाता था। 'किन्नरी' के इस मध्यम, अर्थात् मध्यस्थ स्वर से पूर्ववर्ती एवं परवर्ती पर्दों का यथास्थान सारण 'तानक्रिया' में करना पड़ता था, इसके सारण में 'प्रवेश' क्रिया का आश्रय लेना पड़ता था। 'प्रवेश' के प्रकार 'प्रकर्ष' (चढ़ाना) और 'मार्दव' (उतारना) थे।

यदि किसी 'तान' में 'षड्ज' का लोप विहित है, तो 'षड्ज' के बोधक तार को चढ़ाकर उस पर 'ऋषभ' की स्थापना करना 'प्रकर्ष' है। 'ऋषभ' की अपेक्षा षड्ज 'अधर' या 'नीचा' है, 'षड्ज' का प्रकर्ष करके (तार को कसकर अर्थात् चढ़ाकर) उसे 'ऋषभ' बना देना ही 'अधर' स्वर का 'प्रकर्ष' है। यह 'प्रवेश' का एक प्रकार है।

लोपनीय 'षड्ज' के तार को ढीला करके उसे 'निषाद' में परिवर्तित कर देना ही 'उत्तर' स्वर का 'मार्दव' है। लोपनीय 'षड्ज' 'निषाद' की अपेक्षा 'उत्तर' अर्थात् पश्चाद्वर्त्ती या चढ़ा हुआ है। उस 'उत्तर' स्वर का 'मार्दव' (तार ढीला करके उतारना) ही 'प्रवेश' क्रिया का दूसरा प्रकार है।

द्विविध तान-प्रयोग (ठाठ की प्राप्ति)

'बृहद्देशी' का कथन है :—

द्विविधस्तानप्रयोगः प्रवेशेन निग्रहेण च। प्रवेशो ऋषभापेक्षया षड्जस्याधरीभूतस्य लोपनीयस्य विप्रकर्षपीडनम् ॥ ऋषभापादनम् इति यावत्। इति विप्रकर्षेण प्रवेशेन। मार्दवेन यथा तस्यैव षड्जस्य निषादापेक्षया उत्तरीभूतस्य मार्दवं। शिथिलीकरणम् निषादपादानं (निषादापादनं ?) प्रवेश इति द्विविधं प्रवेशनम्। निग्रहस्त्वनन्तरः स्वपरित्यागास्पदं वर्शनम् ॥

........तथा चाह भरत :—

द्विविधा तानक्रिया तन्व्याः (स्यां ?) प्रवेशनं निग्रहस्तथा। तत्र प्रवेशनम् अधरस्वर-प्रकर्षादुत्तरस्वरमार्दवाद् वा ॥ निग्रहश्चासंस्पर्शः।

(वही संस्करण, पृ० २८-२९)

अर्थात्—"तानप्रयोग द्विविध है—'प्रवेश' के द्वारा और 'निग्रह' के द्वारा। ऋषभ की अपेक्षा अधर (नीचे), लोपनीय षड्ज का विप्रकर्ष के द्वारा पीड़न अर्थात् उसका 'ऋषभ' में परिवर्तित कर देना 'प्रवेश' है। यह विप्रकर्ष का आश्रय लेकर प्रवेश के द्वारा (तानप्रयोग कहलाता है)। मार्दव (उतारने या ढीला करने) के द्वारा (प्रवेश का उदाहरण) निषाद की अपेक्षा 'उत्तर' (पश्चाद्वर्ती या चढ़े हुए) लोपनीय

षड्ज (की तंत्री) को 'मार्दव' अर्थात् शिथिलीकरण (ढीला करने या उतारने से) 'निषाद' बना देना 'प्रवेश' है। इस प्रकार प्रवेशन (क्रिया) दो प्रकार की है।

निग्रह का अर्थ अंतर (विकार) का न होना है, (अविकृत रहते हुए भी) अपनी पहली संज्ञा का परित्याग करके (नवीन संज्ञा के रूप में) दिखाई देना है।"

.......भरत ने भी कहा है :—

"तंत्री पर तानक्रिया दो प्रकार की है—'प्रवेश' और 'निग्रह'। अधर-स्वर के प्रकर्ष और उत्तर-स्वर के मार्दव से 'प्रवेशन' होता है। असंस्पर्श ही निग्रह है।"

'नाट्यशास्त्र' के उपलब्ध संस्करणों में इसके पश्चात् 'मध्यमस्वरासंस्पर्शः' (असंस्पर्श मध्यम स्वर का होता है।) इतना अंश और है, जो 'बृहद्देशी' के उपलब्ध संस्करण की आधार-स्वरूप प्रतियों में लिपिकों के प्रमाद से रह गया है।

'बृहद्देशी' का यह स्थल तानक्रिया के आधार 'प्रवेश' और 'निग्रह' को भली-भाँति स्पष्ट करता है।

'प्रणव-भारती' के पृ० ६७ पर एक स्वप्न का आधार लेकर वर्तमान सितार के सारिका-स्थापन को 'सनातन' मान डाला गया है। इस मूलभूत भ्रांति के कारण समस्त ग्रंथ सर्वथा भ्रष्ट हो गया है। इसी धारणा के परिणामस्वरूप 'तानमूर्च्छना-नानात्व' भी इस ग्रंथ की पहुँच से बाहर रहा है। अस्तु,

'बृहद्देशी' का उपर्युक्त विवरण बताता है कि 'स्थिर' स्वरों के उत्पादक तारों को कसकर या ढीला करके मूर्च्छनाश्रित तानविशेषों की स्थापना 'तानक्रिया' है। कुछ बिगड़े हुए और अधकचरे खयाल-गायकों ने 'विप्रकर्ष' का अर्थ सितार पर प्रयोज्य 'मीड़' किया है, किसी स्थिर पर्दे के आधार पर मीड़ के द्वारा 'उत्तर' स्वर प्राप्त करना यदि थोड़ी देर के लिए आधुनिक मीड़ मान भी लिया जाए, तो 'मार्दव' का आधार 'स्थिर स्वर' कैसे मिलेगा? मतंग के अनुसार तो उस 'उत्तर' स्वर की 'स्वतंत्र स्थिति' होना चाहिए, जिसका 'मार्दव' अधर स्वर की स्थापना का कारण हो। मीड़ के द्वारा प्राप्त किया हुआ स्वर स्वयं स्थिर स्वर नहीं है, फलतः 'प्रवेश' और 'निग्रह' का मनमाना अर्थ चल नहीं सकता।

स्पष्ट है कि 'तानक्रिया' का यह विधान 'मत्तकोकिला'-जैसे वाद्यों के लिए है, जिनमें प्रत्येक स्वर की अभिव्यक्ति के लिए पृथक् तंत्री होती है।

इसी प्रकरण के तुरंत पश्चात् मतंग ने उस वीणा की चर्चा उठाई है, जिसमें सारिकाएँ होती हैं; वह वाद्य 'किन्नरी' है।

मतंग कहते हैं :—

ननु त्रिषु स्थानेषु स्वरप्रयोग इत्युक्तम्। कारीपिधाने (सारीविधाने ?) तत्र कतमं स्वरसप्तकमवलम्ब्य मूर्च्छना कार्येति ये संशेरते तान् प्रत्याह—मध्यमसप्तकेन मूर्च्छनानिर्देशो तावन्मन्द्रतारसिद्ध्यर्थम् वत्तिलेनाप्युक्तम्।

तानक्रिया द्विधा तन्त्र्यां प्रवेशान्निग्रहात्तथा । प्रवेशो ध्वनिसादृश्यमसंस्पर्शस्तु निग्रहः ।

(बृहद्देशी, पृ० २६)

अर्थात्—"जो व्यक्ति यह प्रश्न करते हैं कि स्वरप्रयोग तो तीनों स्थानों (मंद्र, मध्य, तार) में निहित है, तो 'सारीविधान' (सारिकायुक्त वाद्य के सारिकास्थापन की विधि) में किस स्वरसप्तक का अवलंबन करके मूर्च्छना स्थापित करना चाहिए ? तो उनके लिए उत्तर है कि मंद्र और तार-स्थानों की सिद्धि के लिए मध्य-सप्तक के द्वारा मूर्च्छनाओं का निर्देश होना चाहिए। (मध्य-सप्तक का बोधन करानेवाली सारिकाओं पर अभीप्सित मूर्च्छना की स्थापना करके उनके अनुसार मंद्र एवं तार-स्थानों की सारिकाएँ भी यथास्थान स्थापित कर देना चाहिए।) दत्तिल ने भी कहा है कि तन्त्री पर तानक्रिया, 'प्रवेश' और 'निग्रह' (इन) दो प्रकारों से होती है, ध्वनिसादृश्य (लोपनीय स्वर का अभीप्सित स्वर में परिवर्तन) 'प्रवेश' कहलाता है और असंस्पर्श 'निग्रह'।"

'प्रवेश' और 'निग्रह' का जो नियम 'मत्तकोकिला' की तन्त्रियों को ढीला करने और कसने में उपयुक्त है, सारिकावाद्यों में वही 'सारिकाओं' को चढ़ाने एवं उतारने में घटित होता है। मतंग के काल से पूर्व सारिकावाद्यों का निर्माण हो चुका था और उन्होंने 'मतंग-किन्नरी' वाद्य का निर्माण किया था, जिसका वर्णन कुंभ ने अपने 'संगीतराज' में किया है। 'मतंग-किन्नरी' का कुंभोक्त लक्षण 'भरतकोष' में संगृहीत है। नान्यदेव का कथन है कि स्वयं मतंग 'चित्रा' नामक वीणा का वादन करते थे, इसी लिए उन्हें 'चैत्रिक' के नाम से भी प्रसिद्धि मिली है।

भरत के युग में सारिकावाद्यों का प्रयोग उल्लिखित नहीं है।

इसी प्रकरण में मतंग ने भरत की भी चर्चा की है। वे कहते हैं :—

भरतेनाप्युक्तम्—मध्यमस्वरेण (वैणेन ?) मूर्च्छनानिर्देशो भवत्यविनाशित्वात्, मध्यमस्य निग्रहे पर्यंग्रहे वा।

अर्थात्—"वीणा के मध्यम स्वर का निग्रह (असंस्पर्श) या 'पर्यंग्रह' करने पर वीणा के मध्यम स्वर से ही मूर्च्छनाओं का निर्देश होता है, क्योंकि वीणा का मध्यम (मध्यस्थ) स्वर अविनाशी है।"

'बृहद्देशी' में उद्धृत भरत का पाठ 'मध्यमस्य निग्रहे पर्यंग्रहे वा' ही भरत का शुद्ध पाठ है, क्योंकि तानक्रिया में 'मध्यम स्वर का' असंस्पर्श विहित है। 'नाट्यशास्त्र' के काशी तथा बंबई के संस्करणों का पाठ 'मध्यमस्वरस्य निग्रहः प्रवेशो वा' असंगत है और लिपिकर्ताओं के प्रमाद का परिणाम है।

इसी प्रकरण में मतंग यह भी कहते हैं :—

इदं तु प्रयोक्तृश्रोतृसुखार्थमेव मूर्च्छनानानान्यत्वमुक्तम्। माना (मूर्च्छना ?) प्रयोजनमपि त्रिस्थानप्राप्त्यर्थमित्युक्तम्। ननु क्रियते यदि तदा किमुक्तं मध्यमस्वरेणेति। सत्यमुक्तम्। स्वरजात्यपेक्षया एकं वचनम्। कण्ठ्ये स्वरे मूर्च्छना कार्येति भावः। वैणग्रहणं च शारीरे अप्रकीर्तितः (तम्) तस्यापि स्थानस्य लाभार्थम्। (बृहद्देशी, पृ० २६)

अर्थात्—"प्रयोक्ता और श्रोता के सुख के लिए ही मूर्च्छना और तान का नानात्व कहा है। (भरत ने) यह कहा है कि मूर्च्छना का प्रयोजन ही तीनों स्थानों की प्राप्ति है। यदि यह प्रश्न किया जाए कि जब मूर्च्छनाओं का निर्देश 'मध्य-सप्तक' से होता है, तो यह क्यों कहा गया कि 'मध्यम-स्वर' से मूर्च्छनानिर्देश होता है? तो यह कथन भी ठीक है, यहाँ एकवचन 'स्वरजाति' के अर्थ में है। तात्पर्य यह है कि 'कर्ण्य' (स्थायी स्वर के रूप में पहले से निरंतर छिड़ने के कारण कान में पड़नेवाली ध्वनि को ही स्थापनीय मूर्च्छना के आरंभक स्वर की संज्ञा देकर उसी) ध्वनि के आधार पर मूर्च्छना का स्थापन किया जाना चाहिए। (स्थायी ध्वनि को ही परिवर्तनीय मूर्च्छना के आरंभक स्वर की संज्ञा देकर नवीन मूर्च्छना स्थापित करने से प्रयोक्ता और श्रोता दोनों को ही सुख होगा और आज की भाषा में 'सुर' न बदलेगा, ठाठ बदल जाएगा)।

(मूर्च्छनास्थापन-प्रकरण में) 'वैण' शब्द का ग्रहण 'शरीर' (शरीर में स्वराभिव्यक्ति के साधन 'कंठ') की दृष्टि से यद्यपि अनावश्यक है, तथापि ('मध्यम-स्वर' शब्द से) शरीर में भी स्थान-लाभ (तीनों स्थानों की प्राप्ति) के लिए है।"

'अंश' स्वर की चर्चा हो चुकी है। मूर्च्छना का आरंभक एवं आधार-स्वर होने के कारण यह 'स्थान' (मध्य, तदनुसार मंद्र एवं तार) का विभाजन विशिष्ट श्रुति-संख्या एवं श्रुति-क्रम के अनुसार करने के कारण ही 'अंश' कहलाता है।

कंठ्य अंश

वीणा में तीनों संपूर्ण स्थानों की प्राप्ति के लिए जिस प्रकार 'वीणा के मध्यम' स्वर को मध्य-स्थान का आरंभक स्थान मानना आवश्यक है, उसी प्रकार 'कंठ' की उस ध्वनि को 'कंठ्य अंश' कहा जाता है, जैसे मध्य-सप्तक का आरंभक स्वर मानने पर गायक सात स्वर नीचे उतरकर कंठ में संपूर्ण मंद्र स्थान अर्थात् मंद्र स्थान के आरंभक मंद्र-कंठ्यांश की प्राप्ति कर सके, जो कि मंद्रगति की परावधि या चरम सीमा है, और तारस्थानीय सातों स्वरों की प्राप्ति भी कर सके। यह 'कंठ्य अंश' पाश्चात्यों की भाषा में गायक का 'स्टैंडर्ड नोट' है। मध्यस्थानीय कंठ्य अंश ही कंठ का 'मध्यम स्वर' है।

यदि गायक तीन संपूर्ण सप्तकों के गाने में असमर्थ हो, तो उसे मंद्र-अवधि और तार-अवधि में संकोच करने के लिए ऐसी ध्वनि को कंठ्य अंश मानना पड़ता है कि वह मंद्र-स्थान में चार-पाँच स्वर और तार-स्थान में भी चार-पाँच स्वर तक जा सके। यह गायक 'आदर्श' नहीं होता और तीनों संपूर्ण 'स्थानों' का गान न कर सकना इस गायक की 'अशक्ति' कहलाता है। मंद्र और तार अवधि में संकोच के विधान का कारण गायकों की यही अशक्ति है।

तीनों स्थानों में गाने में समर्थ गायक-गायिकाएँ यदि वृंदगान में सम्मिलित हों, तो यह आवश्यक नहीं कि उन सबके प्राकृतिक कंठ्य अंश (स्टैंडर्ड नोट) सदृश हों, फलतः ऐसी ध्वनि को स्थायी स्वर मान लिया जाता है, जिसे मध्य-स्थान का आरंभक मानने पर सभी गायक-गायिकाएँ मंद्र एवं तार-स्थान में चार-चार पाँच-पाँच स्वर तक जा सकें।

'जाति' या 'राग' का रूप जितने स्वरों में स्पष्ट होता हो, केवल उन्हीं का प्रयोग करके 'मंद्र या 'तार' स्थानों में अवधिविशेष तक के अनिवार्य प्रयोग की चिंता न करना 'कामचार' कहलाता था।

'कंठ्य अंश' शब्द का प्रयोग 'नाट्यशास्त्र' के काशी-संस्करण के पृष्ठ ३२६ पर हुआ। पाठ है—'अथ पंचस्वराः कंठ्यांशात् (?) तार गतिः।' इसका शुद्ध रूप होना चाहिए—'अथ पंचस्वरा कंठ्यांशात् तारगतिः।' अर्थात्—'कंठ्य अंश के पश्चात् तार-गति पंचस्वर है।' वैसे, भरत का जो श्लोक मतंग एवं कल्लिनाथ ने उद्धृत किया है, उसमें तारस्थानीय सप्तक-स्वर को तारस्थान की चरम सीमा माना गया है।

मतंग के 'कर्ण्य' अंश की चर्चा ऊपर आ चुकी है, जिसका अर्थ हमने 'स्थायी स्वर के रूप में कान में पड़नेवाली ध्वनि' किया है। यदि इस 'कर्ण्य' शब्द के स्थान में 'कंठ्य' पाठ माना जाए, तो भी निष्कर्ष में कोई अंतर नहीं पड़ता है। 'कंठ्य स्वर' का अर्थ गायक का 'स्टैंडर्ड नोट' होगा।

कंठ्य स्वर के संबंध में स्पष्टीकरण करते हुए मतंग का कथन है :—

तस्माद् यत्किञ्चिद्गीयते तन्मध्यमध्वनिविशेषैः कंठध्वनिभिर्मन्द्रतारव्यवस्था-सिद्ध्यर्थमेव।

(बृहद्देशी, वही संस्करण, पृ० ३२)

अर्थात्—"तार और मंद्र व्यवस्था की सिद्धि के लिए जो कुछ कंठध्वनियों के द्वारा गाया जाता है, उसमें मध्यम ध्वनि (मध्यस्थानीय कंठ्य अंश) की प्रधानता रहती है।"

अंश स्वर की प्रधानता के विषय में मतंग का कथन है :—

ननु कथमंशस्यैव प्राधान्यमुच्यते। रागजनकत्वाद् व्यापकत्वाच्चांशस्यैव प्राधान्यम्।

(बृहद्देशी, वही संस्करण, पृ० ५६)

अर्थात्—"अंश की ही प्रधानता क्यों कही जाती है ? (मूर्च्छना का निर्देशक होने के कारण) राग का जनक होने और (प्रत्येक स्वर के साथ संगति तथा स्थायी स्वर होने के कारण निरंतर छिड़ते रहने से) व्यापक होने के कारण अंश की ही प्रधानता होती है।

आचार्य्य शार्ङ्गदेव के युग से पूर्व सारिकावाली उन वीणाओं का निर्माण हो चुका था, जिन पर 'बाज' का काम एक से अधिक तंत्रियों पर होने लगा था। जिन वीणाओं पर सारिकाएँ अचल ही गई थीं, उनके 'अंतरगांधार' या 'काकली निषाद' के लिए पृथक् सारिकाओं का होना प्रमाणित नहीं है।

आचार्य शार्ङ्गदेव ने अपना अलंकारप्रकरण षड्जादि मूर्च्छना को आधार मानकर उदाहरण के रूप में स्पष्ट किया है और 'किन्नरी' में भी षड्जादि मूर्च्छना के अनुसार ही सारिकाविधान किया है।

ऐसी वीणाओं में मूर्च्छना बदलने के लिए पर्दे नहीं हटाने पड़ते थे, अपितु जिस स्वर के बोधक पर्दे में 'चिकारी' मिला दी जाती थी, वही मूर्च्छना का आरंभक

स्थान मान लिया जाता था। इस विधि में बाज के प्रधान तार पर मूर्च्छना के संपूर्ण तीन स्थानों की प्राप्ति नहीं होती थी। मंद्र और तार अवधि में सीमाओं के बंधन में शिथिलता हो जाने के कारण 'कामचार' का प्रवर्तन हो गया था।

मतंग ने जो जातिविशेष के लिए मूर्च्छना-विशेष का निर्देश किया है, उसका आधार भी विभिन्न स्थानों के कुल बारह स्वरों को मिलाकर जातिविशेष के अंशविशेष रूप का वादन है। 'षाड्जी' के लिए जिस 'धैवतादि' मूर्च्छना का निर्देश मतंग ने किया है, किन्नरी पर उसकी स्थापना करने से 'षाड्जी' जाति के विभिन्नांश रूपों का वादन पर्दे हटाए बिना ही हो जाता है। जिस स्वर को 'अंश' करके 'षाड्जी' का वादन करना हो, उसी स्वर में 'चिकारी' मिला देने से काम चल जाता था और उसकी सिद्धि हो जाती थी। जिस स्वर में 'चिकारी' मिली हो, वही स्वर 'अंश' कहलाने लगता था।

कल्लिनाथ ने अपनी टीका (अड्यार-संस्करण, स्वराध्याय, पृ० २०३) में इसी विधि का स्पष्टीकरण यह कहकर किया है :—

गांधाराद्यंशत्वमपि स्वस्थानस्थितानामेव। तेषां स्थायित्वकरणमपि वीणायां स्वनाद साम्यापादनार्थमिति रहस्यम्।

अर्थात्—"(षाड्जी जाति में षड्ज के अतिरिक्त) गांधार इत्यादि स्वरों का अंशत्व भी अपने-अपने स्थान पर स्थित रहते हुए ही हो जाता है। उन अंश स्वरों को 'स्थायी' बनाना वीणा में चिकारियों की 'अंश' स्वर के नाद से समानता कर देना है; यह रहस्य है।"

चल सारिकावाली वीणा में मूर्च्छना-स्थापन

जिन वीणाओं में सारिकाएँ 'चल' होती थीं, उनमें मूर्च्छनाओं का स्थापन उसी स्थान को आधार मानकर होता था, जहाँ षड्जग्राम की मूलभूत मूर्च्छना का मध्य-स्थानीय षड्ज स्थापित किया गया हो; वही स्थान 'वीणा का मध्य स्वर' है। इस सातवें पर्दे को विभिन्न मूर्च्छनाओं में उनके आरंभक स्वर की संज्ञा देकर अन्य पर्दों को मूर्च्छना में स्थाप्य स्वरों की स्थिति के अनुसार सरकाया जाता था।

मतंगानुयायी शार्ङ्गदेव ने इन दोनों ही प्रक्रियाओं का वर्णन किया है। पर्दे सरकानेवाली प्रक्रिया में हमें सभी मूर्च्छनाओं के संपूर्ण त्रिस्थानीय रूप मिल सकते हैं। तार और मंद्र गति की चरम सीमाओं की प्राप्ति हो सकती है।

मतंग की द्वादशस्वर-मूर्च्छनाओं के सिद्धांत एवं तत्त्व का निरूपण हम ऊपर कर चुके हैं और जातिविशेष के लिए मतंग तथा शार्ङ्गदेव के द्वारा मूर्च्छनाविशेष के रहस्य का स्पष्टीकरण भी यथास्थान कर चुके हैं।

भरतोक्त सात शुद्ध राग

५. 'नाट्यशास्त्र' के काशी-संस्करण में पृ० ४२६ पर —**'मुखे तु मध्यमग्रामः षड्ज (?) प्रतिमुखे स्मृतः। साधारितं तथा गर्भे मर्शे कैशिकमध्यमः॥ कैशिकञ्च तथा**

काव्यं गानं निर्वहणे बुधैः।' पाठ दिया गया है। 'नाट्यशास्त्र' के निर्णय-सागर संस्करण में पृ० ६०३ पर—'मुखे तु मध्यमग्रामः षड्जः प्रतिमुखे भवेत्। साधारितं तथा गर्भे विमर्शे चैव पंचमम्॥ कैशिकं च तथा काव्यं गाननिर्ग्रहणे बुधैः।' मिलता है। इस स्थल का पाठ प्रो० रामकृष्ण कवि को इस प्रकार मिला है :—

पूर्वरंगविधाने तु कुर्याद्ध चोक्षषाडवम्। मुखे तु मध्यमग्रामः षड्जः प्रतिमुखे भवेत्। साधारितं तथा गर्भे विमर्शे चैव पंचमम्। कैशिकं च तथा काव्यं गानं निर्वहणे बुधैः॥

('भरत नाट्यशास्त्र', गायकवाड़-सीरीज' खंड २, भूमिका, पृ० ७)

कल्लिनाथ (अड्यार संस्करण, रागविवेकाध्याय, पृ० ३२ पर) भरत का यह पाठ इस प्रकार उद्‌वृत करते हैं :—

मुखे तु मध्यमग्रामः षड्जः प्रतिमुखे तथा। गर्भे साधारितश्चैव ह्यवमर्शे तु पंचमः॥ संहारे कैशिकः प्रोक्त पूर्वरंगे तु षाडवः। चित्रस्याष्टादशांगस्यत्वंते कैशिकमध्यमः॥ शुद्धानां विनियोगोऽयं ब्रह्मणा समुदाहृतः।

'बृहद्देशी' में पृ० ८७ पर भरत का वही पाठ उद्धृत है, जो कल्लिनाथ ने उद्धृत किया है। केवल 'चैव ह्यवमर्शे' के स्थान पर 'चैवावमर्शे' पाठ है।

नाटक की 'मुख' संधि में 'मध्यमग्राम' नामक राग, 'प्रतिमुख' संधि में 'षड्जग्राम' नामक राग, 'गर्भ' में 'साधारित', अवमर्श' में 'पंचम', 'संहार' में 'कैशिक', 'पूर्वरंग' में 'षाडव' और अष्टादशांग चित्राभिनय के अंत में 'कैशिकमध्यम' का प्रयोग विहित है। (मध्यमग्राम, षड्जग्राम, साधारित, पंचम, कैशिक, षाडव और कैशिकमध्यम नामक सात) ग्रामरागों का विनियोग ब्रह्मा द्वारा किया गया है।

'नाट्यशास्त्र' के मुद्रित संस्करणों में उपलब्ध पूर्वोक्त अपूर्व पाठों की शुद्धाशुद्ध अवस्था का निर्णय कल्लिनाथ एवं मतंग द्वारा उद्धृत भरत के पाठों से भलीभाँति हो जाता है और वे सात शुद्ध ग्रामराग भरतोक्त सिद्ध हो जाते हैं, जिनका विनियोग भरत ने नाट्य के विभिन्न स्थलों पर ब्रह्मा के अनुसार किया है।

फलतः उनका मुख-मुद्रण हो जाता है, जिनका कथन है कि 'नाट्यशास्त्र' में 'राग' शब्द नहीं है, या भरत मुनि रागों से परिचित नहीं थे।

६. राग-मार्ग का रूप—'बृहद्देशी' पृ० ८१ पर कहा गया है :—

रागमार्गस्य यद्रूपं यन्नोक्तं भरतादिभिः। निरूप्यते तदस्माभिर्लक्ष्यलक्षणसंयुतम्॥

अर्थात्—'राग-मार्ग का जो रूप है और जिसका कथन 'भरत' इत्यादि ने नहीं किया, लक्ष्य-लक्षणयुक्त उस (राग-मार्ग के रूप) का निरूपण हम कर रहे हैं।'

हम देख चुके हैं कि सातों ग्रामरागों के संबंध में भरत का उद्धरण मतंग ने इस उक्ति के पश्चात् पृ० ८७ पर किया है, भरत के उद्धरण में रागों के नाम-मात्र हैं, लक्षण एवं प्रस्तार (चलन और बंदिश) नहीं, इसी लिए मतंग रागों के 'लक्षण' और 'लक्ष्य' को राग-मार्ग का रूप कहकर उसका प्रतिपादन कर रहे हैं। भरतोक्त सातों शुद्ध रागों के लक्षण और प्रस्तार मतंग ने दिए हैं, जो उन्हें संभवतः कोहल के उस ग्रंथ से प्राप्त हुए थे, जो आज अनुपलब्ध और संप्रदाय में प्रवर्तित भी थे।

'नाट्यशास्त्र' के निर्णय-सागर संस्करण में पृ० २६५ पर कहा गया है :—

आत्मोपदेशसिद्धं हि नाट्यं प्रोक्तं स्वयम्भुवा ।
शेषं प्रस्तारतन्त्रेण कोहलः कथयिष्यति ॥

अर्थात्—"ब्रह्मा ने आत्मोपदेशसिद्ध (अपने द्वारा किए हुए उपदेश के द्वारा सिद्ध) नाट्य का प्रवचन किया है। जो ('नाट्यशास्त्र' में कहने से) बचा है, 'प्रस्तारतंत्र' के द्वारा उसे कोहल कहेंगे।"

प्रस्तुत श्लोक के उत्तरार्ध का यही पाठ प्रो० रामकृष्ण कवि ने 'नाट्यशास्त्र', गायकवाड़-सीरीज, खंड २, भूमिका, पृष्ठ ६ पर उद्वृत किया है।

जातियों और रागों के चलन से युक्त बंदिशों को मतंग और शार्ङ्गदेव जातियों एवं रागों का 'प्रस्तार' कहते हैं। अतः यह सिद्ध है कि जातियों और रागों के 'प्रस्तार' भी कोहल के 'प्रस्तारतंत्र' में थे, जिनकी चर्चा 'नाट्यशास्त्र' में है। 'नाट्यशास्त्र' में वर्णित सभी उचित तथ्यों के प्रस्तारों का अस्तित्व कोहल के 'प्रस्तारतंत्र' में होना असंदिग्ध है। इस प्रकार कोहल के मूल ग्रंथ को 'नाट्यशास्त्र' का भाष्य समझा जाना चाहिए। गुरुप्रोक्त 'सूत्रों' या 'कारिकाओं' के विवेचन का कार्य योग्य शिष्य और पुत्र गुरु की आज्ञा से किया करते थे।

'पाणिनि' ने व्याकरण के नियम दिए हैं, उन नियमों के उदाहरण दूसरों ने दिए हैं। यदि कोई सज्जन यह कहें कि अष्टाध्यायीकार पाणिनि को 'अष्टाध्यायी' में प्रतिपादित नियमों के उदाहरण नहीं आते थे, तो वे सज्जन 'अजायबघर' में रखने योग्य प्राणी होंगे। इसी प्रकार यदि कोई सज्जन यह कहते हैं कि भरतमुनि को जातियों के प्रस्तार नहीं आते थे, या वे उन रागों के लक्षणों और उदाहरणों से परिचित नहीं थे, जिनके नाम 'नाट्यशास्त्र' में हैं, तो वे सहानुभूति के पात्र होंगे। परंतु ऐसे प्राणी भी संगीत-क्षेत्र में लेखक कहलाते हैं, जिनका कथन है कि भरतमुनि को संगीत आता ही नहीं था; यदि आता होता, तो वे रागों की बंदिशें भी लिखते। ऐसे सज्जन आयुर्वेद के तो विद्यार्थी हैं, परंतु 'नाट्यशास्त्र' जैसे ग्रंथों के लिए 'दीमक' हैं।

७. ग्रामों का जन्म—लक्ष्य की उत्पत्ति पहले होती है, और लक्षण की उत्पत्ति उसके पश्चात्। इसी प्रकार जातियों की उत्पत्ति पहले हुई, तत्पश्चात् उसके रूप या चलन पर विचार करके उनके नामकरण और लक्षण बाद को हुए। जातियों में होनेवाले 'स्वरसन्निवेश' का भेद उनके पार्थक्य का कारण था। स्वरप्रयोग में वर्ण विशेष (गानक्रिया और स्वरों के प्रयोग के विशिष्ट क्रम) ने विचारकों को 'श्रुतियों' की पहचान कराई। श्रुतियों के भेद से ही 'ग्राम' के दो प्रकार 'षड्ज-ग्राम' एवं 'मध्यम-ग्राम' माने गए और यह निश्चित रूप से प्रतिपादित किया गया कि अमुक 'जाति' या 'राग' का संबंध किस ग्राम से है।

ऋषियों की दृष्टि पहले लक्ष्य पर पड़ती है, इसी लिए वे 'लक्ष्यैकचक्षुष्क' कहलाते हैं। पश्चाद्वर्ती पीढ़ियों को 'लक्ष्य' का ज्ञान लक्षणों के माध्यम से होता है, इसी लिए हम-जैसे सामान्य जन 'लक्षणैकचक्षुष्क' कहलाते हैं।

हम लोगों की सुविधा के लिए 'मुनि' कोटि के मनीषियों ने संवाद, स्वर, ग्राम, श्रुति, मूर्च्छना, जाति और राग का प्रतिपादन क्रमशः किया है, परंतु संगीतशास्त्र का क्रमिक विकास इस क्रम से नहीं हुआ है। 'भाषा' के पश्चात् 'व्याकरण' का जन्म होता है।

इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए 'नाट्यशास्त्र', गायकवाड़-सीरीज, अध्याय १८, पृ० ४०१ पर कहा गया है :—

जातिभिः श्रुतिभिश्चैव स्वरा ग्रामत्वमागताः।
यथा तथा वृत्तिभेदैः काव्यबन्धा भवंति हि॥

अर्थात्—"जिस प्रकार जातियों और श्रुतियों के द्वारा स्वर ग्रामत्व को प्राप्त हुए हैं, उसी प्रकार वृत्तिभेद से काव्यबंध होते हैं।"

षड्जग्राम का ज्ञान पहले हुआ है और 'मध्यमग्राम' की शुद्ध मूर्च्छनाएँ षड्जग्राम के गांधार को चतुःश्रुति बनाकर स्थापित की गई हैं। जैसे :—

सा, ३ रे, २ ग़, ४ म, ४ प, ३ ध, २ नि, (४ सा) षड्जग्रामीय प्रथम मूर्च्छना।

सा, ३ रे, ४ ग, २ म, ४ प, ३ ध, २ नि, (४ सा) उपर्युक्त मूर्च्छना का यह अंतर-गांधारयुक्त रूप ही म, ३ प, ४ ध, २ नि, ४ सा, ३ रे, २ ग़, (४ म) मध्यमग्रामीय प्रथम शुद्ध मूर्च्छना है।

विचार करने से पता चलेगा कि षड्जग्रामीय सान्तरा मूर्च्छना में जो श्रुतिक्रम है, वही मध्यमग्रामीय शुद्ध मूर्च्छना में है। ढाँचे की दृष्टि से दोनों ही मूर्च्छनाएँ एक-हैं, परंतु उनमें स्वर-संज्ञाएँ भिन्न-भिन्न हैं।

यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि जब दोनों मूर्च्छनाएँ सदृश हैं, तब दो ग्राम पृथक्-पृथक् मानने की क्या आवश्यकता है? उत्तर निम्नलिखित है :—

दो ग्रामों की आवश्यकता

(क) उपर्युक्त सदृश मूर्च्छना में यदि किसी ऐसे षाडव रूप का प्रयोग हो रहा है, जिसमें मूर्च्छना के चौथे स्वर का लोप हो रहा है, तो वह 'जाति' मध्यमग्रामीय है। षड्जग्रामीय दृष्टि से उस चौथे स्वर की संज्ञा 'मध्यम' है, षाडव-औडुव विधि में जिसका लोप नहीं होता, परंतु मध्यमग्रामीय दृष्टि से वह चौथा स्वर 'निषाद' है, मूर्च्छना के आदिम स्वर 'मध्यम' के साथ जिसका स्वर-संवाद होने पर भी 'राग-संवाद नहीं है और जिसका लोप मध्यम-ग्राम में विहित है। लोप-विधि में मध्यम-निषाद को परस्पर संवादी नहीं माना गया है। इसी लिए 'नाट्यशास्त्र' में 'राग-संवाद' बताते समय मध्यम निषाद में रागदृष्टि से 'अनुवाद-संबंध' बताया है।

(ख) षड्ज-ग्राम की सांतरा मूर्च्छनाएँ संज्ञा-भेद से मध्यमग्रामीय शुद्ध मूर्च्छनाएँ बन जाती हैं और षड्ज-ग्राम की साधारणीकृता मूर्च्छनाएँ मध्यमग्रामीय सांतरा मूर्च्छनाओं का रूप धारण कर लेती हैं, परंतु मध्यमग्रामीय सकाकली एवं साधारणीकृता मूर्च्छनाओं की प्राप्ति षड्जग्रामीय मूर्च्छनाओं के भेदों में नहीं होती।

जातियों के प्रचलित भेदों को देखते हुए लोप-विधि की दृष्टि से सदृश मूर्च्छनाओं को संज्ञा-भेद से दो पृथक्-पृथक् ग्रामों में वर्गीकृत किया गया और मध्यमग्रामीय सकाकली एवं साधारणीकृता मूर्च्छनाओं की सिद्धि की दृष्टि से भी मध्यमग्रामीय मूर्च्छनाओं का मूल और सांतर-रूप स्वतंत्ररूपेण माना गया।

शुद्ध जातियों में षाड्जी, आर्षभी, धैवती और नैषादी चार षड्जग्रामीय जातियाँ हैं। नाम स्वर के 'अंश' होने पर इनके शुद्ध रूप की अभिव्यक्ति होती है। गांधारी, मध्यमा और पंचमी 'मध्यमग्रामीय' जातियाँ हैं, जिनके नाम-स्वर की अंशावस्था में उनका शुद्ध रूप अभिव्यक्त होता है। इन जातियों में प्रत्येक जाति के शुद्ध रूप की अभिव्यक्ति के लिए नाम-स्वर से आरंभ होनेवाली सप्तस्वरमूर्च्छना का प्रयोग जब होगा, तब ही उसके तीनों संपूर्ण स्थानों की प्राप्ति होगी।

यद्यपि गांधारी, मध्यमा और पंचमी जातियों के शुद्ध स्वर की अभिव्यक्ति करनेवाली सप्तस्वरमूर्च्छनाओं के स्वरों की प्राप्ति हमें षड्जग्रामीय 'सांतर' मूर्च्छनाओं में मिल जाती है, तथापि इन जातियों की 'लोप-विधि' हमें इन मूर्च्छनाओं के स्वरों की मध्यमग्रामीय संज्ञाएँ मानने के लिए ही विवश करती है। इस स्थिति को भलीभाँति समझ लेना चाहिए।

गांधारी जाति—गांधारी जाति के शुद्ध रूप को व्यक्त करनेवाली स्वरावली निम्नलिखित है, इस स्वरावली की उभयग्रामीय संज्ञाएँ निम्नलिखित हैं:—

मध्यमग्रामीय संज्ञाएँ—ग म प ध नि सा रे (ग)।

षड्जग्रामीय संज्ञाएँ—नि सा रे ग म प ध (नि)।

श्रुतिक्रम—० ४ ३ ४ २ ४ ३ २।

गांधारी 'जाति' में 'ऋषभ' के लोप से षाडव और 'धैवत' का भी लोप कर देने से औडुव रूप बनता है। धैवत और ऋषभ गांधारादि मूर्च्छना के क्रमशः चौथे और सातवें स्वर हैं।

यदि गांधारादि मध्यमग्रामीय मूर्च्छना के समस्त स्वरों को षड्जग्रामीय संज्ञाएँ दी जाएँ, तो मूर्च्छना के स्वरों की संज्ञाएँ 'नि, सा, रे, अंतर ग, म, प, ध' हुई जाती हैं। मूर्च्छना का सातवाँ स्वर, जिसकी संज्ञा मध्यमग्रामीय दृष्टि से 'ऋषभ' है और जो षाडवीकरण के लिए लोपनीय है, वह षड्जग्रामीय दृष्टि से 'ध' हो जाता है। 'धैवत' षड्जग्राम में अविलोपी स्वर है, फलतः इस लोपनीय संज्ञा को 'ऋषभ' मानकर अन्य स्वरों की संज्ञाएँ भी तदनुसार दी गई हैं और नामस्वरांश षाडव रूप को व्यक्त करने में समर्थ इस जाति की वास्तविक मूर्च्छना 'गांधारादि' होने के कारण इस 'जाति' का नाम 'गांधारी' रखा गया है। गांधारी जाति को मध्यमग्रामीय इसी लिए माना गया है।

मध्यम—'मध्यमा' जाति के शुद्ध रूप को मध्यमग्रामीय मध्यमादि शुद्ध मूर्च्छना व्यक्त करती है। इस मूर्च्छना से प्राप्त स्वरावली की उभयग्रामीय संज्ञाएँ निम्नलिखित हैं:—

मध्यमग्रामीय संज्ञाएँ—म प ध नि सा रे ग (म)।

षड्जग्रामीय संज्ञाएँ—सा रे ग म प ध नि (सा)।

श्रुतिक्रम—० ३ ४ २ ४ ३ २ ४।

मध्यमा 'जाति' में गांधार का लोप षाडवकारी और निषाद का भी लोप औडुवकारी होता है। मध्यमग्रामीय दृष्टि से 'निषाद' और 'गांधार' मूर्च्छना के क्रमशः चौथे और सातवें स्वर हैं। यदि इन्हें षड्जग्रामीय संज्ञाएँ दी जाएँ, तो ये क्रमशः 'मध्यम' और 'निषाद' कहलाएँगे। 'मध्यम' का लोप मूर्च्छना-विधि में कभी नहीं होता, फलतः पूर्वोक्त स्वरावली के चौथे स्वर की संज्ञा 'निषाद' ही उपयुक्त है, और उसके अनुसार अवशिष्ट स्वरों की मध्यमग्रामीय संज्ञाएँ ही युक्तियुक्त हैं। इसी लिए 'मध्यमा' जाति मध्यमग्रामीय बताई गई है।

पंचमी—'पंचमी' जाति के शुद्ध रूप को व्यक्त करनेवाली स्वरावली निम्नलिखित है :—

मध्यमग्रामीय संज्ञाएँ—प ध नि सा रे ग म (प)

षड्जग्रामीय संज्ञाएँ—रे ग म प ध नि सा (रे)।

श्रुतिक्रम—० ४ २ ४ ३ २ ४ (३)।

पंचमी जाति में गांधार और निषाद का लोप इस जाति को औडुव बनाता है। मध्यमग्रामीय दृष्टि से 'निषाद' और 'गांधार' मूर्च्छना में क्रमशः तीसरे और छठे स्वर हैं। यदि इस स्वरावली के स्वरों को षड्जग्रामीय संज्ञाएँ दी जाएँ तो तीसरे लोपनीय स्वर की संज्ञा 'मध्यम' हुई जाती है। 'मध्यम' का लोप मूर्च्छनाविधि में नहीं होता, अतः इस स्वरावली के तीसरे स्वर की संज्ञा 'निषाद' ही होना चाहिए और अवशिष्ट स्वरों की संज्ञाएँ भी मध्यमग्रामीय ही निश्चित होती हैं।

षाड्जी, आर्षभी, धैवती और नैषादी जातियों की नामस्वरांश-मूर्च्छनाओं का सादृश्य मध्यमग्राम की किसी मूर्च्छना से नहीं है।

उपर्युक्त विवरण से यह सिद्ध है कि जातियों के संपूर्ण, षाडव और औडुव रूपों में प्रचलित रूप को देखकर ही उनका वर्गीकरण दोनों ग्रामों में किया गया था और ग्राम-भेद के कारण षड्जग्रामीय त्रिश्रुतिक ऋषभ को मध्यमग्रामीय त्रिश्रुतिक पंचम की संज्ञा देकर मध्यमग्राम के मूल रूप का निश्चय हुआ था।

अतः यह प्रत्यक्ष है कि जातियों ने हमें श्रुति-ज्ञान कराया, द्विश्रुतिक, त्रिश्रुतिक एवं चतुःश्रुतिक स्वरों के ज्ञान ने हमें ग्राम दिए।

इस संबंध में 'मतंग' का कथन है :—

ननु कथं द्वावेव ग्रामौ, उच्यते। इहहि द्विस्वरप्रयोगमूलप्रयोगवशाद् द्वौ ग्रामावुपन्यस्तौ। जातिभिः श्रुतिभिश्चैव स्वरा ग्रामत्वमागताः॥

('नाट्यशास्त्र' का उद्धरण)

तत्र जातिभि शुद्धाभिः श्रुतिभिश्च नातिकाभिः (विकृताभिः ?)। तस्मात् शुद्धासु जातिषु विकृतासु च ये स्वराः संति तेषां स्वराणां श्रुतिवैकल्यात् किंस्यादुत्कर्षापकर्षाभ्यां संकीर्णत्वेन च स्वरा ग्रामत्वमागताः । तत्र शुद्धाभिः षड्भिः (?) षड्जो विकृताभिर्मध्यम इति द्वाभ्यां च संकीर्णा जाताः । ताभ्यो रागसंभव इति ग्रामान्यत्वाज्जातिरागान्यत्वम् ।

('बृहद्देशी', वही संस्करण, पृ० २१)

अर्थात्—'दो ही ग्राम क्यों हैं ? उत्तर यह है कि दो स्वरों (पंचम और धैवत) के प्रयोग में मूल (षड्जग्राम में चतुःश्रुति पंचम, त्रिश्रुति धैवत और मध्यम ग्राम में त्रिश्रुति पंचम और चतुःश्रुति धैवत के) प्रयोग के कारण दो ही ग्राम बताए गए हैं।

जातियों और श्रुतियों के द्वारा स्वर ग्रामत्व को प्राप्त हुए हैं ('नाट्यशास्त्र' का उद्धरण है) शुद्ध जातियों और (विकृत ?) श्रुतियों के द्वारा (ऐसा हुआ है)। अतः शुद्ध एवं विकृत जातियों में जो स्वर हैं, उन स्वरों की श्रुतियों की विकलता से क्या होगा ? (उत्तर है कि स्वरों के) उत्कर्ष, अपकर्ष एवं संकीर्णत्व से स्वरों ने ग्रामत्व प्राप्त किया है। उस स्थल पर शुद्ध (मूर्च्छनाओं ?) से षड्जग्राम और विकृत (षड्जग्रामीय सांतरा मूर्च्छनाओं) से मध्यमग्राम उत्पन्न हुआ। दोनों (ग्रामों की जातियों) से संकीर्ण (जातियाँ) उत्पन्न हुईं। उन (जातियों) से रागों की उत्पत्ति हुई, इस प्रकार ग्राम की अन्यता से जाति-राग की अन्यता हो जाती है।

(मतंग के पूर्वोक्त पाठ में लिपिकों की कृपा से कुछ अस्पष्टता एवं भ्रष्टता आई हुई प्रतीत होती है। 'नातिकाभिः' के स्थान पर 'विकृताभिः' पाठ हो तो श्रुतियों के उत्कर्ष एवं अपकर्ष, दोनों का बोध हो जाता है। 'तत्र शुद्धाभिः षड्भिः' इस पाठ में 'षड्भिः' पाठ अधिक प्रतीत होता है, क्योंकि षड्जग्रामीय शुद्ध जातियाँ चार हैं, छह नहीं। षड्जादि, ऋषभादि, धैवतादि, निषादादि सप्त स्वर शुद्ध मूर्च्छनाओं से षड्ज-ग्रामीय शुद्ध षाड्जी, शुद्ध आर्षभी, शुद्ध धैवती और शुद्ध नैषादी जातियों की अभि-व्यक्ति क्रमशः होती है। 'किं स्यात्' के स्थान पर 'किंस्वित्' पाठ अधिक संगत प्रतीत होता है। षड्जग्राम की सांतरा मूर्च्छनाएँ ही मध्यमग्रामीय शुद्ध मूर्च्छनाओं को जन्म देती हैं। शुद्ध मध्यमा, शुद्ध पंचमी और शुद्ध गांधारी जाति की नामस्वरांश-मूर्च्छनाएँ षड्जग्रामीय सांतरा मूर्च्छनाओं के स्वरों को मध्यमग्रामीय स्वरसंज्ञाएँ देकर निर्मित की गई हैं।)

इस संबंध में आचार्य अभिनवगुप्त का कथन है :—

स्वरसमुदायरूपत्वाविशेषेऽपि स्वराणां पर्य्यायतः प्राथम्यप्राधान्याल्पत्वभूयस्त्वपूर्णत्वा-पूर्णत्वारोहान्त्यत्वमध्यत्वादिप्रविभागभेदैः यथान्यः षड्जग्रामोऽन्यो मध्यमग्रामः तथैव वृत्तीनां स्वरस्थानीयानां प्राथम्य प्राधान्यादिना वशकेन रूपकंरूपकांतराद्भिद्यते । यथा चतुश्रुतिः पंचमस्त्रिश्रुतिश्च भवन् ग्रामान्यत्वं करोति तथा सैव वृत्तिः श्रुतिस्थानीयैरङ्गैः क्वचित्संपूर्णा क्वचिन्न्यूनेत्येवमपि रूपकविभाग इत्येतज्जातिभिः श्रुतिभिश्चैव दर्शितम् ।

(अभिनव भारती, गायकवाड़ संस्करण, अध्याय १८, पृ० ४०६)

अर्थात्—'स्वरसमुदायरूपता' में सामान्यत्व होने पर भी (विभिन्न मूर्च्छनाओं में) क्रमशः प्रथमता, प्रधानता, अल्पता, बहुता, पूर्णता, अपूर्णता, आरोह, अन्त्यत्व,

मध्यत्व इत्यादि विभाग-भेदों के कारण जिस प्रकार षड्जग्राम अन्य और मध्यमग्राम अन्य होता है, उसी प्रकार स्वरस्थानीय वृत्तियों के प्राथम्य और प्राधान्य इत्यादि के कारण रूपक के दस भेदों के द्वारा एक रूपक दूसरे रूपक से भिन्न हो जाता है। जिस प्रकार चतुःश्रुति पंचम 'त्रिश्रुतक' होकर दूसरे ग्राम की सृष्टि कर देता है, उसी प्रकार एक ही वृत्ति श्रुतिस्थानीय अंगों के द्वारा कहीं संपूर्ण और कहीं न्यून होती है। रूपक विभाग इस प्रकार हुआ है। इसी तथ्य का निरूपण 'नाट्यशास्त्र' की कारिका में 'जातियों के द्वारा' और 'श्रुतियों के द्वारा' (इन शब्दों से) किया गया है।'

शार्ङ्गदेव के वचनों का रहस्य समझने में सर्वथा अयोग्य प्राणी, भरत, मतंग की उक्तियों का रहस्य यदि न समझ सकें, तो आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

'संगीतांजलि', पंचम भाग, पृष्ठ ४८ पर भरत की पूर्वोक्त कारिका इस प्रकार उद्धृत है :—

जातिभिः (?) श्रुतिभिश्चैव स्वरा ग्रामत्वमागताः। यथा तथा (?) वृत्तिभेदैः काव्यबंधा भवंति हि ॥

यह कारिका 'नाट्यशास्त्र' के काशी-संस्करण में पृ० २२६ पर, गायकवाड़-संस्करण में द्वितीय खंड के पृष्ठ ४०९ पर उद्धृत है। इस कारिका का विस्तृत विवेचन आचार्य अभिनवगुप्त ने किया है।

८. न्यास स्वर 'की नोट' नहीं :—'बृहद्देशी' में रागों के ग्राम, मूर्च्छना, अंश एवं न्यास स्वर का विनियोग है। पाठकों की सुविधा के लिए हम निम्नलिखित तालिका प्रस्तुत कर रहे हैं। पाठक देखेंगे कि इसमें मूर्च्छना का आदिम स्वर ही निरपवाद रूप में राग का 'अंश' स्वर है, परंतु अनेक रागों में 'न्यास' स्वर मूर्च्छना के प्रथम स्वर से भिन्न है। जिस राग का 'अंश' और 'न्यास' स्वर एक नहीं है, उस राग में 'न्यास' स्वर मूर्च्छना के आदिम स्वर से भिन्न है।

राग	ग्राम	अंश	मूर्च्छना	न्यास
शुद्ध षाडव	मध्यम०	मध्यम	मध्यमादि	मध्यम
शुद्ध साधारित	षड्ज०	षड्ज	षड्जादि	मध्यम*
शुद्ध कैशिकमध्यम	षड्ज०	षड्ज	षड्जादि	मध्यम*
शुद्ध कैशिक	मध्यम०	षड्ज	षड्जादि	पंचम*
भिन्न षड्ज	षड्ज०	धैवत	धैवतादि	मध्यम*
भिन्नपंचम	मध्यम०	धैवत	धैवतादि	पंचम*
भिन्नकैशिकमध्यम	षड्ज०	षड्ज	षड्जादि	मध्यम*
भिन्नतान	मध्यम०	पंचम	पंचमादि	मध्यम*
गौडपंचम	षड्ज०	धैवत	धैवतादि	मध्यम*
गौडकैशिक	मध्यम०	षड्ज	षड्जादि	पंचम*
गौडकैशिकमध्यम	षड्ज०	षड्ज	षड्जादि	मध्यम*
टक्क	षड्ज०	षड्ज	षड्जादि	षड्ज
सौवीरक	षड्ज०	षड्ज	षड्जादि	षड्ज

मालवपंचम	मध्यम०	पंचम	पंचमादि	पंचम
वेसरषाडव	षड्ज०	मध्यम	मध्यमादि	मध्यम
वोट्ट	षड्ज०	पंचम	मध्यमादि	पंचम*
भिन्दोलक	मध्यम०	षड्ज	षड्जादि	षड्ज
टक्ककैशिक	षड्ज०	धैवत	धैवतादि	धैवत
मालवकैशिक	मध्यम०	षड्ज	षड्जादि	षड्ज
नर्त	मध्यम०	पंचम	पंचमादि	मध्यम*
शक	षड्ज०	षड्ज	षड्जादि	षड्ज
ककुभ	षड्ज०	धैवत	धैवतादि	पंचम*
मम्माणपंचम	मध्यम०	षड्ज	षड्जादि	मध्यम*
रूपसाधारित	षड्ज०	षड्ज	षड्जादि	मध्यम*
गांधारपंचम	मध्यम०	गांधार	गांधारादि	गांधार
पंचमषाडव	षड्ज०	ऋषभ	ऋषभादि	मध्यम*
रेवगुप्त	षड्ज०	ऋषभ	ऋषभादि	मध्यम*
टक्कसैंधव	षड्ज०	षड्ज	षड्जादि	षड्ज

पुष्पांकित न्यास-स्वर मूर्च्छना के आदिम स्वर और अंश-स्वर से भिन्न हैं। अंश-स्वर ही मूर्च्छना का निर्णायक स्वर होने के कारण 'की नोट', 'टोनिक' या 'स्थायी स्वर' होता है, उपर्युक्त तालिका से यह निर्विवाद रूप में सिद्ध है।

इन रागों के लक्षण और प्रस्तार 'रत्नाकर' में देखे जा सकते हैं।

मूर्च्छना-निर्देश का आधार अंश स्वर ही होता है, यह स्पष्टरूपेण बताने के लिए मतंग कहते हैं:—

ननु पूर्वोक्तानां रागाणां मूर्च्छनाविशेषनिर्देशः कस्माज्ज्ञायत इति चेदुच्यते। आप्तवचनान्मूर्च्छनाविशेषो ज्ञायते।

तथा चाह कश्यप:—

ज्ञात्वा जात्यंशबाहुल्यं निर्देश्या मूर्च्छना बुधैः। इति।

अर्थात्—'यदि यह प्रश्न किया जाए कि पूर्वोक्त रागों की मूर्च्छनाओं का निर्देश कैसे जाना जाता है, तो इसका उत्तर यह है कि आप्तवचन से मूर्च्छनाविशेष का ज्ञान होता है।'

कश्यप ने कहा:—

'जाति के अंश-बाहुल्य को जानकर बुद्धिमान् व्यक्तियों को मूर्च्छना निर्दिष्ट करना चाहिए।'

जातियों के लिए द्वादशस्वर-मूर्च्छनाओं का निर्देश करते समय भी मतंग ने प्रत्येक 'अंश' स्वर के ही आधार पर वादन को दृष्टि में रखते हुए द्वादशस्वर-मूर्च्छनाओं का विनियोग किया है, 'जाति' में क्योंकि अंश-स्वर कई भी हो सकते हैं, परंतु

राग में अंश स्वर एक ही होता है, इसी लिए रागों में अंश स्वर और मूर्च्छना का आदिम स्वर अभिन्न है।

६. जातियों और ग्रामरागों का पुनरुद्धार :—'नाट्यशास्त्र' में 'जातियों' के लक्षण दिए गए हैं। मतंग ने उन 'जातियों' के 'प्रस्तार' (चलन) भी दिए हैं। 'बृहद्देशी' के खंडित रूप में मिलने के कारण कुछ 'जातियों' के प्रस्तार उसमें नहीं मिलते। 'रत्नाकर' में 'जातियों' के प्रस्तार मतंग के अनुसार ही दिए गए हैं, फलतः 'बृहद्देशी' में आज अनुपलब्ध जाति-प्रस्तार हमें 'रत्नाकर' में मिल जाते हैं। इस दृष्टि से 'जातियों' का भरतोक्त रूप हमें सोदाहरण मिल जाता है।

'बृहद्देशी' में उन सातों शुद्ध ग्रामरागों के प्रस्तार भी हमें मिलते हैं, जिनकी चर्चा 'नाट्यशास्त्र' में की गई है।

'रत्नाकर' में मतंगोक्त प्रस्तारों के साथ-साथ उनमें 'गेय' पद भी दिए गए हैं, जिन्हें ब्रह्मप्रोक्त कहा गया है और जिनका विषय 'शिवस्तुति' है।

'जातियों' और 'रागों' में 'करणों' (विभिन्न आलापविशेषों) के उपयोग का आदेश यह कहकर दिया गया है :—

एवमेता बुधैर्ज्ञेया जातयो दशलक्षणाः। स्वस्वैश्च करणैर्योज्याः पदेष्वभिनयैरपि।

('नाट्यशास्त्र', निर्णयसागर-संस्करण, पृ० ४५३)

अर्थात्—'बुद्धिमानों को दशलक्षण-जातियाँ इस प्रकार जाननी चाहिए। पदों और अभिनयों में अपने-अपने विशिष्ट करणों के द्वारा उन जातियों की योजना करनी चाहिए।'

जातियों के तत्त्व को जिन्होंने हृदयंगम कर लिया हो, व्याकरण, साहित्य, छंद, अलंकार शास्त्र इत्यादि विषयों का तत्त्व जिन्होंने योग्य गुरुओं के चरणों में बैठकर समझा हो और जो 'वाग्गेयकार' के अन्य लक्षणों से भी युक्त हों, वे विनम्र एवं प्रतिभासम्पन्न वाग्गेयकार ही जातियों, ग्रामरागों इत्यादि में 'धातु' और 'मातु' की रचना करके शिष्य-निष्पादन कर सकते हैं।

श्रीमान् अभिनवगुप्ताचार्य के कुछ विचार

प्रत्यभिज्ञादर्शन, तंत्रशास्त्र, अलंकारशास्त्र, नाट्यशास्त्र और संगीतशास्त्र के प्रबुद्ध विद्यार्थी महामाहेश्वर श्रीमान् आचार्य अभिनवगुप्त का नाम आते ही श्रद्धावनत हो जाते हैं। महामाहेश्वर के द्वारा 'नाट्यशास्त्र' की 'अभिनवभारती' ग्यारहवीं शती के आरंभ में लिखी गई, जब कि कश्मीर में 'नाट्यशास्त्र'-वर्णित संगीत व्यावहारिक रूप में प्रचलित था।

आचार्य अभिनवगुप्त स्वयं बहुत अच्छे वीणावादक थे और शिष्यों को 'संगीत' की शिक्षा देते थे। उनके गुरु श्री भट्टतौत थे और उनके भी गुरु श्री उत्पलदेव। महामाहेश्वर ने 'नाट्यशास्त्र' गुरुमुख से पढ़ा था। अभिनवभारती में अनेक स्थलों पर श्री भट्टतौत और श्री उत्पलदेव का मत निर्णय-रूप में स्वीकृत किया गया है।

प्रस्तुत पंक्तियों में 'नाट्यशास्त्र' के कुछ विशिष्ट स्थलों पर महामाहेश्वर की व्याख्या का निष्कर्ष प्रस्तुत किया जा रहा है।

'नाट्यशास्त्र' की वीणा तथा अन्य तंत्रीवाद्य

'नाट्यशास्त्र' में तंत्रीवाद्यों के अंतर्गत वीणा, चित्रा, विपंची, कच्छपी और घोषक की चर्चा है। वीणावादक को वैणिक और विपंचीवादक को वैपंचिक कहा गया है। तंत्रीवाद्यों में वीणा मुख्य या प्रधान है, क्योंकि उसमें इक्कीस तारों पर तीनों संपूर्ण सप्तक मिले रहते हैं, तीनों संपूर्ण सप्तकों से युक्त होने तथा मानव-कंठ से निकलनेवाले तीनों संपूर्ण सप्तकों के अनुसरण में समर्थ होने के कारण इस मत्तकोकिला नामक वीणा को शरीर या शारीरी वीणा का प्रतिबिंब भी कहा गया है।

चित्रा में सात और विपंची में नौ तार हैं। चित्रा अँगुलियों से और विपंची कोण (एक काष्ठखंड) से बजाई जाती है। चित्रा और विपंची मुख्य वीणा मत्तकोकिला के अंग हैं और 'कच्छपी' तथा 'घोषक' 'प्रत्यंग' हैं।

चित्रा या विपंची में तंत्रियाँ अपूर्ण होती हैं। उनमें तीनों सप्तकों की अभिव्यक्ति नहीं होती, इसलिए ये अंगवाद्य मुख्य वीणा मत्तकोकिला की वादन-शैली में सहायक मात्र होते हैं।

जितने काल में वैणिक जितनी लय का प्रयोग करे, उतने काल में वैपंचिक द्वारा उसकी अपेक्षा द्विगुण लय का प्रयोग 'रूप' कहलाता है। ऐसी स्थिति में मत्तकोकिलावादक यदि एक स्वर का 'गुरु' रूप बजाता है, तो वैपंचिक उसी स्वर के दो लघु रूप बजाता है। मत्तकोकिला-वादक यदि एक लघु बजाता है, तो वैपंचिक दो द्रुत रूप बजाता है।

यदि इस काम को अकेला विपंचीवादक करे, तो यह 'प्रतिकृत' कहलाता है, क्योंकि यह काम वीणावादक के द्वारा किए हुए काम का प्रतिबिंबमात्र होता है।

स्वर सदृश रखते हुए, वैपंचिक द्वारा, वीणावादक के द्वारा किए हुए स्वर-संचार के स्वरों का भंजन (गुरु, लघु, प्लुत इत्यादि रूपों का मिश्रित और विचित्रता-जनक प्रयोग) करता है, तो यह काम 'प्रतिभेद' कहलाता है।

यदि इसी वैचित्र्य को विपंचीवादक आधार-स्वर की संवादिनी तंत्री पर करे, तो यह काम 'प्रतिशुष्का' कहलाता है।

जब गीतखंड की समाप्ति पर मत्तकोकिलावादक क्षण-भर के लिए विराम करता है, तब उस विराम-काल में भी वैपंचिक द्वारा अविरत वादन करना 'रूपशेष' है।

लय का बाँट करते हुए वैपंचिक द्वारा अतिद्रुत लय का प्रयोग 'ओघ' है।

मत्तकोकिलावादक या वैणिक के कार्य में इस प्रकार अंगरूप से सहायता देना वैपंचिक का कर्त्तव्य है।

'नाट्यशास्त्र' में स्वरोत्पत्ति के स्थान दो बताए गए हैं, वीणा और शरीर। इन दोनों में भी वीणा प्रमुख है, इसलिए 'नाट्यशास्त्र' में वीणा को आधार मानकर स्वरों, ग्रामों, मूर्च्छनाओं, तानों, स्थानों, वृत्तियों, शुष्क, साधारणों, वर्णों, अलंकारों, धातुओं, श्रुतियों और जातियों का विवेचन किया है और इस विषय को स्वरगतात्मक समवाय कहा है।

वीणा के आधार पर इतना विवेचन करने के पश्चात् 'शारीरी वीणा' अर्थात् मानव-शरीर को आधार मानकर 'नाट्यशास्त्र' स्वर, ग्राम, अलंकार, वर्ण, स्थान, जातियाँ और साधारण बताता है।

'नाट्यशास्त्र' के अट्ठाईसवें अध्याय को समझने के लिए यह तथ्य सदा सामने रखना आवश्यक है। स्वरों से लेकर जातियों तक विवेचन 'नाट्यशास्त्र' में इक्कीस तारवाली वीणा के आधार पर किया गया है।

उपर्युक्त तथ्यों के विषय में प्रमाण निम्नलिखित हैं:—

१. दारवी वीणा में स्वरगतात्मक समवाय :—

'द्व्यधिष्ठानाः स्वरा वैणाः शारीराश्च प्रकीर्तिताः।
एतेषां सम्प्रवक्ष्यामि विधानं लक्षणान्वितम् ॥ (ना० शा०, अ० २८, श्लोक १२)

अर्थात्—'स्वर द्व्यधिष्ठान (दो उत्पत्तिस्थान हैं जिनके) कहे हैं, वैण (वीणा में उत्पन्न होनेवाले) और शारीर (शरीर में उत्पन्न)।'

महामाहेश्वर ने इस स्थल पर टीका करते हुए कहा है—'वैणानां प्राधान्यात् पूर्वमुद्देशः।' अर्थात्—(शरीर और वैण स्वरों में) वैण स्वरों की प्रधानता होने के कारण (उनका) वर्णन पहले किया गया है।

अट्ठाईसवें अध्याय के प्रथम श्लोक 'ततं चैव' इत्यादि की व्याख्या करते समय महामाहेश्वर ने तंत्रीवाद्यों की प्रधानता का प्रतिपादन इस प्रकार किया है:—

गातृणां हि वाक्पारुष्यादिदोषशतोपहतानां स्वरस्तंत्रीवेणुस्वरेण सुस्वरतां नीयते, स्वभावत एव तन्माधुर्यात्। वाङ्माधुर्यं यावद्धीनं तदाहार्यम्, मधुरं निरोपितं माधुर्यमभ्यासादाहरेयुः। ततानुबद्धत्वात्स्वरस्य न न्यूनाधिकभावाशंका काचित्, तत्र मूर्च्छनायां वीणायामशिक्षितेनाप्यभिहननेन स्वरत्वोपलम्भः। न त्वेवं वंश इति ततातोद्यस्यैव प्राधान्यम्। अत एव वीणा शारीरिकी चैवाचार्यैर्निर्दिष्टा 'दारवी गात्रवीणा च' इति। तथा च प्रतिबिंबं वीणेति व्यवहारः। इहापि पूर्वं वैणा एव स्वरा उद्दिश्यंते, द्व्यधिष्ठानाः स्वरा वैणा शारीराश्चेति।

अर्थात्—"तंत्री और वेणु के स्वरों में स्वभावतः मधुरता होने के कारण इन स्वरों के साथ अभ्यास करने से ही, वाणी की कठोरता इत्यादि सैकड़ों दोषों से युक्त, गायकों का कंठस्वर 'सुस्वर' (सुरीला और मधुर) होता है। वाणी में मधुरता की जो कमी होती है, (वीणा और वेणु के स्वरों के साथ स्वर मिलाकर अभ्यास के द्वारा) उसका आहरण (बाहर से अर्थात् वीणा या वेणु के स्वरों से कंठ में लाना) किया जाना चाहिए। स्वर में वह माधुर्य आरोपण या अभ्यास से लाना चाहिए। तंत्रीवाद्यों के स्वर के पीछे-पीछे अनुबद्ध रहकर अभ्यास करने से स्वर में न्यूनता या अधिकता की कोई आशंका नहीं। यथास्थान मिलाई हुई वीणा में यदि अशिक्षित व्यक्ति के द्वारा भी आघात किया जाए, तो स्वर-प्राप्ति होगी। इस प्रकार वंश में नहीं, इसलिए तंत्रीवाद्य की ही प्रधानता है। इसी लिए आचार्यों ने वीणा और शारीरिकी वीणा का निर्देश किया है—'दारवी (लकड़ी की बनी हुई) वीणा और गात्रवीणा।' यह कहा जाता है कि (लकड़ी की) वीणा (गात्रवीणा का) प्रतिबिंब है। यहाँ 'नाट्यशास्त्र' के इस प्रकरण में भी) पहले-पहल वीणा में उत्पन्न होनेवाले स्वरों का ही वर्णन 'स्वर उत्पत्तिस्थानभेद से दो प्रकार के हैं, वैण और शारीर' कहकर किया जा रहा है।"

२. भरत की वीणा, इक्कीस तारोंवाली मत्तकोकिला

तंत्रीवाद्यों के कुतप (वृंद) का वर्णन 'नाट्यशास्त्र' में इस प्रकार है:—

ततः कुतपविन्यासो गायनः सपरिग्रहः।
वैपंचिको वैणिकश्च वंशवादस्तथैव च॥ (अ० २८, श्लोक ४)

अर्थात्—'परिग्रह (पत्नी या सहायक गायक) से युक्त गायक वैपंचिक, वैणिक और उसी प्रकार वंशवादक, यह 'तत' कुतप है।'

मानव-शरीर को गात्रवीणा कहा गया है, इसलिए गायक भी तत कुतप में है। यहाँ 'अभिनवभारती' में महामाहेश्वर द्वारा विपंची और वीणा का स्पष्टीकरण इस प्रकार है:—

विपंची अपूर्णतंत्रीका कोणवादनीया, वीणात्वेकविंशतितंत्रीका।

अर्थात्—'विपंची में तंत्रियाँ अपूर्ण होती हैं, वह कोण से बजाई जाती है, वीणा में तो इक्कीस तंत्रियाँ होती हैं।

'नाट्यशास्त्र' उन्तीसवें अध्याय में एकसौ ग्यारहवें श्लोक तक वीणावाद्य की विधि बताई है। एकसौ बारहवाँ श्लोक है:—

एवमेतत् स्वरगतं ज्ञेयं वीणाशरीरजम् ।
विपंचीवाद्ययुक्तानि करणानि निबोधत ॥

अर्थात्—'इस प्रकार यह (पूर्वोक्त) विधि वीणा के शरीर में उत्पन्न स्वरगत जानना चाहिए। अब विपंची वाद्य के लिए उपयुक्त करणों को समझो।'

महामाहेश्वर ने सदाशिवागम से तंत्रीवाद्यों के विभिन्न प्रकार उद्धृत किए हैं, उनमें 'मत्तकोकिला' भी है। उपर्युक्त श्लोक पर टीका करते हुए वे कहते हैं:—

इह वीणावाद्यविधिः प्रस्तुतः। तत्प्रसंगेन पूर्वरंगांगानि तत्प्रधानानि दर्शितानि। तत्रेह मुख्यंबवीणा। अंगास्तद्भेदास्तु प्रत्यंगानि ।.........तत्र मत्तकोकिला प्रधानभूता। एकविंशति-तंत्रीकत्वेनान्यूनाधिकं त्रिस्थानगस्वरसारणाजातिगीतिवीणाशरीरमुच्यते । तद्गतश्च धातुप्रयोग उक्तः। तदुपजीवकत्वेनापरा भवंतीति तदेतद्दर्शयति—

'एवमेतत्स्वरगतं ज्ञेयं वीणाशरीरजम्। विपंचीवाद्ययुक्तानि करणानि निबोधत।'

अर्थात्—'यहाँ (एकसौ ग्यारहवें श्लोक तक) वीणा वाद्य की विधि प्रस्तुत की गई। उसी प्रसंग के अनुसार पूर्वरंग के वे अंग प्रदर्शित कर दिए गए, जिनमें वीणा वाद्य प्रधान है। तो यहाँ वीणा ही मुख्य है, (अन्य तंत्रीवाद्य) अंग हैं और उनके भेद प्रत्यंग हैं।.........उनमें मत्तकोकिला प्रधानभूत है। (मत्तकोकिला में) इक्कीस तार होने के कारण, तीनों (मंद्र, मध्य, तार) स्थानों में विद्यमान स्वरों की सारणा (यथास्थान मिले हुए स्वरसमूह) में जातियों (और जातियों से उत्पन्न रागों, उपरागों इत्यादि) की गीति से वीणाशरीर कहा जाता है। उस वीणाशरीर में प्रयोज्य धातु-प्रयोग (भरत मुनि के द्वारा) कहा गया है। अन्य (विपंची, चित्रा इत्यादि) मत्तकोकिला का उपजीवन करती हैं, तो (भरतमुनि) इस बात को दिखाते हैं:—'यह स्वरगत विधि वीणाशरीर में उत्पन्न जानना चाहिए, (इसके पश्चात्) विपंची वाद्य के लिए उपयुक्त करणों को समझो।'

महामाहेश्वर श्रीमान् आचार्य अभिनवगुप्त ने 'नाट्यशास्त्र' गुरु-परंपरा से पढ़ा था, संगीत की शिक्षा भी अद्वितीय संप्रदाय के अनुसार ली थी, उनका यह स्पष्टीकरण सहृदय और निर्मल दृष्टिवाले जिज्ञासुओं के लिए दीपक है, जो नेत्ररहित, कुपढ़ या अपढ़ हैं, उनके लिए व्यर्थ है।

३. चित्रा, विपंची, कच्छप और घोषक नामक तंत्रीवाद्य

'नाट्यशास्त्र' का कथन है:—

सप्ततंत्री भवेच्चित्रा विपंची तु भवेन्नव।
कोणवाद्या विपंची स्याच्चित्रा चांगुलिवादना ॥ (अ० २६, श्लोक ११८)

अर्थात्—'चित्रा में सात और विपंची में नौ तार होते हैं। विपंची कोण से बजाई जाती है और चित्रा अँगुलियों से।'

अंगवाद्यों और प्रत्यंगवाद्यों का वर्णन 'नाट्यशास्त्र' में इस प्रकार है:—

विपंची चैव चित्रा च दारवीष्वङ्गसंज्ञिते ।
कच्छपीघोषकादीनि प्रत्यंगानि तथैव च ।। (अ० ३४, श्लोक १४)

अर्थात्—'दारवी वीणाओं में विपंची और चित्रा (उन वीणाओं का) अंग है, और कच्छपी तथा घोषक इत्यादि प्रत्यंग है ।'

४. मत्तकोकिला पर तीनों स्थानों की सिद्धि

मत्तकोकिला में प्रथम सात तारों पर मंद्रस्थानीय सप्तक, उनसे अग्रिम सात तारों पर मध्यस्थानीय सप्तक और अंतिम सात तारों पर तारस्थानीय सप्तक की सिद्धि होती है । अर्थात् पहला तार, आठवाँ तार और पंद्रहवाँ तार क्रमशः मंद्र, मध्य और तार-स्थान के आरंभक होते हैं ।

इन तीनों तारों से उत्पन्न होनेवाली ध्वनि 'स्वर' या 'स्थायी' स्वर कहलाती है । इन तीनों सप्तकादिम स्वरों में मध्य सप्तक का आरंभक स्वर 'वीणा का मध्यम स्वर' कहलाता है । 'वीणा का मध्यम स्वर' का अर्थ 'सप्तक का मध्यम स्वर' नहीं है ।

सातों स्वरों में से किसी भी स्वर को स्थायी, अंशस्वर, या स्वर मानने का अर्थ मत्तकोकिला के आठवें स्वर की ध्वनि को षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत या निषाद मानकर नवें से चौदहवें तार तक अग्रिम छह स्वरों का स्थापन करना है । इस प्रकार आठवें, नवें, दसवें, ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें और चौदहवें तारों पर किसी भी स्वरसप्तक की स्थापना के पश्चात् मंद्रस्थानीय तारों पर मंद्रस्थानीय और तारस्थानीय तारों पर तारस्थानीय रूप मिलाने से मूर्च्छना-विशेष के त्रिस्थानीय रूपों की प्राप्ति होती है ।

ऐसी स्थिति में पहले, आठवें और पंद्रहवें तार को छूना-छेड़ना नहीं पड़ता, क्योंकि आठवाँ तार मध्यसप्तक का आरंभक स्वर है, उसी की ध्वनि को, जैसा-का-तैसा रखते हुए, विभिन्न सप्तकों के आरंभक स्वर का नाम दिया जाता है । फलतः सप्तक का आरंभक स्वर स्थायी या अंश हो जाता है ।

'नाट्यशास्त्र' के सत्रहवें अध्याय में कहा गया है :—

हास्य शृंगारयोः कार्यौ स्वरौ मध्यमपंचमौ ।
षड्जर्षभौ तथा चैव वीररौद्राद्भुतेष्वथ ।।
गांधारश्च निषादश्च कर्तव्यौ करुणे रसे ।
धैवतश्चैव कर्तव्यो बीभत्से सभयानके ।। (१०३–१०४)

अर्थात्—'हास्य और शृंगार में मध्यम और पंचम को स्वर करना चाहिए, वीर, रौद्र और अद्भुत में षड्ज और ऋषभ को (स्वर करना चाहिए) तथा करुण-रस में गांधार और निषाद को (स्वर करना चाहिए ।)'

प्रस्तुत श्लोक पाठप्रकरण के हैं । इन पर महामाहेश्वर की टीका में 'स्वर करना चाहिए' का स्पष्टीकरण 'स्थायिस्वरत्वं गृहीत्वा' (पूर्वोक्त स्वरों को स्थायी स्वर बनाकर) 'स्वांशं गृहीत्वा' (जाति के रसानुसारी अंश को लेकर) 'स्थायिनमालम्ब्य' (स्थायित्व का आलंबन करके) अथवा 'अंशस्वराश्रयेण' (अंश स्वर के आश्रय से) जैसे-शब्दों से किया गया है ।

स्थायी स्वर या अंश स्वर

किसी भी सप्तस्वरमूर्च्छना का आदिम स्वर ही उस मूर्च्छना का स्थायी स्वर या अंश स्वर होता है। मेल-सिद्धांत में जो महत्व 'स' का है, वही महत्व मूर्च्छना-पद्धति में सप्तस्वरमूर्च्छना के आरंभक स्वर का है। स्थूल रूप में यों कहा जा सकता है कि मूर्च्छना बदलने से ठाठ बदल जाता है। ठाठवादी प्रत्येक ठाठ के आरंभक स्वर को 'स' कहेगा, परंतु मूर्च्छनावादी मूर्च्छना के स्वरों की संज्ञा (नाम) में परिवर्तन नहीं करेगा, वह भैरवी ठाठ के सात स्वरों को क्रमशः मध्यमग्राम के ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत, निषाद और षड्ज कहेगा।

इस संबंध में 'नाट्यशास्त्र' के शब्द, 'अभिनवभारती' के अनुसार ये हैं :—

मध्यमस्वरेणतु वैणेन मूर्च्छनानिर्देशः कार्य्यो भवति अनाशित्वान्मध्यमगतेः।

अर्थात्—'मध्यम गति में अनाशित्व होने के कारण वीणा के मध्यम स्वर से मूर्च्छना-निर्देश करने योग्य होता है।'

किसी भी जाति या राग में संपूर्ण मंद्रगति या तारगति का प्रयोग उसके रूप की अभिव्यक्ति के लिए अनिवार्य नहीं। अनेक राग कुछ मंद्रस्थानीय तथा मध्यस्थानीय स्वर-संचार में खुलते हैं और अनेक राग मध्यस्थानीय और तारस्थानीय स्वर-संचार में। दरबारी, पूरिया, तोड़ी, मियाँ की मलार-जैसे रागों का रूप मंद्र और मध्यस्थान में खुलता है और बहार, बसंत, अड़ाना इत्यादि का मध्यस्थान और तारस्थान में। अर्थात् आज की भाषा में जो पूर्वांगप्रधान राग हैं, उनके प्रयोग में तारसप्तक को, और जो राग उत्तरांगप्रधान हैं, उनमें मंद्रसप्तक को छोड़ा जा सकता है। परंतु मध्यसप्तक सदा अनिवार्य है। मध्यम सप्तक की यह अनिवार्यता ही 'मध्यमगति का अनाशित्व है।

एक बात और समझ लेनी चाहिए।

यदि हम कहते हैं कि इस बाग का आम बहुत अच्छा है, तो वाक्य में 'आम अच्छा है।' यह एकवचन किसी एक आम को अच्छा न कहकर उस बाग में उत्पन्न होनेवाले सब आमों को, उनकी जाति को, अच्छा बताता है। व्याकरण इस प्रकार के एकवचन को जातिबोधक एकवचन कहता है।

"मध्यमस्वर से मूर्च्छना निर्देश करने योग्य होता है।" इस वाक्य के 'मध्यम स्वर' की व्याख्या करते हुए महामाहेश्वर कहते हैं—'जातावेकवचनम्, मध्यैरेव स्वरैरित्यर्थः।' अर्थात्—'**मध्यम स्वर**' यह एकवचन जाति के अर्थ में है, इसका अर्थ है मध्यस्थानीय सात स्वरों के द्वारा।"

इस प्रकार वे भी मूर्च्छना का मूलभूत स्थापन मध्यस्थानीय सात स्वरों में प्रतिपादित करते हैं। 'मध्यमगति' का स्पष्टीकरण करते हुए वे कहते हैं—'स्वरसप्तकस्येति विशेषः।' अर्थात्—मध्यस्वरसप्तक का अनाशित्व है, यह मध्यसप्तक में विशेषता है।'

हमने 'नाट्यशास्त्र' की यह पंक्ति 'अभिनवभारती' टीका के अंतर्गत मूल शब्दों के उल्लेख के अनुसार दी है।

अनेक व्यक्तियों में तीनों संपूर्ण सप्तक गाने की शक्ति नहीं होती, इसलिए गायक के द्वारा न गाए गए स्वर भी वीणा पर सुगमतापूर्वक प्रयुक्त किए जा सकते हैं। इस स्थिति को स्पष्ट करते हुए महामाहेश्वर कहते हैं—'वैणग्रहणं शरीरे अप्रगीतस्यापि स्थान लाभार्थम्।' अर्थात्—'(प्रस्तुत स्थल में) वैण शब्द का ग्रहण मानव-शरीर में (या किसी राग की बंदिश में) अप्रगीत (अप्रयुक्त) स्थान की प्राप्ति के लिए है।'

हमने 'मध्यमस्वर' शब्द को एकवचन मानकर उसका अर्थ वीणा के मध्य-स्थान का आरंभक स्वर किया है, जिसकी ध्वनि यथावसर अभीष्ट मूर्च्छना के आरंभक स्वर का नाम ग्रहण कर लेती है, महामाहेश्वर ने मतंग के मत का अनुसरण करके 'मध्यम स्वर' में जातिवाची एकवचन माना है और 'मध्यम स्वर' का अर्थ इस स्थल पर मध्यसप्तक किया है। दोनों अर्थों का प्रयोजन एक ही है, अर्थात् कोई भी मूर्च्छना हो, मूलरूप में उसकी स्थापना मध्यस्थानीय सात तंत्रियों पर की जाएगी, यही प्रयोजन दोनों अर्थों से सिद्ध होता है।

महामाहेश्वर के समक्ष हम श्रद्धापूर्वक विनत हैं, परंतु जो लोग 'जातिबोधक एकवचन' से अपरिचित रहकर भी मतंग के अर्थ पर आक्षेप करते हैं, उन्हें संतुष्ट करने को हमारे द्वारा किया अर्थ है।

मध्यस्थान में किसी मूर्च्छना को स्थापित करने से मत्तकोकिला के प्रथम सात तारों पर उस मूर्च्छना के संपूर्ण मंद्रस्थानीय रूप की तथा अंतिम सात तारों पर उस मूर्च्छना के संपूर्ण तारस्थानीय रूप की प्राप्ति होती है। इसी लिए 'नाट्यशास्त्र' में कहा गया है—'मूर्च्छनातानप्रयोजनमपि स्थानप्राप्त्यर्थम्।' अर्थात्—'मूर्च्छना और तान (मूर्च्छनाओं के षाडव और औडुव रूप) का प्रकर्ष के द्वारा योजन (विशेष रक्तिदायक) स्थानों की प्राप्ति के लिए है। महामाहेश्वर कहते हैं :—

मूर्च्छनातानानां ऋग्गाथा सामभ्य आनीय यदि प्रकर्षेण योजनंस्थानानां विशेषरक्तिदायिनां प्राप्त्यर्थम्।

अर्थात्—"ऋक्, गाथा और साम से ग्रहण करके मूर्च्छना और तानों का प्रकर्षपूर्वक योजन विशेष रक्तिदायक स्थानों की प्राप्ति के लिए है।"

५. मत्तकोकिला के मध्यसप्तकीय सात तारों पर सप्तक की सिद्धि:—

'नाट्यशास्त्र' में मत्तकोकिला के आधार पर जिन विषयों का विवेचन किया है उनमें सर्वप्रथम स्वर हैं। 'स्वर' के विषय में महामाहेश्वर कहते हैं :—

शब्दस्वभावां चित्तवृत्तिं मध्यस्थतारूपस्वास्थ्यावस्थापरित्याजनेनोपतापयन्तो हृद्यतातिवशात् स्वतामाक्षिपन्तः स्वविषये अभिधानं कुर्वन्तः स्वरा इत्युक्ताः। वर्णसाम्यादपि निरुक्तिमाहुः स्वयं स्वेष्वेव जातिरागभाषाभेदेषु राजन्त इति स्वराः।

अर्थात्—"(बोलते समय ध्वनि की) मध्यस्थता (उतार-चढ़ाव से हीन होना) रूपी स्वस्थानस्थता के छुड़ावा देने से शब्दस्वभाव (जिसका सहज स्वभाव बोलना है) चित्तवृत्ति को उपतापित (असहज अवस्था में) करते हुए (और) अत्यंत मनो-रमता के कारण अपना व्यक्तित्व आरोपित करते हुए (अर्थात्) अपने विषय में

अभिधान करते हुए (बताते हुए या आत्म-परिचय देते हुए नाद) स्वर कहे गए हैं। अक्षरसाम्य को देखते हुए भी (स्वर शब्द की) निरुक्ति की गई है, अपने जाति, राग, भाषा (इत्यादि के) भेदों में राजित (शोभित) होते हैं, इसलिए स्वर हैं।"

महामाहेश्वर ने स्वर-लक्षण के विषय में विभिन्न दृष्टिकोणों का उल्लेख किया है, वे हैं :—

(क) तत्रान्तरालश्रुतिषु नियतसंख्याकासु ईषद्यो वायुना स्पर्शस्तन्महिम्ना यः स्वर-श्रुतिस्थाने स्निग्धस्वरक्तत्वलक्षणो धर्मः तस्याश्रयभूतायाः श्रुतेरुपरञ्जकः स एव स्वर इति केचित्।

अर्थात्—"(मानव शरीर में) नियत संख्यावाली अंतरालश्रुति में प्राणवायु के द्वारा जो थोड़ा स्पर्श होता है, उसके प्रभाव से स्वर के लिए निश्चित श्रुतिस्थान पर स्निग्धता और रंजकता से युक्त जो धर्म अपनी आश्रयभूत श्रुति का उपरंजक है, वही स्वर है, ऐसा कुछ लोगों का विचार है।

(ख) षड्जश्रुतिरेवेत्यपरे।

अर्थात्—"दूसरे लोगों का कहना है कि षड्ज की श्रुति ही (षड्ज स्वर) है।

(ग) समूह इत्येके।

अर्थात्—"कुछ लोग कहते हैं कि श्रुतियों का समूह स्वर है।"

अपना मत प्रकट करते हुए महामाहेश्वर कहते हैं :—

वयं तु श्रुतिस्थानाभिघातप्रभवशब्दप्रभावितोऽनुरणनात्मा स्निग्धमधुरः शब्द एव स्वर इति वक्ष्यामः।

अर्थात्—"हम तो यह कहेंगे कि श्रुतिस्थान पर अभिघात (आघात) से उत्पन्न शब्द से प्रभावित अनुरणनात्मक स्निग्ध, मधुर नाद ही स्वर है।

[महामाहेश्वर के इस कथन का तात्पर्य समझने के लिए 'अनुरणन' शब्द का अर्थ समझ लेना चाहिए। घंटे पर मूँगरी की चोट की टकराहट 'रणन' है, उस टकराहट के पश्चात् वातावरण में गूँजनेवाली ध्वनि 'अनुरणन' है, क्योंकि वह रणन के पश्चात् उत्पन्न होती है। इसी प्रकार तार पर मिज़राब या जवे इत्यादि की टकराहट रणन है और गूँजनेवाली झंकार अनुरणन है। महामाहेश्वर इसी स्निग्ध और मधुर झंकार को स्वर कह रहे हैं, जो ठीक स्वरस्थान पर आघात के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न हुई है।]

'नाट्यशास्त्र' नवश्रुति-अंतर और तेरह श्रुतियों के अंतर को संवाद कहता है, मतंग ने मध्यम-धैवत के सप्तश्रुतिअंतर को भी संवाद कहा है। वास्तव में ये तीनों ही अंतर स्वयम्भू हैं। तानपूरे के मंद्रषड्ज के तार में उपध्वनिरूप से अंतरगांधार शिक्षित कानों को सुनाई देता है। यदि मंद्रषड्ज के तार की ध्वनि को मध्यम माना जाए, तो उसकी अपेक्षा गूँजनेवाली वह उपध्वनि धैवत हो जाएगी, जो मंद्रषड्ज की अपेक्षा धैवत है।

धैवत शब्द का अर्थ ही धीवान् व्यक्तियों को उपध्वनि के रूप में सुनाई देनेवाला स्वर है। धैवत और निषाद का दर्शन सबसे पहले तुम्बरु को हुआ था, यूनानियों को इस स्वयम्भू सप्तश्रुतिअंतराल का ज्ञान ईसा की प्रथम शती में हुआ है।

अस्तु 'नाट्यशास्त्र' भी धैवत को 'धैवत' ही कहता है, कुछ और नहीं। इससे सिद्ध है कि भरत मुनि को भी धैवत का स्वयम्भूत्व मान्य है।

मत्तकोकिला पर स्वरस्थानों की प्राप्ति

अब यदि मत्तकोकिला के मध्यवर्ती सात तारों पर षड्जग्राम की प्रथम मूर्च्छना स्थापित करना है, तो यह क्रिया अत्यंत सरल है।

सातवें तार पर 'स', दसवें पर 'म' और ग्यारहवें पर 'प' हर गवैया या तंत्री-वादक मिला सकता है और मध्यम को छेड़कर बारहवें तार पर धैवत भी हर वह व्यक्ति मिला सकता है, जिसे तानपूरे के मंद्रषड्ज के तार पर सप्तश्रुति अंतरगांधार सुनाई देता है। धैवत को निरंतर छेड़कर, षड्ज-मध्यम-भाव से, आठवें तार पर ऋषभ की स्थापना भी सरलता-पूर्वक की जा सकती है और मध्यम को छेड़कर चौदहवें तार पर निषाद की स्थापना षड्ज-मध्यम-भाव के आधार पर की जा सकती है।

यहाँ कुछ सज्जन यह शंका उठाते हैं कि भरत ने परस्पर संवादी स्वरों को गिनाते समय मध्यम-निषाद में परस्पर संवाद नहीं बताया है, इसलिए मध्यम के आधार पर निषाद की स्थापना नहीं की जा सकती। यह शंका निर्मूल है।

'संवाद' शब्द और उसके अर्थ को अभी छोड़ दें, अभी तो 'नाट्यशास्त्र' के आधार पर सिद्ध होना चाहिए कि मध्यम-निषाद का पारस्परिक अंतर षड्ज और मध्यम के पारस्परिक अंतर के बराबर है।

'नाट्यशास्त्र' के शब्द हैं :—

द्विविधंकमूर्च्छनासिद्धिः। तत्र षड्जग्रामे द्विश्रुत्युत्कर्षाद् धैवतीकृते गांधारे मूर्च्छनाग्रामयोरन्यत्वम्। तद्वशान्मध्यमादयो यथासंख्येन निषादादित्वं प्रतिपद्यन्ते।

अर्थात्—'एक मूर्च्छना की सिद्धि दो प्रकार से होती है। वहाँ (वीणा पर) षड्जग्राम में गांधार को दो श्रुति चढ़ाकर धैवत मान लेने से मूर्च्छना और ग्राम में परिवर्तन हो जाता है। (षड्जग्रामीय) मध्यम इत्यादि स्वर क्रमशः निषाद आदि हो जाते हैं।'

षड्जग्रामीय पूर्वोक्त स्वरों में नवें तार पर गांधार की स्थापना नहीं की गई है। यदि चौदहवें तार पर स्थित निषाद को छेड़कर नवें तार को षड्ज-मध्यम-भाव के आधार पर अवरोह की ओर मिलाया जाए, तो षड्जग्राम के द्विश्रुतिक गांधार की सिद्धि हो जाएगी।

इस गांधार और धैवत में ग्यारह श्रुतियों का अंतर है। यदि गांधार को इतना चढ़ा दिया जाए कि 'ग-ध' का अंतर 'स-म' के अंतर के बराबर हो जाए, तो गांधार अपने मूलस्थान से दो श्रुति चढ़ाकर धैवत की अपेक्षा नौ श्रुति पूर्व रह जाएगा।

ऐसी अवस्था में उस दो श्रुति चढ़े हुए अंतरगांधार का नाम धैवत रख दिया जाए, तो षड्जग्राम के षड्ज, ऋषभ, अंतरगांधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद क्रमशः मध्यम-ग्राम के मध्यम, पंचम, धैवत, निषाद, षड्ज, ऋषभ, गांधार हो जाएँगे, अर्थात् षड्जग्रामीय सांतरा प्रथम मूर्च्छना मध्यमग्राम की प्रथम शुद्ध मूर्च्छना में बदल जाएगी। यह स्थिति यों है :—

षड्जग्राम—	षड्ज	ऋषभ	अंतरगांधार	मध्यम	पंचम	धैवत	निषाद
मध्यमग्राम—	मध्यम	पंचम	धैवत	निषाद	षड्ज	ऋषभ	गांधार
श्रुतिसंख्या—	४	३	४	२	४	३	२

यहाँ षड्जग्रामीय षड्ज-मध्यम ही मध्यमग्राम के मध्यम-निषाद बन गए हैं, अतः सिद्ध है कि मध्यम-निषाद का अंतर षड्ज-मध्यम के अंतर के समान ही है।

अतः 'नाट्यशास्त्र' से ही यह सिद्ध है कि मध्यम-निषाद में षड्ज-मध्यम-भाव है और मध्यम के आधार पर ही निषाद की स्थापना संभव और उचित है।

इससे मध्यम का मध्यमत्व (सप्तक के ठीक बीच में होना) भी सिद्ध होता है। षड्जग्राम के मूल सप्तक का आरंभक स्वर षड्ज है और अंतिम स्वर निषाद। जब षड्ज-मध्यम में और मध्यम-निषाद में षड्ज-मध्यम-भाव हो, तब ही मध्यम सप्तक के बीच में होगा, अन्यथा नहीं।

६. संवाद-तत्त्व

संवाद-तत्त्व को समझने के लिए यह समझ लेना आवश्यक है कि चतुःश्रुति अर्थात् षड्ज, मध्यम और षड्जग्रामीय पंचम 'उदात्त' हैं, क्योंकि अपने पूर्ववर्ती स्वर की अपेक्षा इन स्वरों की ऊँचाई द्विश्रुति अथवा त्रिश्रुतिक स्वरों की ऊँचाई की अपेक्षा अधिक है।

द्विश्रुति स्वर गांधार और निषाद अपने पूर्ववर्ती स्वरों से ऊँचे तो हैं, परंतु उनकी ऊँचाई चतुःश्रुतिक अथवा त्रिश्रुतिक स्वरों की ऊँचाई की अपेक्षा नीची है, इसी नीचाई के कारण ये 'अनुदात्त' हैं।

त्रिश्रुतिक स्वर 'स्वरित' हैं, क्योंकि पूर्ववर्ती स्वर की अपेक्षा इनकी ऊँचाई द्विश्रुतिक स्वरों की ऊँचाई से अधिक चतुःश्रुतिक स्वरों की ऊँचाई से कम है। इस प्रकार उच्चता और नीचता का समाहार इनमें होने के कारण ऋषभ और धैवत स्वर गांधर्व में स्वरित हैं।

महामाहेश्वर का कथन है :—

चतुःश्रुतिरुदात्त उच्चत्वात्, द्विश्रुतिरनुदात्तः, नीचैस्त्वात्, त्रिश्रुतिः स्वरितः मध्यवर्तितया समाहारत्वात्। तथाहि—स्वरित एव कम्पितत्वं व्यवहारयन्ति श्रोत्रियाः। इहाप्यलंकारेषु त्रिश्रुतेः कम्पनं वक्ष्यते।

अर्थात्—"उच्चत्व के कारण चतुःश्रुति स्वर 'उदात्त', नीचैस्त्व के कारण द्विश्रुतिस्वर 'अनुदात्त' और (परिमाण की दृष्टि से उदात्त और अनुदात्त) का मध्यवर्ती

होने के कारण त्रिश्रुति स्वर 'स्वरित' है, (क्योंकि इसमें उच्चत्व और नीचैस्त्व का) समाहार है। और लोक में श्रोत्रिय (सामगान करनेवाले छांदस) स्वरित (त्रिश्रुति) में ही कंपितत्व का व्यवहार करते हैं। यहाँ 'नाट्यशास्त्र' में भी त्रिश्रुति स्वर का ही कंपन कहा जाएगा।

महामाहेश्वर का कथन है :—

तथाहि—एकस्मिन्नेवोरसि ऊर्ध्वाधरतया सप्तस्वराः, तथाहि चतुःश्रुतिकात्पूर्णादाद्यात् तद्रुत (तच्छ्रुति ?) रूपादेकैकं निष्कासं (स्य?) प्रक्रमेण पुनश्च प्रकृतिभूतपूर्वस्पर्शैश्चत्वारः सरिगमाः। तथैव स्थाने ऊर्ध्वस्पर्शे पधनिसाः, केवलं षड्जेन द्वितीयं स्थानं स्पृश्यत एव। मंद्रस्पर्शवतः (त्?) स्थानं स्वराणाम्। एवं कण्ठस्थाने शिरसि च। तेषां सर्वथा ताद्रूप्यसंक्रमणात्त्वंशादिव्यपदेश एव, तत्स्थानगतानां तु साहश्यपरत (य) एव संवाद (दि?), स्वं वक्ष्यते, तेन परमार्थतः त्रय एव स्वराः—सरिगाः, पधनयः। मध्यमस्तु ध्रुवकस्थानीयो मध्यमत्वादेव।

'एक ही हृदय (मंद्र स्वरों के जनक स्थान) में ऊर्ध्वाधर क्रम से सात स्वर हैं। आरंभिक चतुःश्रुतिक पूर्ण स्वर में से, उसके श्रुतिरूप या अंतराल की एक-एक श्रुति क्रमशः निकालकर (त्रिश्रुति ऋषभ और द्विश्रुति गांधार का उच्चारण करने के बाद) आरंभक स्वर, चतुःश्रुति षड्ज के समान चतुःश्रुति ध्वनि का स्पर्श करने से चार स्वर षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम (की अभिव्यक्ति होती है) उसी प्रकार (मंद्र-स्थान के) ऊर्ध्वभाग का स्पर्श करने पर पंचम, धैवत, निषाद और षड्ज अभिव्यक्त होते हैं, केवल षड्ज के द्वारा द्वितीय स्थान का स्पर्श किया ही जाता है। स्वरों का स्थान मंद्रस्पर्शवान् है। इसी प्रकार कंठस्थान और शिरःस्थान में (पूर्वोक्त स्वर) हैं। उन त्रिस्थानवर्ती स्वरों में प्रत्येक स्वर की तद्रूपता तीनों स्थानों में होने के कारण उनके लिए अंश इत्यादि (वादी, स्थायी, ग्रह जैसी परिभाषाओं) का व्यवहार (उन स्वरों के लिए मूर्च्छना का आरंभक स्वर होने पर) हैं ही। उन स्थानों में स्थित स्वरों का संवादित्व उनके पारस्परिक साहश्य के कारण कहा जाएगा, अतः वास्तव में तीन ही स्वर षड्ज, ऋषभ, गांधार हैं। (स्थान के ऊर्ध्वभाग में) पंचम, धैवत, निषाद (षड्ज, ऋषभ, गांधार के परिमाणों की आवृत्तिमात्र) हैं। मध्यम तो इन स्वरों के बीच में स्थित होने के कारण 'ध्रुव' या अचल है।'

इन शब्दों से स्पष्ट है कि स्वरों में पारस्परिक अंतर नौ या तेरह श्रुतियों का हो और वे दो सहश या समश्रुतिक भी हों तो संवादी माने जाएँगे। जैसे :—

उदात्त	स्वरित	अनुदात्त
षड्ज	ऋषभ	गांधार
पंचम	धैवत	निषाद

यहाँ उदात्त, स्वरित और अनुदात्त क्रम में स्वरों के पूर्वोक्त आरोहात्मक त्रिक सर्वथा संवादी हैं। और :—

स्वरित	अनुदात्त	उदात्त
ऋषभ	गांधार	मध्यम
धैवत	निषाद	षड्ज

जैसे स्वरित, अनुदात्त, उदात्तक्रम में ये त्रिक परस्पर संवादी हैं। पहले दोनों त्रिकों में मध्यम का अभाव है, वहाँ षड्ज का संवादी पंचम है। दूसरे दोनों त्रिकों में पंचम का अभाव है और षड्ज-मध्यम परस्पर संवादी हैं। इनके सामवेद-प्रयोज्य अवरोहात्मक क्रम में 'सांनिध' या 'मगरे' में स्वर क्रमशः उदात्त, अनुदात्त, स्वरित हैं।

स्वरों के ऐसे क्रमिक और आरोहात्मक दो त्रिक बन ही नहीं सकते, जिनमें से एक के अंत में मध्यम और दूसरे के अंत में निषाद हो और उन दोनों त्रिकों के स्वरों का परिमाणक्रम सदृश हो। ऋषभ, गांधार, मध्यम में क्रम स्वरित (त्रिश्रुति), अनुदात्त (द्विश्रुति) और उदात्त (चतुःश्रुति) क्रम से स्वर हैं और पंचम, धैवत, निषाद में क्रम उदात्त (चतुःश्रुति), स्वरित (त्रिश्रुति) और अनुदात्त (द्विश्रुति) है।

सीधी सी बात यह है कि मध्यम उदात्त या चतुःश्रुति है और निषाद अनुदात्त या द्विश्रुति है, इसलिए मध्यम-निषाद में षड्ज-मध्यम जैसा अंतर होते हुए भी संवाद नहीं। षड्ज और मध्यम दोनों उदात्त या चतुःश्रुतिक हैं, फलतः उन दोनों में संवाद-संबंध है।

षाडव और औडुव के निर्माण में कुछ नियम

जातियों में जो अंश, स्थायी, वादी अर्थात् आधारस्वर होता है, उसके संवादी स्वर के लोप से षाडव रूप नहीं बनता, अर्थात् अंश स्वर के संवादी स्वर का लोप नहीं किया जा सकता। यदि मध्यम अंश हो तो निषाद के लोप से षाडव रूप बनाया जा सकता है, क्योंकि मध्यम-निषाद में नौ श्रुतियों का अंतर होने पर भी मध्यम चतुःश्रुतिक है और निषाद द्विश्रुतिक, इसलिए इन दोनों में संवाद का अभाव है। मध्यम-ग्राम में ऋषभ-धैवत का अंतर त्रयोदशश्रुति न होने पर भी ऋषभ त्रिश्रुतिक है और धैवत चतुःश्रुतिक, इसलिए धैवत के अंश होने पर ऋषभ का लोप करके षाडव रूप बनाया जा सकता है।

महामाहेश्वर के शब्द हैं :—

यथा मध्यमनिषादयोर्नसंवादित्वं सत्यपि त्रयोदशनवान्तरत्वे अत एव षड्जमध्यमायां मध्यमेंऽशे न षाडवस्य निषादलोपकृतस्यापवादः। मध्यमग्रामे च न ऋषभधैवतयोः तेन कैशिक्यां धैवतेंऽशेऋषभकृतस्य न षाडवस्यापवादः।

अर्थात्—'जैसे कि मध्यम-निषाद में नौ (और निषाद-मध्यम में) तेरह श्रुतियों का अंतर होने पर (इन दोनों स्वरों में परस्पर) संवादित्व नहीं, इसी लिए षड्ज-मध्यमा जाति में मध्यम अंश (आधार स्वर) होने पर निषाद के लोप से बननेवाले षाडव रूप का अपवाद नहीं होता और मध्यम-ग्राम में (ऋषभ की त्रिश्रुतिकता और धैवत की चतुःश्रुतिकता के कारण, तेरह श्रुतियों का अंतर होने पर भी) ऋषभ-

धैवत परस्पर संवादी नहीं, अतः (मध्यमग्रामीय) कैशिकी जाति में धैवत अंश होने पर ऋषभ के लोप से बननेवाली षाडव अवस्था का अपवाद नहीं होता।'

किसी भी षड्जग्रामीय मूर्च्छना के षड्ज, ऋषभ, गांधार और मध्यम उससे चौथी मूर्च्छना के पंचम, धैवत, निषाद और षड्ज, तारों को बिना उतारे-चढ़ाए ही, बन जाते हैं। इसलिए इन दोनों चतुष्कों के स्वर क्रमशः (अर्थात् षड्ज-पंचम, ऋषभ-धैवत, गांधार-निषाद, मध्यम-षड्ज) परस्पर संवादी हैं। दोनों चतुष्कों में स्वर-क्रम चतुःश्रुतिक, त्रिश्रुतिक, द्विश्रुतिक और चतुःश्रुतिक है।

७. श्रुतिनिदर्शन

'नाट्यशास्त्र' के शब्द हैं :—

मध्यमग्रामे तु श्रुत्यपकृष्टः पंचमः कार्य्यः। एवं श्रुत्युत्कर्षादपकर्षाद्वा यदन्तरं मार्दवादायतत्वाद्वा तत्प्रमाणश्रुतिः।

अर्थात्—'मध्यम ग्राम में तो पंचम को श्रुति के अपकर्ष से युक्त करना चाहिए। इस प्रकार श्रुति के उत्कर्ष या अपकर्ष से अथवा मार्दव और आयतत्व से जो अंतर होता है, वह **प्रमाण श्रुति** है।'

इस स्थल पर उत्कर्ष, अपकर्ष, मार्दव, आयतत्व इत्यादि शब्दों की व्याख्या करते हुए महामाहेश्वर कहते हैं :—

मार्दवं तंत्र्याः शिथिलीकरणं विपरीतत्वमायतत्वं क्रियत इत्याह। श्रुतेः शब्दस्य उत्कर्षस्तीव्रता अपकर्षो मंदता, तद्हेतुत्वात् मार्दवायतत्वे तु द्वि अपि तथोक्ते। एवं तीव्रत्वमन्दत्वहेतुभ्यां मार्दवायतत्वाभ्यां यदंतरं यो विशेषावबोधः प्रमाणं निश्चायकं यस्याः सा श्रुतिः। प्राक्तनस्यध्वनेर्लक्षण्यं यावता हीनेनाधिकेन या तीव्रमन्दात्मनारूपेण लक्ष्यते सा श्रुतिरिति यावत्। यद्यपि परमाणुतोऽप्युत्कर्षापकर्षो वा भवेद्ध्वनेर्विशेषस्तथापि नासौ गृहातु पार्य्यते।

अर्थात्—'यह कहते हैं कि **मार्दव** 'तंत्री का ढीला करना' और कसना **आयतत्व** है। श्रुति (अर्थात्) शब्द का **उत्कर्ष** (तो) तीव्रता (ऊँचाई या तीखापन) है और **अपकर्ष** मंदता है, इसी (स्पष्टीकरण के) लिए **मार्दव** (तंत्री की शिथिलता) और आयतत्व (तंत्री का कसा जाना) भी कह दिए। इस प्रकार तीव्रत्व-मंदत्व के कारण (तंत्री के) मार्दव और आयतत्व से (ध्वनि के जिस) विशेष (अंतर या ऊँचाई-नीचाई) का बोध होता है, वह जिसका प्रमाण है वह श्रुति है। अर्थात् पूर्ववर्तिनी ध्वनि अपकृष्ट ध्वनि की अपेक्षा जितने कम-अधिक अथवा तीव्र-मंद रूप से लक्षित होती है, वह श्रुति है। यद्यपि ध्वनि का उत्कर्ष या अपकर्ष परमाणु के बराबर भी हो सकता है, तथापि कानों द्वारा उसका ग्रहण नहीं किया जा सकता। (अतः श्रुति उस अंतर को कहेंगे, जो श्रवणेन्द्रियग्राह्य हो।)

इसी स्थल का और स्पष्टीकरण करते हुए महामाहेश्वर ने कहा है :—

लक्षणीयस्यैव विशेषस्य श्रुतिरूपमिति ग्रहणं विशेषणमुपात्तमुत्कर्षशब्देन, प्रकरणाच्चापकर्षस्यापि लभ्यत इति। वीणाद्वये स्थिते एकस्यां वीणायां तंत्र्यामुत्कृष्टायां स्वरस्योत्कर्षोऽपरस्य स्थितवीणातंत्रीस्वरस्यापकर्षो लक्ष्यते। तस्मिन् च लक्ष्यमाणेऽपकर्षे द्वितीयवीणास्वरस्योत्कर्षो

लक्षणीयो भवति । आयतत्वादुत्कर्षापकर्षौ लक्ष्यौ भवतः । एवं मार्दवादपि वीणाद्वयायत्तमेवेद मुत्कर्षापकर्षत्वं दर्शयितुं यथासंख्यं शंकां निराकर्त्तुं मार्दवायतत्वाद्वेत्युक्तम् ।

अर्थात्—"(ध्वनियों का) पहचाने जाने योग्य विशिष्ट अंतर ही श्रुति रूप है, उत्कर्ष शब्द से श्रुति का यही विशेषण प्राप्त हुआ, अपकर्ष शब्द से भी श्रुति का पहचाने जाने योग्य होना ही सिद्ध होता है। दो वीणाओं के विद्यमान होने पर, एक वीणा पर तंत्री चढ़ा चुकने पर स्वर का उत्कर्ष (ऊँचापन) और पूर्वावस्था में स्थित दूसरी वीणा पर गुंजित होनेवाले स्वर का अपकर्ष दृष्टिगोचर होता है। उस (यथावस्थ) वीणा के अपकर्ष पर ध्यान जमाने से अन्य वीणा के स्वर का उत्कर्ष दिखाई देता है। (इस प्रकार एक ही वीणा पर) आयतत्व से (एक वीणा पर) उत्कर्ष और (दूसरी वीणा पर) अपकर्ष का दर्शन होता है। मार्दव (एक वीणा के स्वर को उतारने) से भी दोनों वीणाओं में सापेक्ष उत्कर्ष और अपकर्ष दिखाने और क्रमशः शंका का निराकरण करने के लिए 'नाट्यशास्त्र' में मार्दव अथवा आयतत्व से (जो अंतर दिखाई देता है, उस अंतर को श्रुति) कहा है।

'श्रुतिनिदर्शन' शब्द में निदर्शन शब्द का स्पष्टीकरण करते हुए महामाहेश्वर कहते हैं :—

निश्चिततया दृश्यंते येनोपायेन तन्निदर्शनम् । यथाहि प्रथमदर्शनेन रक्तयोर्जात्याजात्ययोरेव चोत्कर्षापकर्षवतोर्विशेषो गृहीत एव । किं तु परस्पर विशेषदिदृक्षावधानप्रयत्नबलात्तद्विलोक्य द्वितीयस्य विलोकनं पुनः प्रथमस्य पुनर्द्वितीयस्येत्यनेनानुसंधानबलेन निश्चितस्तद्विशेषप्रत्ययो जायते योऽसाम्यधिक इति भण्यते । प्रकृतेऽपि तंत्रीद्वये उत्कर्षापकर्षवति कस्मिंश्चिदाकृते यः शब्दः प्रतीयते, तस्य परस्परविवेकायावधारयिष्णोर्दोलागमनवद्यत्पुनः पुनराकर्षणं तत्कृतोऽनुसंधानबलेन परमः प्रत्ययः स्फुटं तद्गतविशेषग्राही जायेत, तन्निदर्शनमुक्तम् ।

अर्थात्—"जिस उपाय से (श्रुतियाँ) निश्चित रूप में दिखाई पड़ती हैं, वह निदर्शन है। जैसे प्रथम दर्शन के द्वारा पहचाने हुए जातीय और अजातीय, उत्कृष्ट अथवा अपकृष्ट पदार्थों की विशेषता का ज्ञान हो ही जाता है, परंतु परस्पर विशेषता को देखने की इच्छा से सावधानतापूर्वक किए हुए प्रयत्न की शक्ति से, पहले को देखकर दूसरे को देखने, फिर पहले को देखने, फिर दूसरे को देखने, इस प्रकार किए हुए अनुसंधान के बल से (दोनों पदार्थों की पृथक्-पृथक्) विशेषता का जो विश्वास हो जाता है, वह (सरसरी दृष्टि से देखी हुई विशेषता की अपेक्षा) अधिक है, ऐसा कहा जाता है। प्रस्तुत स्थल में भी उत्कर्ष और अपकर्ष से युक्त दोनों तंत्रियों में से एक को सुनने पर, जिस शब्द की प्रतीति होती है, दूसरे शब्द की अपेक्षा उस शब्द की विशेषता का अवधारण करने से जिस नाद का भूले के समान, जो पुनः-पुनः आकर्षण (होता है), अनुसंधान के बल से उस आकर्षण के द्वारा उस विशिष्ट ध्वनि की विशेषता में परम विश्वास हो जाता है।"

महामाहेश्वर सप्तकस्थापन को प्रथम सारणा कहते हैं। सप्तक-स्थापन की विधि हम बता चुके हैं। महामाहेश्वर के वचन हैं :—

तत्र प्रथमा सारणा साधुकारं ध्रुवकवीणा साधयति, द्वितीया श्रुतेरियत्तां, तृतीयां श्रुति चतुष्कं बोधयति, चतुर्थी श्रुतिषट्कं, पंचमी द्वादशकमिति सारणापंचकमिति तात्पर्यम् ।

अर्थात्—"प्रथम सारणा भलीभाँति ध्रुववीणा की सिद्धि करती है (ध्रुववीणा पर स्वरों की स्थापना यथापरिमाण करती है), द्वितीय सारणा श्रुति की इयत्ता सिद्ध करती है, तीसरी सारणा (गांधार और निषाद की) चार श्रुतियों का बोध कराती है, चौथी सारणा (ऋषभ और धैवत की) छह श्रुतियों का बोध कराती है और पाँचवीं सारणा (मध्यम, पंचम और षड्ज) बारह श्रुतियों का बोध कराती है।"

'नाट्यशास्त्र' के शब्द हैं :—

द्वे वीणे तुल्यप्रमाणतंन्त्र्युपवादनदंडमूर्च्छने कृत्वा षड्जग्रामाश्रिते कार्ये । तयोरंयतरस्यां पंचमस्यापकर्षे श्रुतिं मध्यमग्रामिकीं कृत्वा तामेव पंचमस्य श्रुत्युत्कर्षवशात् षड्जग्रामिकीं कुर्यात् । पंचमश्रुतिरपकृष्टा भवति ।

अर्थात्—"समान लंबाई-चौड़ाई, तुल्य (संख्या और मोटाई में सदृश) तंत्री समूह, (सदृश) उपवादन दंड और एक जैसी मूर्च्छना से युक्त दो वीणाओं पर षड्ज-ग्राम मिला लेना चाहिए। उन दोनों में से एक (वीणा में) पंचम का अपकर्ष (ऋषभ के साथ संवाद करके) करने से (पंचम की) श्रुति को मध्यमग्रामिकी बनाने के बाद, उसी श्रुति को, पंचम की श्रुति के उत्कर्ष (सप्तक के सभी स्वरों को मध्यमग्रामीय पंचम के आधार पर उतारकर एक श्रुति उतरे हुए षड्जग्रामीय सप्तक की स्थापना चल वीणा पर करने) से इस उतरे हुए षड्ज की अपेक्षा पंचम को षड्जग्रामीय बना देना चाहिए। इस प्रकार चलवीणा के समस्त स्वरों का अपकर्ष उतना ही हो जाएगा जितना अपकर्ष ध्रुववीणा के पंचम की अपेक्षा चलवीणा के पंचम का है।"

मध्यमग्रामीय पंचम का उत्कर्ष चलवीणा के मध्यम के उत्तर जाने के परिणाम-स्वरूप, चलवीणा पर पुनः चतुःश्रुतिक हो जाता है।

इस अवसर पर महामाहेश्वर की व्याख्या है :—

वीणायामपरस्यां पंचमतंत्री श्रुतिमात्रं शिथिलीकार्या । तदा मध्यमग्रामो जायते । अनंतरं मध्यमादीनां सर्वस्वराणां श्रुतिमेकां पातयेत्, येन षड्जग्राम एव भवति, एवं ध्रुवकवीणायां चलवीणायां वा स्वरेषु भण्यमानेषु श्रुतिरधिका न्यूना च प्रत्यक्षणेनानुसंधानबलाल्लक्षणीया भवति । तदाह पंचमश्रुतिरपकृष्टा भवति, सर्वस्वरेभ्य इति शेषः । सा च प्रत्यक्षगम्या गुणवतीतिभावः । यद्यपि परमाणुमात्रेऽपि स्थानान्तरे योगिप्रायसमधिगम्यवैलक्षण्यं भवति, तथापि यद्वैलक्षण्यं श्रुति शब्दवाच्यमिति दर्शयन् श्रुतिसंख्यापरिज्ञानार्थं श्रुतिचतुष्टयोपलब्धिं दर्शयति ।

अर्थात्—"दूसरी (चल) वीणा में पंचम की तंत्री को श्रुतिमात्र शिथिल करना चाहिए। तब मध्यमग्राम हो जाता है। तत्पश्चात् मध्यम इत्यादि समस्त स्वरों की (पंचम के आधार पर षड्ज, इस षड्ज के आधार पर मध्यम, इस मध्यम के आधार पर निषाद और धैवत, और इन निषाद और धैवत के आधार पर गांधार और ऋषभ की)

एक श्रुति उतार देना चाहिए, जिससे (चलवीणा पर) षड्जग्राम ही होता है। इस प्रकार ध्रुववीणा और चलवीणा पर स्वरों को छेड़े जाते समय (ध्रुववीणा पर) ऊँची और (चलवीणा पर) नीची श्रुति अनुसंधानबल से प्रत्यक्षतया पहचाने जाने योग्य होती है, इसी लिए 'नाट्यशास्त्र' ने कहा है कि सब स्वरों से पंचम स्वर की (श्रुति के सामान ही) श्रुति का अपकर्ष हो जाता है। वह प्रत्यक्षगम्य और अपने विशिष्ट गुण से युक्त होती है, यह तात्पर्य है। यद्यपि परमाणुमात्र स्थानांतर होने पर भी (ध्वनि की) योगिसदृश मानवों के द्वारा जानी जाने योग्य विलक्षणता होती है, परंतु श्रुति शब्द से जिस विलक्षणता का बोध होता है, उसका दर्शन कराता हुआ ('नाट्य-शास्त्र') श्रुतिसंख्या के निश्चित ज्ञान के लिए (अगली सारणा में) चार श्रुतियों की उपलब्धि दिखलाता है।"

अगली सारणा के लिए 'नाट्यशास्त्र' के शब्द हैं :—

पुनरपि तद्वदेवापकर्षेत् यथा गांधारनिषादवन्तावितरस्यामृषभ धैवतौ प्रवेश्यतः द्विश्रुत्यधिकत्वात् ।

अर्थात्—"फिर भी उसी प्रकार (उतना नहीं) अपकर्ष करे, जिससे (चल-वीणा के) निषाद और गांधार दूसरी (ध्रुव) वीणा के ऋषभ-धैवत में, दो श्रुति ऊँचे होने के कारण प्रविष्ट हो जाएँगे (समानध्वनि हो जाएँगे।)"

महामाहेश्वर का कथन है :—

चलवीणायां पंचमोपक्रमं सर्वस्वराणामेकां श्रुतिं पातयेत्, येषु चलवीणागतौ निषाद-गांधारौ ध्रुववीणागताभ्यां धैवतर्षभाभ्यां समस्थानतयापकृष्टत्वं गच्छतः यतो ध्रुवकवीणायां द्वाभ्यां श्रुतिभ्यां सर्वे स्वरा अधिकाः। एवं धैवतवैलक्ष्येण निषादगांधारयोरन्यवीणागतधैवतर्षभ-साम्यं जायते। तदेव श्रुतिरित्युक्तं भवति। अत एव श्रुत्यादिव्यवहारोऽपि लक्ष्ये यो दृश्यते न स निर्मूलः तथाहि तावन्न्यूनाधिकत्वे स्वरे विनाशो भवतीति विशिष्टप्रत्युपयोगाच्छ्रुतिरिति कथ्यते। पूर्वादिषु नैवम्। एवं श्रुतेश्च स्वरूपं ज्ञातम्। निषादगांधारगं प्रत्येकं यच्छ्रुतिद्वयं तच्चधैवतमिश्रीभावाभिज्ञानेन स्फुटमेवोपलब्धमिति तच्छ्रुतयः प्रत्यक्षीभूता भवंति।

अर्थात्—"चलवीणा में पंचम इत्यादि सभी स्वरों की एक श्रुति कम कर देना चाहिए, जिन स्वरों में चलवीणा के गांधार और निषाद, ध्रुववीणा के धैवत और ऋषभ में मिल जाने के कारण अपकृष्ट हो जाएँगे, क्योंकि ध्रुववीणा के समस्त स्वर चलवीणा के समस्त स्वरों की अपेक्षा दो-दो श्रुति ऊँचे हैं। इस प्रकार (चलवीणा के) धैवत की विलक्षणता के कारण (चलवीणा के) निषाद और गांधार का साम्य (इस सारणा में) ध्रुववीणा के धैवत और ऋषभ से होता है, वही 'श्रुति' कहा जाता है। अतएव लक्ष्य में जो श्रुति इत्यादि का व्यवहार दिखाई देता है, वह निर्मूल नहीं है। तो स्वर में न्यूनाधिकत्व होने से उसके (पूर्वरूप का) जो विनाश होता है, वह श्रुति कहलाता है। (इस सारणा से) पूर्ववर्ती (अर्थात् मध्यमग्राम का बोध करानेवाली सारणा के) स्वरों (के स्वरत्व) में (विनाश) ऐसा नहीं होता। इस प्रकार (इस सारणा में प्राप्त) श्रुति का स्वरूप ज्ञात हो गया। निषाद और गांधार दोनों में ही दो-दो श्रुतियाँ

हैं, (चलवीणा के) निषाद का एकीभाव (ध्रुववीणा के) धैवत में हो जाने के और उस मिश्रीभाव के निश्चित ज्ञान से वे दो श्रुतियाँ स्पष्ट रूप में उपलब्ध हो गईं, इस प्रकार श्रुतियाँ प्रत्यक्ष हो जाती हैं।"

मध्यमग्रामीय पंचम की उपलब्धि ऋषभ के साथ उस पंचम का संवाद करके उतारने से होती है। उस सारणा में चलवीणा का कोई स्वर ध्रुववीणा के स्वरों में लीन नहीं होता, प्रत्युत सभी स्वर अपकृष्ट पंचम के आधार पर एक-एक श्रुति उतार दिए जाते हैं और चलवीणा पर इस प्रकार जिस षड्जग्रामीय सप्तक की सिद्धि होती है, उसका प्रत्येक स्वर ध्रुववीणा के स्वरों से एक श्रुति उतरा हुआ है। इस सारणा में जिस 'श्रुति' की प्राप्ति होती है, उसका एक विशिष्ट प्रमाण है और उसकी प्राप्ति का आधार भरतोक्त मध्यमग्रामीय ऋषभ-पंचम-संवाद है। हम इस श्रुति को **प्रमाण-श्रुति** कहते हैं।

गांधार और निषाद की द्विश्रुतिकता सिद्ध करनेवाली सारणा का आधार ऋषभ-पंचम-संवाद नहीं, अपितु पूर्ववर्तिनी सारणा के स्वरों का इतना उतारा जाना है, जिससे कि चलवीणा के निषाद-गांधार ध्रुववीणा के धैवत-ऋषभ में मिल जाएँ, स्पष्ट है कि कारण-भेद से कार्य-भेद होगा। अतः इस सारणा में श्रुति के जिस रूप का ज्ञान होता है, उसका परिमाण प्रमाणश्रुति के परिमाण से भिन्न और अधिक है। आचार्य अभिनवगुप्त ने इस सारणा की टीका में इसी लिए विभिन्न वीणाओं के निषाद और ऋषभ के साम्य को ('प्रमाण श्रुति' का ज्ञान करानेवाली सारणा के निषाद और प्रस्तुत सारणा के उस निषाद के अंतर को जो कि ध्रुववीणा के धैवत में विलीन हो रहा है) भी श्रुति कहा है। वे कहते हैं कि प्रमाणश्रुति का ज्ञान करानेवाली सारणा के पूर्वरूप का विनाश ऐसा नहीं होता, जैसा कि प्रस्तुत सारणा के पूर्वरूप का विनाश होता है, अर्थात् ध्रुववीणा के स्वरों की अपेक्षा, प्रमाणश्रुति का ज्ञान करानेवाले स्वरों की इतनी दूरी नहीं होती, जितनी दूरी कि प्रमाणश्रुति का ज्ञान करानेवाली सारणा के स्वरों की अपेक्षा निषाद-गांधार की द्विश्रुतिकता सिद्ध करनेवाली सारणा के स्वरों की होती है। अस्तु, प्रस्तुत सारणा में प्राप्त श्रुति को हम 'महती' श्रुति कहते हैं।

जो लोग ये माने बैठे हैं कि भारतीय दृष्टि समस्त श्रुतियों को समान मानती है, वे सर्वथा भ्रम में हैं। छोटा-बड़ा या मँझोला हो, आम एक आम होता है। प्रत्येक आम का अपना एक व्यक्तित्व है, उसका आधार केवल भार या आकार नहीं है। सवा सौ पौंड भार का एक दुर्बल और ठिगना मनुष्य भी 'एक' मनुष्य है और ढाई सौ पौंड भार का विशालकाय व्यक्ति भी 'एक' मनुष्य है।

स्वर चाहे द्विश्रुतिक हो, त्रिश्रुतिक हो और चाहे चतुःश्रुतिक, वह 'एक' स्वर है, इसी प्रकार प्रक्रिया भेद से प्राप्त होनेवाली विभिन्न परिमाणों से युक्त श्रुतियों में प्रत्येक श्रुति 'एक' श्रुति है। महामाहेश्वर ने दूसरे शब्दों में यही बात कही है।

धैवत और पंचम की त्रिश्रुतिका सिद्ध करनेवाली सारणा के संबंध में 'नाट्यशास्त्र' कहता है :—

पुनरपि तद्वदेवापकृष्टायां धैवतर्षभावितरस्यां पंचमषड्जौ प्रवेक्ष्यतः त्रिश्रुत्यधिकत्वात्।

अर्थात्—"पुनः उसी प्रकार (चलवीणा के) अपकृष्ट किए जाने पर (चलवीणा के) धैवत-ऋषभ (ध्रुववीणा के) पंचम-षड्ज में प्रविष्ट हो जाएंगे, क्योंकि ध्रुववीणा के समस्त स्वर (अब चलवीणा के स्वरों की अपेक्षा) तीन-तीन श्रुति ऊँचे हैं।"

महामाहेश्वर का कथन है :—

पुनरपि चलवीणायां श्रुतिर्यदापकृष्यते सर्वस्वरेभ्यस्तदा च वीणागतौ धैवतर्षभौ ध्रुववीणागताभ्यां पंचमषड्जाभ्यां यथाक्रमं साम्यं गच्छतः। यतोध्रुववीणायां स्वरास्त्रिसृभिः श्रुतिभिरधिकाः। एवं स्वरद्वये प्रत्येकं श्रुतित्रयं स्फुटीकृतमिति षट्श्रुतय उपलब्धाः।

अर्थात्—"पुनः चलवीणा में जब सब स्वरों से श्रुति अपकृष्ट की जाती है, तब (चल) वीणा के धैवत-ऋषभ ध्रुववीणा के पंचम-षड्ज से यथाक्रम सादृश्य प्राप्त करते हैं, क्योंकि ध्रुववीणा में स्वर तीन श्रुति चढ़े हुए हैं। इस प्रकार (धैवत-ऋषभ) दोनों में स्वरों (में से प्रत्येक) में तीन-तीन श्रुतियाँ स्पष्ट कर दी गईं, इस प्रकार (इस सारणा में) छह श्रुतियों की उपलब्धि हुई।"

प्रस्तुत सारणा में श्रुति-प्राप्ति का आधार प्रमाणश्रुति और महती श्रुति की प्राप्ति के आधार से भिन्न है, अतः इस सारणा में प्राप्त श्रुति का परिमाण भी प्रमाणश्रुति और महती श्रुति के परिमाण से भिन्न है। इस सारणा में प्राप्त श्रुति को हम 'उपमहती' श्रुति कहते हैं, यदि महती श्रुति के परिमाण में से एक प्रमाणश्रुति परिमाण घटा दिया जाए, तो अवशिष्ट परिमाण उपमहती श्रुति है। दूसरी भाषा में, एक उपमहती और एक प्रमाणश्रुति का योग एक महती श्रुति के बराबर है।

अंतिम सारणा के विषय में 'नाट्यशास्त्र' के शब्द हैं :—

तद्वत्पुनरपकृष्टायां पञ्चममध्यमषड्जा इतरस्यां मध्यमगान्धारनिषादवतः प्रवेक्ष्यन्ति चतुःश्रुतिभिरधिकत्वात्।

अर्थात्—"उसी प्रकार चलवीणा के पुनः अपकृष्ट किए जाने पर पंचम, मध्यम, षड्ज क्रमशः ध्रुववीणा के मध्यम, गांधार, निषाद में प्रविष्ट हो जाते हैं, क्योंकि (अब चलवीणा के स्वरों की अपेक्षा ध्रुववीणा के स्वर) चार-चार श्रुति ऊँचे हैं।

महामाहेश्वर कहते हैं :—

ततोऽध्रुववीणायां सर्वस्वरेभ्यः श्रुत्यवकर्षणेन तद्गताः पंचममध्यमषड्जा ध्रुववीणागतैर्यथाक्रमं मध्यमगांधारनिषादैः स्थानसाम्ये मिलन्ति। यतस्तस्या वीणायाः सर्वे स्वराश्चतसृभिः श्रुतिभिरधिकाः। एवं स्वरत्रये प्रत्येकं चतस्रः श्रुतयः स्फुटीकृता इति द्वादश श्रुतय उपलब्धा भवन्ति। तेन चतस्रः, षट्, द्वादशेति द्वाविंशतेरुपलाभो जातः।

अर्थात्—"तत्पश्चात् चलवीणा में सब स्वरों से एक-एक श्रुति के अवकर्षण से चलवीणा के पंचम-मध्यम-षड्ज क्रमशः ध्रुववीणा के मध्यम-गांधार-निषाद से, स्थानसाम्य (ध्वनिसाम्य) होने पर, मिल जाते हैं, क्योंकि ध्रुववीणा के सभी स्वर (चलवीणा के स्वरों की अपेक्षा) चार श्रुति ऊँचे हैं। इस पंचम, मध्यम, षड्ज में से प्रत्येक

स्वर में चार-चार श्रुतियाँ स्पष्ट करदी गई, इस प्रकार (इस सारणा में) बारह श्रुतियों की उपलब्धि होती है। अतः (गांधार-निषाद में) चार, (धैवत-ऋषभ में) छह, (पंचम-मध्यम-षड्ज में) बारह, इस प्रकार बाईस (४+६+१२=२२) श्रुतियों की उपलब्धि होती है।

इस सारणा में जिस श्रुति का अपकर्ष होता है, वह प्रमाणश्रुति ही है।

सेवर्ट-सिद्धांत के द्वारा स्पष्टीकरण

यदि 'स' के पश्चात् से 'सं' के पश्चात् तक की दूरी को ३०१ समान घटकों में बाँट दिया जाए, तो महती श्रुति का परिमाण २३ घटक, उपमहती का परिमाण १८ घटक और प्रमाणश्रुति का परिमाण ५ घटक है।

षड्ज, मध्यम और पंचम अपने पूर्ववर्ती स्वरों को अपेक्षा ५१ (५+१८+२३+५=५१) घटक ऊँचे हैं, इस ऊँचाई में श्रुति-क्रम प्रमाणश्रुति, उपमहती श्रुति, महती श्रुति और प्रमाणश्रुति है।

ऋषभ-धैवत अपने पूर्ववर्ती स्वरों की अपेक्षा ४६ (१८+२३+५=४६) घटक ऊँचे हैं, इस ऊँचाई में श्रुति-क्रम उपमहती श्रुति, महती श्रुति और प्रमाणश्रुति है।

गांधार-निषाद अपने पूर्ववर्ती स्वरों से २८ (२३+५=२८) घटक ऊँचे हैं, इस ऊँचाई में श्रुति-क्रम महती श्रुति और प्रमाणश्रुति है।

संक्षेप में देखा जाए तो स्थिति यों है :—

प्रमाणश्रुति,		उपमहती श्रुति,		महती श्रुति,		प्रमाणश्रुति
५	+	१८	+	२३	+	५=५१ (=चतुःश्रुति या उदात्त)
×		१८	+	२३	+	५=४६ (=त्रिश्रुति या स्वरित)
×		×		२३	+	५=२८ (=द्विश्रुति या अनुदात्त)

अर्थात् प्रत्येक चतुःश्रुति या उदात्त स्वर की आदिम या अंतिम श्रुति का परिमाण ५ घटक है, यह केशाग्र या कैशिक अंतर कहलाता है।

द्विश्रुतिक और त्रिश्रुतिक अर्थात् स्वरित और अनुदात्त स्वरों की अंतिम श्रुति प्रमाणश्रुति है।

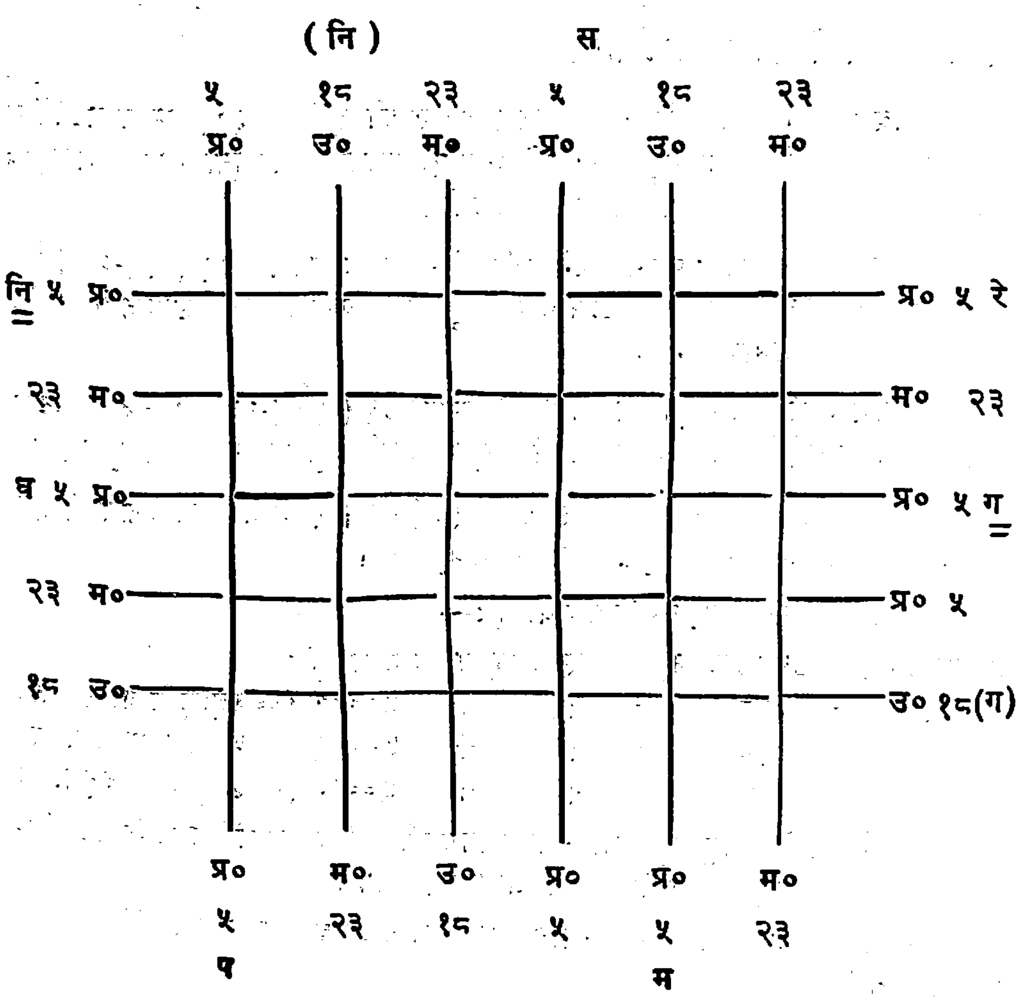
उपमहती श्रुति द्विश्रुति स्वरों में नहीं है और एक महती श्रुति प्रत्येक स्वर में है।

इस प्रकार सप्तक में प्रमाणश्रुतियाँ दस हैं, क्योंकि प्रत्येक स्वर की अंतिम तथा षड्ज, मध्यम और पंचम की आदिम श्रुति का परिमाण भी ५ घटक है।

उपमहती श्रुतियाँ एक सप्तक में पाँच हैं, क्योंकि गांधार और निषाद में उपमहती श्रुति का अभाव है।

एक सप्तक में सात महती श्रुतियाँ हैं, क्योंकि प्रत्येक स्वर में उपान्त्य (अंतिम से पहली) श्रुति महती है। इस प्रकार :—

१०, प्रमाण-श्रुति ५×१०=५० घटक
५, उपमहती-श्रुति १८×५=९० घटक
७, महती-श्रुति २३×७=१६१ घटक
३०१ (योग)



यह मंडल-प्रस्तार बताता है :—

(क) प्रत्येक स्वर प्रमाणश्रुति पर स्थित है, अर्थात् प्रत्येक स्वर अपनी उपान्त्य (अंतिम से पहली) श्रुति से पाँच घटक ऊँचा है।

(ख) गांधार, मध्यम और निषाद ही ऐसे स्वर हैं, जिनसे अगली श्रुति भी प्रमाणश्रुति है, क्योंकि वह श्रुति मध्यम, पंचम या षड्ज की आदिम श्रुति है।

(ग) चतुःश्रुति स्वरों की प्रथम दो श्रुतियों का परिमाण तेईस (५+१८=२३) घटक है और अंतिम दो श्रुतियों का परिमाण अट्ठाईस (२३+५=२८) घटक।

इसलिए ध–नि, रे-ग, ग-म, नि–सा में पाया जानेवाला द्विश्रुति अंतर तो अट्ठाईस घटक है और ग–ग, या नि–नि में पाया जानेवाला द्विश्रुति अंतर तेईस घटक है।

(घ) रे–ग का अंतर भी इक्यावन घटक (२३+५+५+१८=५१) हैं, इसलिए 'ग' चतुःश्रुतिक है, परंतु इसमें श्रुतिक्रम षड्ज, मध्यम या पंचम-जैसा नहीं है। न तो यह प्रमाणश्रुति पर स्थित है, न इसकी आदिम श्रुति प्रमाणश्रुति है, औरन इसमें उपमहती और महती श्रुति का क्रम वह है, जो कि षड्ज, मध्यम और पंचम में है। इसलिए भरत की भाषा में 'ग' शुद्ध स्वर नहीं है। यह अंतरगांधार कहा जाता है।

(ङ) ध–नि का अंतर भी इक्यावन (२३+५+५+१८=५१) घटक है, परंतु अंतरगांधारवाली विशेषताएँ इसमें भी हैं, इसलिए चतुःश्रुतिकता इस स्वर का भी विकार है, स्वभाव नहीं। यह काकली निषाद कहलाता है।

साधारण गांधार और च्युत मध्यम

(च) प्रयोग की सूक्ष्मता के कारण 'ग' एक प्रमाणश्रुति चढ़ता है, तो 'साधारण गांधार' कहलाता है, ऐसी अवस्था में वह मध्यम की प्रथम श्रुति पर होता है, जिसका परिमाण प्रमाणश्रुति है, ऐसी अवस्था में मध्यम एक प्रमाणश्रुति उतरकर अपनी उपांत्य श्रुति पर आ जाता है और 'च्युत मध्यम' कहलाता है। साधारण गांधार और च्युत मध्यम का प्रयोग गांधार और मध्यम की विशिष्ट संगति का परिणाम है और यह प्रयोग 'मध्यमसाधारण' कहलाता तथा मध्यमग्राम में होता है। मध्यमग्रामीय कैशिकी जाति तथा मध्यमग्रामीय कैशिक रागों में 'मध्यमसाधारण' का प्रयोग होता है।

यह स्मरण रखना चाहिए कि साधारण गांधार और च्युत मध्यम का यह प्रयोग स्थिर अवस्था में नहीं होता, इसलिए ये स्वर अंतरगांधार या काकली निषाद के समान स्थिर रहकर मूर्च्छनाओं में विकार नहीं करते।

साधारण गांधार और च्युत मध्यम का अंतर ४१ घटक हैं, जो कि त्रिश्रुति स्वर के परिमाण से एक प्रमाणश्रुति या पाँच घटक कम है। ४१ घटक किसी भी स्थिर स्वर का परिमाण नहीं, अतः इस अंतराल का प्रयोग सुंदरी के अपांग-विलास की भाँति होता है, जिसका सौंदर्य अस्थिरता में ही निहित है, 'तिरछी नजर' यदि 'परमेनेण्ट' हो जाए, तो विवाह में बाधक होगी।

कैशिक निषाद और च्युत षड्ज

(छ) 'नि' जब प्रयोग की सूक्ष्मता के कारण एक प्रमाणश्रुति चढ़ता है, तब कैशिक निषाद कहलाता है और षड्ज ऐसी अवस्था में एक प्रमाणश्रुति उतरकर च्युत-षड्ज कहलाने लगता है। यह प्रयोग 'षड्जसाधारण' कहलाने लगता है और षड्ज-ग्रामीय षड्जकैशिकी जाति में होता है। इस प्रयोग की भी स्थिर अवस्था नहीं है।

(ज) ऋषभ और धैवत उस अवस्था में चतुःश्रुतिक या उत्कृष्ट कहलाते हैं, जब उनका पूर्ववर्ती स्वर एक प्रमाणश्रुति उतर जाता है। मध्यमग्रामीय पंचम भी उस अवस्था में उत्कृष्ट कहलाता है, जब उसका पूर्ववर्ती स्वर एक प्रमाणश्रुति उतर जाताहै।

ऋषभ, धैवत और मध्यमग्रामीय पंचम की उत्कृष्टता पूर्ववर्ती स्वर के द्वारा छोड़ी हुई श्रुति का ग्रहण करने से होती है, उस अवस्था में ये उत्कृष्ट स्वर अपने स्थान पर स्थिर रहकर ही चतुःश्रुतिक हो जाते हैं और इनमें से प्रत्येक का परिमाण ५१ घटक होता है।

च्युत षड्ज के प्रयोग की अवस्था में ऋषभ उससे ५१ (५+१८+२३+५=५१) के अंतर पर होता है और उत्कृष्ट ऋषभ कहलाता है। उत्कृष्ट ऋषभ की प्रथम श्रुति षड्ज के द्वारा परित्यक्त श्रुति है।

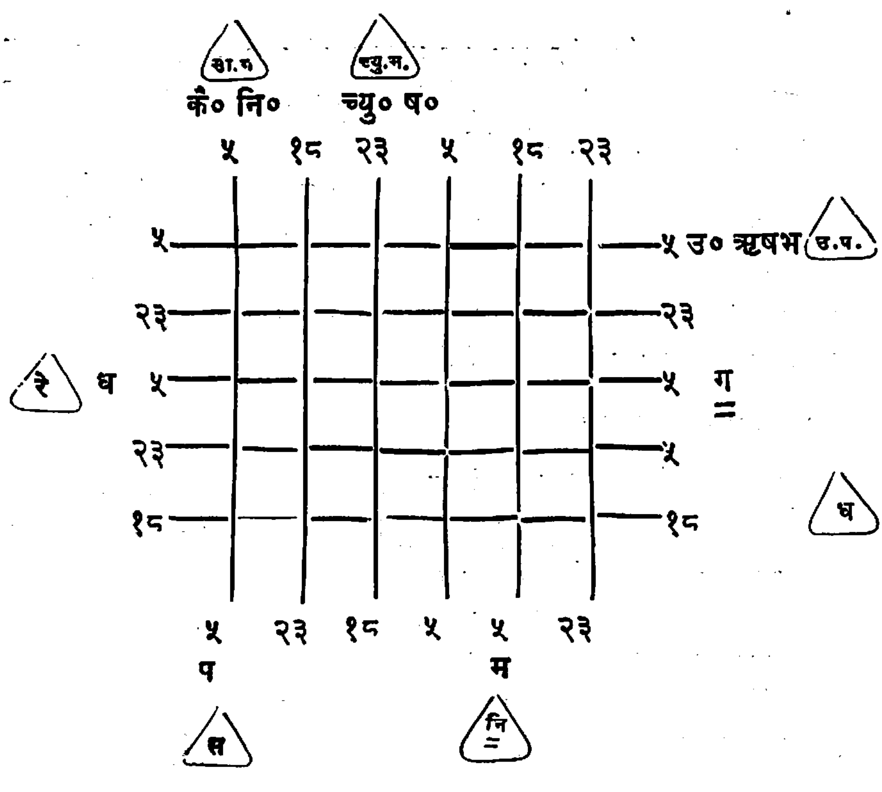
च्युत मध्यम के प्रयोग की अवस्था में मध्यमग्रामीय पंचम, अपने स्थान पर रहकर ही उत्कृष्ट पंचम कहलाता और चतुःश्रुति हो जाता है, क्योंकि वह च्युत पंचम के पश्चात् ५१ (५+५+१८+२३=५१) घटक के अंतर पर होता है।

मध्यमग्रामीय पंचम के पश्चात् धैवत ५१ (५+१८+२३+५=५१) घटक के अंतर पर होने के कारण उत्कृष्ट धैवत कहलाता है।

इस प्रकार ऋषभ, धैवत और पंचम की उत्कृष्टता का कारण उनका अपने स्थान से चढ़ना नहीं, अपितु अवरोह की ओर उनके अंतराल, क्षेत्र या परिमाण में पाँच घटक या एक प्रमाणश्रुति की वृद्धि होना है।

मंडल-प्रस्तार में साधारण गांधार, च्युत मध्यम, कैशिक निषाद, च्युत षड्ज, उत्कृष्ट ऋषभ, उत्कृष्ट धैवत, उत्कृष्ट पंचम की स्थिति इस प्रकार है। मध्यमग्रामीय स्वर त्रिकोण के अंतर्गत हैं :—

कैशिक स्वर-मंडल-प्रस्तार



जो सचमुच जिज्ञासु हैं, उनके लिए 'नाट्यशास्त्र' और महामाहेश्वर के कथन में ये स्थापनाएँ इस भाषा में हैं :—

८. साधारण विधि, अंतरगांधार और काकली निषाद

'नाट्यशास्त्र' के शब्द हैं :—

साधारणमिदानीं व्याख्यास्यामः । तत्र साधारणं नामांतरस्वरता ।

अर्थात्—"अब साधारण की व्याख्या करेंगे । साधारण का अर्थ अंतर-स्वरता है ।

अपने इस कथन पर 'नाट्यशास्त्र' स्वयं प्रश्न उठाता और उत्तर देता है: —

कस्मात् ? द्वयोरंतरे भवति यत्तत्साधारणम् । "छायासु भवति शीतं प्रस्वेदो भवति चातपस्थस्य । न च नागतो वसंतो न च निःशेषः शिशिरकालः" ॥३४॥ इति कालसाधारणता ।

अर्थात्—"(साधारण का अर्थ अंतरस्वरता) क्यों है ? (इस प्रश्न का उत्तर है कि) जो दो के अंतर (पहले से पश्चात् और दूसरे से पूर्व) में होता है, वह साधारण है । जैसे:—

छाँह में तो शीत का अनुभव होता है और धूप में बैठे हुए को पसीना आता है, (तो न तो यही कहा जा सकता है कि) वसंत नहीं आया है (और) न (यही कहा जा सकता है कि) शिशिरकाल पूर्णतया समाप्त हो गया है । यह (स्थिति) काल (ऋतु) की साधारणता है ।"

'नाट्यशास्त्र' के 'अंतर' शब्द का अर्थ 'ठीक बीचो-बीच' नहीं, अपितु 'अंतराल में विद्यमान' है । महामाहेश्वर इस स्थल की व्याख्या करते हुए कहते हैं :—

अंतरेभवः आंतरः, स्वस्थानच्युतपरस्थानसंक्रांतः, स च असौ, स्वररक्तत्वं न विस्वरं, तस्य भावः साधारणमिति । भावप्रधानो निर्देशः साधारण्यमिति यावत् ।

अर्थात्—"अंतर में उत्पन्न 'आंतर' (हुआ अर्थात्) अपने स्थान से हटकर जो अन्य स्वर के स्थान में चला गया वह स्वर अपनी विशिष्ट रंजकता को (प्राप्त हुआ), विस्वरता को नहीं, उसका भाव (स्थिति, दशा, अवस्था) 'साधारण' है। साधारण्य (साधारणता) के रूप में उसका भावप्रधान (भाववाचक संज्ञा-बोधक) निर्देश भी है ।

महामाहेश्वर ने यहाँ यह स्पष्ट कर दिया है कि 'साधारण' स्वरों में उनकी अपनी एक विशिष्ट रंजकता होती है, विस्वरता नहीं । विस्वरतायुक्त ध्वनि को तो स्वर ही नहीं कहा जा सकता । 'नाट्यशास्त्र' ने काल-साधारण का जो दृष्टांत दिया है, उससे यह भी प्रमाणित है कि स्वरों का 'साधारण रूप' अपनी मूल अवस्था के प्रभाव से न पूर्णतया मुक्त होता है और न अन्य स्वर के प्रभाव से पूर्णतया आक्रांत ही होता है ।

'नाट्यशास्त्र' कहता है :—

स्वरसाधारणं काकल्यंतरस्वरौ। तत्र द्विश्रुत्युत्कृष्टो निषादः काकलीसंज्ञो भवति। तद्वद्गांधारोऽन्तरस्वरसंज्ञो भवति।

अर्थात्—"काकली और अंतर स्वर 'स्वरसाधारण' हैं। उनमें दो श्रुति चढ़ा हुआ निषाद काकली नामक होता है। उसी प्रकार गांधार अंतर नामक होता है।"

धैवत से संवाद करके अंतरगांधार और अंतरगांधार से संवाद करके काकली निषाद को दो श्रुति चढ़ाया जा सकता है। षड्ज और पंचम के साथ क्रमशः अंतर-गांधार और काकली निषाद का सहज सप्तश्रुति 'मध्यम-धैवत-भाव' भी है।

महामाहेश्वर इस स्थल पर यों कहते हैं :—

तत्र संज्ञावग्रहणे भेदमाह, व्यवहारार्थं मिमे भिन्ने संज्ञे परमार्थतस्तु द्वयोरपि तीव्रतरत्वात् काकलीत्वम्। यद्वक्ष्यति, कलत्वाच्च काकलीसंज्ञ इति। द्वयोरपि चांतरस्वरत्वम्। यदुक्तं साधारणं नामांतरस्वरता।

अर्थात्—"(दोनों स्वरों का पृथक्-पृथक्) नाम रखने के लिए भेद बताया है (काकली और अंतर के रूप में) दो भिन्न नाम व्यवहार (की सुविधा) के लिए हैं, तात्त्विक रूप में तो दोनों के तीव्रतर (श्रुति चढ़े हुए) होने के कारण (दोनों में ही) काकलीत्व है, जैसा कि (नाट्यशास्त्र) कहेगा, कलत्व के कारण काकली नामक है, दोनों ही स्वरों की अंतरस्वरता भी है, क्योंकि यह कहा जा चुका है कि साधारण का अर्थ अंतरस्वरता है।

काकली और अंतर नामों के विषय में 'नाट्यशास्त्र' कहता है :—

कलत्वाच्च काकलीसंज्ञो भवति, विकृतत्वाच्चानंशः, आप्तोपदेशात्त्व सप्तभ्यो नान्यो नषादवानेव। यथाहि षण्णां रसानामन्यतमः क्षारसंज्ञितस्तथा निषादः काकलीसंज्ञो गांधारश्चांतरसंज्ञो भवति।

अर्थात्—"थोड़ी-सी कलता (तीव्रता) होने के कारण काकली नामक होता है, विकृत होने के कारण अंश स्वर नहीं होता, सात स्वरों के अतिरिक्त कोई अन्य स्वर भी नहीं, अपितु निषाद ही होता है। जैसे छहों (कड़वा, मीठा, चरपरा, खट्टा, कसैला और नमकीन) स्वादों में एक (नमकीन, अधिक तेज होने पर) खारा कहलाता है, उसी प्रकार (तीव्रता के कारण) निषाद काकली नामक और गांधार अंतर नामक होता है।"

अवरोह में अंतर स्वरों का प्रयोग रागों में

काकली निषाद और अंतर गांधार का प्रयोग, जातियों में बताते हुए 'नाट्य शास्त्र' का कथन है :—

अंतरस्वरसंयोगो नित्यमारोहिसंश्रयः।
कार्यो ह्यल्पो विशेषेण नावरोही कदाचन।
क्रियमाणोऽवरोही स्यादल्पो वा यदि वा बहुः।
जातिरागं श्रुतिश्चैव निहन्यादन्तरस्वरः।

अर्थात्—"अंतरस्वर का संयोग सदा आरोही (वर्ण) के आश्रित होता है, उसका प्रयोग विशेषतया अल्प होना चाहिए और अवरोही (वर्ण) में कभी नहीं (होना चाहिए)। यदि अवरोही में (अंतरस्वर का) अल्प या बहुल प्रयोग होगा, तो अंतरस्वर जाति (जातिगान के अदृष्ट फल), 'राग' (दृष्ट फल रंजकता) और श्रुति (स्वरस्थान) का विनाश कर देगा।"

'नाट्यशास्त्र' के कुछ संस्करणों में 'जातिरागं श्रुतिञ्चैव नयन्ते चान्तरस्वराः।' पाठ है, उसका अर्थ होगा—'अवरोह में प्रयुक्त होने पर अंतरस्वर जातियों से बने हुए राग और श्रुति की प्राप्ति करा देते हैं।' जातिरागों में अंतरस्वरों का प्रयोग आरोह-अवरोह दोनों में होता है।

मध्यमग्राम के द्विश्रुति गांधार और त्रिश्रुति पंचम में सप्तश्रुति-संबंध है, यही संबंध षड्ज और अंतरगांधार तथा पंचम और काकली निषाद में भी है। षड्जग्राम से मध्यमग्राम बनाने के लिए द्विश्रुतिगांधार के आधार मध्यम-धैवत-भाव का आश्रय लेकर भी षड्जग्रामीय पंचम को मध्यमग्रामीय पंचम बनाकर प्रमाणश्रुति-अंतर की प्राप्ति की जा सकती है। हमने प्रस्तुत स्थल पर 'अभिनवभारती' का अनुसरण किया है।

'अभिनवभारती' के शब्द हैं :—

साधारणे ऽन्तरस्वराद्य आरोही मध्यमस्तं संश्रित्य ततः ऋषभं जिगमिषुणा यदि आंतरस्वरः प्रयुज्यते, तदासौ सम्यक् श्रुतौ योगो भवति। सदाल्पकार्यविषय एव तु तस्य विनियोगः।

अर्थात्—"अंतरगांधार से प्रारंभ होनेवाले 'साधारण' प्रयोग के होने पर (जो) आरोही मध्यम है, उसपर जाकर ऋषभ का प्रयोग करने के इच्छुक व्यक्ति के द्वारा यदि (इस प्रकार) अंतरस्वर का प्रयोग किया जाता है, तो श्रुति (स्थान) पर यह योग (प्रयोग या जोड़) भली-भाँति होता है। इस अंतरगांधार का प्रयोग सदा अल्प होना चाहिए, यह नियम है।"

संवाद-प्रकरण में महामाहेश्वर ने कहा है :—

तेन काकल्यन्तरप्रयोगेऽपि षड्जादीनां न श्रुत्यपहारः कार्यः। यत्रनिगयोस्साधारणप्रयोगः षड्जमध्यमान्तर्गसनमिव हि तयोः।

अर्थात्—"इसलिए काकली निषाद और अंतर गांधार के प्रयोग के समय षड्ज इत्यादि स्वरों की श्रुतियों का अपाहरण नहीं किया जाना चाहिए। (उस

अवस्था में (काकली निषाद और अंतरगांधार का अंतर्गमन जैसा ही (क्रमशः) षड्ज और मध्यम में होता है।"

'अंतर्गमन' का अर्थ अंदर जाना या प्रवेश है। अंतरगांधार और काकली निषाद के इसी गुण के कारण पाश्चात्यों ने इन्हें प्रवेशक स्वर कहा है।

षड्जसाधारण और मध्यमसाधारण

'नाट्यशास्त्र' और 'अभिनवभारती' में उन शब्दों का तात्पर्य देखा जाना चाहिए।

स्वरसाधारणं द्विविधं, द्वैग्रामिकयं, कस्मात् ? साधारणमत्र स्वरविशेष इति कृत्वा षड्ज-साधारणमुच्यते। एवं मध्यमेऽपि। अस्य तु प्रयोगसौक्ष्म्यात् कैशिकमिति द्वितीयं नाम निष्पद्यते।

अर्थात्—"स्वरसाधारण दो प्रकार का है और दो ग्रामों से सम्बद्ध है। क्यों ? (इसलिए कि) यहाँ साधारण (एक) स्वरविशेष (विशिष्ट स्वर) है, इसलिए षड्ज-साधारण कहा जाता है। इसी प्रकार मध्यम (ग्राम) में (भी मध्यमसाधारण होता है)। प्रयोग की सूक्ष्मता के कारण इसका दूसरा नाम कैशिक भी निष्पन्न होता है।"

इस प्रकार की टीका करते हुए महामाहेश्वर कहते हैं :—

तस्मादित्थमेतदित्यस्मत्परमगुरव उत्पलदेवपादा मन्यन्ते इह तावत्तिस्रो द्वे च चतस्र इत्या-दिना स्वस्थानस्वरूपमुक्तं तच्च रा (गेषु चलति, तर्हि स्वराणां चल) त्वात् पारमार्थिकं प्राकृतरूप-मुच्यते। षड्जश्चतुःश्रुतिक इत्यादौ यावन्निषादो द्विश्रुतिरिति यथा संपूर्णावयवं प्राणिनां रूपं, तेषामेव त्वन्यथा रूपद्वयेऽपि शुद्धं रूपं छिन्नपुच्छमिव शुनो द्विपुच्छत्वं वा। तत्र गांधारनिषादयो-र्विवादित्वात्तदुपक्रमे च विकृतिरुक्ता च, तद्विकृत्या च षड्जमध्यमावपि विकृतौ, पञ्चमस्य त्रिश्रुति-काभिधाने दर्शितैव विकृतिः। तद्द्वारेण धैवतस्यापि ऋषभस्य तु विकृतिर्वक्तव्या। एतदेव दर्शयति 'स्वरसाधारणं द्विविधं द्वैग्रामिकयमिति। यदेतत्काकल्यन्तरलक्षणं द्वयोरपि ग्रामयोः स्वरसा-धारणमुक्तं तद् द्विविधम्। अत्र पृच्छति—कस्मात् ? अयं भावः यदि तत्काकल्यन्तर भेदाद्द्विविधत्वं तर्हि पूर्वमेवोक्तमिति, किं पुनरुक्त्या। अथान्यतः प्रकारा द्विविधता। सतार्हि वक्तव्या इति। इतरम-र्पितं प्रकारमाह, स्वरसाधारणमत्र स्वरविशेष इति कृत्वा षड्जसाधारणमुच्यते इति। यदा निषादः श्रुतिमेकामुत्कृष्यते ऋषभश्च, तदा निषादस्त्रिश्रुतिः, षड्जो द्विश्रुतिः, ऋषभस्तु चतुः-श्रुतिरिति तदा षड्जसाधारणो द्वाभ्यां निषादर्षभाभ्यामुपजीवितो यतः सम्पन्नः ततः षड्ज-साधारणम्।

गांधारो यदैकां श्रुतिमुत्कृष्यते पंचमश्च मध्यमग्रामिको मध्यमश्रुतिमेकां गृह्-णाति धैवतस्तु चतुःश्रुतिक एव मध्यमतायां हानिः, तदा मध्यमयोपजीव्यत्वान्मध्यम-साधारणम्।

अर्थात्—"हमारे गुरु **उत्पलदेव पाद** इस बात को इस प्रकार मानते हैं कि ('ऋषभ की) तीन (गांधार की) दो (मध्यम की) चार' इत्यादि वाक्य से (स्वरों का) स्वस्थानस्वरूप कहा गया है, वह (रागों में चलित होता है, तो स्वरों के) चलत्व के कारण उनका वास्तविक और प्राकृत रूप कहा जा रहा है। **षड्ज चतुःश्रुतिक है'** इत्यादि (वाक्य) में निषाद द्विश्रुति इसी प्रकार है, जिस प्रकार प्राणियों का समस्त अवयवों से युक्त रूप होता है, उन्हीं प्राणियों के दो अन्य और रूप होने पर तीन रूप हो जाते हैं। जैसे कुत्ते का वास्तविक रूप, छिन्नपुच्छ (दुमकटा) रूप और द्विपुच्छ (दो पूछोंवाला) रूप। तो गांधार और निषाद से विवादी स्वर होने के कारण, आरंभ करके उन दोनों की विकृति (अंतर गांधार और काकली निषाद के रूप में) कह दी। गांधार और निषाद की विकृति से मध्यम और षड्ज भी (द्विश्रुति रहजाने के कारण) विकृत हो गए। (मध्यम ग्राम में) पंचम को त्रिश्रुतिक कह दिए जाने पर उसकी विकृति भी प्रदर्शित कर दी। उसी प्रकार धैवत और ऋषभ की भी विकृति बताई जानी चाहिए। (नाट्यशास्त्र) **'स्वरसाधारण दो प्रकार का और दो ग्रामों से संबद्ध है।'** कहकर (ऋषभ-धैवत की) वह विकृति दिखाई है। यदि कोई यह पूछता है कि यह जो काकली और अंतर के लक्षण से युक्त स्वरसाधारण कहा गया है, वही दो प्रकार का और दो ग्रामों से सम्बद्ध है, अतः पुनः दो प्रकार का और दो ग्रामों से सम्बद्ध स्वरसाधारण क्यों ? तो उसका उत्तर यह है कि यदि काकली और अंतर के रूप में ही दो भेद होते हैं, तो यह बात तो पहले ही कही जा चुकी है, पुनरुक्ति से क्या लाभ ?

वास्तव में यह पुनरुक्ति नहीं, यह और ही प्रकार की द्विविधता है। 'तो वह बताई जानी चाहिए।' 'नाट्यशास्त्र' वह दूसरा प्रकार बताते हुए कहता है **स्वरसाधारण विशेष स्वर है, इसलिए (वह) 'षड्जसाधारण' कहा जाता है।**

जब निषाद एक श्रुति चढ़ाया जाता है और ऋषभ में भी एक श्रुति का उत्कर्ष (षड्ज द्वारा परित्यक्त श्रुति ग्रहण करने से) होता है, तब निषाद त्रिश्रुति (उसके बाद) षड्ज द्विश्रुति और ऋषभ चतुःश्रुति होता है, तब षड्ज साधारण होता है। क्योंकि निषाद और ऋषभ दोनों के द्वारा उपजीवित (द्विश्रुति बनाया हुआ) होता है, इसलिए षड्जसाधारण (अवस्था) होती है।

गांधार जब एक श्रुति चढ़ाया जाता है, मध्यमग्राम का पंचम मध्यम की एक श्रुति का ग्रहण कर लेता है, धैवत चतुःश्रुतिक ही रहता है, मध्यम के मध्यमत्व में (एक श्रुति की) हानि होती है, तो मध्यम के उपजीव्य (प्रभावित) होने के कारण मध्यमसाधारण होता है।"

इसी चर्चा को आगे बढ़ाते हुए महामाहेश्वर कहते हैं :—

ननु निषादगान्धारयोर्द्विश्रुत्युत्कर्षणे साधारणमुक्तं कथमत्रैकश्रुत्युत्कर्ष इत्याशंक्याह साधारणमत्र (स्वरविशेषः) स्वरस्त्वयं प्राक्तनलक्षणाद्विशेषो वैलक्षण्यात्मा, स एव स्वर-

साधारणतायां प्रयोगः । अनेन चैतत्सूचयति सर्वेषां स्वराणामुच्चत्वनीचत्ववैचित्र्यकृतोक्तिविशेषात् गान्धर्वे नियमो, इष्ट सिद्ध्यै एकश्रुतित्वं स्वराणां दर्शितम्, वैचित्र्यन्तरं तु रागभाषादौ लक्ष्ये दृश्यत एव । तथा च वृद्धकाश्यपः ।

काकल्यन्तरयोगेन चतुस्त्रिद्व्येकश्रुतीन् ।
स्वरान् सर्वान् प्रयुञ्जीत रागभाषासु सर्वथा ॥
स्वराः षड्जादयः सप्त तथा चोत्कृष्टपंचमः ।
अथ धैवतकश्चान्यः काकल्यन्तरसंज्ञकौ ॥
षड्जमध्यमसाधाराश्चत्वार इति सर्वथा ।
जातिष्वेते प्रयोक्तव्याः स्वराः पंचदशैव हि ॥

अस्य लक्ष्येऽसम्भवं दर्शयितुं संज्ञां करोति अस्य तु प्रयोगस्य सौक्ष्म्यात् (कैशिकमिति द्वितीयं नाम निष्पद्यते) इति ।

अर्थात्—"यदि यह शंका हो कि निषाद और गांधार का साधारण तो दो-दो श्रुतियों का उत्कर्ष करने पर बताया गया था, अब एक श्रुति का उत्कर्ष कैसे ? तो ('नाट्यशास्त्र') इसी आशंका का उत्तर देता है कि साधारण यहाँ स्वरविशेष है। यह स्वर अपने पहले रूप की अपेक्षा पृथक् और विलक्षणतात्मक है, स्वरसाधारण अवस्था में वही प्रयोग है। इस बात से ('नाट्यशास्त्र') यह सूचित करता है कि सब स्वरों में उच्चत्व, नीचत्व अथवा वैचित्र्य की सिद्धि करनेवाली विशिष्ट उक्तियों का नियम (और) स्वरों का एकश्रुतित्व (एक श्रुति का उत्कर्ष और अपकर्ष) बताकर इस प्रकार प्रदर्शित कर दिया। स्वरों में अन्य प्रकार का वैचित्र्य तो रागभाषा इत्यादि में प्रचार के अंतर्गत दिखाई देता ही है। वृद्ध काश्यप का भी कथन है :—

रागभाषाओं में सर्वथा चतुःश्रुति, त्रिश्रुति और एक श्रुति (इन) सब स्वरों को काकली अंतर के योग से प्रयुक्त करना चाहिए।

जातियों में ये पंद्रह स्वर प्रयुक्त करना चाहिए—षड्ज इत्यादि सात (शुद्ध) स्वर, उत्कृष्ट पंचम, उत्कृष्ट धैवत, काकली निषाद, अंतर गांधार, षड्जमध्यमसाधारण (कैशिक निषाद, च्युत षड्ज, साधारण गांधार, च्युत मध्यम ये) चार।

('नाट्यशास्त्र') लक्ष्य (स्थिर रूप) में इस (एकश्रुत्यन्तर) के प्रयोग की असंभावता को दिखाने के लिए नामकरण करता है कि प्रयोग की सूक्ष्मता के कारण इस षड्जसाधारण और मध्यमसाधारण का दूसरा नाम 'कैशिक' होता है।

एक श्रुति स्वर

आजकल जिस स्वर को कोमल ऋषभ कहा जाता है, वह षड्ज से अट्ठाईस घटक ऊँचा है और अतिकोमल ऋषभ तेईस घटक। महतीश्रुति का परिमाण भी तेईस घटक है। अतः अतिकोमल ऋषभ का परिमाण (तेईस घटक) 'एकश्रुतिक' कहा जा सकता है। रागभाषाएँ 'गांधर्व' की परिधि से बाहर हैं, अतः उनमें इस अंतराल का प्रयोग काश्यप द्वारा विहित है। जिस सारणा में महतीश्रुति की प्राप्ति होती है, महामाहेश्वर ने उस सारणा में महती श्रुति के विशिष्ट परिमाण की ओर

संकेत करते हुए कहा है कि लक्ष्य में जो श्रुति (एकश्रुतिक स्वर) इत्यादि का व्यवहार दिखाई देता है, वह निर्मूल नहीं। प्रमाणश्रुति की प्राप्ति में कारण होनेवाली सारणा में महामाहेश्वर को यह कहने की आवश्यकता नहीं थी।

कैशिक स्वर और षड्ज कैशिकी जाति

'कैशिक' शब्द का अर्थ करते हुए महामाहेश्वर कहते हैं :—

कैशिकमिति सुकुमारहृद्यप्रयोगात्मिका हि कैशिकी सा विद्यते यत्रेत्याकारः। कशेर्वा कैशिकम्। पाताग्रसौक्ष्म्याद्वेति पृथक्प्रयासोऽयम्।

अर्थात्—"सुकुमार और मनोरम प्रयोग से युक्त वृत्ति कैशिकी है, जिस प्रयोग में यह वृत्ति है, उस आकार (स्वर) का नाम 'कैशिक' है (शब्दवाची) 'कश्' धातु से निष्पन्न होने के कारण (विशिष्ट शब्दवान् स्वर) 'कैशिक' है। पात के अग्रता की सूक्ष्मता के कारण (ध्वनि के आघात में केशाग्र जैसा सूक्ष्म अंतर होने से) यह स्वर के पूर्वरूप की अपेक्षा पृथक् प्रयास है।"

इस कैशिक रूपी 'साधारण' प्रयोग के अवसर का प्रयोग बताते हुए महामाहेश्वर कहते हैं :—

तत्र षाड्जीगान्धारीभ्यां षड्जकैशिकी जातेति। मध्यमग्रामांशोऽप्यस्या उपजीव्यत इति चतुःश्रुति धैवतत्वं प्रतिपद्यते। दौर्बल्याच्च ऋषभधैवताभ्यां चतुःश्रुतिकाभ्यां भवितव्यं यथाकल्पं निषादगान्धाराभ्याम्। वक्ष्यति हि-दौर्बल्यं चात्र कर्तव्यं धैवतस्यर्षभस्य चेति। स्वयं चेह षड्जग्रामेण पंचमेन चतुःश्रुतिकेन भवितुं युक्तमिति। कैशिकप्रयोगे षड्जसाधारणगमनयोगात् षड्जकैशिकी।

अर्थात्—"तो (षड्जग्राम की) षाड्जी जाति और (मध्य-ग्राम की) गांधारी जाति के योग से षड्जकैशिकी (नामक संसर्गज जाति) उत्पन्न हुई है। इस जाति में (गांधारी नामक जाति के मिश्रण के कारण) मध्यमग्राम की चाल (उस ग्राम के चलन या संचार) का भी योग होता है, इसलिए (मध्यमग्राम के चलनवाले भाग में) धैवत चतुःश्रुतिक होता है। (इस षड्जकैशिकी जाति में) दुर्बलता के कारण ऋषभ-धैवत को चतुःश्रुतिक होना चाहिए और निषाद-गांधार को यथाकल्प (षड्जग्रामीय भाग के उभरने पर षड्जग्रामीय और मध्यमग्राम के भाग के उभरने पर मध्यमग्रामीय) होना चाहिए। जैसा कि ('नाट्यशास्त्र') आगे कहेगा कि इस जाति में धैवत और ऋषभ की दुर्बलता रखनी चाहिए। यह षड्जकैशिकी जाति स्वयं षड्जग्राम की है, इसलिए पंचम को चतुःश्रुतिक होना चाहिए। कैशिक प्रयोग के समय षड्ज-साधारण (कैशिक निषाद और च्युतषड्ज का प्रयोग) होने के कारण ही इस जाति का नाम षड्जकैशिकी है।"

इस प्रकार षड्जसाधारण के प्रयोग का अवसर तथा 'षड्जकैशिकी' नाम की अन्वर्थता सिद्ध कर चुकने पर महामाहेश्वर कहते हैं :—

'कैशिक्यपि स्वयं मध्यमग्रामगा, तेनात्र चतुर्धैवतः, ऋषभोऽपि चतुःश्रुतिः, दौर्बल्यं ऋषभस्यात्र वक्ष्यते, लोप्यत्वं चर्षभधैवतयोरिति चतुःश्रुतिकतयाभाव्यम्। धैवत्यार्षभी वर्जाश्च सर्वजातयोऽस्याः कारणमिति षड्जग्रामानुप्रवेशाच्चतुःश्रुतिकत्वषशात्पंचमेन भवितव्यमिति कैशिकापरपर्याय

यन्मध्यम साधारणं तत्स्थानमप्यस्ति, तद्गतातिदेशात्तु कैशिकभिन्नकैशिकादिग्रामरागेष्विचति सर्वं सुस्थम्। एतदेव मतङ्गाचार्य्यादिभिर्ग्रामसाधारण मित्युक्तम्।

अर्थात्—"कैशिकी स्वयं मध्यमग्राम की जाति है, अतः इसमें चतुःश्रुति धैवत है, ऋषभ भी चतुःश्रुतिक है, ('नाट्यशास्त्र' में आगे) यह बताया जाएगा कि जाति में ऋषभ की दुर्बलता है, चतुःश्रुतिक होने से ऋषभ और धैवत का लोप्यत्व होना चाहिए, (ऋषभ की चतुःश्रुतिकता मध्यमग्राम की विरोधिनी है, क्योंकि ऋषभ षड्ज-साधारण प्रयोग के समय होता है, जो कि षड्जग्राम में विहित है।) धैवती और आर्षभी के अतिरिक्त अन्य सब जातियाँ इस जाति में कारण हैं, इसलिए (कारणभूत षड्जग्राम की जातियों के प्रभाव से) पंचम को चतुःश्रुतिक होना चाहिए, इसलिए कैशिक का दूसरा पर्य्याय जो मध्यमसाधारण है, उसके प्रयोग का अवसर भी है, इन्हीं जातियों से संक्रान्त होकर कैशिक और भिन्नकैशिक इत्यादि रागों में भी है। (शुद्ध-कैशिक कार्मारवी और कैशिकी से उत्पन्न हुआ है और भिन्नकैशिक षड्जमध्यमा नामक संकर जाति से) इसलिए (षड्जसाधारण और मध्यमसाधारण की) प्रयोज्यता भली-भाँति है।

आचार्य निश्शंक शाङ्र्गदेव ने षड्जसाधारण और मध्यमग्राम का यह रूप 'संगीतरत्नाकर' के साधारण प्रकरण में स्पष्ट किया है।

मतंग ने इस षड्ज-मध्यम-साधारण को ही 'ग्रामसाधारण' कहा है। 'श्रुति-साधारण' सभी स्वरों का अनियतश्रुति होना है।

स्वरों की अनंतता के विषय में महामाहेश्वर ने कहा है :—

जात्यंशक ग्रामरागभाषा देशीमार्गवैचित्र्येनानन्ता एव स्वरा।

अर्थात्—"जातियों के अंश, ग्रामराग, रागभाषा, देशी और मार्ग के वैचित्र्य (विविधता) के कारण अनंत स्वर होते हैं।

अलंकारप्रयोग स्वरों के विशिष्ट क्रम का प्रयोग है। स्वरों के विभिन्न क्रम उन्हें विशिष्ट-विशिष्ट परिमाण में अपनी-अपनी नियत श्रुति से हटाते हैं।

अलंकार-प्रकरण में मृदु, मध्य और आयत श्रुतियों के प्रयोग के विषय में 'नाट्यशास्त्र' कहता है :—

श्रुतयोऽन्या द्वितीयस्य मृदुमध्यायताः स्मृताः।
आयतत्वं तु चेन्नीचे मृदुत्वं तु विपर्य्यये।
स्वे स्वरे मध्यमत्वं, मृदुमध्यमयोस्तथा।
दीप्तायतकरुणानां श्रुतीनामेषनिश्चयः॥

अर्थात्—"द्वितीय (गांधार स्वर) की अन्य श्रुतियाँ मृदु, मध्य और आयत कही गई हैं। (गांधार के पश्चात्) यदि नीच (गांधार से नीचेवाले अर्थात् ऋषभ स्वर) के (प्रयुक्त) होने पर (गांधार की) श्रुति का आयतत्व करना चाहिए, इसकी उल्टी अवस्था में (अर्थात् गांधार के पश्चात् मध्यम के प्रयोग की अवस्था में गांधार की श्रुति) का मृदुत्व करना चाहिए और यदि गांधार के पश्चात् गांधार का ही प्रयोग करना हो, तो गांधार की श्रुति का मध्यमत्व (मध्यस्थानत्व) करना चाहिए। मृदु, मध्यमा, दीप्ता और करुणा श्रुतियों का यह निर्णय है।"

मृदु, आयत और मध्य शब्द ध्वनि के परिमाण को बताते हैं। दीप्त और करुण उनसे व्यक्त होनेवाले भाव के द्योतक हैं।

'दीपन' शब्द का अर्थ तारता (उच्चता, न कि तारस्थानीयता) है, महामाहेश्वर ने 'दीपनं तारता' कहा है। पाठ्यप्रकरण में 'नाट्यशास्त्र' कहता है, 'दीपनं नाम त्रिस्थानशोभि वर्द्धमानस्वरत्वम्।' अर्थात्—'तीनों स्थानों में शोभित होनेवाली वर्द्धमानस्वरता दीपन है।' 'दीपन' का अर्थ 'उकसना' है। आरोह में स्वरों की प्रवृत्ति चढ़ने की ओर होती है, यही प्रवृत्ति दीपन है। स्वरों के दीपन से गायक और श्रोता के मन में एक विशेष चमक की अभिव्यक्ति होती हैं, उस विशिष्ट मनःस्थिति या धर्म को महामाहेश्वर ने 'दीप्ति' कहा है। एक ही स्वर में गाए जानेवाले अक्षरों में यदि वह चमक रहे, तो 'सम' अलंकार होता है। 'दीप्ति' का अर्थ महामाहेश्वर ने अनुक्तसम (जिसके अर्थ का स्वतः स्पष्टीभाव हो, जिसके कहने की आवश्यकता ही न हो, जो न कहे हुए जैसा हो, ऐसा) **स्वरसाधारण** किया है। अतः परिमाण की दृष्टि से जो आयत्व है, वह भाव की दृष्टि से दीप्ति है, अतः उसको पृथक् रूप से स्वरसाधारण कहने की आवश्यकता नहीं।

"आयतत्वं तु चेन्नीचे, मृदुत्वं तु विपर्य्यये। स्वस्वरे मध्यमत्वं" की व्याख्या महामाहेश्वर ने भी यों ही की है—"गांधारस्यैकाक्षरगतस्य नीचे ऋषभे परे आयता श्रुतिःकार्य्या। मध्यमे परे मृद्वी। गांधारएव तु परतोमध्या।"—"एक अक्षर में प्रयोज्य गांधार के पश्चात् नीचे अर्थात् (गांधार की अपेक्षा नीचेवाला स्वर) ऋषभ हो, तो गांधार की श्रुति आयता करना चाहिए, (विपरीत अवस्था में अर्थात् गांधार के पश्चात् प्रयोज्य स्वर) मध्यम होने पर मध्या और गांधार के पश्चात् गांधार ही हो, मध्या श्रुति प्रयुक्त करना चाहिए।"

इस स्थल में द्वितीय स्वर का अर्थ गांधार है, क्योंकि 'सामवेद' के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ स्वर क्रमशः मध्यम, गांधार, ऋषभ और षड्ज हैं। षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम का संवादी चतुष्क, पंचम, धैवत, निषाद और षड्ज हैं। महामाहेश्वर ने कहा ही है कि उपर्युक्त दोनों चतुष्क परस्पर संवादी हैं। अस्तु गांधार की मृदु, मध्या और आयता श्रुतियों के विषय में जो प्रयोगगत नियम हैं, वही निषाद के विषय में भी हैं, क्योंकि गांधार और निषाद दोनों ही मूल रूप में द्विश्रुतिक या अनुदात्त हैं।

९. अंश स्वर और उसके दस लक्षण

अंश स्वर की चर्चा पहले भी की गई है, उस पर थोड़ा विचार और किया जाए।

'अंश' शब्द का अर्थ मंद्र, मध्य, तार-स्थान को विशिष्ट क्रम और श्रुतिसंख्या के अनुसार विभाजित करनेवाला स्वर है। कोई भी स्वर जब किसी मूर्च्छना का आरंभक स्वर होता है, तब वह विशिष्ट श्रुतिक्रम के अनुसार पूर्वोक्त तीनों स्थानों को विभाजित करता है, इसी लिए मूर्च्छना आज की भाषा में ठाठ बदल देती है।

षड्जपञ्चमयोरन्यतरस्थायिस्वराश्रयेणांशस्वरविभागचतुष्चतुष्कसम्मिश्रं कर्तव्यम्।

अर्थात्—"षड्ज-पंचम में से एक को स्थायी स्वर के रूप में ग्रहण करके उसी अंश स्वर के द्वारा (स्थान का) विभाग चतुःश्रुतिक करके (अंग प्रयोग) करना चाहिए, अर्थात् स्थान के श्रुतिविभाजन का आधाररूप स्वर चतुःश्रुतिक करके अग्रिम स्वरों का प्रयोग यथाश्रुति करना चाहिए, जैसे शब्दों द्वारा महामाहेश्वर ने व्यक्त की है।

'नाट्यशास्त्र' का विधान है कि सूत्रधार 'मध्यम' स्वर का आश्रय लेकर (मध्यम को आधार स्वर मानकर) नांदी पाठ करे।

महामाहेश्वर की व्याख्या है :—

तद्ध्रुवागानगतेन मध्यमस्वरेण पाठ इत्यतस्तस्या ध्रुवाया मध्यमांशको जात्यंशको गृहीत इत्युक्तं भवति। एतदुपजीवनेनोक्तं कश्यपाचार्येण पूर्वरंगेतुषाडवः इति।

अर्थात्—"ध्रुवागानगत मध्यम स्वर के द्वारा पाठ है, इस वाक्य से ध्रुवाप्रयोज्य जाति का अंश स्वर मध्यम है, यह कहा गया है। इसी (विधान) का आधार लेकर कश्यप ने कहा है कि पूर्वरंग में षाडव (शुद्ध षाडव) नामक ग्रामराग का प्रयोग करना चाहिए।"

शुद्ध षाडव में अंश स्वर मध्यम है और इसकी मूर्च्छना इसी लिए मध्यम से आरंभ होती है।

किसी स्वर या नाद को आधार मानकर अगले स्वरों की स्थापना या प्रयोग करना उस ध्वनि में वाद्यों को मिलाना उपोहन या उपवहन कहलाता है। मेल या ठाठ की दृष्टि से आज यह ध्वनि मध्यस्थानीय 'स' कहलाती है, मूर्च्छना की दृष्टि से यह ध्वनि मूर्च्छना का आदिम स्वर है। तानपूरे या चिकारियों पर यह ध्वनि स्थायी रूप में बोलती रहती है। इसी ध्वनि को आधार मानकर गाया या बजाया जाता है, इसी लिए इस ध्वनि से गीत (गाना-बजाना) प्रवृत्त होता है। इस ध्वनि का संवादी स्वर ही, इस ध्वनि का मंत्रित्व करता है। राग में प्रयोज्य सभी ध्वनियों के साथ इस स्थायी ध्वनि की संगति होती है। मंद्र, मध्य और तार-स्थान का विनिश्चय भी यही

ध्वनि करती है। तानपूरे या चिकारियों पर बोलने के कारण गायक या वादक के विश्राम लेने पर भी यह ध्वनि छिड़ती रहती है। इस ध्वनि का प्रयोग सर्वाधिक होता है, इसलिए यही ध्वनि 'वादी' है।

'नाट्यशास्त्र' ने इसी लिए कहा है कि प्रयोग के अवसर पर जो अंश (स्थानों का विशिष्ट श्रुतिक्रम के अनुसार विभाजक अर्थात् मूर्च्छना का प्रथम स्वर) होता है, वही उस अवसर पर वादी (प्रधानतया छिड़ने या बोलनेवाला) होता है।

महामाहेश्वर ने इन शब्दों में यह बात कही है :—

यत्र प्रयोगात्मनि काले वदते स एव स्फुटत्वेन भासमानः शब्दायते, वादित्वं बाहुल्येनोच्चारणमस्यास्तीति वदति च तारमंद्रव्यवस्थादीनि च लक्षणमत्रैव सूचितम्।

अर्थात्—"प्रयोगात्मक काल में जो बोलता है, वही स्पष्टतापूर्वक प्रतीत होता हुआ शब्द करता है (छिड़ता रहता है), जिसका वादित्व अर्थात् बहुलता के साथ उच्चारण होता है, जो (स्वर) तार-मंद्र-व्यवस्था इत्यादि को बताता है, (वादी का) यह लक्षण भी यहीं बता दिया।"

अंश स्वर के दस लक्षण इस प्रकार हैं :—

(१) जिसके विद्यमान या ध्वनित होने पर रंजकता तथा जाति या राग के स्वरूप की अभिव्यक्ति होती है, (२) जिसका आश्रय लेकर स्वरप्रयोग किया जाता है और उस आश्रयभूत स्वर या नाद के आधार पर राग की प्रवृत्ति या प्रयोग होता है, (३) जो मंद्र एवं (४) तार-स्थान का आरंभक होता है और इसी लिए तारस्थानीय चार, पाँच या सात स्वरों एवं मंद्रस्थानीय स्वरों की गणना जिसके आधार पर होती है, (५) (रागप्रयोज्य सभी स्वरों के साथ संगति होने एवं निरंतर ध्वनित होने के कारण) जिसका प्रयोग सर्वाधिक होता है, जिसके कारण (६) ग्रह, (७) अपन्यास, (८) विन्यास, (९) सन्यास, (१०) न्यास का नियमन या निश्चय होता है, रागप्रयोज्य सभी स्वर जिसका अनुवर्तन करते हैं, वह प्रधानभागयुक्त होने के कारण अंश कहलाता है, यह दसों विशेषताएँ मिलकर 'अंशत्व' में कारण होती हैं। अंशस्वर ही उपोहन का आधार होता है, गात्रवीणा या शरीर में जिस ध्वनि को आधार मानकर अन्य स्वरों की ऊहा (धारणा) की जाती है और दारवी वीणा पर भी उसी स्वर से गीत का प्रवर्तन होता है।

मेलवादियों की दृष्टि से अंश शब्द का यह अर्थ तिरोहित हो गया और अहोबल जैसे लोग राग के अपन्यास स्वरों को वादी या अंश समझ बैठे।

आचार्य शार्ङ्गदेव का सारणा-प्रकरण

विचारशील दाक्षिणात्य विद्वान् भी अब यह मानने लगे हैं कि महर्षि भरत हिमालय के आस-पास (संभवतः कश्मीर) के निवासी थे। 'नाट्यशास्त्र' के टीकाकार भट्टोद्भट, लोल्लट, मातृगुप्त, शंकुक, भट्टनायक, अभिनवगुप्त, भट्टयंत्र इत्यादि सभी आचार्य कश्मीरी थे। आचार्य शार्ङ्गदेव प्रायः इन सभी से प्रभावित ही नहीं, अपितु इसी परंपरा के प्रामाणिक विद्वान् थे।

आचार्य शार्ङ्गदेव के समक्ष यह समस्या थी कि वे संगीत-संबंधी अनेक असंगत मतों का निराकरण करें और आर्ष सिद्धांत की स्थापना करें। फलतः उन्होंने जिस क्रम से विषयों का प्रतिपादन किया है, वह क्रम आर्ष क्रम से कुछ भिन्न हो गया है।

उदाहरण के रूप में एक तथ्य यह है कि महर्षि भरत ने स्वर-समूह एवं ग्रामों का ज्ञान कराने के पश्चात् चतुःसारणाओं के द्वारा बाईस श्रुतियों की सिद्धि एवं ज्ञान का उपाय बताया है। यही मार्ग वैज्ञानिक भी है, स्थूल के ज्ञान के पश्चात् ही सूक्ष्म का ज्ञान संभव है।

महर्षि भरत के कहीं बाद मतंग के समय तक श्रुतियों को स्वर का कारण माना जाने लगा था और इस संबंध में तादात्म्यवाद, विवर्तवाद, कार्यकारणवाद, विपरिणामवाद एवं अभिव्यक्तिवाद तक का जन्म हो चुका था। इस संबंध में आचार्य शार्ङ्गदेव ने मतंग का अनुगमन किया है। यद्यपि महर्षि भरत के स्वरों अथवा श्रुतियों से मतंग और शार्ङ्गदेव के स्वर या श्रुतियाँ भिन्न नहीं, परंतु बात को कहने के ढंग में अंतर होने के कारण स्थूल दृष्टि धोखा खा सकती है।

एक बात और है। हनुमन्मत में श्रुतियों की संख्या अठारह है, ईरानियों की दृष्टि में चौबीस है, इन मतों का निराकरण करके श्रुतियों की संख्या बाईस ही निर्धारित करना भी शार्ङ्गदेव के सम्मुख था।

आइए, पहले श्रुति, स्वर, सारणा के विषय में आचार्य का विधान देखें :—

'कंठ तथा सिर में बाईस श्रुतियाँ मानी गई हैं, उनकी अभिव्यक्ति के लिए वीणा के जोड़े में निदर्शन करते हैं।

दो वीणाएँ एक जैसी बनाना चाहिए, जिस प्रकार उनका नाद एक जैसा हो, उन दोनों में बाईस (बाईस) तार हों, उन तारों में प्रथम तार गंभीरतम ध्वनि से युक्त हो, दूसरा कुछ ऊँची ध्वनि से युक्त हो, (प्रथम एवं दूसरे तार की) श्रुतियों (ध्वनियों) के मध्य में अन्य ध्वनि न सुनाई देने के कारण निरंतरता हो। वे तार उत्तरोत्तर तीव्र हों, उनसे उत्पन्न नाद श्रुति माना गया है।

दोनों वीणाओं पर स्वरों की स्थापना करना चाहिए, उनमें चौथे तार पर चतुःश्रुति षड्ज, पाँचवें से तीसरे (अर्थात् आरंभ से सातवें) तार पर त्रिश्रुति ऋषभ, आठवें से दूसरे (अर्थात् नवें) तार पर द्विश्रुति गांधार, दसवें से चौथे (अर्थात् तेरहवें) तार पर चतुःश्रुति मध्यम, चौदहवें से चौथे (अर्थात् सत्रहवें) तार पर चतुःश्रुति पंचम, अठारहवें से तीसरे (अर्थात् बीसवें) तार पर त्रिश्रुति धैवत और इक्कीसवें से दूसरे (अर्थात् बाईसवें) तार पर द्विश्रुति निषाद स्थापित करना चाहिए।

इन दोनों वीणाओं में एक वीणा अचल होनी चाहिए। दूसरी चल वीणा है, उसमें तारों का सारण (यथास्थान मिलाना) करना चाहिए।

उस चलवीणा में बुद्धिमानों (बुधों) को सात स्वर (अपने मूल स्थान से) पहले तारों (क्रमशः तीसरे, छठे, आठवें, बारहवें, सोलहवें, उन्नीसवें और इक्कीसवें) पर ले आने चाहिए। तब इस चलवीणा में वे स्वर ध्रुववीणा के स्वरों की अपेक्षा एक-एक श्रुति उतरे हुए होंगे।

इसी प्रकार दूसरी सारणा भी (होगी)। इस दूसरी सारणा में चलवीणा के गांधार और निषाद दो (दो) श्रुतियों के लय होने से ध्रुववीणा में स्थित ऋषभ और धैवत में क्रमशः प्रविष्ट हो जाते हैं। तीसरी सारणा में (चलवीणा के) ऋषभ-धैवत (ध्रुववीणा के) षड्ज-पंचम में प्रविष्ट हो जाते हैं। चौथी सारणा में (चलवीणा के) षड्ज-मध्यम-पंचम क्रमशः (ध्रुववीणा के) निषाद-गांधार-मध्यम में प्रविष्ट हो जाते हैं।

इस प्रकार चारों सारणाओं के परिणामस्वरूप ध्रुववीणा की श्रुतियों (चौथी, सातवीं, नवीं, तेरहवीं, सत्रहवीं, बीसवीं और बाईसवीं) में बाईसों श्रुतियों के लीन होने से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि श्रुतियों की संख्या इतनी है।*"

---

* एवं कंठे तथा शीषे श्रुतिद्वाविंशतिर्मता। व्यक्तये कुर्महे तासां वीणाद्वन्द्वे निदर्शनम्।
द्वे वीणे सदृशौ कार्य्ये यथा नादः समो भवेत्। तयोर्द्वाविंशतिस्तन्त्र्यः प्रत्येकं तासु चादिमा॥
कार्य्या मंद्रतमध्वाना द्वितीयोच्चध्वनिर्मनाक्। स्यान्निरन्तरता श्रुत्योर्मध्ये ध्वन्यन्तराश्रुते॥
अधराधरतीव्रास्तास्तज्जो नादः श्रुतिर्मतः। वीणाद्वये स्वराः स्थाप्यास्तत्र षड्जश्चतुःश्रुतिः॥
स्थाप्यस्तन्त्र्यां तुरीयायामृषभस्त्रिश्रुतिस्ततः। पंचमीतस्तृतीयायां गांधारो द्विश्रुतिस्ततः॥
अष्टमीतो द्वितीयायां मध्यमोऽथ चतुःश्रुतिः। दशमीतश्चतुर्थ्यां स्यात्पञ्चमोऽथ चतुःश्रुतिः॥
चतुर्दशीतस्तुर्य्यायां धैवतस्त्रिश्रुतिस्ततः। अष्टादश्यास्तृतीयायां निषादो द्विश्रुतिस्ततः॥
एकविंश्या द्वितीयायां, वीणैकाऽत्र ध्रुवा भवेत्। चलवीणा द्वितीया तु तस्यां तंत्रीस्तु सारयेत्॥
स्वोपान्त्यतंत्रीमानेयास्तस्यां सप्त स्वरा बुधैः। ध्रुववीणास्वरेभ्यो ऽस्यां चलायां ते स्वरास्तदा॥
एकश्रुत्यपकृष्टाः स्युरेवमन्यापि सारणा। श्रुतिद्वयलयादस्यां चलवीणागतौ गनी॥
ध्रुववीणोपगतयो रिधयोर्विशतः क्रमात्। तृतीयस्यां सारणायां विशतः सपयो रिधौ॥
निगमेषु चतुर्थ्यां तु विशन्ति समपाः क्रमात्। श्रुतिद्वाविंशतावेवं सारणानां चतुष्टयात्॥
ध्रुवाश्रुतिषु लीनायामियत्ता ज्ञायते स्फुटम्॥

('संगीतरत्नाकर', स्वराध्याय, तृतीय प्रकरण, श्लोक १०-२२)

इस प्रकरण पर ध्यान देने से निम्नलिखित तथ्य दृष्टिगोचर होंगे :—

(अ) इस प्रकरण का प्रयोजन श्रुति-निदर्शन द्वारा श्रुतियों की इयत्ता (विशिष्ट संख्या) सिद्ध करना है।

(आ) दोनों वीणाओं पर क्रमशः कुछ ऊँचे मिले हुए तार एक स्थूल परिमाण हैं, वे एक सप्तक में विद्यमान क्रमागत बाईस श्रुतियाँ नहीं। यदि वे सिद्ध बाईस श्रुतियाँ होतीं, तो सारणाएँ अनावश्यक होतीं, बाईस तारों को क्रमशः कुछ-कुछ ऊँचा मिलाने के पश्चात् भी क्रमशः चौथी, सातवीं, नवीं, तेरहवीं, सत्रहवीं, बीसवीं तंत्री पर षड्ज इत्यादि को स्थापित करने का विधान किया गया है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है, क्रमशः कुछ-कुछ ऊँचे मिले हुए तारों की ध्वनियाँ चौथे, सातवें इत्यादि तारों पर स्वतः 'षड्ज' इत्यादि नहीं होतीं। उन्हें अभीप्सित रूप में यथास्थान मिलाना पड़ता है। अन्यथा आचार्य को 'स्थाप्यः' (स्थापित करना चाहिए) न कहकर 'बोध्यः' (जानना चाहिए) जैसे शब्द का प्रयोग करना चाहिए था। स्वर-स्थापना करते समय तारों को अधिक उतारना-चढ़ाना न पड़े, इसी लिए तथा संवाद-सिद्धांत को दृश्य बनाने के लिए उन्हें वीणा पर बाईस तार चढ़ाने पड़े हैं।

(इ) ध्रुववीणा एवं चलवीणा पर उन्होंने इस प्रकरण में स्वरों की स्थापना का कोई उपाय नहीं बताया है, अपितु प्रथम सारणा के विधान में यह कहा है कि 'बुधों' (बुद्धिमानों) को प्रत्येक स्वर अपने से पूर्ववर्ती तार पर ले आना चाहिए। इससे यह सिद्ध है कि आचार्य का यह प्रकरण उन लोगों के लिए है, जो उनके स्वर-सप्तक से तो परिचित हैं, परंतु उनके समक्ष श्रुतियों की संख्यामात्र निश्चित की जानी है।

(ई) ध्रुववीणा के सातों स्वरों में **एक विशेष प्रकार से** अर्थात् सारणाचतुष्टयी के द्वारा बाईस श्रुतियाँ लीन होती हैं। चलवीणा की बाईस श्रुतियाँ ध्रुववीणा के बाईसों तारों में लीन होने की बात न तो कही गई है और न यह त्रिकाल में संभव है।

प्रथम सारणा में कोई श्रुति ध्रुववीणा के स्वरों में लीन नहीं होती। द्वितीय सारणा में चलवीणा के गांधार और निषाद ध्रुववीणा के क्रमशः ऋषभ और धैवत के साथ एक-रूप हो जाते हैं, अर्थात् चलवीणा के द्विश्रुतिक गांधार और द्विश्रुतिक निषाद की कुल चार श्रुतियाँ ध्रुववीणा के ऋषभ, धैवत में लीन होती हैं एवं गांधार-निषाद की द्विश्रुतिकता सिद्ध करती हैं।

तृतीय सारणा में चलवीणा के ऋषभ-धैवत (अर्थात् कुल छह श्रुतियाँ) ध्रुव-वीणा के षड्ज-पंचम में लीन होते हैं।

चतुर्थ सारणा में चलवीणा के षड्ज-मध्यम-पंचम (अर्थात् बारह श्रुतियाँ) ध्रुववीणा के निषाद-गांधार-मध्यम में लीन होते हैं। इस प्रकार दूसरी सारणा में चार, तीसरी में छह और चौथी में बारह, कुल बाईस श्रुतियाँ ध्रुववीणा के सात स्वरों में लीन होती हैं।

(उ) क्रमशः ऊँचे मिले हुए तार दोनों वीणाओं में समान ध्वनि को प्रकट करनेवाले होने चाहिए। यदि यही बाईस ध्वनियाँ अभीष्ट बाईस श्रुतियाँ हैं, तो दो वीणाएँ अनावश्यक हैं।

(ऊ) चलवीणा की प्रत्येक सारणा में तंत्रियों के सारण का विधान है। जिसके परिणामस्वरूप चलवीणा की पश्चात्कालीन स्थिति पूर्वकालीन स्थिति से सर्वथा भिन्न हो जाती है। ध्यान देने की बात यह है कि ध्रुववीणा में स्थापित सप्तक के तारों के अतिरिक्त अन्य पंद्रह तार किसी संवादाधारित सारणा का परिणाम नहीं हैं।

(ए) यदि क्रमशः कुछ ऊँचे मिले बाईस तारों पर ध्वनित बाईस ध्वनियाँ स्वतः सिद्ध अभीष्ट बाईस श्रुतियाँ होतीं, तो सारणा-प्रकरण में यह कहा जाना चाहिए था कि प्रथम सारणा में स्वर अपने से पहली संख्यावाले ध्रुववीणा के तारों में प्रविष्ट हो जाते हैं, दूसरी सारणा में ध्रुववीणा के क्रमशः और पूर्ववर्ती ध्वनियों में प्रविष्ट हो जाते हैं, तीसरी सारणा में और पहले तारों में चले जाते हैं और चौथी सारणा में और पहले तारों में चले जाते हैं, परंतु न तो यह कहा गया है और न यह संभव है।

हमें एक मूल-सप्तक तथा चार सारणा-सप्तकों की सिद्धि करनी है। पाँच सप्तकों के लिए पैंतीस तार चाहिए। सात स्वर मूल सप्तक में प्रविष्ट होने के कारण यदि एक सप्तक कम भी कर दें, तो चार सप्तकों के लिए कम-से-कम अट्ठाईस तार तो चाहिए ही, परंतु तार हैं केवल बाईस। अतः इस सारणा-प्रक्रिया में ६ तार ऐसे अवश्य होंगे, जिनका उपयोग दो-दो सारणाओं में अवश्य होगा, फलतः सारणा-क्रिया के पश्चात् भी चलवीणा पर बाईसों अभीष्ट श्रुतियों का प्रत्यक्षीकरण संभव नहीं।

निम्नलिखित सारणा-प्रस्तार में यह स्थिति देखिए :—

चलवीणा-सारणा-प्रस्तार

	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२
मूल सप्तक				स			रे		ग				म				प			ध		नि
प्रथम सारणा			स			रे		ग				म				प			ध		नि	
द्वितीय सारणा		स			रे		ग				म				प			ध		नि		
तृतीय सारणा	स			रे		ग				म				प			ध		नि			
चतुर्थ सारणा			रे		ग				म				प			ध		नि				सं

इस प्रस्तार पर ध्यान देने से प्रतीत होगा :—

(क) प्रथम सारणा के स्वरों की स्थिति मूल सप्तक के स्वरों के पूर्ववर्ती तारों पर हैं।

(ख) द्वितीय सारणा के गांधार और निषाद सातवें और बीसवें तार पर हैं और मूल सप्तक के ऋषभ और धैवत में लीन हो गए हैं।

(ग) तृतीय सारणा के ऋषभ-धैवत चौथे और सत्रहवें तारों पर आकर मूल-सप्तक के षड्ज-पंचम में लीन हो गए हैं, परंतु इसी सारणा के गांधार और निषाद छठे और उन्नीसवें तार पर मिलाने के लिए विवशता होने के कारण प्रथम सारणा के ऋषभ और धैवत की स्थिति में अंतर पड़ गया है, जो इन्हीं तारों पर स्थापित किए गए थे। प्रथम सारणा के ऋषभ-धैवत में तीसरी सारणा के गांधार-निषाद के लीन होने का विधान न तो आज तक किसी भारतीय मनीषी ने किया है और न यह संभव ही है।

(घ) चौथी सारणा के षड्ज-मध्यम-पंचम क्रमशः बाईसवें, नवें और तेरहवें तार पर आ गए हैं, जिन पर मूल सप्तक के निषाद-गांधार-मध्यम स्थित हैं। प्रथम तार से पहले 'निषाद' की सत्ता न होने के कारण चौथी सारणा का षड्ज बाईसवें तार पर है। यहाँ तक तो ठीक है, परंतु चौथी सारणा के गांधार और निषाद ने पाँचवें और अठारहवें तार पर आकर द्वितीय सारणा के ऋषभ और धैवत को अपने स्थान से विचलित कर दिया है, द्वितीय सारणा के ऋषभ और धैवत में चौथी सारणा के गांधार-निषाद के विलीनीकरण का विधान न तो कहीं है और न यह संभव ही है।

चौथी सारणा के ऋषभ-धैवत क्रमशः प्रथम सारणा के षड्ज-पंचम में लीन हो जाते हैं, यह अनुभवसिद्ध है, परंतु सारणा-प्रक्रिया में इस बात का कोई महत्त्व नहीं, क्योंकि सारणा-क्रिया का प्रयोजन मूल सप्तक के सातों स्वरों में ही बाईसों श्रुतियों का विलीनीकरण है[१]।

× × × ×

प्रश्न : यदि बाईस तारोंवाली वीणाओं में ध्वनित बाईस श्रुतियाँ अभीष्ट बाईस श्रुतियाँ नहीं हैं, तो बाईस तार बाँधने की आवश्यकता क्या थी?

---

१. महर्षि भरत की वीणा में सात तार हैं, चारों सारणाओं में उन्हें क्रमशः चार बार उतारा गया है, फलतः वह प्रक्रिया द्वितीय सारणा प्रथम सारणा का, तृतीय सारणा द्वितीय सारणा का और चतुर्थ सारणा तृतीय सारणा का लोप कर देती है। यदि हम ये चारों सारणाएँ चार पृथक्-पृथक् वीणाओं में करें, तो चारों सारणाओं के लिए चार वीणाओं के अट्ठाईस तार अपेक्षित होंगे।

लेखक ने 'श्रुतिदर्पण' नामक एक सारिका-वाद्य पर एक जैसे पाँच तार चढ़ाकर बाईस श्रुतियाँ प्रत्यक्ष की हैं और शार्ङ्गदेव की विधि को भी प्रयोग का विषय बनाया है। देखिए, 'भरत का संगीत-सिद्धांत' पृ० २२–२३

उत्तर :

(क) आचार्य्य शार्ङ्गदेव, मतंग इत्यादि के मत के अनुसार श्रुतियों से स्वर की उत्पत्ति मानते थे[1], फलतः षड्ज-मध्यम-पंचम की चतुःश्रुतिकता, ऋषभ-धैवत की त्रिश्रुतिकता और गांधार-निषाद की द्विश्रुतिकता को नेत्रों का विषय बनाने के लिए उन्होंने पृथक्-पृथक् बाईस तारों की योजना की और तारों से उद्भूत ध्वनि की संज्ञा 'श्रुति'[2] रखी, परंतु यह नहीं कहा कि प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय तार से उद्भूत ध्वनियाँ षड्ज की स्वतः सिद्ध तीन श्रुतियाँ हैं, क्योंकि चलवीणा में सारणाओं के परिणाम-स्वरूप प्राप्त प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय तार की सब ध्वनियाँ ध्रुववीणा के प्रथम तीन तारों में विलीन नहीं हो सकतीं।

(ख) संवाद का लक्षण करते हुए आचार्य शार्ङ्गदेव ने कहा है—'जिन दो स्वरों के मध्य में बारह या आठ श्रुतियाँ (गोचर) (प्रत्यक्ष) हों, उनमें परस्पर संवाद होता है[3]। बारह या आठ श्रुतियों का (दृष्टिगोचर) होना तभी संभव है, जबकि इस संख्या के अनुसार तार सम्मुख हों।

(ग) क्रमशः ऊँचे तारों में उत्पन्न ध्वनियाँ अभीष्ट सप्तक नहीं देतीं, इसी लिए स्वरों की स्थापना का विधान है। अंतरगांधार मध्यम की तथा काकली निषाद षड्ज की दो श्रुतियों का आश्रय लेता है[4], यह विधान आचार्य्य शार्ङ्गदेव का है। उन्होंने यह नहीं कहा कि 'अंतरगांधार' और 'काकली निषाद' अपने से अगली दो-दो श्रुतियाँ ले लेते हैं, क्योंकि दूसरी सारणा में ग्यारहवें और दूसरे तार पर ध्रुववीणा के षड्ज की अपेक्षा अंतरगांधार और काकली निषाद की प्राप्ति होती है। ध्रुववीणा के अटकल-पच्चू मिले हुए इन तारों पर 'अंतरगांधार' और 'काकली निषाद' प्राप्त नहीं होते, क्योंकि ये तार यथानियम सारित नहीं होते।

---

१. श्रुतिभ्यः स्युः स्वराः षड्जर्षभगांधारमध्यमाः। पंचमो धैवतश्चाथ निषाद इति सप्त ते।
—रत्नाकर, अड्यार सं०, पृ० ७८–७९

२. अधराधरतीव्रास्तास्तज्जो नादः श्रुतिर्मतः। —रत्नाकर, अ० सं०, पृ० ७०

३. श्रुतयो द्वादशाष्टौ वा ययोरन्तरगोचराः। मिथः संवादिनौ तौ स्तो…………।
—रत्नाकर, अ० सं०, पृ० ९२

भरत, मतंग इत्यादि ने तेरह और नौ श्रुतियों के अंतर को संवाद का कारण माना है। वे लोग पंचम और मध्यम की श्रुति को भी गिनते थे, क्योंकि उन्होंने केवल षड्ज-मध्यम या षड्ज-पंचम साथ छेड़कर संवाद देखा है; उनकी प्रक्रिया में अलग-अलग श्रुति के लिए अलग-अलग तार नहीं हैं। वे षड्ज से मध्यम तक नौ और षड्ज से पंचम तक क्रमशः नौ और तेरह श्रुतियों का विधान देते हैं।

आचार्य शार्ङ्गदेव दो स्वरों के मध्य में गोचर श्रुतियाँ बारह या आठ बता रहे हैं, अर्थात् पंचम और मध्यम की श्रुतियों को न गिनकर षड्ज-मध्यम के बीच की, षड्ज-पंचम के बीच की, ऋषभ-धैवत के बीच की और गांधार-निषाद के बीच की श्रुतियाँ गिना रहे हैं, क्योंकि उनके पास बाईस तार होने के कारण प्रत्येक श्रुति गोचर है।

४. श्रुतिद्वयं चेत्षड्जस्य निषादः संश्रयेत्तदा। स काकली मध्यमस्य गांधारस्त्वन्तरः स्वरः।
—रत्नाकर, अ० सं०, पृ० १११

× × × ×

आइए, अब आचार्य शार्ङ्गदेव के विधान के अनुसार परंतु आर्षक्रम से आचार्य का स्वरसप्तक प्राप्त करें।

आप चाहें, तो दो वीणाएँ ले सकते हैं। उनके तार यथाक्रम कुछ-कुछ ऊँचे मिला लीजिए। उनकी ऊँचाई के यथावत् परिमाण की चिंता में न पड़िए, क्योंकि इनका प्रयोजन 'संवाद' का नियम समझने के लिए तारों की संख्यामात्र जानना है। स्वर तो आपको विशिष्ट तंत्रियों पर स्थापित करना है।

आचार्य के विधान के अनुसार संवादी स्वर और उनके मध्य में स्थित श्रुतियाँ इस प्रकार हैं :—

संवादी स्वर :—	मध्यस्थ :— श्रुति-संख्या :—
सा—म	आठ (पाँचवीं से बारहवीं तक)
म—नि	आठ (चौदहवीं से इक्कीसवीं तक)
सा—प	बारह (पाँचवीं से सोलहवीं तक)
रे—ध	बारह (आठवीं से उन्नीसवीं तक)
ग—नि	बारह (दसवीं से इक्कीसवीं तक)

तंबूरे के षड्ज से ध्वनित होनेवाला गांधार ही प्राचीन 'अंतरगांधार' या आज-कल षड्ज के पश्चात् लगाए जाने से प्राप्त होनेवाला तीव्र गांधार है। षड्ज को मध्यम मानने पर यही गांधार उस मध्यम का धैवत हो जाता है।

अस्तु, यह सिद्ध है कि षड्ज और अंतरगांधार के मध्य में पाँचवीं से दसवीं तक छह श्रुतियाँ हैं और मध्यम एवं धैवत के मध्य में चौदहवीं से उन्नीसवीं तक छह श्रुतियाँ हैं। फलत: मध्यम और धैवत का अंतर षड्ज और अंतरगांधार के अंतर से भिन्न नहीं है, इसी लिए षड्जग्राम का 'अंतरगांधार' मध्यमग्राम का धैवत बन जाता है।

इतना जान लेने पर शार्ङ्गदेव के सप्तक की स्थापना सरल है, क्योंकि अभी तक यह कहने का दुस्साहस नहीं किया जा सका है कि आचार्य शार्ङ्गदेव के मध्यम, पंचम और अंतरगांधार भी 'अस्पष्ट' या 'विलक्षण' हैं।

चौथे तार की ध्वनि को षड्ज मानकर तेरहवें तार पर उसका मध्यम एवं सत्रहवें तार पर पंचम मिला लीजिए।

तेरहवें तार पर स्थित मध्यम को षड्ज मानकर बाईसवें तार पर उसका मध्यम मिला लीजिए, यह चौथे तार पर स्थित षड्ज का निषाद है।

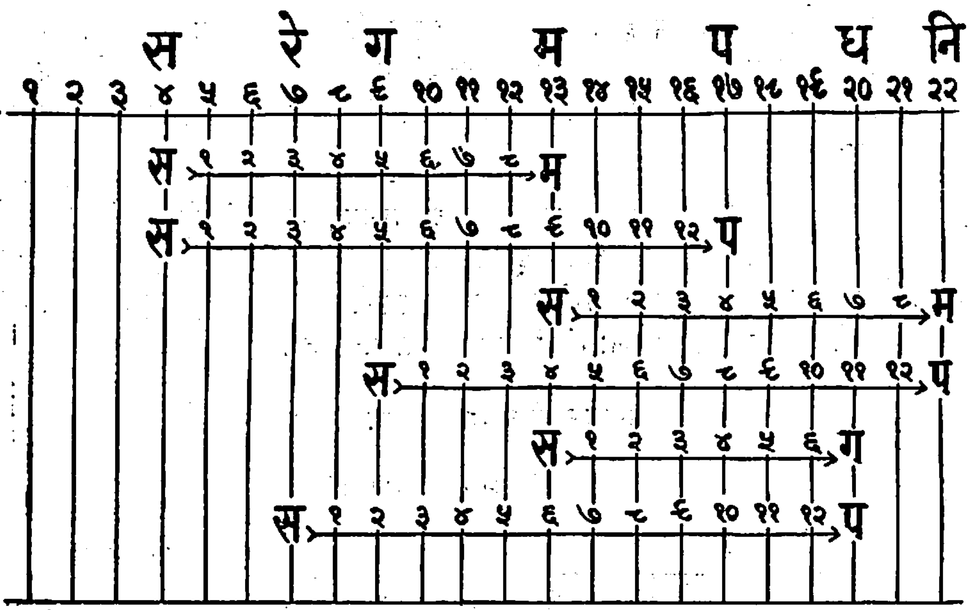
बाईसवें तार पर स्थापित निषाद को 'पंचम' मानकर नवें तार पर इसकी अपेक्षा अवरोह का षड्ज मिलाइए, यह चौथे तार पर स्थापित षड्ज का गांधार होगा।

तेरहवें तार पर स्थापित 'मध्यम' को 'षड्ज' मानकर बीसवें तार पर उसका तीव्र गांधार मिलाइए। ये चौथे तार पर स्थित 'षड्ज' का 'धैवत' होगा।

बीसवें तार पर स्थापित 'धैवत' को 'पंचम' मानकर सातवें तार पर उसका अवरोह में प्राप्य 'षड्ज' मिलाइए, यह चौथे तार पर स्थित 'षड्ज' का ऋषभ है।

आइए, अब वीणा-प्रस्तार में इस प्रक्रिया को देखें।

वीणा-प्रस्तार (ध्रुववीणा)



इस प्रकार चल-वीणा पर भी इसका समान-ध्वनि सप्तक प्राप्त किया जा सकता है। प्रयोग करनेवाले देखेंगे कि इस प्रकार प्राप्त ऋषभ का संवाद 'पंचम' से नहीं है और यह 'ऋषभ' यमन-कल्याण जैसे रागों में 'तीव्र ऋषभ' के नाम से प्रयुज्यमान ध्वनि की अपेक्षा उतरा हुआ है।

अब 'बुध' व्यक्तियों को प्रथम सारणा करना है। आचार्य शार्ङ्गदेव का कथन है कि जब पंचम अपनी श्रुति पर स्थित होता है, तब षड्जग्राम और जब पंचम अपनी उपान्त्य (मूलस्थान से पहली अर्थात् सोलहवीं) श्रुति पर स्थित होता है, तब मध्यमग्राम होता है[1]। इसका अर्थ यह है कि ऋषभ के साथ मध्यमग्राम के पंचम का संवाद होता है, क्योंकि ऋषभ और मध्यमग्रामीय पंचम के मध्य में आठवीं से पंद्रहवीं तक आठ ही श्रुतियाँ रह जाती हैं। आचार्य का यही विधान हमें प्रथम सारणा का मार्ग बताता है।

---

१. षड्जग्रामः पंचमे स्वचतुर्थश्रुतिसंस्थिते। स्वोपान्त्यश्रुतिसंस्थेऽस्मिन्मध्यमग्राम इष्यते।
—रत्नाकर, अ० सं०, स्वराध्याय, पृष्ठ १००

ऋषभ को 'षड्ज' मानकर सोलहवें तार पर उसका 'मध्यम' मिलाइए। इस प्रकार प्राप्त ध्वनि चौथे तार पर स्थित षड्ज की अपेक्षा 'मध्यमग्रामीय पंचम' होगी, जिसके साथ षड्ज का संवाद नहीं होगा। सोलहवें तार पर स्थित वह ध्वनि सत्रहवें तार पर स्थित ध्वनि से जितनी उतरी हुई है, उतना अंतर 'प्रमाणश्रुति' कहलाता है, क्योंकि यह अंतर ही दोनों ग्रामों में प्रमाणभूत है।

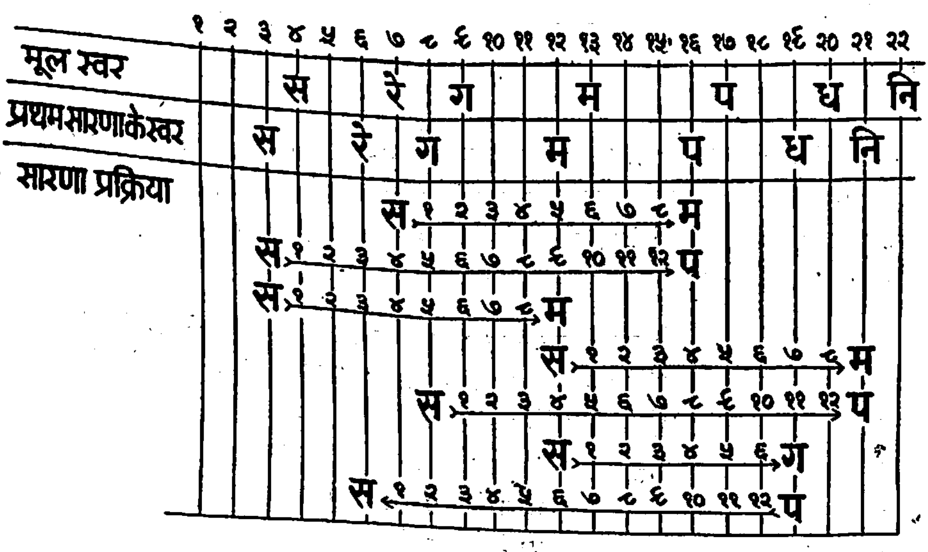
सोलहवें तार पर स्थित पंचम को षड्जग्रामीय पंचम मानकर उसका संवादी 'षड्ज' अवरोह की ओर तीसरे तार पर प्राप्त कीजिए।

अब इस नवीन षड्ज का मध्यम बारहवें तार पर प्राप्त कीजिए। मध्यम के आधार पर निषाद की प्राप्ति इक्कीसवें तार पर होगी। इस निषाद के आधार पर आठवें तार पर गांधार मिल जाएगा। बारहवें तार पर स्थित मध्यम के आधार पर उन्नीसवाँ तार धैवत में और उस धैवत के आधार पर छठा तार ऋषभ में मिल जाएगा।

आप देखेंगे कि इस विधि से तीसरे, छठे, आठवें, बारहवें, सोलहवें, उन्नीसवें और इक्कीसवें तारों पर एक नवीन षड्जग्रामीय सप्तक प्राप्त हो गया है, जिसका प्रत्येक स्वर ध्रुववीणा पर स्थित षड्जग्रामीय सप्तक के स्वरों की अपेक्षा एक-एक प्रमाणश्रुति उतरा हुआ है। यह अंतर 'केशाग्र' अंतर भी कहलाता है।

वीणा-प्रस्तार में प्रथम सारणा देखें :—

चलवीणा-प्रथम सारणा



× × × ×

अब द्वितीय सारणा करना है। चलवीणा के सातवें और बीसवें तारों को ध्रुव-वीणा के सातवें और बीसवें तारों की ध्वनि में क्रमशः भलीभाँति मिला लीजिए। मिले

हुए तो ये पहले से ही हैं, परंतु यदि कोई अंतर हो गया हो, ठीक कर लीजिए। चल-वीणा के सातवें और बीसवें तार की ध्वनियाँ ही क्रमशः द्वितीय सारणा के 'गांधार' और 'निषाद' हैं। इनके आधार पर अन्य स्वर प्राप्त कीजिए। प्रक्रिया निम्नलिखित है:-

बीसवें तार पर स्थित निषाद को मध्यम मानकर ग्यारहवें तार पर इसका संवादी षड्ज मिलाइए। यह षड्ज दूसरी सारणा का मध्यम है। मध्यम से दूसरे तार पर षड्ज प्राप्त कीजिए। षड्ज से पंद्रहवें तार पर पंचम, मध्यम के आधार पर अठारहवें तार पर धैवत और धैवत से पाँचवें तार पर इस सारणा का ऋषभ प्राप्त कीजिए। अब क्रमशः दूसरे पाँचवें, सातवें, ग्यारहवें, पंद्रहवें, अठारहवें और बीसवें तार पर द्वितीय सारणा के सातों स्वर हैं, जो ध्रुववीणा के स्वरों की अपेक्षा दो-दो श्रुति उतरे हुए हैं।

एक विशिष्ट बात और है। दूसरे, ग्यारहवें और पंद्रहवें तार पर बोलनेवाले द्वितीय सारणा के षड्ज, मध्यम और पंचम अपने मूल स्थान से दो-दो श्रुति उतर जाने के कारण ध्रुववीणा के षड्ज की अपेक्षा क्रमशः काकली निषाद (तीव्र निषाद), अतर-गांधार (तीव्र गांधार) और 'आधुनिक तीव्र मध्यम' बन गए हैं। यह तथ्य परिणाम प्रस्तुत करता है :—

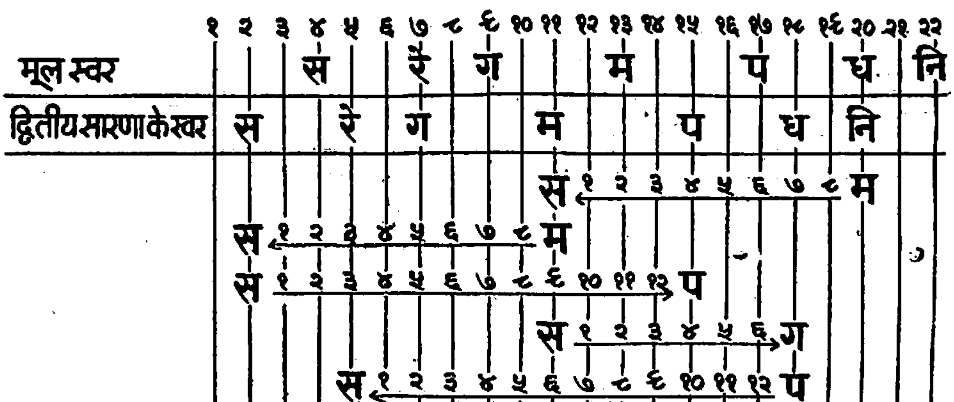
(१) यह सारणा-विधि ठीक है, अन्यथा द्वितीय सारणा में 'अंतरगांधार' और 'काकली निषाद' की उपलब्धि असंभव थी।

(२) आधुनिक तीव्र मध्यम पंद्रहवीं तथा मध्यमग्रामीय पंचम सोलहवीं श्रुति पर स्थित है। आधुनिक तीव्र मध्यम की अपेक्षा मध्यमग्रामीय पंचम कहीं ऊँचा है। फलतः आधुनिक तीव्र मध्यम को कुछ लोगों के द्वारा मध्यमग्रामीय पंचम कहा जाना ठीक नहीं।

(३) सोलहवीं और सत्रहवीं तंत्रियों के मध्य में प्राप्त होनेवाले 'प्रमाणश्रुति'-अंतर की अपेक्षा पंद्रहवीं और सोलहवीं तंत्रियों में पाया जानेवाला अंतर कहीं अधिक है, जो सिद्ध करता है कि **आचार्य शार्ङ्गदेव की श्रुतियाँ समान नहीं हैं।**

वीणा-प्रस्तार में दूसरी सारणा देखें :—

चलवीणा-प्रस्तार—द्वितीय सारणा



आप चाहें तो परीक्षा कर सकते हैं कि—

(अ) गांधार और मध्यमग्रामीय पंचम, षड्ज और अंतरगांधार, पंचम और काकली निषाद, मध्यम और धैवत तथा निषाद एवं ऋषभ में पाए जानेवाले अंतर समान हैं।

(आ) षड्ज-मध्यम, मध्यम-निषाद, अंतरगांधार-धैवत, काकली निषाद-अंतरगांधार तथा तीव्र मध्यम एवं काकली निषाद में पाए जानेवाले अंतर समान हैं।

(इ) षड्ज-पंचम, ऋषभ-धैवत, गांधार-निषाद एवं अंतरगांधार-काकली निषाद में पाए जानेवाले अंतर समान हैं। षड्ज - तीव्र मध्यम तथा गांधार-धैवत में सदृश अंतर है।

फलतः ये सारणाएँ असंदिग्ध रूप में शुद्ध हैं, पूर्वोक्त स्वरों में पूर्वोक्त अंतर ही वांछनीय भी हैं।

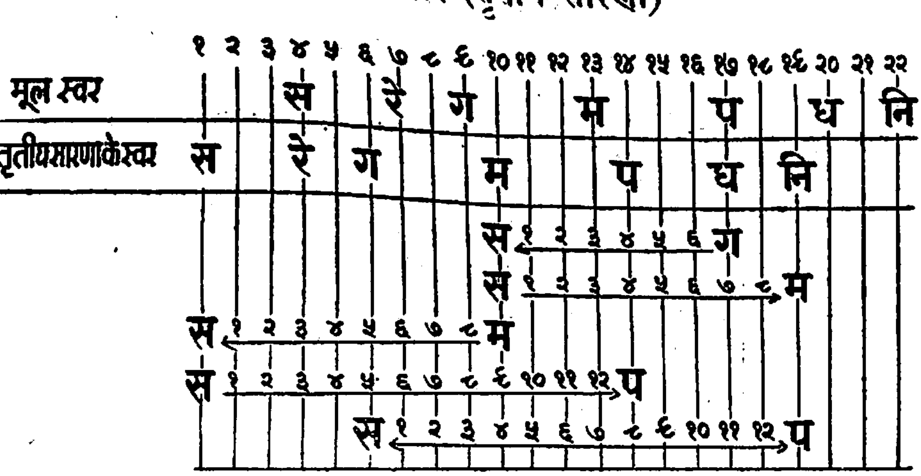
× × × ×

आइए, अब तीसरी सारणा करें—

चलवीणा के चौथे और सत्रहवें तार को ध्रुववीणा के इन्हीं तारों में क्रमशः फिर भलीभाँति मिला लीजिए। इन तारों पर चलवीणा में बोलनेवाली ध्वनियाँ तृतीय सारणा के ऋषभ धैवत हैं। धैवत को अंतरगांधार मानकर दसवें तार पर षड्ज प्राप्त करने से तृतीय सारणा का मध्यम, इस मध्यम के आधार पर पहले तार पर षड्ज, इस षड्ज के आधार पर चौदहवें तार पर पंचम, दसवें तार पर स्थित मध्यम के आधार पर उन्नीसवें तार पर निषाद और इस निषाद के आधार पर छठे तार पर गांधार की प्राप्ति हो जाने से क्रमशः पहले, चौथे, छठे, दसवें, चौदहवें, सत्रहवें और उन्नीसवें तारों पर तृतीय सारणा के सातों स्वर प्राप्त हो जाएँगे, जो ध्रुववीणा के स्वरों की अपेक्षा तीन-तीन श्रुति उतरे होंगे।

वीणा-प्रस्तार में तृतीय सारणा इस प्रकार है :—

चलवीणा-प्रस्तार (तृतीय सारणा)



× × × ×

चतुर्थ सारणा का प्रकार निम्नलिखित है :—

चलवीणा के बाईसवें, नवें और तेरहवें तार की ध्वनियों को ध्रुववीणा के इन्हीं संख्याओंवाले तारों की ध्वनि में भलीभाँति मिला लीजिए। ये ध्वनियाँ चतुर्थ सारणा के षड्ज, मध्यम और पंचम हैं। नवें तार पर स्थित इस मध्यम से, सोलहवें तार पर धैवत, और इस धैवत के आधार पर तीसरे तार पर ऋषभ, नवें तार पर स्थित मध्यम के आधार पर अठारहवें तार पर निषाद और निषाद के आधार पर पाँचवें तार पर गांधार की प्राप्ति हो जाएगी।

यह सारणा करने के बाद आप देखेंगे कि :—

(अ) आठवें और नवें तार की ध्वनि में 'ग' अंतर है।

(आ) नवें और दसवें तार की ध्वनि में भी 'ग' अंतर है।

(इ) दसवें-ग्यारहवें तार में 'क', ग्यारहवें-बारहवें में 'ख' और बारहवें-तेरहवें में 'ग' अंतर है।

एक दृष्टि से और देखिए :—

(अ) नवें तार की ध्वनि को 'षड्ज' मानने पर बारहवें तार पर उस षड्ज का प्राचीन ऋषभ बोल रहा है। सिद्ध हुआ कि षड्ज के पश्चात् से ऋषभ तक तीन श्रुतियों के परिमाण 'क', 'ख' और 'ग' हैं।

(आ) नवें तार की ध्वनि को शार्ङ्गदेव का निषाद मानने पर तेरहवाँ तार उसके षड्ज में बोलता है। सिद्ध हुआ कि निषाद के पश्चात् से षड्ज तक पाए जानेवाले अंतर 'क्रमशः 'ग', 'क', 'ख', 'ग' हैं।

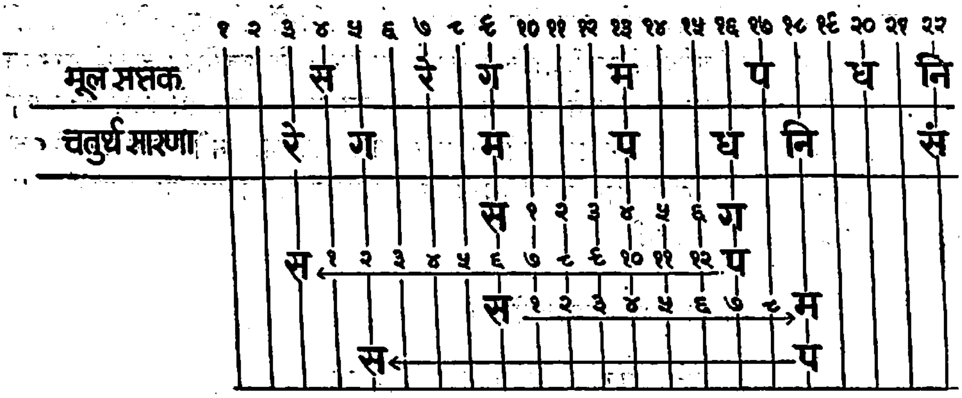
(इ) ग्यारहवें तार पर बोलनेवाली ध्वनि को ऋषभ मानने पर तेरहवाँ तार प्राचीन 'गांधार' ध्वनित करता है। सिद्ध हुआ कि ऋषभ के पश्चात् से गांधार तक पाए जानेवाले अंतर क्रमशः 'ख', 'ग' हैं।

(ई) नवें तार पर 'गांधार' एवं ग्यारहवें पर 'अंतरगांधार' हैं। गांधार के पश्चात् से अंतर गांधार क्रमशः 'ग', 'क' हैं, जो षड्ज और आधुनिक कोमल ऋषभ के अंतर के समान हैं।

(उ) ग्यारहवें तार पर अंतरगांधार और तेरहवें पर मध्यम हैं। अंतरगांधार के पश्चात् से मध्यम तक पाए जानेवाले अंतर 'ख, ग' हैं, जो ऋषभ-गांधार, तीव्र मध्यम-पंचम, धैवत-निषाद या काकली निषाद के अंतर के समान हैं।

चलवीणा पर चतुर्थ सारणा देखिए :—

चलवीणा-प्रस्तार चतुर्थ सारणा



पहले कहा जा चुका है कि तृतीय और चतुर्थ सारणाएँ प्रथम एवं द्वितीय सारणाओं के कुछ स्वरों को उनके स्थान से विचलित कर देती हैं, परंतु नवें, दसवें, ग्यारहवें; बारहवें और तेरहवें तार उन तारों में हैं, जिनकी स्थिति में अंतर नहीं पड़ता, फलतः इन तारों पर चारों सारणाओं का वास्तविक परिणाम दृष्टिगोचर होता है।

यद्यपि चतुःसारणाएँ बाईस तारों या बाईस सारिकाओं पर साक्षात् रूप में हमें क्रमशः बाईस श्रुतियों की प्राप्ति नहीं करातीं, तथापि नवें, दसवें, ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें तारों की ध्वनियाँ हमें चतुर्थ सारणा, तृतीय सारणा, द्वितीय सारणा, प्रथम सारणा एवं ध्रुववीणा के सप्तक में उपलभ्यमान अंतरों को प्राप्त करा देती हैं। हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि—

(अ) प्रत्येक चतुःश्रुति स्वर अपने से पूर्ववर्ती स्वर के पश्चात् 'ग', 'क', 'ख', 'ग' अंतर पर स्थित है।

(आ) प्रत्येक त्रिश्रुति स्वर अपने से पूर्ववर्ती स्वर के पश्चात् 'क', 'ख', 'ग' अंतर पर स्थित है।

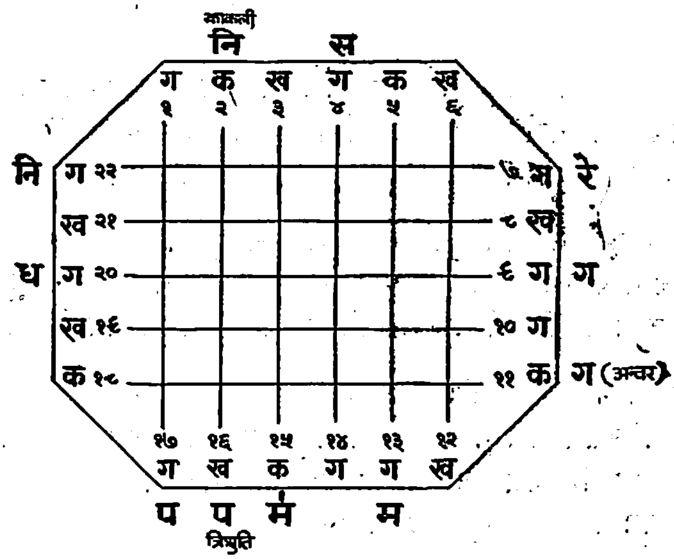
(इ) प्रत्येक शुद्ध द्विश्रुति स्वर अपने से पूर्ववर्ती स्वर के पश्चात् 'ख', 'ग' अंतर पर स्थित है। आधुनिक 'तीव्र मध्यम' की अपेक्षा 'पंचम' एवं काकली-निषाद की अपेक्षा षड्ज भी 'ख', 'ग' अंतर पर स्थित है।

(ई) अंतर गांधार, तीव्र मध्यम तथा काकली निषाद, गांधार, मध्यम तथा निषाद के पश्चात् 'ग', 'क' अंतर पर स्थित हैं।

यही निष्कर्ष हमने भरत-प्रक्रिया से सारणा करने पर प्राप्त किए हैं। 'मंडल-प्रस्तार' में स्वरों की इन श्रुतियों का क्रम देखिए :—

मंडल-प्रस्तार

(सप्तक में बाईस श्रुतियों का क्रम)



प्रस्तुत प्रस्तार में श्रुति-संख्याओं के साथ उनके 'क', 'ख', 'ग' परिमाण भी लिखे हुए हैं।

परीक्षा कीजिए :—

(क) दो स्वरों में यदि षड्जांतरभाव है, तो उनमें दो श्रुतियों का परिमाण 'क', दो का 'ख' और तीन का 'ग' है। जैसे षड्ज और अंतरगांधार में सात श्रुतियों का अतर है, तो षड्ज के पश्चात् से अंतरगांधार तक पाँचवीं और सातवीं श्रुतियों का परिमाण 'क', छठी और आठवीं का 'ख' और सातवीं, नवीं, दसवीं का 'ग' है।

गांधार-मध्यमग्रामीय पंचम, मध्यम-धैवत, निषाद-ऋषभ, पंचम-काकली निषाद में यही स्थिति है।

(ख) दो स्वरों में यदि नौ श्रुतियों का अंतर है, तो उनमें दो 'क', तीन 'ख' और चार 'ग' हैं।

षड्ज-मध्यम, मध्यम-निषाद, पंचम-षड्ज, ऋषभ-त्रिश्रुतिपंचम, अंतरगांधार-धैवत, काकलीनिषाद-अंतरगांधार, तीव्र मध्यम-काकली निषाद, धैवत-ऋषभ, निषाद-गांधार में यही स्थिति है।

(ग) दो स्वरों में यदि तेरह श्रुतियों का अंतर है, तो उनमें तीन 'क', चार 'ख' और छह 'ग' हैं।

षड्ज-पंचम, मध्यम-षड्ज, ऋषभ-धैवत, गांधार-निषाद, अंतरगांधार-काकली निषाद, त्रिश्रुतिपंचम-ऋषभ, निषाद-मध्यम, काकली निषाद-तीव्र मध्यम, धैवत तथा अंतरगांधार में यही स्थिति है।

× × × ×

आप्त महर्षियों अथवा प्रामाणिक आचार्यों की रहस्यपूर्ण उक्तियों के मर्म का ज्ञान या तो तत्त्ववित् गुरुओं की कृपा से होता है या श्रद्धापूर्वक उन वचनों का निरंतर मनन करने से। माँ सरस्वती की कृपा एवं दैन्य निरंतर अपेक्षित हैं।

आचार्य शार्ङ्गदेव जिस युग में हुए थे, उस युग के ग्रंथकार भी अनधिकारियों से विद्या को बचाने के लिए अपने ग्रंथों में ग्रंथियाँ लगाते थे। शार्ङ्गदेव के पिता के समसामयिक महाकवि श्री हर्ष ने तो अपने काव्य के अंतिम सर्ग में स्पष्ट लिखा है:—

"कहीं-कहीं मैंने यत्नपूर्वक इस ग्रन्थ में ग्रन्थियाँ रखी हैं, अपने-आपको पंडित माननेवाला 'खल' इसमें खेल न करे। श्रद्धापूर्वक आराधित गुरु ने जिसके लिए इसकी ग्रंथियों को शिथिल कर दिया है, वही सज्जन व्यक्ति इस काव्य की रस-लहरियों में मज्जन करने का सुख प्राप्त करे।"

आचार्य निश्शंक शार्ङ्गदेव का एक संदेश

हाँ, भाई, मैं शार्ङ्गदेव हूँ। वही शार्ङ्गदेव, जिसने 'संगीतरत्नाकर' की रचना की है। आज तुम्हारे सम्मुख प्रत्यक्ष हूँ। शंका कर रहे हो ? तुम तो श्रद्धालु हो, तुमने तो शास्त्र पढ़े हैं, क्या तुम्हें भी विश्वास नहीं कि स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर का पार्थक्य जीव का 'विनाश' नहीं होता।

भूल गए ? वेदव्यास ने तो महाभारत के पश्चात्, अठारहों अक्षौहिणियों के सभी दिवंगत योद्धाओं को बुलाकर पांडवों के सम्मुख प्रत्यक्ष कर दिया था। मृत्यु 'विनाश' तो नहीं है।

अब भी सोच रहे हो कि मृत जीव उसी आकार और प्रकार में कैसे प्रत्यक्ष हो सकते हैं ? यही प्रश्न जनमेजय के मन में उत्पन्न हुआ था और वैशम्पायन ने इस प्रश्न का युक्तियुक्त समाधान किया था। यही नहीं, महर्षि वेदव्यास ने उसी समय दिवंगत परीक्षित का आवाहन करके जनमेजय को विश्वास करा दिया था। तुमने तो यह सब-कुछ पढ़ा है।

'योगवाशिष्ठ' में महर्षि वशिष्ठ का यह वाक्य है कि ध्यान की उपेक्षा तो देवता भी नहीं कर सकते, वे आते ही हैं। मैं तो एक सामान्य जीव हूँ, आशुतोष भगवान् शंकर का एक सेवक मात्र। भला तुम दिन-रात मेरा चिंतन करो और मैं न आऊँ ? यह कैसे संभव है।

भाई, मैंने 'आहत' की भी साधना की थी और 'अनाहत' की भी। भगवान् शंकर की कृपा से मुझे दोनों पक्षों में सिद्धि प्राप्त हुई थी। इसी लिए मेरी उपाधि 'निश्शंक' थी। जिस कार्य का निमित्त बनाकर मुझे मृत्युलोक में भेजा गया था, देवाधिदेव की कृपा से वह पूरा हो गया था।

वह समय बड़ा विलक्षण था। मेरे जन्म से डेढ़-दो सौ वर्ष पूर्व ही भारत के उत्तरीय भाग की राजनीतिक स्थिति डावांडोल थी। यवनों के आक्रमणों ने विद्वानों को कश्मीर से भागने के लिए विवश कर दिया था। अमूल्य ग्रंथों को छाती से लगाए असंख्य विद्वान् दक्षिण की ओर चल पड़े थे। प्रश्न आजीविका का नहीं, ज्ञान-भांडार की रक्षा का था।

मेरे युग में मुईनुद्दीन चिश्ती अजमेरी, उनके शिष्य कुतुबुद्दीन बख्त्यार काकी, काजी हमीदुद्दीन नागौरी जैसे संगीतानुरागी जीवित थे और महमूद कव्वाल जैसे कव्वाल सुलतान शम्सुद्दीन इल्तुतमिश के दरबार में गजलों की धूम मचा रहे थे।

फिर संदेह कर रहे हो ? भाई, मैं शार्ङ्गदेव ही हूँ। 'संगीतरत्नाकर' में भी तो मैंने कहा है, 'जीवों का एक सूक्ष्म लिंगशरीर भी होता है, वह मोक्षपर्यन्त अक्षय रहता है, वह सूक्ष्म पंचभूत (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) सूक्ष्म-इंद्रियाँ, सूक्ष्म प्राणों (प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान), सूक्ष्म मन और सूक्ष्म अस्तित्व से युक्त रहता है। मेरे ये वचन अपनी उक्ति नहीं, वेदों, उपनिषदों, दर्शनों और पुराणों में प्रतिपादित सनातन तथ्य का पुनः कथन मात्र हैं।

विश्वास करो भाई, मैं शार्ङ्गदेव ही हूँ ।

पृथ्वीराज और जयचंद की पराजय की गाथा मेरे जीवन-काल की है। मेरे युग में संगीत-पद्धति बिखर गई थी। अनेक ग्रंथ परंपरा-विच्छेद के कारण दुरूह हो गए थे। मैं विद्वानों के वंश में उत्पन्न हुआ था। वेदांत, रसायन-शास्त्र और संगीत आदि विद्याएँ मेरे घर की थीं। देवगिरि के विद्याव्यसनी नरेशों ने हम लोगों को सिर पर बिठाया था।

अस्तु, मेरे समय में प्राचीन आचार्यों के ग्रंथ प्राप्त थे और मैंने गुरुमुख से उनको विधिवत् पढ़ा था।

समस्त भारत एक था। धर्म, दर्शन, सार्वदेशिक भाषा, देवता, मंदिर, तीर्थ सभी कुछ समस्त भारत के ऐक्य को प्रभावित करते थे। इस ऐक्य के अनश्वर प्रमाण आज भी हैं। कभी तुमने यह भी सोचा कि केवल संगीत के ही क्षेत्र में 'दाक्षिणात्य' और 'उत्तर-भारतीय' भेद तुम्हारे युग में क्यों और कैसे हो गए?

हाँ, तो मैंने गुरुमुख से संगीत के ग्रंथ पढ़े थे। इन के रचयिता भारत के विभिन्न भागों में हुए थे, परंतु इनका विषय-प्रतिपादन ठीक उसी भाँति एक समान सूत्र में पिरोया हुआ था, जैसे कि साहित्य, दर्शन अथवा अन्य विषयों के आचार्यों का। प्रदेश-भेद सत्य को तो नहीं बदल देता?

मैंने अभिनवगुप्त (कश्मीर) की 'अभिनव-भारती' पढ़ी थी, भोज (धारा) के सभी ग्रंथों का मनन किया था, नान्यदेव (मिथिला) का 'सरस्वती-हृदयालंकार' मेरा कंठहार था, परमर्दी (दक्षिण हैदराबाद), उनके पुत्र सोमेश्वर और उनके पुत्र जगदेक मल्ल के ग्रंथों का मनन मैंने भलीभाँति किया था।

ये महाविभूतियाँ तो पिछले एक सहस्र वर्ष में (तुम्हारे काल की अपेक्षा पिछले एक सहस्र वर्ष में) हुई हैं और इनसे पूर्ववर्ती आचार्यों, मुनियों और महर्षियों के ग्रंथों का रहस्य तो मुझे गुरुओं से प्राप्त हुआ ही था।

सोचा, प्राप्त ज्ञान को एकत्र सँजो दूँ। सत्संकल्प सर्वदा पूर्ण होते हैं। 'रत्नाकर' विश्व के समक्ष है, परंतु वह 'रत्नाकर' है, उसकी गंभीरता मछली पकड़ने-वाले नहीं जानते।

क्या सोच रहे हो? मैं किसका अनुयायी हूँ?

भाई, तुम तो परंपराओं से परिचित हो। 'संगीतरत्नाकर' में मैंने केवल महामुनि भरत के नाम से पूर्व 'भगवान्' विशेषण का प्रयोग किया है, उन्हें 'भगवान् भरत' कहा है। अब भी सोचते हो कि मैं किसका अनुयायी हूँ? मैं गर्वपूर्वक घोषित करता हूँ कि मैं महर्षि भरत का अनुयायी हूँ। मैं ही क्यों, जाने या अनजाने रूप में, विश्व ही भरत का अनुयायी है। पुराण पढ़ो, तो जानोगे कि कौन-कौन लोग भारत से कहाँ-कहाँ गए और यह भी विचार करो कि क्या-क्या ले गए। हाँ, तुमने तो यह सब-कुछ पढ़ा है।

अच्छा, विषयांतर नहीं होना चाहिए। प्रमुख विषय पर आ जाऊँ।

जानते हो कि 'रत्नाकर' में मैंने किन दो वीणाओं की सर्वाधिक प्रशंसा की है? तुम्हें याद आ रहा है, 'एकतंत्री' की और 'मत्तकोकिला' की।

एकतंत्री की प्रशंसा तो मतंग ने भी की है।

ठहरो, तुम्हें आज मतंग के 'बृहद्देशी' का वाद्याध्याय प्राप्त नहीं है।[1]

हाँ, याद आया। नान्यदेव ने स्वयं भी एकतंत्री की प्रशंसा की है और मतंग के द्वारा की हुई एकतंत्री की प्रशंसा की चर्चा भी की है।

मैंने भी एकतंत्री वीणा की ठीक ही प्रशंसा की है।

श्रुति, स्वर, मूर्च्छनाएँ तथा विभिन्न तानें एकतंत्री पर सिद्धस्वर-वादक के लिए प्रतिक्षण स्पष्ट रहती हैं। एक ही तंत्री पर संपूर्ण वादन-क्रिया के कारण इसमें एकाधिक तंत्रियों की सारणा का प्रश्न ही नहीं उठता। यह समस्त वीणाओं की जननी है।

मुस्करा रहे हो, अब तो विश्वास होता जा रहा है कि मैं शार्ङ्गदेव हूँ।

मत्तकोकिला की प्रशंसा दत्तिल ने भी की है, भरत ने भी मत्तकोकिला को ही आधार मानकर अपनी स्वरविधि स्पष्ट की है और मैंने भी मूर्च्छना-प्रकरण में मत्त-कोकिला या स्वरमंडल को ही आधार मानकर अपनी बात कही है।

'रत्नाकर' का वाद्याध्याय तुमने तो विधिवत् समझा है। मैंने वहाँ कहा है कि प्रथम अध्याय में 'श्रुतिवीणा' का वर्णन कर चुका हूँ। अब 'स्वरवीणाओं' की चर्चा करूँगा।

मेरे भाई, लोग पढ़ते कब हैं? श्रद्धा कहाँ है? जहाँ है, वहाँ 'ज्ञान' अवश्य है, 'श्रद्धावांल्लभते ज्ञानम्'।

'मत्तकोकिला' या 'स्वरमंडल' में मंद्र, मध्य और तार-स्थान के इक्कीसों स्वर अर्थात् तीनों सप्तक सर्वदा स्पष्ट रहते हैं। इक्कीस तंत्रियाँ इक्कीसों स्वर स्पष्ट करती हैं। इसी लिए संगीत-संप्रदाय में मत्तकोकिला को मुख्य वीणा कहा गया है। सच पूछो तो 'वैणिक' का अर्थ ही मत्तकोकिलावादक है, यही मुख्य वैणिक है। चित्रा के वादक को 'चैत्रिक' और विपंची के वादक को 'वैपंचिक' कहते थे, इन्हें 'वैणिक' नहीं कहा गया।

भरत के कुतप में 'वैणिक' और 'वैपंचिक' अलग-अलग गिनाए गए हैं। तुम तो जानते हो?

नारद की वीणा 'महती' थी, अर्थात् बड़े आकार का 'स्वरमंडल' इक्कीस तंत्रियों से युक्त। मुझे तुम्हारे युग के चित्रकारों पर दया आती है, जो मुंडित शिर पर एक खड़ी हुई शिखा बनाकर किसी बाबाजी के कंधे पर सितार रख देते हैं और नारद की तथाकथित आकृति बना डालते हैं।

---

१. 'मतंग-किन्नरी' के लिए देखिए, 'भरत का संगीत-सिद्धांत', पृ० ५६–७३

अच्छा, जाने दो। तुम तो जानते हो कि पुष्कर-वाद्यों के निर्माता स्वाति विपंचीवादक थे और मतंग 'चैत्रिक' थे। मतंग ने तो यह सब-कुछ लिखा है, परंतु तुम्हें 'बृहद्देशी' का वाद्याध्याय प्राप्त नहीं है। अच्छा, नान्यदेव का ग्रंथ पढ़ो, तुम्हें यह सब-कुछ मिलेगा। नान्यदेव ने इस प्रकरण को मतंग के वाद्याध्याय के आधार पर ही लिखा है।

क्या सोच रहे हो ? तुम तो पढ़ चुके हो, तो फिर मैं ठीक कह रहा हूँ न ! 'निश्शंक' ठीक ही कहता है, समझनेवाला चाहिए।

शार्ङ्गदेव के विरुद्ध 'संगीत-सुधा' का अपप्रचार

कई सौ वर्षों से लोग मुझे गालियाँ दे रहे हैं, यह परंपरा 'रघुनाथ' से आरंभ हुई है। उस समय दक्षिण में ब्राह्मण और ब्राह्मणेतर का प्रश्न उठ खड़ा हुआ था। रघुनाथ 'ग्वाला' था, क्षत्रिय नहीं। कुछ ब्राह्मण उसे राजा मानते थे और कुछ लोग उसकी अकुलीनता पर आक्षेप करते थे। इसके वेतनभोगी कर्मचारियों में 'गोविन्द' था, 'संगीतसुधा' इसकी कृति है, अर्थ के बल पर 'रघुनाथ' की कृति घोषित हुई। समय आने पर गोविंद के पुत्र वेंकटमखी ने रहस्य-भेद कर दिया और अपने ग्रंथ में 'रघुनाथ' को स्पष्ट 'गोपालक' (ग्वाला) कहा।

उँह, कहाँ से कहाँ आ गया ? यह युग का प्रभाव है। मन में बहुत-कुछ भरा है, जो फूट पड़ने के लिए मचल रहा है। इस समय ही तो कहने का अवसर मिला है।

हाँ भाई, गालियाँ किसे अच्छी लगती हैं ? क्षोभ होता ही है। तो मैं यह कह रहा था कि 'मत्तकोकिला' प्रधान वीणा है और मूर्च्छना-प्रकरण में मैंने परंपरानुसार इसी का आश्रय लिया है। कह तो चुका हूँ कि तीनों संपूर्ण स्थान इसी पर शुद्ध रूप में स्पष्ट होते हैं।

शार्ङ्गदेव की सारणा विषयक उक्ति

सारणा-प्रकरण और श्रुतिवीणा की चर्चा भी करूँगा, तनिक संतोष करो। श्रुति-वीणा में तो एक ही सप्तक है, श्रुतियाँ बाईस हैं। बाईस तंत्रियाँ बाईस श्रुतियों के लिए हैं। समस्त मूर्च्छनाओं का स्पष्टीकरण इस पर कैसे संभव है ? पहले स्वरों की बात सुन लो !

मैंने तो स्पष्ट कहा है कि जिन दो स्वरों के अंतर (बीच) में आठ या बारह श्रुतियाँ हों, वे परस्पर संवादी होते हैं। षड्ज और मध्यम के अंतर में (इन दोनों स्वरों की श्रुतियों को छोड़कर) आठ श्रुतियाँ हैं या नहीं ? यही स्थिति मध्यम और निषाद की है। अर्थात् षड्ज और मध्यम के अंतर के समान ही मध्यम और निषाद का अंतर है। मध्यम के संवादी निषाद का निषादत्व कल्लिनाथ के समय तक दक्षिण-भारत में भी सर्वमान्य था, कल्लिनाथ ने इस स्थिति को स्पष्ट किया है।

रामामात्य की भ्रष्ट स्वर-संज्ञाएँ

क्या 'रामामात्य' की बात सोच रहे हो ? मुझे उस पर दया आती है। वह जिस ध्वनि को 'शुद्ध निषाद' कहता है, वह तो तुम्हारे भातखंडे का तीव्र धैवत है, उसका

संवाद शुद्ध मध्यम के साथ कहाँ है? यदि रामामात्य ने अज्ञानवश अपनी मान्यता मेरे सिर पर थोपने की भूल की है, तो उसका उत्तरदायित्व मुझ पर कैसे है? 'रत्नाकर' के वाक्य 'मेरी बात' हैं, रामामात्य की उक्तियाँ उसकी 'अपनी बात' हैं। मेरा निषाद तो शुद्ध मध्यम का संवादी है।

यहीं सब-कुछ निर्णय है। रामामात्य के दृष्टिकोण का खंडन करनेवाले अनेक सज्जन मुझे व्यर्थ ही बीच में घसीटते हैं।

स्वर-संवाद और राग-संवाद

एक बात और समझ लो! संवाद के दो मुख्य भेद हैं, दो ध्वनियों या पारस्परिक अनुकूल्यविशेष स्वर-भेद है, जो कि 'सा–म', 'सा–प', 'म–नि', 'रे–ध' और 'गनि' में पाया जाता है। एक अन्य संवाद है राग-संवाद। रुद्रट-जैसे आचार्यों की दृष्टि में इस संवाद के लिए आवश्यक यह है कि परस्पर संवादी स्वरों की श्रुति-संख्या भी समान हो। मध्यम और निषाद में राग-संवाद नहीं है, क्योंकि मध्यम चतुःश्रुति है, निषाद द्विश्रुतिक। इसी लिए 'ग–नि' में परस्पर ही राग-संवाद है, अन्य स्वरों के साथ इनमें से किसी भी एक स्वर का राग-संवाद नहीं है। संवाद बताते समय मैंने ये दोनों ही दृष्टिकोण 'रत्नाकर' में स्पष्ट किए हैं।

राग-संवाद समझते तो हो, मेरे मुख से भी सुनना चाहते हो। अब भी संदेह है? वत्स, मैं शार्ङ्गदेव ही हूँ। अच्छा, तो सुनो!

मध्यमग्राम के ऋषभ-धैवत में परस्पर स्वर-संवाद तो है, परंतु ऋषभादि मूर्च्छना के रागों में राग-संवाद नहीं। उस ग्राम में ऋषभ त्रिश्रुतिक है और धैवत चतुःश्रुतिक। धैवत ने अपने स्थान का परित्याग तो उस स्थिति में नहीं किया है, परंतु त्रिश्रुतिक पंचम से वह चार श्रुतियों के अंतर पर है, इसी लिए मध्यमग्राम के ऋषभ-पंचम में राग-संवाद है, ऋषभ-धैवत में नहीं। याद रखो षड्ज-ग्राम के रागों में ऋषभ-धैवत की पारस्परिक संगति उभरी हुई रहती है और मध्यम-ग्राम के रागों में ऋषभ-पंचम की।

मध्यम-ग्राम में 'नि, ४सा, ३रे' का उत्तर 'ग, ४म, ३प' है। 'म, ३प, ४ध' जैसे स्वर-समुदाय की स्थिति 'नि, ४सा, ३रे' से सर्वथा भिन्न एवं विरोधिनी है। निषाद का अर्थ 'निषाद' है, जिसका मध्यम के साथ स्वर-संवाद है।

राग-संवाद को थोड़ा और स्पष्ट करूँ?

तीन स्वरों के समूह को मैं 'त्रिक' कहूँगा।

षड्ज ग्राम में 'सा, ३रे, २ग' का राग-संवाद 'प, ३ध, २नि' के साथ है, मध्यमग्रामीय 'प, ४ध, २नि' से नहीं, क्योंकि इस त्रिक के स्वरों में श्रुत्यंतरों का क्रम भिन्न है।

षड्जग्राम में 'नि, ४सा, ३रे' और 'म, ४प, ३ध' परस्पर राग-संवादी त्रिक है, यह राग-संवाद मध्यम-ग्राम के 'नि, ४सा, ३रे' और 'म, ३प, ४ध' में नहीं है।

इसी दृष्टि से यदि विचार किया जाए तो राग-संवाद का सिद्धांत हृदयंगम हो जाएगा। मनन करोगे, तो कुछ मिलेगा। तुमने तो किया है। जितना करोगे, आनंद में उतनी ही वृद्धि होगी।

भाई, मेरे युग में संगीत से सम्बद्ध सज्जन विविध कलामर्मज्ञ होते थे। वाग्गेय-कार और गायक की चर्चा करते समय मैंने यह सब-कुछ स्पष्ट कहा है।

तुम्हारा युग विलक्षण है। पढ़े बिना, पढ़ने और समझने की योग्यता हुए बिना, समझने और समझकर प्रत्यक्ष करने के लिए पर्याप्त धैर्य हुए बिना, अनेक सज्जन मुझे गालियाँ देते हैं। भगवान् उनका कल्याण करे।

अच्छा, तो यह असन्दिग्ध तथ्य है कि मध्यम और द्विश्रुतिक निषाद में परस्पर ध्वनि-संवाद या स्वर-संवाद है।

यों कहूँ कि षड्ज के आधार पर मध्यम और मध्यम के आधार पर निषाद की प्राप्ति स्वरज्ञ व्यक्ति अनायास कर सकता है।

निषाद के आधार पर गांधार की प्राप्ति सर्वथा संभव है, क्योंकि आरोह की ओर यदि देखा जाए, तो अग्रिम स्थान का गांधार मध्यम के पश्चात् नौ श्रुतियों के अंतर पर स्थिति है, या यों कहें कि निषाद और अग्रिमस्थानीय गांधार के अंतर (बीच) में आठ श्रुतियाँ हैं।

यदि अवरोह की ओर तुम किसी तंत्री पर वह ध्वनि मिलाओ, जिससे निषाद का अंतर षड्ज-पंचम के अंतर के समान हो, तो वह ध्वनि 'निषाद' होगी। अच्छा, मत्तकोकिला पर इसे देखो।

मत्तकोकिला पर स्वरविधि

यह देखो, मेरे पास 'मत्तकोकिला' है। तुम इसका चित्र बना लो।

हाँ, तो इसमें इक्कीस तंत्रियाँ हैं। पहली से सातवीं तक मंद्र-स्थान के लिए, आठवीं से चौदहवीं तक मध्य-स्थान के लिए और पंद्रहवीं से इक्कीसवीं तक तार-स्थान के लिए।

यह देखो, पहली, आठवीं और पंद्रहवीं तंत्री पर क्रमशः मंद्र, मध्य और तार-स्थान के षड्ज गुंजित हो रहे हैं।

गान-वादन की क्रिया मध्य-स्थान से आरंभ होती है। आठवीं और ग्यारहवीं तंत्री पर क्रमशः मध्यस्थानीय षड्ज और मध्यम बोल रहे हैं। चौदहवीं तंत्री पर मध्यम का संवादी निषाद है और दसवीं तंत्री पर निषाद का संवादी गांधार।

तेरहवीं तंत्री पर धैवत बोल रहा है।

हो विनोदी। सोच रहे हो कि धैवत का आधार किसे बताता हूँ। जानते हो, परंतु मुझसे ही सुनना चाहते हो।

अच्छा तो, सुनो।

धैवत की अन्वर्थता

'धैवत' शब्द की व्युत्पत्ति मतंग ने की है, आज 'बृहद्देशी' में यह पाठ लुप्त है, परंतु देवाधिदेव की अत्यंत कृपा है कि कल्लिनाथ की टीका में यह पाठ सुरक्षित है।

'धैवत' का अर्थ है, 'धीवान्' (बुद्धिमान्) व्यक्तियों से संबंध रखनेवाला स्वर। वास्तव में तुंबुरु को यह उपध्वनि के रूप में सुनाई दिया, इसका दर्शन उन्होंने ही किया था, यह चर्चा भी तो मैंने 'रत्नाकर' में की है।

अच्छा, यों कहूँ। बंबईवाले एक ध्वनि को 'तंबूरा-गांधार' कहते हैं। तंबूरे की मंद्र-षड्जीय तंत्री में से एक उपध्वनि परिष्कृत कानवाले सुधी व्यक्तियों को सुनाई देती है, वह तुम्हारी भाषा में 'स्वयंभू गांधार' और बंबइया सज्जनों की भाषा में 'तंबूरा-गांधार' है।

यदि तंबूरे की मंद्रषड्जीय ध्वनि को 'मध्यम' मान लिया जाए, तो स्वयंभू गांधार 'स्वयंभू धैवत' हो जाएगा। तुम्हें समझाने के लिए कह रहा हूँ। वैसे, 'धैवत' के पूर्व 'स्वयंभू' विशेषण अनावश्यक है; यह 'उपध्वनि' हलवाइयों या खटबुनों को नहीं सुनाई देगी, सुधी या धीवान् व्यक्तियों को ही सुनाई देगी।

तुंबुरु ने इस ध्वनि को सुना और इसे पृथक् तंत्री पर स्थापित करके उपध्वनि के स्थान पर ध्वनि बना दिया।

सारणाओं ने सिद्ध कर दिया कि मध्यम और धैवत का यह अंतर सप्त-श्रुतिक है।

जानता हूँ कि यह सुनकर तुम नहीं चौंकोगे कि मतंग ने सप्तश्रुतिक अंतर को भी 'संवाद' कहा है और ध्वनि-संवाद स्वाभाविक होता है। मध्यम भी चतुःश्रुतिक है और मध्यम-ग्राम का धैवत भी चतुःश्रुतिक। इन दोनों में सप्तश्रुत्यंतर भी है। इस ध्वनि-साम्य को भी मतंग ने संवाद कहा है। उनके ये शब्द पारस्परिक हैं।

मैंने 'रत्नाकर' में उन महानुभावों की चर्चा आरंभ में ही की है, जिनका मैं ऋणी हूँ, परंतु तुम्हारे युग के शोधकर्त्ता उन महानुभावों के ग्रंथों पर कृपा ही कब करते हैं? 'कल्लिनाथ' और 'सिंहभूपाल' की टीकाओं तक पर धैर्य-पूर्वक दृष्टिपात करने का अवसर इन्हें नहीं है।

हाँ, तो मैंने मध्यम के आधार पर धैवत की स्थापना तेरहवीं तंत्री पर की है और धैवत को आधार मानकर ऋषभ की स्थापना नवीं तंत्री पर, अर्थात् ऋषभ-धैवत का पारस्परिक अंतर षड्ज-पंचम के पारस्परिक अंतर के समान है।

यही भरत के षड्ज-ग्राम का मूल सप्तक अथवा षड्जादि मूर्च्छना है।

ग्रामणी स्वर

मतंग ने ग्राम के आधारभूत स्वर को 'ग्रामणी' स्वर कहा है। 'ग्रामणी' का अर्थ लोकभाषा में 'गाँव का चौधरी या प्रधान पुरुष' होता है। इस सप्तकरूपी ग्राम का प्रधान स्वर 'षड्ज' है।

यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि 'ग्रामणी' स्वर स्वयं चतुःश्रुतिक होता है। उसकी अपेक्षा अग्रिम स्वर त्रिश्रुतिक होता है और सप्तक के अंतर्गत ग्रामणी स्वर के संवादी दो स्वर होते हैं। यह विशेषता प्रत्येक ग्राम के मूल सप्तक में मिलेगी।

पूर्वोक्त सप्तक में षड्ज चतुःश्रुतिक है, उससे अग्रिम स्वर ऋषभ त्रिश्रुतिक है और 'ग्रामणी' स्वर के संवादी स्वर दो हैं, मध्यम और पंचम।

षड्जग्रामीय सांतरा प्रथम मूर्च्छना ही मध्यमग्रामीय प्रथम शुद्ध मूर्च्छना

देखो, दसवीं तंत्री पर गांधार बोल रहा है। यदि इसे इतना चढ़ा दो कि तेरहवीं तंत्री पर स्थित धैवत के साथ इसका ध्वनि-संवाद हो जाए अर्थात् चढ़े हुए गांधार और धैवत में षड्ज-मध्यम-संबंध हो जाए, तो मध्यम-ग्राम का मूल सप्तक बन जाएगा और आठवीं तंत्री से चौदहवीं तंत्री तक बोलनेवाली तंत्रियाँ 'म, प, ध, त्रि, सा, रे, ग़' हो जाएँगी।

देखो तो इस ग्राम का 'ग्रामणी' स्वर मध्यम चतुःश्रुतिक है, उससे अग्रिम स्वर पंचम त्रिश्रुतिक है और 'ग्रामणी' स्वर के ध्वनि-संवादी दो स्वर 'निषाद' और 'षड्ज' हैं।

भरत, दत्तिल, मतंग, नान्यदेव सभी तो कहते हैं कि षड्ज-ग्रामीय 'षड्ज-मध्यम' ही मध्यम-ग्रामीय 'मध्यम-निषाद' हो जाते हैं।

यहाँ रामामात्य बेचारे की गति कहाँ है?

षड्ज-ग्राम से मध्यम-ग्राम प्राप्त करने की दूसरी विधि

षड्ज-ग्राम से मध्यम-ग्राम प्राप्त करने की दूसरी विधि यह है कि पंचम को इतना उतार दो कि वह त्रिश्रुतिक ऋषभ का संवादी हो जाए। इस दशा में तुम्हें मध्यम-ग्रामीय 'सा रे, ग़, म, प, ध, त्रि' मिल जाएँगे, परंतु यह मध्यम-ग्राम की चौथी मूर्च्छना है, मूल मूर्च्छना नहीं।

मत्तकोकिला के मध्य स्थान पर दोनों ग्रामों के मूल सप्तकों की सिद्धि इस प्रकार होती है। मंद्र और तार-स्थानों में इनकी प्राप्ति भला क्या कठिन है?

मध्यम के अर्थ

इसी चर्चा में यह कह दूँ कि 'मध्यम' के अर्थ कई हैं। 'मध्यम' स्वर सप्तक के मध्य में स्थित स्वर तो है ही, वह सप्तक के मध्य भाग को नापनेवाला स्वर भी है। 'मध्यम' (मध्य+म=मध्यम) दो संवादी स्वरों के अंतराल को (मेरा तात्पर्य नव-श्रुतिक संवाद से है) भी नापता है। ये गुण तुम्हारे तथाकथित 'तीव्र मध्यम' में कहाँ हैं? ऐसी भ्रष्ट स्वर-संज्ञाओं का अवकाश 'रत्नाकर' में कहाँ है? तुम्हारी तीव्रमध्यम नामक ध्वनि की चर्चा यथास्थान करूँगा।

पायथोगोरस पर भारतीय प्रभाव

भगवान् का एक 'जीव' था 'पायथोगोरस'। दर्शनशास्त्र का इतिहास जिन्होंने पढ़ा है, वे जानते हैं कि इसने 'पुनर्जन्म' की भी चर्चा की है और पुनर्जन्मवाद केवल भारतीय ऋषियों की देन है। तुम्हारे युग के दर्शनशास्त्री भी मानते हैं कि उस पर भारतीय चिंतकों का प्रभाव था।

इतना और बता दूँ कि पायथोगोरस बेचारे को उस संबंध का ज्ञान नहीं था, जिसका निर्देश सप्तश्रुतिक संवाद के रूप में मतंग ने किया है और जिस स्वाभाविक संबंध को प्रत्यक्ष करके तुंबुरु ने धैवत का स्थापन और नामकरण किया था। 'कॉन्सोनेंस ऑव थर्ड' का ज्ञान तो यवनों को आज से प्रायः केवल दो सहस्र वर्ष पूर्व हुआ है।

मतंग की प्राचीनता

आचार्य अभिनवगुप्त ने मतंग को वंशी का आविष्कारक कहा है, समझ लो कि उनका समय कितना अधिक पहले होना चाहिए। अच्छा, तुंबुरु की चर्चा तो 'नाट्यशास्त्र' में भी है और वाल्मीकीय रामायण में भी। वाल्मीकीय रामायण को तो कोई भी पराक्रमी 'पायथोगोरस' के पश्चात् नहीं रख सकता। सामगान में सप्तस्वरों के प्रयोग की परंपरा का आरंभ तो सप्तक की पूर्ति के पश्चात् ही संभव है। सप्तक की पूर्ति की तुंबुरु ने। सिद्ध यह हुआ कि तुंबुरु का व्यक्तित्व तब का है, जब सामगान की सप्तस्वरीय परंपरा आरंभ नहीं हुई थी। उस समय तो बेचारे 'पायथोगोरस' के पूर्वज भी नहीं उपजे थे।

तुमने तो **वाल्मीकि-रामायण** पढ़ी है, सुन्दरकांड में **'विपंची'** नामक वीणा की चर्चा है।

मतंग का उद्धरण देते हुए नान्यदेव ने कहा है कि विपंची में नौ तंत्रियाँ होती थीं। जिन पर षड्ज-ग्रामीय मूल मूर्च्छना क्रमशः षड्ज, ऋषभ, गांधार, अंतरगांधार, मध्यम, पंचम, धैवत, निषाद और काकली निषाद की स्थिति होती थी।

इसका अर्थ यह हुआ कि रामायण-काल से पूर्व सप्तस्वरों का प्रचार तो था ही, अंतर-गांधार और काकली निषाद जैसे शुद्ध स्वर भी वीणाओं पर स्थापित हो चुके थे। यह तो कह ही चुका हूँ कि स्वाति भी विपंचीवादक थे। स्वाति की चर्चा 'नाट्यशास्त्र' में है। ये तथ्य तो अखंडनीय रूप में सिद्ध करते हैं कि तुंबुरु का व्यक्तित्व तब का है, जब शायद यवन-संस्कृति का जन्म भी न हुआ था।

परंतु भाई, तुम्हारे युग का तथाकथित संगीतशास्त्री यह सब-कुछ पढ़ता कब है?

तुम्हारे लोक से एक जीव 'पितृलोक' में आया है, मेरी स्थिति उसकी अपेक्षा कहीं अधिक विकसित है। वह मेरा चिंतन करने लगा। मैं उसके पास जा सकता हूँ, परंतु वह मेरे पास नहीं आ सकता। अस्तु, मैं उसके पास गया। 'संगीत' का प्रेमी है। उससे सारणा-प्रकरण पर वार्तालाप हुआ था, वही आज तुम्हें सुना रहा हूँ।

तुम्हारी सुविधा के लिए मैं उसका नाम 'जिज्ञासु' रखे देता हूँ। अब मेरा और उसका वार्तालाप मेरी ही वाणी में सुन लोः—

जिज्ञासु—कहिए महाराज, श्रुतियों के स्पष्टीकरण के लिए श्रुतिवीणा का आविष्कार क्या आपने किया था ?

मैं—नहीं, 'श्रुतिवीणा' प्राचीन वस्तु थी। मैंने 'रत्नाकर' के वाद्याध्याय के सप्तम श्लोक में स्पष्ट कहा है कि 'तत' वाद्य 'वीणा' कहलाते हैं। श्रुतियों और स्वरों का विवेचन करने के कारण वीणाएँ दो प्रकार की हैं, 'श्रुतिवीणा' और 'स्वरवीणा'।

जिज्ञासु—क्या 'श्रुतिवीणा' की चर्चा कहीं और भी है ?

मैं—क्यों नहीं, 'श्रुतिवीणा' के दो भेद 'चलवीणा' और 'ध्रुववीणा' मतंग ने भी दिए हैं। सारणा की जो प्रक्रिया मैंने दी है, वह 'बृहद्देशी' का स्पष्टीकरण मात्र है।

जिज्ञासु—यह बात मेरे लिए नवीन है !

मैं—हो सकता है, तुम्हें नवीन लग रही हो, परंतु 'बृहद्देशी' मेरे कथन में प्रमाण है।

जिज्ञासु—आपकी 'श्रुति' की परिभाषा क्या है ?

मैं—वही जो सबकी है, विश्वावसु ने कहा है कि वह ध्वनि ही 'श्रुति' है, जिसे कान से सुना जा सके। मतंग का भी कथन है कि सुनाई देने योग्य होने के कारण श्रुतियों की संज्ञा 'श्रुति' है। अभिनव गुप्त ने भी कहा है कि रंजक अथवा अरंजक ध्वनि 'श्रुति' है।

जिज्ञासु—अरंजक ध्वनि भी श्रुति है ?

मैं—अवश्य, क्योंकि वह सुनाई देती है।

जिज्ञासु—'श्रुति' और 'स्वर' में क्या अंतर है ?

रणन और अनुरणन

मैं—मतंग का कथन है कि स्वयमेव राजित अर्थात् शोभित होने के कारण 'स्वर' की संज्ञा स्वर है। मैंने कहा है कि 'श्रुति' के पश्चात् उत्पन्न होनेवाला वह नाद 'स्वर' है, जो अनुरणनात्मक हो, स्निग्ध हो, अर्थात् रूखा न हो और श्रोता के चित्त का रंजन करता हो।

जिज्ञासु—इसे तनिक और स्पष्ट कीजिए।

मैं—मैं तुम्हारी कठिनता समझ रहा हूँ, अच्छा ध्यान दो। घड़ियाल पर मूँगरी पड़ती है, तब मूँगरी के पड़ने का एक आरम्भिक शब्द होता है, जो एक गूँज वातावरण में छोड़ जाता है।

जिज्ञासु—ठीक है।

मैं—घड़ियाल पर मूँगरी के आघात से उत्पन्न ध्वनि 'रणन' कहलाती है और 'रणन' से उत्पन्न पश्चाद्वर्ती ध्वनि को 'अनुरणन' कहते हैं। 'रणन' और 'अनुरणन' यद्यपि दो विभिन्न क्रियाएँ हैं, परंतु उनके मध्य में सीमा-रेखा नहीं खींची जा सकती।

इसी प्रकार तंत्री पर 'कोण' या नखी (मिजराब) के आघात से उत्पन्न ध्वनि 'श्रुति' है और उसका 'रंजक अनुरणन' 'स्वर' है। अलंकार-शास्त्र में वाच्यार्थ को 'रणन' के समान और व्यंग्यार्थ को 'अनुरणन' के सदृश बताया गया है। वाच्यार्थ कब तिरोहित हो गया और व्यंग्यार्थ की प्रतीति किस क्षण हो गई, यह निश्चित नहीं किया जा सकता। उसी प्रकार श्रुतित्व की समाप्ति और स्वरत्व के आरंभ को निश्चित करनेवाली रेखा खींचना संभव नहीं है। व्यवहार की सुविधा के लिए यों भी कहा जा सकता है कि रंजक ध्वनि स्वर भी है और श्रुति भी, परंतु अरंजक ध्वनि श्रुतिमात्र है, स्वर नहीं। इसी लिए मैंने यह भी कहा है कि ध्रुववीणा की तंत्रियों से उत्पन्न नाद 'श्रुति' है।

जिज्ञासु—ठीक है।

सारणाएँ

मैं—देखो! 'रत्नाकर' में मैंने कहा है कि दो एक-जैसे आकार की वीणाएँ बनवा लेना चाहिए, जिससे कि उनका नाद सदृश हो, उन दोनों में बाईस तार होने चाहिए। उन दोनों वीणाओं में प्रथम तंत्री को वहाँ मिलाना चाहिए, जहाँ मिलाने पर उनसे मंद्रतम ध्वनि उत्पन्न हो।

जिज्ञासु—ठीक है, यहाँ तक तो स्पष्ट है।

मैं—आगे भी सब-कुछ स्पष्ट है। द्वितीय तंत्री को, दोनों वीणाओं में पहली तंत्री की ध्वनि से कुछ ऊँचा मिला लेना चाहिए। इसी प्रकार अन्य तंत्रियों को पूर्ववर्ती तंत्री की ध्वनि से ऊँचा मिला लेना चाहिए। समस्त तंत्रियों की ध्वनियाँ समान रूप से ऊँची हों, जिनमें विसदृश ध्वनि कोई न हो। अर्थात् समस्त तंत्रियों की ध्वनि की ऊँचाई में एक निरंतरता हो। इन तंत्रियों से उत्पन्न नाद 'श्रुति' है।

जिज्ञासु—इसका अर्थ क्या यह हुआ कि सप्तक के अंतर्गत समस्त श्रुतियाँ समान हैं?

मैं—सप्तक शब्द तुम कहाँ से ले आए? मैंने तो अभी सप्तक की चर्चा तक नहीं की है।

जिज्ञासु—फिर ये काहे की श्रुतियाँ हैं?

मैं—मुझे हँसी आती है। भाई, इस प्रकार मिलाई हुई तंत्रियों की ध्वनियों की संज्ञा 'श्रुति' है। सप्तक की बात तो अभी मैंने कही नहीं, सप्तक के अंतर्गत समस्त श्रुतियाँ समान हैं, यह निष्कर्ष तुमने कहाँ से निकाल लिया?

जिज्ञासु—फिर इन बाईस तारों को चढ़ाने का प्रयोजन क्या है?

मैं—स्वर-सप्तक की स्थापना और तत्पश्चात् सारणा करके अर्थात् तंत्रियों को यथानियम चढ़ाकर या उतारकर, सप्तक के अंतर्गत समस्त श्रुतियों का यथाक्रम ज्ञान प्राप्त करना।

जिज्ञासु—दो वीणाओं की क्या आवश्यकता है?

मैं—चलवीणा में सारणा-क्रिया होगी और ध्रुववीणा में सारणाओं के परिणाम 'ध्रुव' अर्थात् अविचल रूप में अंकित किए जाएँगे, इसी लिए उसका नाम ध्रुव-वीणा है।

जिज्ञासु—इसे थोड़ा और स्पष्ट कीजिए।

मैं—हमें चार सारणाएँ करनी हैं और प्रत्येक वीणा पर तंत्रियाँ केवल बाईस हैं। इसका अर्थ यह है कि कुछ सारणाएँ ऐसी होंगी जो अपनी अपेक्षा पूर्वतर सारणाओं में मिलाए हुए तारों को प्रभावित करेंगी।

जिज्ञासु—यह तो ठीक है, एक सारणा में एक सप्तक की सिद्धि होती है, कुछ तंत्रियाँ अवश्य ऐसी होंगी, जो एक से अधिक सारणाओं से प्रभावित होंगी।

मैं—तत्त्व यही है। सारणा-क्रिया चल-वीणा पर होगी और उसके परिणाम ध्रुव-वीणा पर ले आए जाएँगे। यह ध्यान रखना चाहिए कि ध्रुव-वीणा की जो तंत्री एक बार किसी सारणा के परिणाम से युक्त कर दी जाए, अगली किसी सारणा के परिणाम से ध्रुव-वीणा की उस तंत्री को प्रभावित नहीं होना चाहिए, यही उसके 'ध्रुव-वीणा' नाम की सार्थकता है। चल-वीणा सारणाप्रयोग का साधन है और 'ध्रुव-वीणा' उन सारणाओं के परिणामों को अपने-आपमें, अविचल रूप में, अंकित करने का स्थान है।

जिज्ञासु—जब आपके निर्देश के अनुसार सारणाएँ करेंगे, तब यह स्थिति ठीक-ठीक समझ में आ जाएगी।

मैं—अब तुमने समझदारों-जैसी बात कही।

जिज्ञासु—मैं इतना भलीभाँति समझ गया कि दोनों वीणाओं पर क्रमशः उच्चतर ध्वनियाँ सुनाई देने के कारण 'श्रुतियाँ' हैं, सप्तक के अंतर्गत प्राप्त होनेवाली क्रमिक श्रुतियाँ नहीं हैं।

मैं—यदि ऐसा होता तो, न तो दो वीणाओं की आवश्यकता होती और न चारों सारणाओं की। पूर्वोक्त प्रकार से दोनों वीणाओं में तंत्रियों का मिलाना तो सप्तक-स्थापन और सारणा-क्रिया की एक भूमिकामात्र है, जिससे कि सारणा-क्रिया में तंत्रियों को थोड़ा-बहुत उतारने-चढ़ाने से काम चल जाए।

जिज्ञासु—ठीक है।

मैं—मैंने स्पष्ट कहा है कि चौथे, सातवें, नवें, तेरहवें, सत्रहवें, उन्नीसवें और बाईसवें तार पर क्रमशः षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद स्थापित करना चाहिए।

जिज्ञासु—अर्थात् इन-इन तंत्रियों की ध्वनियों को अमुक-अमुक स्वर समझना चाहिए।

मैं—नहीं, 'समझना चाहिए' कहना होता, तो 'रत्नाकर' में 'स्थाप्यः' (स्थापित करना चाहिए) न कहकर 'बोध्यः' कहता। स्थापना तो उस वस्तु की होती है, जो पहले

से स्थापित न हो। बोध उस वस्तु का होता है, जो पहले से स्वतः सिद्ध हो। स्वरों की स्थापना उनके पारस्परिक संबंध के आधार पर होती है, अटकल से नहीं। अभी तक तो दोनों वीणाओं की तंत्रियाँ किसी संवाद के आधार पर नहीं मिलाई गई हैं; ऐसी दशा में यह कैसे कहा जा सकता है कि अमुक तंत्री की ध्वनि को अमुक स्वर समझ लेना चाहिए।

जिज्ञासु—ठीक है ! यहाँ तक मेरा ध्यान नहीं पहुँचा था।

मैं—इतना और समझ लो कि वीणाओं पर सारणा-क्रिया करने का पात्र खट-बुना या बढ़ई नहीं है, वह जीवन में प्रथम बार वाद्य नहीं देख रहा है। वह अपने युग के स्वर-सप्तक से परिचित है। फिर भी शास्त्र तो शासन का साधन है, उसे अपने-आपमें पूर्ण होना चाहिए। हाँ, तो चौथी तंत्री पर षड्ज की स्थापना करो। अर्थात्—चौथे तार की ध्वनि को वहाँ रखो कि प्रथम तंत्री और चतुर्थ तंत्री की ध्वनि में पंचम और धैवत का अंतर हो जाए।

जिज्ञासु—यह तो आपने 'रत्नाकर' में नहीं कहा है।

स्वरों की सापेक्षता

मैं—प्रगल्भ ! तुम्हारे स्वभाव का परिचय पाने के लिए ही मैंने छेड़छाड़ की थी। अच्छा, चौथे तार की ध्वनि के साथ तेरहवें तार की ध्वनि का संवाद कर दो। अर्थात् दोनों ध्वनियों में षड्ज-मध्यम-संबंध कर दो। इतना करने पर ही चौथे तार पर षड्ज और तेरहवें तार पर मध्यम स्थापित हो जाएँगे, क्योंकि स्वर सापेक्ष होते हैं। जब तक किसी सापेक्ष ध्वनि का अस्तित्व नहीं है, हम किसी ध्वनि को किसी स्वर की संज्ञा नहीं दे सकते। तेरहवीं तंत्री पर मध्यम की स्थापना ही चौथी तंत्री की ध्वनि को षड्जत्व देती है। यह स्वर-स्थापनाएँ 'ध्रुववीणा' में करो।

जिज्ञासु—जो आज्ञा।

मैं—अब सत्रहवीं तंत्री की ध्वनि का षड्ज-पंचम-संबंध चौथी तंत्री पर स्थापित षड्ज के साथ कर दो। सत्रहवीं तंत्री पर पंचम की स्थापना हो गई।

जिज्ञासु—ठीक है।

मैं—अब बाईसवीं तंत्री को वहाँ मिला दो कि तेरहवीं तंत्री की ध्वनि के साथ उसका षड्ज-मध्यम-संवाद हो जाए। यह निषाद हो गया।

जिज्ञासु—ठीक है।

मैं—अब नवीं तंत्री को वहाँ मिला दो कि उसकी ध्वनि षड्ज मानने पर बाईसवीं तंत्री की ध्वनि उसका पंचम हो जाए; अर्थात् नवीं और बाईसवीं तंत्री की ध्वनि में षड्ज-पंचम-संबंध हो जाए।

जिज्ञासु—ठीक है, इस प्रकार नवीं तंत्री पर गांधार स्थापित हो गया।

मैं—अब बीसवीं तंत्री को वहाँ मिला दो कि तेरहवीं तंत्री पर स्थित मध्यम से उसका मध्यम-धैवत-संबंध हो जाए।

(इस अवसर पर वत्स, उस जिज्ञासु के समक्ष धैवत स्वर की व्युत्पत्ति एवं मध्यम-धैवत-संबंध की स्वाभाविकता का स्पष्टीकरण मुझे करना पड़ा ।)

जिज्ञासु—ठीक है, धैवत की स्थापना हो गई।

मैं—अब सातवीं तंत्री को वहाँ मिला दो कि सातवीं और बीसवीं तंत्री की ध्वनियों में षड्ज-पंचम-संबंध हो जाए।

जिज्ञासु—ठीक, इस प्रकार सातवीं तंत्री पर ऋषभ आ गया।

प्रथम सारणा

मैं—छेड़कर देखो तो सातवीं तंत्री पर स्थित ऋषभ और सत्रहवीं तंत्री पर स्थित पंचम में परस्पर षड्ज-मध्यम-संवाद है या नहीं ?

जिज्ञासु—नहीं है, यह संवाद प्राप्त करने के लिए ऋषभ को 'कुछ' चढ़ाना पड़ेगा अथवा पंचम को कुछ उतारना पड़ेगा।

मैं—ठीक है। 'ध्रुववीणा' में जिस संख्या की तंत्री पर जो स्वर है, चलवीणा में भी उसी-उसी संख्या की तंत्री पर वह स्वर मिला लो। दोनों वीणाओं के स्वर एक जैसे बोलने चाहिए।

जिज्ञासु—जो आज्ञा।

मैं—अब सोलहवीं तंत्री को ऋषभ का संवादी कर दो। यह क्रिया दोनों वीणाओं में करो।

जिज्ञासु—जो आज्ञा।

मैं—अब सोलहवीं और सत्रहवीं तंत्री की ध्वनियों को देखो, क्रमशः छेड़ो।

जिज्ञासु—सोलहवीं तंत्री की ध्वनि सत्रहवीं तंत्री की ध्वनि की अपेक्षा कुछ उतरी हुई है।

मैं—दोनों तंत्रियों की ध्वनि के इस अंतर को ही 'प्रमाण-श्रुति' कहा जाता है। सोलहवीं तंत्री पर मध्यमग्रामीय और सत्रहवीं तंत्री पर षड्जग्रामीय पंचम है। षड्जग्राम में 'सा–प' संगति प्रबल रहती है, क्योंकि दोनों परस्पर संवादी हैं और मध्यमग्राम में 'रि–प' संगति प्रबल रहती है, क्योंकि ये दोनों परस्पर संवादी हैं।

जिज्ञासु—इसका अर्थ यह हुआ कि षड्जग्रामीय 'रे–प' और मध्यमग्रामीय 'सा–प' परस्पर संवादी हैं।

संवाद का अभाव मात्र विवाद नहीं

मैं—शीघ्रता न करो। 'संवाद' का अभाव 'विवाद' भी होता है और 'अनुवाद' भी। विवाद तो बीस या दो श्रुतियों का अंतर है, नव और तेरह श्रुतियों का अंतर

संवाद' है। शेष अंतर 'अनुवाद' है। इतना और याद रखो कि जिन दो ध्वनियों में ध्वनि-संवाद तो होता है, परंतु राग-संवाद नहीं, वे भी परस्पर 'अनुवादी' कहलाती हैं। अस्तु, मूल विषय से न हटो। 'ध्रुववीणा' और 'चलवीणा' की तीसरी, छठी, आठवीं, बारहवीं, उन्नीसवीं और इक्कीसवीं तंत्रियों पर क्रमशः षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, धैवत और निषाद की स्थापना करो।

जिज्ञासु—किस प्रक्रिया से ?

मैं—सोलहवीं तंत्री पर जो ऋषभ का संवादी पंचम तुमने प्राप्त किया था, तीसरी तंत्री की ध्वनि को वहाँ मिलाओ कि उस तंत्री की ध्वनि सोलहवीं तंत्री पर प्राप्त पंचम की अपेक्षा उसका संवादी षड्ज हो जाए।

जिज्ञासु—ठीक, समझ गया। अब इस नवीन षड्ज के आधार पर मध्यम, मध्यम के आधार पर निषाद, निषाद के आधार पर गांधार, मध्यम के ही आधार पर धैवत और धैवत के आधार पर ऋषभ की प्राप्ति सुगमता-पूर्वक हो जाएगी। फलतः तीसरी, छठी, आठवीं, बारहवीं, सोलहवीं, उन्नीसवीं और इक्कीसवीं तंत्री पर क्रमशः षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद बोलेंगे।

मैं—ठीक समझे हो। यह नवीन षड्ज-ग्रामीय सप्तक मूलसप्तक की अपेक्षा एक 'प्रमाणश्रुति' उतरा होगा।

जिज्ञासु—इस नवीन सप्तक की प्राप्ति की यह विधि ही **प्रथम सारणा** है न ?

मैं—हाँ, 'सारणा' का अर्थ 'सरकाना' या 'यथास्थान स्थापित करना' है। मूल सप्तक के ऋषभ के साथ संवाद करके मूल पंचम की अपेक्षा एक प्रमाणश्रुति उतरी ध्वनि सोलहवीं तंत्री पर प्राप्त की गई और उस नवीन पंचम के आधार पर प्रथम सारणा के अवशिष्ट स्वर प्राप्त किए गए। याद रखो, चौथी तंत्री पर ध्वनित होनेवाले षड्ज की अपेक्षा सोलहवीं तंत्री का पंचम मध्यमग्रामीय है, परंतु तीसरी तंत्री पर स्थापित प्रथम सारणा के षड्ज की अपेक्षा सोलहवीं तंत्री का पंचम षड्जग्रामीय ही है।

जिज्ञासु—यथार्थ है।

मैं—इस सारणा से किसी स्वरविशेष की चतुःश्रुतिकता, त्रिश्रुतिकता अथवा द्विश्रुतिकता सिद्ध नहीं होती। मध्यमग्रामीय पंचम की सिद्धि होती है और मूल सप्तक एवं प्रथम सारणा के स्वरों के अंतर का ज्ञानमात्र होता है। यद्यपि आगे चलकर यह सिद्ध होगा कि मध्यमग्रामीय पंचम त्रिश्रुतिक है, परंतु अभी तक इतना ही सिद्ध हुआ है कि मध्यमग्रामीय पंचम ऋषभ का संवादी है।

जिज्ञासु—ठीक है।

मैं—मतंग ने कहा है कि प्रथम सारणा में 'श्रुति-लाभ' नहीं होता, अर्थात् किसी स्वर की चतुःश्रुतिकता, त्रिश्रुतिकता एवं द्विश्रुतिकता सिद्ध नहीं होती। मतंग की भाषा में, प्रथम सारणा से 'श्रुतिलाभ के अभाव' का यही तात्पर्य है। वैसे, दोनों ग्रामों के

'पंचम' के अंतर को 'प्रमाणश्रुति' मतंग भी कहते हैं, परंतु मध्यमग्रामीय पंचम की सिद्धि तो ऋषभ के साथ उसका संवाद करते ही हो जाती है। उस पंचम की सिद्धि के लिए समस्त स्वरों को एक-एक प्रमाणश्रुति उतारना आवश्यक नहीं है।

प्रमाणश्रुति का अर्थ श्रुति का प्रमाण नहीं

जिज्ञासु—मैं तो 'प्रमाणश्रुति' का अंतर 'श्रुति का प्रमाण' समझता था।

मैं—मतंग की भाषा से तुम्हें यह भ्रम हुआ है, परंतु मतंग निर्दोष है। वास्तव में वह 'प्रमाणश्रुति' का मान यही कहकर बता रहे हैं कि दोनों ग्रामों के पंचमों का पारस्परिक अंतर 'प्रमाणश्रुति' है। उन्होंने 'श्रुति' का अर्थात् विशिष्ट श्रुति 'प्रमाणश्रुति' का नाम बताया है, 'श्रुतियों' का नहीं। मतंग की भाषा में एकवचन प्रयुक्त है, बहुवचन नहीं। मतंग ने भगवान् भरत के वचनों को उद्धृतमात्र किया है।

प्रमाणश्रुति का अर्थ 'श्रुति का नाप' शब्द-शास्त्र जाननेवाला व्यक्ति कभी नहीं करेगा।

जिज्ञासु—यथार्थ है।

दूसरी सारणा

मैं—अब दूसरी सारणा करो।

जिज्ञासु—कैसे ?

मैं—सातवीं और बीसवीं तंत्री पर जो मूल सप्तक के ऋषभ और धैवत हैं, उन्हें ही द्वितीय सारणा का क्रमशः गांधार और निषाद मान लो। अब ग्यारहवीं तंत्री को वहाँ मिलाओ कि उसकी ध्वनि और बीसवें तार की ध्वनि में षड्ज-मध्यम-भाव हो जाए, इस प्रक्रिया से ग्यारहवीं तंत्री पर द्वितीय सारणा के मध्यम की स्थापना हो जाएगी।

जिज्ञासु—ठीक है, इस मध्यम के आधार पर दूसरी तंत्री 'षड्ज' में, पंद्रहवीं तंत्री उसके पंचम में, अठारहवीं तंत्री धैवत में और पाँचवीं तंत्री ऋषभ में मिला लें।

मैं—हाँ, यही स्थिति 'ध्रुववीणा' पर भी कर लो।

जिज्ञासु—कर ली। इसका अर्थ यह हुआ कि अब ध्रुववीणा की दूसरी, तीसरी, चौथी, पाँचवीं, छठी, सातवीं, आठवीं, नवीं, ग्यारहवीं, बारहवीं, तेरहवीं, पंद्रहवीं, सोलहवीं, सत्रहवीं, अठारहवीं, उन्नीसवीं, बीसवीं, इक्कीसवीं और बाईसवीं तंत्रियों पर कोई-न-कोई ध्वनि प्राप्त हो चुकी है।

मैं—अब ध्रुववीणा पर पहली, दसवीं और चौदहवीं, अर्थात् तीन ही तंत्रियाँ बची हैं।

जिज्ञासु—सारणाएँ तो अभी दो और करनी हैं, परंतु तंत्रियाँ बची हैं ध्रुववीणा पर केवल तीन।

मैं—घबराते क्यों हो। दो वीणाएँ इसी लिए ली गई हैं। 'चलवीणा' पर सारणा-क्रिया हो रही है और उसके परिणाम 'ध्रुववीणा' पर ध्रुप रूप में आ रहे हैं।

जिज्ञासु—यही तो सोच रहा हूँ कि अवशिष्ट दो सारणाओं के परिणामों को अंकित करने के लिए तीन तंत्रियाँ कैसे पर्याप्त होंगी ?

मैं—थोड़ा धैर्य धारण करो। यह तो तुम देख ही रहे हो कि सातवीं और बीसवीं तंत्रियाँ दो-दो स्वरों का काम कर रही हैं।

जिज्ञासु—इन दोनों तंत्रियों पर क्रमशः मूल सप्तक के ऋषभ-धैवत और दूसरी सारणा के गांधार-निषाद हैं।

मैं—इस सारणा की अन्य विशेषताओं पर भी ध्यान दो। मूल सप्तक के षड्ज की अपेक्षा ग्यारहवीं तंत्री की ध्वनि तुम्हारा 'स्वयंभू गांधार' या बंबईवालों का 'तंबूरा-गांधार' है, पंद्रहवीं तंत्री की ध्वनि 'तीव्र मध्यम' है और दूसरी तंत्री की ध्वनि मंद्र तीव्र निषाद है। यह 'स्वयंभू गांधार' भरत का 'अंतर गांधार' है, 'तीव्र निषाद' भरत का 'काकली निषाद' है और मूल सप्तक के षड्ज को 'मध्यम' की संज्ञा दे देने पर तुम्हारा यह 'तीव्र मध्यम' मध्यमग्राम का 'काकली निषाद' है।

इस प्रकार द्वितीय सारणा में ही अंतर स्वरों की प्राप्ति हो जाती है। अब तीसरी सारणा करो।

तीसरी सारणा

जिज्ञासु—किस प्रकार ?

मैं—मूल सप्तक के 'षड्ज' और 'पंचम' को ही तीसरी सारणा के क्रमशः 'ऋषभ' और 'धैवत' मान लो। अब 'चलवीणा' पर दसवीं तंत्री को वहाँ मिलाओ कि सत्रहवीं तंत्री पर स्थित इस सारणा के धैवत के साथ दसवीं तंत्री की ध्वनि का मध्यम-धैवत-भाव हो जाए।

जिज्ञासु—ठीक है, इस प्रकार हमें तृतीय सारणा के मध्यम की प्राप्ति हो जाएगी। इस मध्यम के आधार पर प्रथम तंत्री इस मध्यम के षड्ज में, चौदहवीं तंत्री इस षड्ज के पंचम में, उन्नीसवीं तंत्री निषाद में और छठी तंत्री गांधार में मिला लें।

मैं—ठीक है, इस प्रकार पहली, चौथी, छठी, दसवीं, चौदहवीं, सत्रहवीं और उन्नीसवीं तंत्रियों पर हमें तृतीय सारणा के षड्ज इत्यादि स्वर क्रमशः मिल जाएँगे।

'ध्रुववीणा' पर इस सारणा के षड्ज, मध्यम और पंचम क्रमशः पहली, दसवीं और चौदहवीं तंत्री पर मिला दो।

जिज्ञासु—ठीक है। यही तंत्रियाँ 'ध्रुववीणा' पर ऐसी बची हैं, जिन्हें छुआ-छेड़ा नहीं गया है। अन्य तंत्रियों पर तो किसी-न-किसी सारणा का कोई स्वर विद्यमान है। आप कह चुके हैं कि 'ध्रुववीणा' के किसी तार को यदि एक बार विधिवत् मिला लिया जाए तो पुनः किसी भी सारणा का परिणाम अंकित करने के लिए उसे छूने-छेड़ने की आवश्यकता नहीं है।

इस सारणा के ऋषभ-धैवत तो चौथी और सत्रहवीं तंत्री पर मूल सप्तक के षड्ज-पंचम के रूप में स्वतः ही विद्यमान हैं। छठी और उन्नीसवीं तंत्री पर क्रमशः प्रथम सारणा के ऋषभ-धैवत हैं, अतः उन्हें छुआ-छेड़ा नहीं जा सकता।

मैं—तुम ठीक समझे हो। 'ध्रुववीणा' पर सप्तक के अंतर्गत क्रमागत बाईसों श्रुतियों की स्थापना तो हो गई है।

पहली, दूसरी, तीसरी और चौथी तंत्रियों पर क्रमशः षड्ज की; पाँचवीं, छठी, सातवीं पर ऋषभ की; आठवीं, नवीं पर गांधार की; दसवीं, ग्यारहवीं, बारहवीं और तेरहवीं श्रुति पर मध्यम की; चौदहवीं, पंद्रहवीं, सोलहवीं और सत्रहवीं पर पंचम की; अठारहवीं, उन्नीसवीं और बीसवीं पर धैवत की तथा इक्कीसवीं और बाईसवीं तंत्रियों पर निषाद की श्रुतियाँ हैं।

चौथी सारणा

जिज्ञासु—परंतु चौथी सारणा तो अभी हुई नहीं।

मैं—अभी होगी।

जिज्ञासु—उसका प्रयोजन क्या रह गया ?

मैं—अभी स्पष्ट हुआ जाता है, पहले चौथी सारणा तो करो।

जिज्ञासु—इस सारणा में क्या करना होगा।

मैं—मूल सप्तक के नवीं, तेरहवीं और बाईसवीं श्रुति-स्थित गांधार, मध्यम और निषाद को ही चौथी सारणा का मध्यम, पंचम और षड्ज मान लो। यह तो तुम्हें याद ही है कि यह क्रिया भी चलवीणा पर करनी है। अब सोलहवीं तंत्री पर तुम्हें चौथी सारणा का धैवत और तीसरी तंत्री पर ऋषभ स्वतः मिल जाएँगे, जो कि प्रथम सारणा के पंचम और षड्ज में मिले हुए हैं। चतुर्थ सारणा के गांधार और निषाद की प्राप्ति तुम्हें चलवीणा की पाँचवीं और अठारहवीं तंत्री पर करनी होगी।

जिज्ञासु—मध्यम के आधार पर निषाद और निषाद के आधार पर गांधार की प्राप्ति सुविधापूर्वक हो जाएगी।

चौथी सारणा का प्रयोजन

मैं—अब चौथी सारणा का प्रयोजन समझो।

जिज्ञासु—जी हाँ, यही मैं पूछनेवाला था।

मैं—'ध्रुववीणा' पर प्रथम सारणा के स्वर मूल सप्तक के स्वरों की अपेक्षा एक सारणा उतरे हुए हैं, दूसरी सारणा के स्वर दो सारणा उतरे हुए हैं।

जिज्ञासु—जी हाँ।

मैं—प्रथम सारणा का प्रयोजन 'प्रमाण-श्रुति' अंतर की प्राप्ति है।

जिज्ञासु—जी, द्वितीय सारणा का प्रयोजन जहाँ एक निषाद और गांधार की द्विश्रुतिकता सिद्ध करना है, वहाँ अंतर स्वरों की सिद्धि भी है। साथ-ही-साथ हमें इससे यह भी पता चलता है कि अंतर गांधार और मध्यम का, तीव्र मध्यम और

पंचम का तथा काकली निषाद और षड्ज का अंतर भी उतना ही है, जितना कि ऋषभ-गांधार या धैवत-निषाद का।

मैं—तुम सर्वथा ठीक समझे हो। तृतीय सारणा का प्रयोजन ऋषभ और धैवत की त्रिश्रुतिकता सिद्ध करना है। इस सारणा के सभी स्वर मूल सप्तक के स्वरों की अपेक्षा तीन सारणा उतर जाते हैं।

जिज्ञासु—यथार्थ है।

मैं—अब यदि हमें मूल सप्तक की अपेक्षा चार सारणा उतरे हुए सप्तक को सुनना हो, तो 'चलवीणा' पर चौथी सारणा करने के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है, क्योंकि तृतीय सारणा के परिणाम 'ध्रुववीणा' पर लाते ही उस पर कोई तंत्री ऐसी नहीं बचती, जिस पर विधिवत् स्वरस्थापना न हो चुकी हो। इस चार सारणा उतरे हुए सप्तक की सिद्धि केवल 'चलवीणा' पर होती है। जिसका विशिष्ट प्रयोजन यह सिद्ध करना है कि चौथी सारणा के मध्यम, पंचम और षड्ज मूल सप्तक के क्रमशः मध्यम, पंचम और षड्ज से चार सारणा उतरे हुए हैं, जोकि मूल सप्तक के गांधार, मध्यम और निषाद के रूप में ध्रुववीणा पर विद्यमान हैं।

जिज्ञासु—ठीक है, जब तक हम चौथी सारणा न करें, तब तक हमें यह पता नहीं चल सकता कि मूल सप्तक के स्वर किस स्वर-सप्तक की अपेक्षा चार सारणा चढ़े हुए हैं।

मतंग की उक्ति का रहस्य

मैं—यही बात है। मतंग ने दूसरे प्रकार से यही बात कही है। वे कहते हैं कि दूसरी सारणा में चार, तीसरी सारणा में छह और चौथी सारणा में बारह श्रुतियों की प्राप्ति होती है।

जिज्ञासु—यह बात समझ में नहीं आई।

मैं—बात सीधी-सी है। निषाद और गांधार की द्विश्रुतिकता की सिद्धि दूसरी सारणा में होती है। इन दोनों स्वरों की कितनी श्रुतियाँ हुईं ?

जिज्ञासु—चार।

मैं—तीसरी सारणा में ऋषभ और धैवत की त्रिश्रुतिकता सिद्ध हुई, इन दोनों की कितनी श्रुतियाँ हुईं ?

जिज्ञासु—तीन और तीन छह।

मैं—चौथी सारणा में मध्यम, पंचम और षड्ज की चतुःश्रुतिकता सिद्ध हुई। इनकी श्रुतियाँ कितनी हुईं ?

जिज्ञासु—बारह। ठीक है चार, छह और बारह—इनका योग बाईस हो गया।

मैं—अब 'ध्रुववीणा' पर सप्तक के अंतर्गत सिद्ध श्रुतियाँ हैं।

जिज्ञासु—इन्हें छेड़ने पर पता चलता है कि इनके अंतर तो समान नहीं हैं।

मैं—मैंने कब कहा है कि समान हैं ?

जिज्ञासु—लोग तो यही समझते हैं।

मैं—इसे मैं क्या करूँ। यह तो शास्त्रकारों ने कहा है कि जिन दो स्वरों में नौ या तेरह श्रुतियों का अंतर हो, वे परस्पर संवादी होते हैं, परंतु यह किसी ने नहीं कहा कि सप्तक की किन्हीं भी नौ श्रुतियों में संवाद होता है। यदि हम लोग श्रुतियाँ समान मानते होते तो यही कहते कि किसी भी श्रुति की अपेक्षा उसकी नवम् श्रुति संवादिनी होती है।

जिज्ञासु—इतना विचार तो हमने कभी नहीं किया था।

मैं—भगवान् तुम्हारा मंगल करे।

प्रकृतिस्थ होकर सुनो। निर्मल और स्थिर अंतःकरण में सब-कुछ प्रतिबिंबित होता है। हिलते हुए जल में प्रतिबिम्ब कब दृश्यमान होता है, जल की स्थिरता ही उसमें प्रतिबिम्बग्रहण की स्थिति उत्पन्न करती है।

हाँ, तो षड्जग्रामीय और मध्यमग्रामीय मूल सप्तकों का स्पष्टीकरण तो कर चुका हूँ। स्वच्छचेता मानव के लिए वहाँ शंका का अवकाश नहीं है।

तुम्हारे कोमल ऋषभ-धैवत की संज्ञाओं का अस्तित्व वहाँ नहीं है। हाँ, अभीष्ट ध्वनियाँ सभी हैं।

थोड़ा मूर्च्छना पर विचार करो।

'षड्ज' शब्द के अर्थ दो हैं 'अन्य छह स्वरों को उत्पन्न करनेवाला स्वर' और 'अन्य छह स्वरों से उत्पन्न होनेवाला स्वर'। ये दोनों ही अर्थ मतंग ने दिए हैं।

जिस षड्जग्रामीय सप्तक की सिद्धि तुम देख चुके हो, उसकी सिद्धि का आधार स्वर या मूल स्वर 'षड्ज' है।

मत्तकोकिला पर प्रत्यक्ष प्रयोग

मत्तकोकिला की इक्कीस तंत्रियों पर षड्जग्रामीय मूल सप्तक के तीनों संपूर्ण स्थान प्रत्यक्ष हैं। पहली तंत्री से सातवीं तंत्री तक मंद्र-स्थान, आठवीं से चौदहवीं तक मध्यम स्थान और पंद्रहवीं से इक्कीसवीं तक तार-स्थान।

अब यदि तुम चाहो, तो षड्जग्रामीय 'शुद्धा' मूर्च्छनाओं के सातों प्रकार इसी स्थिति में मत्तकोकिला पर देख सकते हो। (यह 'शुद्धा' शब्द मतंग का है, गांधार और निषाद के द्विश्रुतिक होने पर मूर्च्छना की संज्ञा 'शुद्धा' ही होती है।)

यदि मत्तकोकिला के इक्कीसों तारों पर क्रमश: षड्जग्रामीय 'सारिगमपधनि' मिले हों तो अन्य मूर्च्छनाओं का रूप तो दिखाई दे जाएगा, परंतु अन्य मूर्च्छनाओं के त्रिस्थानीय संपूर्ण रूप दृष्टिगोचर नहीं होंगे।

तुमसे कहा था कि मत्तकोकिला का चित्र बनाओ, बात तुम्हारे युग के व्यक्तियों की समझ में आनी चाहिए।

तंत्रियाँ--	१	२	३	४	५	६	७
स्वर—	सां	रें	गं	मं	पं	धं	निं
	८	९	१०	११	१२	१३	१४
	सा	रे	ग	म	प	ध	नि
	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१
	र्सा	र्रि	र्ग	र्म	र्प	र्ध	र्नि

ठीक किया, स्वरों के ऊपर स्थानसंबंधी चिह्न लगा दिए। मंद्रस्थानीय स्वरों के ऊपर बिंदु, मध्यस्थानीय स्वरों का चिह्नरहित होना और तारस्थानीय स्वरों के ऊपर ऊर्ध्व रेखा, भारतीय स्वरलिपि की विशेषताएँ हैं, मतंग ने भी इसी उपाय का अवलंबन परंपरा के अनुसार किया है और मैंने भी।

स्वरांकन की यह परंपरा 'गांधर्व' में है, 'सामवेद' की स्वरलिपि-परंपरा और है।

आज का युग अँग्रेजों का साक्ष्य अवश्य चाहता है। यह भी लो :—

संगीत-लिपि का उद्गम-स्थान भारत

'ऐनी विल्सन' ने लिखा है—'हिंदुओं को इस बात का अभिमान करना चाहिए कि उनकी संगीत-लिपि सबसे प्राचीन है। इनकी पुस्तक का नाम है—'शार्ट अकाउंट ऑव् दी हिंदूसिस्टम्स ऑव् म्यूजिक'। इस पुस्तक का पाँचवाँ पृष्ठ देखो।

और लो।

'इंडियन गैजेटियर', इंडिया पृ० २२३ पर सर विलियम हंटर कहते हैं—

"संगीत-लिपि भारत से ईरान में, फिर अरब में और वहाँ से गाइडो डी अरेंजो के द्वारा ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी में योरोप में पहुँची।"

अब तो मनस्तोष हुआ ?

फिर शंका कर रहे हो ? यह कैसा शाङ्गदेव है, जो आंग्ल-भाषा जानता है। भाई, भाषा के बंधन हमारे लिए नहीं हैं, हम विचारों को पकड़ते हैं, भाषा तो माध्यम-मात्र है। हमारी अर्थात् सूक्ष्म शरीरों की कुछ विवशताएँ हैं, तो कुछ विशेषताएँ भी।

हम नवीन ज्ञान को अत्यंत शीघ्रता से हृदयंगम कर लेते हैं। तुम्हारी अर्वाचीन राष्ट्र-भाषा का ज्ञान प्राप्त करने में हम लोगों को कोई असुविधा नहीं हुई।

बात 'मूर्च्छना' की हो रही थी। स्वरलिपि की बात कहे बिना रह नहीं सका।

हाँ तो, मत्तकोकिला को वर्तमान स्थिति में निषादादि मूर्च्छना सातवीं तंत्री से तेरहवीं तंत्री तक अथवा चौदहवीं तंत्री से बीसवीं तंत्री तक मिलेगी, परंतु निषादादि मूर्च्छना का मंद्रस्थानीय आरंभक स्वर नहीं मिलेगा।

निषादादि मूर्च्छना के आरंभक स्वर में यदि तुम मृदंग, अपना तानपूरा या अन्य स्वर-वाद्य मिला लो, तो निषाद की उपाधि 'स्थायी स्वर' हो जाएगी, क्योंकि उस अवस्था में यह गान-वादन का आधार स्वर होगा। तानपूरे पर यही निषाद प्रधान रूप में छिड़ रहा होगा। तानपूरे का पंचमवाला तार स्थायी स्वर 'निषाद' के संवादी स्वर गांधार में मिलाना होगा।

इस स्थिति में गान-क्रिया तो सम्पन्न होगी, परंतु निषाद का मंद्र रूप मत्त-कोकिला पर प्राप्त नहीं होगा। हाँ, तानपूरे पर वह तुम्हें प्राप्त होगा। मत्तकोकिला-वादक को वादन-क्रिया में वह अप्राप्य रहेगा, क्योंकि मत्तकोकिला की आदिम तंत्री पर तो 'षड्ज' है जो निषादादि मूर्च्छना का द्वितीय स्वर है।

हाँ, इतना याद रखो कि षड्जग्रामीय निषादादि शुद्ध मूर्च्छना ही तुम्हारे 'भातखंडे' का बिलावल ठाठ और आधुनिक दाक्षिणात्यों का शंकराभरण है। हम लोग मूर्च्छना के आरंभक स्वर की संज्ञा बदलकर उसे 'षड्ज' कभी नहीं कहते थे।

यदि तुम्हें धैवतादि मूर्च्छना के रागों का वादन करना है, तो तुम्हें अपना तानपूरा और मृदंग मत्तकोकिला की छठी तंत्री में मिलाने होंगे। छठी से बारहवीं तक और तेरहवीं से उन्नीसवीं तंत्री तक तुम्हें क्रमशः 'ध, नि, सा, रे, ग, म, प' की प्राप्ति हो जाएगी, परंतु तृतीय सप्तक की प्राप्ति संपूर्ण रूप में नहीं होगी।

यदि पंचमादि मूर्च्छना के रागों का वादन करना चाहते हो तो तुम्हें तानपूरा इत्यादि वाद्यों को और उतार कर मत्तकोकिला की पाँचवीं तंत्री में मिलाना होगा। पाँचवीं से ग्यारहवीं तक और बारहवीं से अठारहवीं तंत्री तक तुम्हें दो पंचमादि सप्तकों की प्राप्ति हो जाएगी, परंतु तृतीय सप्तक की प्राप्ति संपूर्ण रूप में नहीं होगी।

इसी प्रकार मध्यमादि, गांधारादि और ऋषभादि मूर्च्छना के रागों का वादन संबद्ध तंत्रियों में तानपूरा और मृदंग मिलाकर किया जा सकता है, परंतु षड्जादि मूर्च्छनाओं के अतिरिक्त अन्य मूर्च्छनाओं के त्रिस्थानीय संपूर्ण रूप इस स्थिति में प्राप्त नहीं हो सकते। साथ ही इस प्रक्रिया में अन्य वाद्यों को मूर्च्छना के आरंभक स्वर के अनुसार उतारना या चढ़ाना पड़ता है।

ऐसी भी एक प्रक्रिया है, जिससे तानपूरा इत्यादि वाद्य उतारने-चढ़ाने नहीं पड़ते, वे मत्तकोकिला की आठवीं तंत्री की ध्वनि में मिले रहते हैं और प्रत्येक मूर्च्छना के संपूर्ण त्रिस्थानीय रूपों की प्राप्ति हो जाती है।

मत्तकोकिला का मध्यम स्वर

तुम जानते हो कि मत्तकोकिला की आठवीं तंत्री की ध्वनि मध्यस्थान की आरंभक ध्वनि है। यही वीणा का (सप्तक का नहीं) मध्यम स्वर है, जो मतंग के और मेरे शब्दों में षड्जग्रामीय मूल मूर्च्छना का षड्ज है। इसी ध्वनि को निषाद, धैवत, पंचम, मध्यम, गांधार या ऋषभ मानकर अवशिष्ट तंत्रियों को यथास्थान उतारकर या चढ़ाकर विभिन्न मूर्च्छनाओं की स्थापना की जाए और मंद्रस्थानीय तथा तारस्थानीय सातों तंत्रियों पर भी वांछनीय मूर्च्छना की स्थापना की जाए तो मूर्च्छना के तीनों संपूर्ण रूपों की प्राप्ति हो जाएगी।

तुम्हारा युग सूत्र नहीं समझता। अच्छा, मध्यस्थानीय तंत्रियों पर कुछ मूर्च्छनाओं की सिद्धि करूँ।

निषादादि मूर्च्छना

तंत्री-संख्या—	८	९	१०	११	१२	१३	१४
साध्य स्वर—	ऩि	स	रे	ग॒	म	प	ध

आठवीं, ग्यारहवीं और तेरहवीं तंत्रियों को जैसा का तैसा रहने दो। इन तंत्रियों पर षड्जादि मूर्च्छना के षड्ज, मध्यम और पंचम हैं। यही निषादादि मूर्च्छना के निषाद, गांधार और मध्यम हो जाएँगे, क्योंकि निषाद और गांधार में नव तथा निषाद और मध्यम में आरोह की ओर तेरह श्रुतियों का अंतर है। अर्थात् 'सा, म, प, ऩि, ग॒, म' के बराबर है।

हाँ, तो नवीं तंत्री को चढ़ाकर बारहवीं तंत्री की ध्वनि से उसका संवाद कर दो। नवीं तंत्री पर षड्जादि मूर्च्छना का ऋषभ था, बारहवीं तंत्री पर स्थापित उस मूर्च्छना के पंचम के साथ उसका संवाद नहीं था, परंतु बारहवीं तंत्री पर अब तो निषादादि मूर्च्छना का मध्यम है, दूसरी तंत्री को चढ़ाकर उस मध्यम का संवादी षड्ज स्थापित किया गया है।

दसवीं तंत्री को इतना चढ़ाओ कि आठवीं और दसवीं तंत्री का अंतर सप्त-श्रुतिक मध्यम धैवत के अंतर के समान या षड्ज और बंबईवालों के तंबूरा गांधार के अंतर के समान हो जाए, क्योंकि निषाद के पश्चात् आरोह की ओर ऋषभ, निषाद से सात श्रुतियों के अंतर पर स्थित है।

अब तेरहवीं तंत्री को भी चढ़ाकर नवीं तंत्री पर स्थित षड्ज से उसका संवाद कर दो, यह निषादादि मूर्च्छना का पंचम हो गया।

अब रह गया धैवत, तो चौदहवीं तंत्री को इतना चढ़ा दो कि दसवीं तंत्री पर स्थापित ऋषभ के साथ उसका संवाद हो जाए, अर्थात् दसवीं और चौदहवीं तंत्रियों की ध्वनियों का अंतर षड्ज-पंचम के अंतर के बराबर हो जाए।

मत्तकोकिला के मध्यस्थान पर निषादादि मूर्च्छना की स्थापना हो गई। मंद्र-स्थानीय और तारस्थानीय तंत्रियों पर भी यही मूर्च्छना मिला लो।

अब यदि तुम्हें निषादादि मूर्च्छना के रागों का वादन करना है, तो तुम्हें तीनों संपूर्ण स्थान मिलेंगे।

इस मूर्च्छना का षड्ज नवीं तंत्री पर है, उसकी प्राप्ति बारहवीं तंत्री पर स्थित मध्यम के आधार पर हुई है और मध्यम की प्राप्ति आठवीं तंत्री पर स्थित निषाद के आधार पर। तो, यों कहा जाएगा कि इस षड्ज की प्राप्ति का मूल आधार आठवीं तंत्री पर स्थापित निषाद है। इसी लिए षड्ज की व्युत्पत्ति करते समय कहा गया है कि षड्ज अन्य छह स्वरों से उत्पन्न होता है, क्योंकि किसी भी मूर्च्छना का आधार स्वर ही उस मूर्च्छना के षड्ज की प्राप्ति का मूल कारण होता है।

अकबर के युग में यही मूर्च्छना 'मूल मूर्च्छना' मानी जाने लगी थी और इसके 'ऩि, सा, रे, ग॒, म, प, ध' को ही 'सा, रे, ग, म प, ध, नि' कहा जाने लगा था। तानसेन ने एक ध्रुवपद में यह तथ्य स्पष्ट कहा है।

सब कुछ देखता रहा हूँ, सुनता रहा हूँ। तानसेन मर्मज्ञ था, परंतु उस युग में शासक जाति के प्रभाव का बोलबाला था। लोग ऊँट को बिल्ली कहने लगे थे।

अब धैवतादि मूर्च्छना की बात करें।

मत्तकोकिला पर यदि षड्जादि मूर्च्छना मिली हुई है, तो आठवें और ग्यारहवें तारों को जैसा-का-तैसा रहने दो, क्योंकि ये उस मूर्च्छना के षड्ज और मध्यम हैं, जो स्वतः ही धैवतादि मूर्च्छना के धैवत और ऋषभ हो जाएँगे।

नवीं तंत्री को इतना उतार दो कि ग्यारहवीं तंत्री पर स्थापित ऋषभ के साथ उसका मध्यम-धैवत-संबंध हो जाए अर्थात् नवीं तंत्रीं और ग्यारहवीं तंत्री में स्वयंभू सप्तश्रुतिक अंतर हो जाए। ऐसी स्थिति में नवीं तंत्री पर धैवतादि मूर्च्छना का निषाद आ जाएगा।

अब बारहवीं तंत्री को इतना उतारो कि नवीं तंत्री पर स्थापित निषाद के साथ उसकी ध्वनि का षड्ज-मध्यम-संबंध हो जाए। यह धैवतादि मूर्च्छना का गांधार स्थापित हो गया।

अब तेरहवीं तंत्री को इतना उतारो कि नवीं तंत्री पर स्थापित निषाद के साथ उसका षड्ज-पंचम-संबध हो जाए। यह इस मूर्च्छना का 'मध्यम' हो गया।

अब दसवीं तंत्री को इतना चढ़ाओ कि तेरहवीं तंत्री पर स्थापित मध्यम से उसका षड्ज-मध्यम-संबंध हो जाए। यह इस मूर्च्छना का षड्ज है।

चौदहवीं तंत्री को इतना चढ़ाओ कि दसवीं तंत्री पर स्थापित षड्ज के साथ उसकी ध्वनि का षड्ज-पंचम-संबंध हो जाए। अन्य दोनों स्थानों (मंद्र और तार) में भी इस मूर्च्छना की स्थापना कर लो।

तुम्हारे युग के अनेक व्यक्ति इस मूर्च्छना को सुनकर चक्कर में पड़ जाएँगे। उनका अभ्यास तो प्रत्येक स्वर के आदिम स्वर को 'सा' कहने का पड़ गया है। उन्हें यह मूर्च्छना—'सा, रे, ग, म, मं, धु, नि' सुनाई देगी। मेल-सिद्धांत में तो यह मूर्च्छना अंतर्भूत होती नहीं।

तुम्हारे युग के व्यक्ति जो 'मध्यम' नहीं है, उसे भी 'मध्यम' कहते हैं। प्रति-मध्यम, वरालीमध्यम और तीव्रमध्यम। धन्य हैं, इसकी अपेक्षा तो जिस बेचारे ने इसे 'पतपंचम' कहा था, कहीं अधिक सह्य था।

अस्तु, तुम्हारे युग के सज्जनों को इसमें उनका पंचम नहीं मिलेगा, जो मेल-सिद्धांत का प्राण है और मध्यम दो मिलेंगे। हो गया दिवंगत मेल-सिद्धांत!

भाई मेरे, कह दो अपने युग से कि मेल-सिद्धांत 'अष्टक' पर आधृत है, 'सप्तक' पर नहीं। 'अष्टक' में दो चतुष्क (चार स्वरों का समूह) होते हैं, मध्य में कुछ नहीं होता। मध्यम तो सात स्वरों के मध्य में ही होता है।

अष्टक के चतुःस्वराधारित दो भाग, पूर्वार्ध और उत्तरार्ध, दो चतुष्क होते हैं। दोनों चतुष्कों के आदिम स्वरों में षड्ज-पंचम-संबंध, अंतिम स्वरों में भी यही संबंध तथा प्रत्येक चतुष्क के आदिम और अंतिम स्वरों में षड्ज-मध्यम-संबंध होता है।

यह सब-कुछ मूर्च्छना-सिद्धांत से असंबद्ध है। धैवतादि-मूर्च्छना इस विदेशी चौखटे में कैसे बैठेगी!

याद रखना चाहिए कि भारतीय संगीत का प्राण 'त्रिक' है। त्रिक अर्थात् तीन स्वरों के समूह। 'द्विक' इनके सहायक हैं।

धैवतादि मूर्च्छना में 'ध, २नि, ४सा' का संवादी त्रिक 'रे, २ग, ४म' हैं, 'सा, ३रे' का 'जवाब' 'प, ३ध' हैं।

इस मूर्च्छना से उत्पन्न होनेवाले रागों का विनियोग 'बीभत्स' और 'भयानक' रस में होता है। तुम्हारे युग के संगीतशास्त्री तो 'बीभत्स' और 'भयानक' शब्दों से घबराते हैं। 'काली' के रूप का वर्णन 'दुर्गासप्तशती' में पढ़वादो और कहदो कि उस रूप का वर्णन जिन रागों का आश्रय लेकर गाया जाएगा, वे धैवतादि मूर्च्छना के राग होंगे।

संसार से वैराग्य उत्पन्न करनेवाला श्मशान-चित्रण, शवों से पटे हुए युद्धस्थल में रात्रि के समय शृगालों की खींच-तान, दिन में चील-कौवों और गृध्रों द्वारा की जाने-वाली शवों की कुगति, हड्डी के टुकड़ों के लिए कुत्तों की छीना-झपटी का चित्रण यदि कोई सत्कवि करे, तो वह आदर का पात्र होगा। इन स्थितियों के वर्णन का गान जिन रागों में होगा, वे धैवतादि मूर्च्छना के ही राग होंगे।

लोगों से कह दो, ध्यानपूर्वक 'नाट्यशास्त्र' पढ़ें, 'अभिनवभारती' पढ़ें और विद्वानों के चरणों की सेवा करें, तब कुछ समझ में आएगा।

भारतीयों में अभी श्रद्धा अवशिष्ट है। उनसे कह दो, संसार को सिखाने के लिए संगीत के क्षेत्र में उनके पास बहुत कुछ है।

शुद्ध भैरव

इस शास्त्रार्थ से मन ऊब गया है। कुछ गाया-बजाया जाए। आओ तुम्हें 'शुद्ध भैरव' का लक्षण बताऊँ। इसी मूर्च्छना का राग है।

हाँ, तो थोड़ा सरल करके कहूँ। तुम्हारे युग के विद्यार्थियों के लिए कहना है।

मूर्च्छना—ध नि सा रे ग म प।

आरोह में निषाद और अवरोह में पंचम वर्जित है। हम लोग इस राग को संपूर्ण कहेंगे, क्योंकि आरोह और अवरोह में मिलाकर जिस राग में सातों स्वरों का उपयोग हो, वह हमारी परंपरा में 'संपूर्ण' ही कहा जाएगा।

यदि आज की प्रचलित स्वर-संज्ञाओं का आश्रय लूँ, तो काम नहीं चलेगा। नमूना देखो :—

आरोह—सा ग म मं ध नि सां

अवरोह—सां ध मं म ग रे सा

यदि मेल-सिद्धांत की दृष्टि से विचार किया जाए, तो इसे षाडव-षाडव राग नहीं कहा जा सकता, क्योंकि गणना में 'मध्यम' के दोनों रूप नहीं लिए जा सकते। इसे औडुव भी कैसे कहा जाए, क्योंकि आरोह और अवरोह में स्पष्टतया ध्वनियों की संख्या छह-छह है

किसी भी मेल में दोनों मध्यम नहीं हैं। यदि यह कहा जाए कि एक मध्यम को आपातिक स्वर मान लेंगे, तो यह युक्ति भी नहीं चलेगी, क्योंकि आरोह और अवरोह, दोनों में दोनों मध्यमों का निरंतर और अवक्र प्रयोग है।

इसलिए आधुनिक मेल-सिद्धांत और अवैज्ञानिक स्वर-संज्ञाओं को छोड़ना ही पड़ेगा, तभी इस राग का रूप स्पष्ट होगा। मंद्र-सप्तक के स्वरों के ऊपर बिंदु, मध्य-सप्तक चिह्नरहित और तारसप्तक के स्वरों पर ऊर्ध्व रेखा अंकित करो। तीनों स्थान लिख लो :—

मत्तकोकिला की तंत्रिया :—

१,	२,	३,	४,	५,	६,	७,
धं	निं	सां	रें	गं	मं	पं

मंद्रस्थान

८,	९,	१०,	११,	१२,	१३,	१४,
ध	नि	सा	रे	ग	म	प

मध्यस्थान

१५,	१६,	१७,	१८,	१९,	२०,	२१,
धं	निं	सां	रिं	गं	मं	पं

तारस्थान

तुम्हारे युग के वादक इससे सितार भी बजा सकते हैं। वे अपने स, रे, ग, म, मं, ध, नि को हमारे ध, नि, स, रे, ग, म, प समझें। हमारी मूर्च्छना के गांधार और निषाद द्विश्रुतिक हैं, उनके नीचे तिर्यक् रेखा लगा देने से कोई हानि नहीं। वैसे, मूर्च्छना निर्देश के पश्चात् ये चिह्न अनावश्यक हैं। गायक गा भी सकते हैं। कुछ कठिन नहीं है।

चाहें, तो हारमोनियमवाले भी बजा सकते हैं, हारमोनियम पर सच्चे स्वर तो नहीं मिलेंगे, परंतु तुम्हारे युग के लक्षावधि विस्वर कलाकारों की अपेक्षा बेचारा हारमोनियम गनीमत है।

मैं स्वयं तो गाने के अथवा तंत्रीवाद्यों या सुषिर वाद्यों पर बजाने के ही पक्ष में हूँ।

हाँ, तो 'आलाप' लिखो। आलाप का दूसरा नाम 'आरंभ' भी है। 'नाट्यशास्त्र' और 'अभिनव भारती' लोगों को दिखा दो।

याद रखो, मूर्च्छना का प्रथम स्वर ही राग का वादी स्वर होता है, ग्राम के अनुसार उसका संवादी स्वर ही राग में भी संवादी स्वर होता है। आरंभक स्वर ही 'जीव' या 'अंशस्वर' है। इसी पर राग का अधिष्ठान होता है, यही 'स्थायी स्वर' कहलाता है।

शुद्ध भैरव—आलाप

१. ध, मं गं मं प ध स ऽ नि ध।

यह इसका रागवाचक स्वरसमुदाय अथवा प्रथम स्वरस्थान है। अब क्रमपूर्वक आलाप देखो :—

२, ध, मं गं ऽ, मं पं ध सा ऽ नि ध, नि ध पं नि ध, मं गं ऽ मं पं ध, नि ध सा ऽ नि ध।

३. ध, नि ध पं ध सा ऽ नि ध, नि ध मं गं मं पं ध सा ऽ नि ध, ध ऽ मं गं रें, रें गं मं ऽ गं रें गं मं पं ध, सा ऽ नि ध।

४. ध, सा ऽ नि ध, मं गं मं पं ध सा ऽ नि ध, नि ध पं ध मं पं ध मं गं मं पं ध सा ऽ नि ध।

५. ध, मं गं रें गं मं ऽ गं रें, रें गं मं पं ध सा ऽ नि ध, मं ऽ गं रें, रें गं मं गं मं पं ध मं ऽ गं रें, रें गं मं ऽ गं रें, रें गं मं पं ध सा ऽ नि ध।

६. ध, मं ऽ गं रें सां रें गं मं ऽ गं रें, रें गं मं गं रें गं मं पं ध सा ऽ नि ध, मं गं मं पं ध सा ऽ नि ध।

७. ध, मं गं रें, रें ऽ गं मं ऽ गं रें, रें सां रें गं मं ऽ गं रें, रें सां नि धं, धं सां रें गं मं ऽ गं रें गं मं पं ध, सा ऽ नि ध।

८. ध, मं पं ध सा ऽ नि ध, नि ध सा रे, ग रे, ग रे सा ऽ नि ध पं ध सा ऽ नि ध, मं पं ध सा रे ग म ऽ ग रे, रे सा रे ग म ऽ ग रे, रे सा म ऽ ग रे, म ऽ ग रे सा नि ध मं पं ध सा ऽ नि ध।

९. ध, म प ध सा ऽ नि ध, म ऽ ग रे, सा ऽ नि ध, सा रे ग म ग रे सा ऽ नि ध, ध सा रे ग, म ऽ ग रे, रे सा रे ग म ऽ ग रे, रे ग म ऽ ग रे, सा ऽ नि ध, मं पं ध सा ऽ नि ध।

१०. ध सा रे ग म प धं, म ग म प धं, रे ग म प धं, म ग रे ग म प धं, रे ऽ ग म प धं, निं धं ऽ म प धं, म ग म प धं, ग ऽ रे ग म प धं सां ऽ निं धं, म प धं म ग रे, ग म ग रे, रे ग म ऽ ग रे, सा ऽ नि ध, मं पं ध सा ऽ नि ध।

११. मं पं ध सा ऽ नि ध, सा रे ग म ऽ ग रे, रे सा रे ग म प धं सां ऽ निं धं, म प धं सां ऽ निं धं, धं सां रिं गं मं ऽ गं रिं, रिं गं मं ऽ गं रिं, रिं सां रिं गं, रिं गं मं पं सां मं ऽ गं रिं, रिं गं मं गं रिं सां निं धं म प धं म ऽ ग रे, रे ग म प धं म ऽ ग रे, रे ग म ग रे सा ऽ नि ध, मं पं ध सां ऽ नि ध।

भाई 'रत्नाकर' में तो मैंने सब-कुछ लिखा है, परंतु सूत्र रूप में। उस समय मुद्रण-यंत्र कहाँ थे। कम-से-कम शब्दों में अधिक-से-अधिक बात कहना उस समय पांडित्य का सूचक था। इस युग में पृष्ठ-संख्या का मूल्य है, पृष्ठ गिनकर ग्रंथकर्ताओं को पारिश्रमिक दिया जाता है। गीतगोविंदकार जयदेव इस युग में बड़े घाटे में रहते।

कुछ पारिभाषिक शब्द और उनका रहस्य

लोकोत्तर प्रतिभा से सम्पन्न व्यक्तियों के सर्वांगीण विकास के लिए अनुकूल परिस्थितियों की आवश्यकता नहीं होती; वे तो अपनी महाप्राणता से काल एवं युग के प्रवाह को अनुकूल दिशा में मोड़कर अपना वशवर्ती बना लेते हैं। परंतु वे अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से जिस वर्ग का निर्माण करते हैं, वह वर्ग-परंपरा का विस्तार अथवा प्रवाह होता है। जब भी काल के प्रभाव से इस परंपरा में अवरोध अथवा विकृति की उत्पत्ति होती है, अवांछनीय परिणाम होते हैं।

राज-सभाओं और देव-मंदिरों का विनाश

मुसलमानों के आक्रमण ने राज-सभाओं और देव-मंदिरों का विनाश किया। ललित-कलाओं के पोषण-स्थान यही थे। रंगशालाएँ भी इन्हीं की छत्रच्छाया में फलती-फूलती थीं। पोषण के अभाव में भारतीय परंपराओं का विच्छेद हुआ। विधर्मियों को अपने विदेशी उद्गम-स्थानों और वहाँ की परंपराओं के प्रति सहज आसक्ति तो थी, यहाँ की विशेषताओं को समझने की ओर उनकी विशिष्ट रुचि भी न थी। पराजित और दलित जाति में भी कुछ गुण हो सकते हैं, यह सोचने का कष्ट कौन करता।

मुस्लिमों और नवमुस्लिमों का पारस्परिक व्यवहार

इन अभारतीय विजेताओं को यहाँ साम्राज्य स्थापित करने की चिंता हुई, तो इन्होंने अपने विश्वासपात्र प्रतिनिधि यहाँ छोड़े। इन प्रतिनिधियों के वंशज यहाँ उत्पन्न हुए, पले, बढ़े। इनमें रक्त का मिश्रण हुआ। रक्त की इस मिश्रितता ने इनमें इस भूमि और इसकी विशेषताओं के प्रति कुछ मोह जगाया। इसका कारण यह भी था कि जो विदेशी, धर्म्मसदृश होते हुए भी, स्वयं को शुद्ध रक्त समझते थे, वे अपने उन सधर्मियों से समानता का व्यवहार नहीं कर सकते थे।

जिस भाँति विशुद्ध रक्तवाले खालिस अँगरेजों ने ऐंग्लो-इंडियन वर्ग को समानता की पदवी न दी, उसी प्रकार वंश का अभिमान करनेवाले मुसलमानों ने उन मुसलमानों को समान पद न दिया था, जिनमें अभारतीय एवं भारतीय रक्त का मिश्रण था। जिस प्रकार ऐंग्लो-इंडियन लोगों ने हिंदुस्तानी ईसाइयों को 'काला आदमी' समझा, उसी प्रकार मिश्रित रक्त के मुसलमानों ने उन भारतीयों को 'शरीफ' नहीं समझा था, जिन्होंने किसी भी दृष्टि से इस्लाम अंगीकृत कर लिया था!

ईसाई-मात्र जिस प्रकार स्वयं को भारत का शासक समझते थे, उसी प्रकार मुस्लिम-मात्र स्वयं को भारत का शासक समझते रहे थे; भले ही उनमें परस्पर कितनी ही वर्गगत खाइयाँ थीं। भारतीय मुसलमान रहन-सहन, वेष-भूषा इत्यादि के द्वारा स्वयं को उसी प्रकार अरब, ईरानी या अफगान! दिखाना चाहता था, जिस प्रकार यहाँ के 'काले बाबू' स्वयं को ईसा का सगा बेटा सिद्ध करना चाहते थे।

भारतीय परंपराओं में विकार

इन स्थितियों में भारतीय परंपराओं के उस रूप की रक्षा भला कैसे होती, जो ललितकलाओं जैसी कोमल विशेषताओं से संबद्ध था! पूर्वाग्रहों के कारण अभारतीय

परंपरा के भक्तों ने अपनी विशेषताओं को हिंदुस्तानी जामा पहनाकर दरबारों में सजाया। राजशक्ति और अज्ञान ने इस कार्य का पोषण किया।

खुसरो के समय से अब तक भारतीय संगीत-शास्त्र के पारिभाषिक शब्दों के साथ जितना अत्याचार हुआ है, उसका उदाहरण मिलना कठिन है। इस अत्याचार या स्वैराचार का कारण हठ और अज्ञान है।

तथाकथित शिक्षित संगीतज्ञ

अक्षरशत्रु, परंतु देशमान्य (!) कलाजीवियों की तो बात ही जाने दीजिए, उनके तो 'सात खून माफ' हैं; परंतु जिन्हें अपने शिक्षित होने का अभिमान है, उनमें से कितने ऐसे हैं, जो 'संगीत' से संबद्ध पारिभाषिक शब्दों के वास्तविक अर्थ और प्रयोग से परिचित हैं।

विचारशक्ति के अभाव में संगीतज्ञों की निम्न स्थिति

किसी बात का न जानना इतना बड़ा अपराध नहीं, जितना बड़ा अपराध वास्तविकता को जान-बूझकर झुठलाना है। 'संगीत' एक गंभीरतम विषय है, परंतु किसी भी अन्य विषय का प्रोफेसर इस विषय को हेय दृष्टि से देखता है और इसका कारण यह है कि शिक्षित कहे जानेवाले संगीतज्ञ में अपने विषय को समझने या उसका विवेचन करने की वह क्षमता नहीं है, जो वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करनेवाले किसी विश्लेषक में होनी चाहिए। विषय की गंभीरता का अनुभव करना और नीर-क्षीर-विवेकिनी दृष्टि से उसका विश्लेषण किया जाना जब इस तथाकथित शिक्षित संगीतज्ञ के द्वारा संभव ही नहीं, तो इसका परिचय दे कौन ? साथ-ही-साथ एक बात और भी है; लोग समझते हैं कि जिस क्षेत्र में अखिल-भारतीय यश प्राप्त करने के लिए अक्षर-ज्ञान तक अनावश्यक है, वह भी भला कोई विषय है !

ग्राम और ग्रामणी स्वर

'ग्राम' शब्द का अर्थ वह एक स्थायी बस्ती है, जहाँ जीवन के लिए आवश्यक सुविधाओं का प्रबंध हो और जहाँ का एक मुखिया अथवा 'ग्रामणी' (ग्राम+नी= ग्रामणी, अर्थात् ग्राम का नेता, मार्ग-निर्देशक या व्यवस्थापक) हो। 'ग्राम' का अर्थ कोई अस्थायी 'पड़ाव' नहीं है। संगीत-जगत् में, विशिष्ट व्यवस्था के अनुसार स्थापित सात विशिष्ट स्वरों का सप्तक है, जिनमें व्यवस्था का नियामक आदिम या मूल स्वर अपनी कुछ विशेषताओं के कारण 'ग्रामणी' कहलाता है। 'ग्राम' और 'ग्रामणी'— दोनों ही शब्द संगीत-जगत् में लोक से आए हैं।

'ग्राम' (गाँव) की सभा में चौपाल में या मार्ग में—'ग्रामणी' (चौधरी या मुखिया) कहीं भी बैठा या खड़ा हो, वह 'चौधरी' ही रहता या कहलाता है। इसी प्रकार ग्राम-संबद्ध सप्तक में 'ग्रामणी' स्वर संख्या या क्रम की दृष्टि से पहला, दूसरा, तीसरा, चौथा, पाँचवाँ, छठा या सातवाँ—कुछ भी हो, 'ग्रामणी' ही रहता है।

आज लोग 'ग्राम' का अर्थ 'स्केल' कर डालते हैं। 'ग्राम' शब्द के अर्थ की गंध तक 'स्केल' में नहीं है।

यदि ग्रामाश्रित सातों स्वरों के समूह की तुलना एक सप्तदल-कमल से करें, तो, उसकी किसी भी पंखुड़ी को प्रथम कहा जा सकता है। यदि सातों पंखुड़ियों की सीध में सात दर्शक खड़े हैं और वे अपने-अपने सामने की पंखुड़ी को पहली पंखुड़ी मानकर गणना कर सकते हैं, तो वे सातों-के-सातों एक ही कमल को देख रहे हैं। यदि कमल को उसकी धुरी पर घुमा दिया जाए और सातों दर्शकों के सामने की पंखुड़ी बदल जाए, तो भी गणना हो सकती है और वह ठीक होगी। लोग अपने सामनेवाली पंखुड़ी को पहली पंखुड़ी मानकर गणना करेंगे।

किसी भी गली से गाँव में प्रवेश किया जाए, गाँव बदल नहीं जाता। ग्राम-रूपी स्वर-प्रबंध का कोई भी स्वर प्रयोक्ता या श्रोता की दृष्टि में प्रथम हो, ग्राम का ग्रामत्व जैसा-का-तैसा रहता है। हाँ, विशिष्ट स्वर को प्रथमता प्राप्त हो जाती है। यह प्रथमता किसी नए ग्राम को जन्म नहीं देती, केवल उन स्वरों के क्रम को जैसा-का-तैसा आगे-पीछे सरका देती है। इसलिए 'ग्रामणी' स्वर तो एक ग्राम की व्यवस्था करता है और 'ग्राम' का मूल स्वर है। यदि कोई स्वर प्रथमता ग्रहण करता है, तो वह प्रथमता उस व्यवस्था का उल्लंघन नहीं कर सकती, जो ग्रामणी स्वर ने स्थापित की है।

'ग्रामणी' स्वर की तीन विशेषताएँ हैं—(अ) वह स्वयं चतुःश्रुतिक होता है, (आ) सप्तक में दो स्वर उसके संवादी होते हैं, (इ) उसकी अपेक्षा आरोह की ओर अगला स्वर त्रिश्रुतिक होता है।

आदिम ग्राम में भारतीय विचारकों ने 'ग्रामणी' स्वर को 'षड्ज' (छह अन्य स्वरों को जन्म देनेवाला) कहा। षड्ज स्वर में 'ग्रामणी' स्वर की तीनों विशेषताएँ विद्यमान हैं। जिस सप्तक को षड्ज-ग्रामीय मूल शुद्ध सप्तक कहा जाता है, उसका आदिम स्वर षड्ज स्वयं चतुःश्रुतिक है। उसके दो संवादी स्वर मध्यम और पंचम हैं और ग्रामणी स्वर के बाद आरोह की ओर ऋषभ त्रिश्रुतिक है।

षड्ज का अर्थ

इस मूल सप्तक में आए हुए छह अन्य स्वरों से भी छह विशिष्ट सप्तकों का आरंभ किया जा सकता है। उस दशा में कोई भी आरंभक स्वर उस विशिष्ट स्वर-सप्तक में आनेवाले 'षड्ज' का जनक होगा, इसी लिए 'षड्ज' का अर्थ 'छह अन्य स्वरों से जन्म लेनेवाला' भी है। सप्तक का आरंभक स्वर कोई भी हो, परंतु 'ग्रामणी' की पूर्वोक्त तीन विशेषताएँ केवल षड्ज में मिलेंगी, किसी अन्य स्वर में नहीं।

मूर्च्छना

विभिन्न स्वरों से आरंभ होनेवाले सप्तकों के क्रमशः आरोह-अवरोह को 'मूर्च्छना' कहते हैं, क्योंकि इस क्रिया में एक विशिष्ट स्वर आरोह के आरंभ और अवरोह के अंत में होने के कारण उभरता है।

इसलिए ग्राम को 'मूर्च्छना' का आधार कहा जाता है।

आज लोग 'ग्राम' को भी 'स्केल' कह देते हैं और 'ठाठ' या 'मेल' को भी।

स्थान और सप्तक

नाद की उत्पत्ति के तीन स्थान मानव-शरीर में हैं—हृदय, कंठ और मूर्धा। 'हृदय' का अर्थ वक्षःस्थल का आंतरिक भाग है, 'कंठ' का अर्थ स्पष्ट हो है और 'मूर्धा' का अर्थ मुँह के भीतर का वह भाग है, जहाँ कि ट, ठ, ड, ढ बोलने में जीभ की नोक टकराती है। 'मूर्धा' का अर्थ 'शिर' भी है।

हृदय, कंठ और मूर्धा को क्रमशः स्वरों की उत्पत्ति का मंद्र, मध्य और तार-स्थान कहते हैं। वीणा तो शरीर का अनुकरण-मात्र है; इसमें भी स्वरों की अभिव्यक्ति के लिए मंद्र, मध्य और तार-स्थान निश्चित हैं। जिन स्वरों के उच्चारण से स्वाभाविक रूप में हृदय पर जोर पड़ता है, वे मंद्र-स्थानीय; कंठ पर जोर पड़ता है, वे मध्य-स्थानीय और मूर्धा या शिर की शिराओं पर जोर पड़ता है, वे तार-स्थानीय कहलाते हैं।

सप्तक और अष्टक (ऑक्टेव) में अंतर

'सप्तक' का अर्थ सात वस्तुओं का समूह है, सात स्वरों का समूह 'स्वर-सप्तक' है। संगीत में 'सप्तक' का अर्थ स्वर-सप्तक है। संगीतज्ञ कहे जानेवाले सज्जन 'सप्तक' का अनुवाद 'ऑक्टेव' कर डालते हैं, जबकि 'ऑक्टेव' का अर्थ 'आठ स्वरों का समूह' है। मंद्र, मध्य और तार-स्थानों में से प्रत्येक स्थान एक संपूर्ण सप्तक को व्यक्त कर सकता है, परंतु 'ऑक्टेव' को एक स्थान से व्यक्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि 'ऑक्टेव' का अंतिम स्वर अग्रिम-स्थानीय होता है और 'ऑक्टेव' के प्रथम स्वर की आवृत्ति-मात्र है। 'मध्यम' स्वर 'सप्तक' के बीच में होने के कारण 'मध्यम' (मँझला या बीच का) कहलाता है। 'ऑक्टेव' के मध्य में तो भगवत्कृपा-मात्र है।

आजकल 'स्थान' और 'सप्तक' को एक बात समझा जाता है और सप्तक का अनुवाद निस्संकोच 'ऑक्टेव' कर दिया जाता है।

संवाद, इष्टता, अनिष्टता, स्वर-संवाद तथा राग-संवाद

इष्ट का अर्थ 'प्रिय' या 'चाहा हुआ' और अनिष्ट का अर्थ 'अप्रिय' या 'न चाहा हुआ' है। जो दो स्वर साथ-साथ छिड़ने पर भले प्रतीत हों, वे परस्पर 'इष्ट' कहलाते हैं और साथ-साथ छेड़े जाने पर जिनकी ध्वनि भली प्रतीत न हो, वे परस्पर 'अनिष्ट' कहलाते हैं।

'इष्टता' के भी दो प्रकार हैं—'सामान्य इष्टता' और 'परम इष्टता'। 'सामान्य इष्टता' को 'अनुवाद' और 'परम इष्टता' को 'संवाद' भी कहा जाता है। इसी प्रकार 'परम अनिष्टता' को 'विवाद' कहा जाता है।

षड्ज और पंचम के साथ-साथ छिड़ने पर अथवा षड्ज और मध्यम के साथ-साथ छिड़ने पर जिस इष्टता की प्राप्ति होती है, उसे 'स्वर-संवाद' कहते हैं। 'संवाद' का अर्थ यहाँ 'सम्यक्+वाद' या 'भलीभाँति बोलना' है। जिन दो स्वरों में षड्ज-पंचम अथवा षड्ज-मध्यम के बराबर अंतर हो, उनमें भी परस्पर 'स्वर-संवाद' होता है।

षड्ज और अंतर (स्वयंभू) गांधार का पारस्परिक इष्ट और प्राकृतिक अंतर एक विशेष इष्टता है, जिसका परिमाण 'संवाद' की अपेक्षा कम और 'अनुवाद' की अपेक्षा अधिक है। मतंग ने मध्यम-ग्राम में इस अंतर को भी 'सवाद' कहा है।

'संवाद' का एक दूसरा अर्थ 'सादृश्य' अथवा 'एक-जैसी वस्तु का अन्यत्र दर्शन' है; इसे 'स्वर-संघात (स्वर-समूह) का संवाद' या 'राग-संवाद' कहा जा सकता है। इसे इस प्रकार समझा जाना चाहिए :—

त्रिक-संवाद

'सारेग़ म पधऩि' में 'सारेग़' स्वर-संघात का ठीक-ठीक जवाब 'पधऩि' है।

'सारेग़' और 'पधऩि'—इन दो त्रिकों में आए हुए स्वरों में अंतराल की दृष्टि से क्रम-सादृश्य है। यदि केवल 'पधऩि' छेड़े जाएँ, तो श्रोता इन्हें 'सारेग़' कहेगा; क्योंकि 'सारेग़' में अंतराल-संबंधी जो क्रम पाया जाता है, वही 'पधऩि' में है। यदि सितार की चिकारियाँ पंचम में मिला दी जाएँ और 'पधऩि' छेड़े जाएँ, तो वे आज के श्रोता को 'सारेग़' प्रतीत होंगे।

पूर्वोक्त दोनों स्वर-त्रिकों में पाया जानेवाला यह सादृश्य राग के निर्माण और व्यवहार की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। 'मध्यम' इन दोनों परस्पर संवादी त्रिकों के बीचो-बीच में है। यदि दोनों त्रिकों को 'सप्तक-रूपी तराजू के दो सिरे' कहा जाए, तो 'मध्यम' तराजू की डंडी के बीचो-बीच की वह डोरी है, जो दोनों पलड़ों को संतुलित रखे हुए है।

'सारेग़ म पधऩि सांरेंग़ं मं पंधंऩिं' में 'सारेग़' और 'पधऩि' के बीच में 'म' है, परंतु 'पधऩि सांरेंग़ं' के मध्य में कुछ नहीं। यह 'षट्क' है, 'सप्तक' नहीं। इस 'षट्क' में आए हुए दोनों त्रिकों में 'क्रम' सदृश है। मूल सप्तक के मध्य में 'म' है; उसका बड़ा महत्त्व है।

दो विभिन्न दृष्टिकोण (सप्तक और अष्टक)

'सा, रे, ग़, म, प, ध, ऩि, सां' भारतीय दृष्टि से एक 'अलंकार' है, जिसमें स्थानीय सात स्वरों के बाद एक तार-स्थानीय स्वर लगा दिया गया है। यह स्वर-समूह एक-स्थान-व्यापी न होने के कारण विचार का आधार नहीं बन सकता। 'मध्यम' इस अष्टक के मध्य में नहीं है, परंतु अभारतीय विचारधारा तो 'मध्यम' शब्द और उसके अर्थ का महत्त्व नहीं समझती। दोष अभारतीय विचारधारा का नहीं, वह भी एक दृष्टिकोण है। दोष उनका है, जो भारतीय परिभाषाओं का अर्थ समझे बिना उनका अनुवाद पाश्चात्य शब्दों में अनर्गलतापूर्वक कर डालते हैं।

मध्यम और मध्यमत्व

षड्ज-ग्राम की सभी शुद्ध मूर्च्छनाओं में मध्यम अपने पूर्ववर्ती और परवर्ती स्वर के ठीक बीचो-बीच अर्थात् द्विश्रुतिक गांधार से चार श्रुतियों के पश्चात्, पंचम से चार श्रुति पूर्व रहता है। यह स्थिति केवल 'मध्यम' स्वर की है।

केवल एक सप्तक में राग की निष्पत्ति संभव नहीं, इसलिए षड्ज-ग्रामों की शुद्ध मूर्च्छनाओं के तीनों 'स्थानों' में मध्यम की यह विशेषता देखी जा सकती है :—

सा़ रे़ ग़॒ म़ प़ ध़ नि़॒	सा रे ग॒ म प ध नि॒	सां रें ग॒ं मं पं धं नि॒ं
४ ३ २ ४ ४ ३ २	४ ३ २ ४ ४ ३ २	४ ३ २ ४ ४ ३ २
नि़॒ सा़ रे़ ग़॒ म़ प़ ध़	नि॒ सा रे ग॒ म प ध	नि॒ं सां रें ग॒ं मं पं धं
२ ४ ३ २ ४ ४ ३	२ ४ ३ २ ४ ४ ३	२ ४ ३ २ ४ ४ ३
ध़ नि़॒ सा़ रे़ ग़॒ म़ प़	ध नि॒ सा रे ग॒ म प	धं नि॒ं सां रें ग॒ं मं पं
३ २ ४ ३ २ ४ ४	३ २ ४ ३ २ ४ ४	३ २ ४ ३ २ ४ ४
प़ ध़ नि़॒ सा़ रे़ ग़॒ म़	प ध नि॒ सा रे ग॒ म	पं धं नि॒ं सां रें ग॒ं मं
४ ३ २ ४ ३ २ ४	४ ३ २ ४ ३ २ ४	४ ३ २ ४ ३ २ ४
म़ प़ ध़ नि़॒ सा़ रे़ ग़॒	म प ध नि॒ सा रे ग॒	मं पं धं नि॒ं सां रें ग॒ं
४ ४ ३ २ ४ ३ २	४ ४ ३ २ ४ ३ २	४ ४ ३ २ ४ ३ २
ग़॒ म़ प़ ध़ नि़॒ सा़ रे़	ग॒ म प ध नि॒ सा रे	ग॒ं मं पं धं नि॒ सां रें
२ ४ ४ ३ २ ४ ३	२ ४ ४ ३ २ ४ ३	२ ४ ४ ३ २ ४ ३
रे़ ग़॒ म़ प़ ध़ नि़॒ सा़	रे ग॒ म प ध नि॒ सा	रें ग॒ं मं पं धं नि॒ं सां
३ २ ४ ४ ३ २ ४	३ २ ४ ४ ३ २ ४	३ २ ४ ४ ३ २ ४

उपर्युक्त मूर्च्छनाओं में 'मध्यम' ही एक ऐसा स्वर है, जिसके पूर्ववर्ती तीन स्वरों 'सा, रे, ग॒' और पश्चाद्वर्ती तीन स्वरों 'प, ध, नि॒' की श्रुतियाँ ४, ३, २ हैं। 'मध्यम' के अतिरिक्त अन्य कोई ऐसा स्वर नहीं, जिसके पूर्ववर्ती और परवर्ती त्रिकों के स्वरों में स्वर-संवाद हो।

त्रिकों की विशेषता

राग-निर्माण और राग-व्यवहार में इन परस्पर संवादी त्रिकों का बड़ा महत्त्व है। कोई भी मूर्च्छना हो; मध्यम के पश्चाद्वर्ती स्वरों में छह स्वर दो संवादी त्रिकों से

बने हुए षट्क 'प ध नि+सा रे ग' हैं। किसी अन्य स्वर का पश्चाद्वर्ती स्वर-षट्क परस्पर संवादी दो त्रिकों का समूह नहीं है।

मध्यम से पूर्ववर्ती और परवर्ती त्रिकों के स्वरों में षड्ज-पंचम-अंतराल (सा–प, रे–ध, ग–नि) है, परंतु मध्यम से परवर्ती षट्क (प, ध, नि, सा, रे, ग) का निर्माण जिन दो त्रिकों 'प ध नि+सा रे ग' से हुआ है, उनके स्वरों में क्रमशः षड्ज-मध्यम-अंतराल (प–सां, ध-रे, नि–ग) है।

ये विशेषताएँ उस अँग्रेजी अक्षर 'एफ' में कहाँ हैं, जिससे हमारे 'मध्यम' का अनुवाद कर दिया जाता है।

इन विशेषताओं की ओर जब तक ध्यान न दिया जाए, 'संवाद' शब्द का न तो अर्थ समझ में आता है, न महत्त्व ज्ञात होता है।

ऊपर मंद्र, मध्य और तार-स्थान में मूर्च्छनाओं के रूप लिखे गए हैं।

मूर्च्छना-स्थापन

षड्ज से आरंभ होनेवाली मूर्च्छना मध्य-स्थान को ४, ३, २, ४, ४, ३, २ श्रुति-क्रम के अनुसार विभाजित करती है। मंद्र और तार-स्थान के सातों स्वर भी इस श्रुति-क्रम से स्थापित स्वरों में मिला लिए जाते हैं।

मध्य-स्थान को ऋषभादि-मूर्च्छना ३, २, ४, ४, ३, २, ४ श्रुति-क्रम में, गांधारादि-मूर्च्छना–२, ४, ४, ३, २, ४, ३ श्रुति-क्रम में, मध्यमादि-मूर्च्छना ४, ४, ३, २, ४, ३, २ श्रुति-क्रम में, पंचमादि-मूर्च्छना ४, ३, २, ४, ३, २, ४ श्रुति-क्रम में, धैवतादि-मूर्च्छना ३, २, ४, ३, २, ४, ४ श्रुति-क्रम में और निषादादि-मूर्च्छना २, ४, ३, २, ४, ४, ३ श्रुति-क्रम में विभाजित करती है और मंद्र-स्थान एवं तार-स्थान के स्वर मध्य-स्थान में स्थापित मूर्च्छना के अनुसार स्थापित कर लिए जाते हैं।

यदि किसी वीणा में इक्कीस तार चढ़े हैं, तो पहले तार से मंद्र-स्थान का आरंभ और आठवें तार से मध्य-स्थान का आरंभ होगा। यदि हम आठवें तार की ध्वनि का नाम 'सा' रखें, तो मध्य-स्थान के अन्य छह तार षड्जादि-मूर्च्छना के अंतिम छह स्वरों की श्रुति-संख्या के अनुसार मिलाए जाएँगे और अवशिष्ट दोनों स्थानों के स्वर भी मध्य-स्थान के स्वरों के अनुसार मिला लिए जाएँगे। हम आठवें तार की ध्वनि को 'रे, ग, म, प, ध, नि' नाम यदि क्रमशः दें, तो हमने आठवें तार की ध्वनि को जो भी नाम दिया है, उसी नाम के पश्चाद्वर्ती छह स्वरों की श्रुति-संख्या के अनुसार मध्य-स्थान के छह तार मिलाए जाएँगे। पंद्रहवें तार से तार-स्थान का आरंभ है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आठवें तार की ध्वनि को हम जिस स्वर का भी नाम दें, उससे पूर्ववर्ती तार अवरोह-क्रम से उन स्वर-संज्ञाओं के अनुसार मिलाएँ, जो उससे पूर्ववर्ती नादों की हैं; और आठवें स्वर की अपेक्षा परवर्ती तार आठवें तार की ध्वनि के लिए दी हुई स्वर-संज्ञा से परवर्तिनी स्वर-संज्ञाओं के अनुसार आरोह-क्रम से मिलाए जाएँगे।

अंश स्वर अर्थात् स्थान-विशेष का क्रम-विशेष में विभाजक

इसका अर्थ यह है कि आठवें तार की ध्वनि को जिस स्वर का नाम दिया गया है, वह विशिष्ट श्रुति-संख्या के अनुसार मंद्र, मध्य और तार-स्थान के अंतरालों का 'विभाजक' है। 'अंश' शब्द का अर्थ 'विभाग' भी है और 'विभाजक' भी। यदि हम यह कहें कि अमुक राग का 'अंश' स्वर 'गांधार' है, तो इसका अर्थ यह है कि इस राग को व्यक्त करने के लिए मध्य-स्थान में सातों स्वरों के नाम क्रमशः 'ग॒, म, प, ध, नि॒, सा, रे' होंगे, जिनकी स्थापना २, ४, ४, ३, २, ४, ३ श्रुति-क्रम से होगी। अवशिष्ट दोनों स्थानों तार और मंद्र में भी स्वर-स्थापना का क्रम मध्य-स्थान के अनुसार होगा।

'अंश स्वर' के साथ शताब्दियों से होनेवाला अत्याचार

जो 'अंश' शब्द का अर्थ नहीं समझते, वे इस महत्त्वपूर्ण शब्द का अनर्थ करते हैं। राग-प्रयोग के अवसर पर मूर्च्छना के आदिम स्वर को 'अंश' कहते हैं। 'राग-प्रयोग' के अवसर पर इस स्वर के साथ राग के प्रत्येक स्वर की संगति होती है और इस प्रकार यह राग-वाचक होता है; और 'वादी' (सब स्वरों की अपेक्षा अधिक बोलते हुए, राग-वाचक होने के कारण प्रमुखवक्ता) कहलाता है।

राग-संवाद

यदि षड्जादि मूर्च्छना के किसी राग का प्रकटीकरण 'ध़ नि॒, सा' में होता है, तो षड्जांत त्रिक का संवादी त्रिक 'रे, ग॒, म' है। इस राग में षड्ज वादी और मध्यम संवादी होगा। 'सा, नि॒, ध़' का 'जवाब' 'म, ग॒, रे' है। इस अवस्था में भी षड्ज वादी और मध्यम संवादी होगा। इन संवादी त्रिकों में पंचम का कहीं पता तक नहीं, इसलिए ऐसे रागों में पंचम के साथ षड्ज का राग-संवाद नहीं है।

यदि षड्जादि-मूर्च्छना के किसी राग के विशिष्ट अंश की गंध 'सा, रे, ग॒', 'रे, ग॒, सा' या ग॒, रे, सा' जैसे स्वर-त्रिकों में आती है, तो इन त्रिकों का संवाद 'प, ध, नि॒,' 'ध, नि॒, प' या 'नि॒, ध, प' जैसे त्रिकों से होगा। इन त्रिकों में 'मध्यम' का पता तक नहीं है; इसलिए ऐसे रागों में राग-संवाद 'सा–प' में होगा, 'सा–म' में नहीं।

किसी भी मूर्च्छना का 'राग' हो, देखा यह जाना चाहिए कि राग-वाचक त्रिक मूर्च्छना के आरंभक स्वर से दो पूर्ववर्ती स्वरों से मिलकर बनता है या परवर्ती दो स्वरों से। उस राग-वाचक त्रिक का 'जवाब' सप्तक के जिस त्रिक में मिले, उस त्रिक में मूर्च्छना के आरंभक स्वर का संवादी स्वर ही उस राग का संवादी होता है। वादी-संवादी स्वरों के तत्त्व को समझने के लिए यह दृष्टि आवश्यक है।

मारवा-जैसे रागों में षड्ज अपना संवादी स्वयं

वादी-संवादी शब्दों के तात्पर्य को समझे बिना 'रे॒-ध' मारवा का वादी-संवादी कह डालना भाषा और संगीत-शास्त्र की प्रत्यक्ष हत्या है। इन दोनों स्वरों में परस्पर स्वर-संवाद तक नहीं है।

मारवा, पूरिया, गूजरी, सोहनी-जैसे राग मूर्च्छना-संप्रदाय के नहीं हैं, इसी लिए अंश स्वर को अपना संवादी स्वयं कहा गया है। शार्ङ्गदेव का अंश-लक्षण इसका प्रमाण है।

विवाद और अनुवाद

जिन दो स्वरों को क्रम-पूर्वक छेड़ने में उस समय भला न लगे, जबकि उन दोनों में से कोई एक अंश स्वर हो, तब उन दोनों का पारस्परिक अंतराल 'विवादी' कहलाता है। ऐसी अवस्था में परवर्ती स्वर एक प्रमाण-श्रुति उतरता है अथवा पूर्ववर्ती स्वर एक प्रमाण-श्रुति उतरता है। उन दोनों में जो अंश स्वर नहीं होता, उसी में यह केशाग्र-अंतर, केवल विवादी स्वर के साथ संगति के समय, आता है। यह अंतर उस विवाद को कर देता है। परंतु, जिन स्वरों के साथ किसी स्वर का 'विवाद'-संबंध न होकर 'अनुवाद'-सबंध है, उनके साथ संगति के समय अंश स्वर का विवादी स्वर अपनी मूल स्थिति में रहता है। इसलिए विवादी स्वरों की 'एकश्रुतिक' अवस्था किसी भी राग में स्थिर अवस्था नहीं है। यह स्वरों के केशाग्र-अंतर का विकार तब भी होता है, जब किन्हीं दो स्वरों में पाँच या आठ श्रुतियों का अंतर हो और उनमें राग के अनुसार परस्पर संगति हो। ऐसी अवस्था में पंचश्रुतिक के स्थान पर षट्-श्रुतिक और अष्टश्रुतिक अंतराल के स्थान पर सप्तश्रुतिक अंतराल का स्वभावतः प्रयोग होने से मूल अंतराल में एक प्रमाण-श्रुति का अंतर पड़ता है। इसलिए पंचश्रुतिक एवं अष्टश्रुतिक अंतराल 'अनिष्ट' माने गए हैं।

'विवाद' दो स्वरों में पाए जानेवाले अनिष्ट अंतराल का द्योतक है।

विवादी स्वर और वर्जित स्वर का अंतर

एक सप्तक में बारह स्वर माननेवाले व्यक्ति 'विवादी स्वर' का अर्थ 'वर्जित स्वर' समझते हैं। इस दृष्टि से तो यमनकल्याण में पाँचों वे स्वर विवादी हो जाएँगे, जो कल्याण ठाठ में नहीं हैं; और भूपाली तथा मालकोंस जैसे रागों में सात-सात स्वर 'विवादी' हो जाएँगे। यह दृष्टिकोण 'संगीत-शास्त्र का सत्यानाश' है।

एक सप्तक में बारह स्वर नहीं, एक 'स्थान' में बारह स्वर

जिसे भाषा का तनिक भी ज्ञान है, वह जानता है कि 'सप्तक' का अर्थ 'सात वस्तुओं का समूह' है। बच्चा भी जानता है कि ताश के 'सत्ते' में सात बिंदु होते हैं। **संगीतमर्मज्ञ सज्जन 'एक सप्तक में बारह स्वर' कहते हैं, लिखते हैं, बोलते हैं।** यदि यह कहा जाए कि **एक 'स्थान' में बारह स्वर होते हैं, तो किसी सीमा तक** सह्य है।

वीणा का मध्यम स्वर या स्थायी स्वर

'स्वर' शब्द से समस्त स्वरों का बोध तो होता ही है, परंतु 'स्वर' शब्द 'स्थायी' 'वादी' अथवा 'अंश' स्वर का वाचक भी है। भरत ने कहा है कि शृंगारस में 'मध्यम' अथवा 'पंचम' को 'स्वर' कहना चाहिए।

इक्कीस तारवाली वीणा में पहले तार की ध्वनि-वीणा का 'मंद्र'-स्वर, आठवें तार की ध्वनि-वीणा का 'मध्यम'-स्वर और पंद्रहवें तार की ध्वनि-वीणा का 'तार'-स्वर है। मंद्र, मध्य और तार-स्वर क्रमशः मंद्र, मध्य और तार 'स्थान' के आरंभक स्वर हैं। कोई भी मूर्च्छना मिलाई जाए, पहले आठवें और पंद्रहवें तार को उतारने-चढ़ाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। बल्कि राग-प्रयोग के समय इन तारों की ध्वनियों को राग-प्रयोज्य 'अंश' स्वर की संज्ञा दी जाती है।

इन तीनों तारों की ध्वनियाँ अचल, अविनाशी और स्थायी हैं। 'स्थायी' शब्द का अर्थ 'परमेनेंट' या 'मुस्तकिल' होता है। इन 'परमेनेंट' ध्वनियों को किसी स्थापित राजसिंहासन के अनुसार स्थिरता अथवा अविचलता प्राप्त है। इन तीनों स्वरों में बीच-वाला अर्थात् मध्यस्थ या मध्यम नाद आठवें तार की ध्वनि है। इसी को भरत ने **वीणा का मध्यम स्वर** कहा है। इसे **सप्तक का मध्यम स्वर** समझनेवालों में 'विशेषण' की विशेषता पर ध्यान देने की योग्यता का सर्वथा अभाव है।

मत्तकोकिला वीणा

भरत के समय सारिकायुक्त वीणाओं का निर्माण नहीं हुआ था। उनकी वीणा इक्कीस तारोंवाली मत्तकोकिला थी। भरत ने कहा है कि 'वीणा के मध्यम स्वर को आधार मानकर मूर्च्छना-निर्देश अथवा मूर्च्छना-स्थापन करना चाहिए।' इसी बात को स्पष्ट करते हुए मतंग ने कहा है कि 'मध्य-सप्तक में मूर्च्छना स्थापित करना चाहिए।' 'मंद्र और तार-सप्तक के स्वर तो मध्य-सप्तक के अनुसार होंगे ही।

अंश या वादी स्वर का राजसिंहासन पर उपवेशन

वीणा के मध्यम स्वर अथवा **आठवें तार की स्थायी ध्वनि** को जिस स्वर का नाम दिया जाए, वही स्वर मूर्च्छना के आरंभक स्थान का अंश या विभाजक और राग का वादी स्वर होकर स्थायी नाद-रूपी राजसिंहासन पर अधिष्ठित हो गया। यही स्थायी स्वर पर राग का 'उपवेशन' या 'बिठाना' है। इसी न हिलने-डुलनेवाले राजसिंहासन पर जमकर शोभित होनेवाले वादी स्वर की उपमा राजसिंहासन पर सुशोभित होनेवाले 'राजा' से दी गई है।

स्वरों की शुद्धता

आजकल लोग 'प्राकृतिकता' और 'शुद्धता' को पर्यायवाची समझकर स्वरों की तथाकथित शुद्धता का निर्णय करने लगे हैं। प्राकृत वस्तु संस्कार के पश्चात् 'शुद्ध' कहलाती है। प्रत्येक व्यक्ति जन्मजात रूप में शूद्र होता है; संस्कार उसे द्विज बनाते हैं। 'प्राकृत व्यक्ति' शब्द का अर्थ 'असंस्कृत अथवा अपरिमार्जित व्यक्ति' है। आभूषण अथवा भस्म बनाने के लिए संस्कार द्वारा धातुओं को शुद्ध किया जाता है, मामूली या अच्छे औजार या बर्तन भी धातुओं को शुद्ध किए बिना नहीं बनते, अतः सिद्ध है कि 'शुद्धता' का अर्थ 'संस्कारयुक्तता' है।

भारतीय शुद्ध स्वर-सप्तक में शुद्धता

भारतीय दृष्टि में आदिम या मूल शुद्धस्वर-सप्तक वह है, जिसका मध्यवर्ती स्वर सप्तक के आदिम और अंतिम स्वर के ठीक बीचो-बीच में हो, इस सप्तक के आदिम और अंतिम त्रिकों का निर्माण क्रमशः चतुःश्रुतिक, त्रिश्रुतिक और द्विश्रुतिक स्वरों से हुआ हो; ये दोनों त्रिक परस्पर संवादी हों और इस सप्तक में त्रयोदशश्रुतिक अंतर तीन बार, नवश्रुतिक अंतर दो बार और सप्तश्रुतिक अंतर एक बार आए।

सा	रे	ग॒	म	प	ध	नि॒
४	३	२	४	४	३	२

अर्थात् षड्ज-ग्रामीय मूल आदिम या शुद्धस्वर-सप्तक में, मध्यवर्ती स्वर 'मध्यम', आदिम स्वर से नौ श्रुति पश्चात् और अंतिम स्वर निषाद से नौ श्रुति पूर्व है। मध्यम के पूर्व और पश्चात् विद्यमान दोनों त्रिकों—'सा, रे, ग॒' और 'प, ध, नि॒' का निर्माण क्रमशः चतुःश्रुतिक, त्रिश्रुतिक एवं द्विश्रुतिक स्वरों से हुआ है। इन दोनों त्रिकों के स्वर क्रमशः षड्ज-पंचम-भाव से संवादी हैं; अर्थात् इस सप्तक में षड्ज-पंचम-भाव तीन अवसरों पर नवश्रुत्यंतर या षड्ज-मध्यम-भाव 'सा-म' और 'म-नि॒' में, अर्थात् इस सप्तक में, दो अवसरों पर और मध्यम-धैवत-भाव, अर्थात् सप्त-श्रुत्यंतर 'म-ध' में, इस सप्तक में एक अवसर पर है।

यह सप्तक षड्ज-ग्राम का मूल और शुद्ध सप्तक है। इस सप्तक के विभिन्न स्वरों को अंश मानने से जिन छह अन्य सप्तकों की सिद्धि होती है, वे शुद्ध स्वरों से युक्त सप्तक हैं, क्योंकि उनमें न तो स्वरों के नाम बदलते हैं और न किन्हीं दो स्वरों के पारस्परिक अंतराल में कोई अंतर पड़ता है।

गांधार और निषाद की विकृतावस्था और उसका कारण

गांधार को यदि दो श्रुति चढ़ा दिया जाए, तो वह धैवत का संवादी हो जाएगा। गांधार की यह अवस्था विकृत होगी, अतः इस अंतर-गांधार से युक्त सप्तक विकृत होगा। यदि निषाद को दो श्रुति चढ़ा दिया जाए, तो निषाद विकृत होगा और इस काकली निषाद से युक्त सप्तक भी विकृत होगा। यदि अंतर-गांधार और काकली निषाद—दोनों की ही स्थिति सप्तक में हो, तो यह सप्तक भी विकृत होगा।

अष्टक या ऑक्टेव की दृष्टि से विचार करने पर यह दृष्टि उत्पन्न नहीं होती।

प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ स्वस्थान

प्रत्येक अंश स्वर अर्थात् प्रत्येक मूर्च्छना के मध्य-स्थानीय आरंभक स्वर की अपेक्षा आरोह की ओर तीसरे स्वर से अवरोह करने पर अंश स्वर के मंद्र-रूप तक तीन मध्य-स्थानीय और सात मंद्र-स्थानीय स्वर होते हैं। इन दस स्वरों में राग-वाचक स्वर-गुच्छों या स्थायों का प्रयोग कर-करके मध्य-स्थान के आरंभक अंश स्वर पर समाप्ति करते रहना प्रथम स्वस्थान या प्रथम मुख-चालन है।

प्रत्येक अंश स्वर के मध्य-स्थानीय रूप की अपेक्षा चौथा स्वर 'द्व्यर्ध' स्वर कहलाता है। प्रथम स्वस्थान के स्वरों में यदि 'द्व्यर्ध' स्वर को भी सम्मिलित कर लिया जाए, तो मंद्र अंश तक ग्यारह स्वर हो जाते हैं। इस स्वरावधि में राग-वाचक स्थायों का प्रयोग कर-करके स्थायी स्वर पर समाप्ति करते रहना द्वितीय मुख-चालन या द्वितीय स्वस्थान है।

प्रत्येक सप्तक के पाँचवें, छठे, सातवें स्वर अर्धस्थित कहलाते हैं। इन तीनों स्वरों को यदि द्वितीय स्वस्थान के स्वरों की संख्या में सम्मिलित कर दिया जाए तो प्रयोज्य स्वरों की संख्या चौदह हो जाती है। इस सीमा में राग-वाचक स्वर-समुदायों का प्रयोग कर-करके मध्य-स्थानीय अंश स्वर पर समाप्ति करना तृतीय स्वस्थान या तृतीय मुखचालन है।

तार-स्थानीय अंश स्वर को 'द्विगुण' कहते हैं। यदि तार-स्थान के स्वरों को भी पूर्वोक्त चौदह स्वरों में सम्मिलित कर लिया जाए और राग-वाचक स्वर-गुच्छों का प्रयोग करते हुए मध्य-स्थानीय अंश स्वर पर समाप्ति की जाए, तो राग का चतुर्थ स्वस्थान या चतुर्थ मुख-चालन है।

चार स्वस्थान अर्थात् बढ़त के चार मुकाम (जगहें)

स्थायी या अंश स्वर का वास्तविक अर्थ न समझनेवाले सज्जन कहते हैं कि स्वस्थान-नियमों का पालन अब नहीं होता, जबकि (ठाठ की दृष्टि से) आनुवंशिक गुणी कहते हैं कि हर राग की बढ़त करने के उसके अपने चार मुकाम (चार स्वस्थान) हैं। मध्य-गांधार से मंद्र-षड्ज तक, मध्य-मध्यम से मंद्र-षड्ज तक, मध्य-निषाद से मंद्र-षड्ज तक और तार-निषाद से मंद्र-षड्ज तक बात बिलकुल वही है।

जिस काम को 'आस्ताई भरना' और उसमें 'एक-एक स्वर की बढ़त करना' कहा जाता है, वह चारों स्वस्थानों का प्रयोग-मात्र है।

अपन्यास स्वरों की वास्तविकता

अंश स्वर और उसके संवादी स्वर के अतिरिक्त राग में दो स्वर और ऐसे होते हैं, जिन पर रुका या मुकाम किया जाता है। ये 'अपन्यास-स्वर' कहलाते हैं। वादी-संवादी शब्दों का वास्तविक तात्पर्य न समझने के कारण आज के लोगों ने अनेक रागों के अपन्यास स्वरों को 'वादी-संवादी' कह डाला है। किसी भी राग में अपन्यास स्वर दो होते हैं—एक पूर्वांग में और दूसरा उत्तरांग में। यह आवश्यक नहीं कि किसी राग के दोनों अपन्यास स्वरों में परस्पर संवाद भी हो।

बंदिशों की तुकों के एक आवृत्ति में घूम जानेवाले खंडों की समाप्ति अपन्यास स्वरों पर होती हैं और बंदिश की तुकों के ये खंड 'विदारी' कहलाते हैं।

रागालाप

ग्रह, अंश, वादी-संवादी का प्रयोग करते हुए राग की अभिव्यक्ति तीनों सप्तकों में करना 'रागालाप' है। 'रागालाप' एकाकार होता है। इसमें अपन्यास स्वरों पर रुका नहीं जाता। 'रागालाप' पुल्लिंग शब्द है। आविर्भाव पुरुष का गुण है। इसलिए 'रागालाप' में राग का तिरोभाव नहीं होता। एकाकारता अथवा स्वस्थान-नियम-विहीनता रागालाप की विशेषता है।

रूपकालाप

रागालाप करते समय यदि अपन्यास स्वरों पर विश्रांति की जाने लगे, तो आलाप का यह प्रकार 'रूपकालाप' कहलाएगा।

रागालप्ति

(प्रतिग्रहणिका, स्थायभंजनी, रूपकभंजनी)

रागालप्ति में स्वरों के वैचित्र्यमय प्रयोग होने के कारण राग का तिरोभाव भी होता है और राग-वाचक स्वर-समुदायों के प्रयोग से आविर्भाव भी। इसमें स्वस्थान-नियम का पालन भी होता है। यदि इस कार्य को कर-करके 'बंदिश' का मुँह पकड़ा जाए, तो 'आलप्ति' का यह रूप 'प्रतिग्रहणिका' कहलाता है; क्योंकि इसमें प्रत्येक बार राग के रूप का आविर्भाव-तिरोभाव कर-करके प्रत्येक बार बंदिश के बोलों का ग्रहण किया जाता है। बड़े खयाल की गायकी में 'प्रतिग्रहणिका' ही होती है।

यदि बंदिश की किसी तुक के एक खंड या विदारी में प्रयुक्त स्वरों की सीमा के अंदर रहकर, उसी गति या लय को सुरक्षित रखते हुए, उन्हीं स्वरों का विभिन्न क्रमों से प्रयोग किया जाए, तो इसे 'स्थायभंजनी' कहा जाता है। आगरेवालों की लयबद्ध गायकी में यह अंग खूब निखरता है।

यदि पूरी बंदिश या चीज के स्वरों का इसी प्रकार 'भंजन' किया जाए, तो इसी को 'रूपकभंजनी' कहा जाएगा।

'संगीत' की नैया के कर्णधार अशिक्षित व्यक्ति बने, तो वे उन विशेषताओं के वास्तविक नाम तक भूल गए, जो उनमें विद्यमान भी थीं।'

शिक्षित कहलानेवाले उनके शिष्यों को वैज्ञानिक शैली में लिखे गए सूत्र-ग्रंथों का मर्म न दिखाई दिया और वे यह लिखने लगे कि 'संगीत' में इन नियमों का पालन अब नहीं होता है।

ध्रुवपद-शैली और खयाल-शैली

'गीत' के चारों अंग—स्वर (राग), पद (भाषा), ताल और मार्ग हैं। 'पदों' के अर्थात् शब्दों अथवा शब्द-खंडों, चीज के बोलों के लयप्रधान प्रयोगों से जिन गान-

शैलियों की सृष्टि होती है, वे 'पदाश्रित' गीतियाँ या गान-शैलियाँ कहलाती हैं। पदाश्रित गीति के चार प्रकार—मागधी, अर्धमागधी, संभाविता एवं पृथुला हैं। पदाश्रित इन गीतियों को लोग ध्रुवपद-गान-शैली कहने लगे हैं।

स्वरों के विभिन्न-शैलीय प्रयोगों से जिन गान-शैलियों अथवा गीतियों का निर्माण होता है, वे 'स्वराश्रित' गीतियाँ कहलाती हैं। उनके भेद—शुद्धा, भिन्ना, गौडी, वेसरा और साधारणी हैं। आलाप, खयाल-गायकी, टप्पा-गायकी में इनका प्रभाव भली-भाँति परिलक्षित होता है।

बड़ी मनोरंजक बात यह है कि लोगों ने 'पदाश्रित गीति' को ध्रुवपद-शैली और 'स्वराश्रित गीति' को खयाल-गायकी या टप्पा-गायकी कहना आरंभ कर दिया है।

'खयाल' अरबी भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ 'ध्यान' है। भारतीय भाषाओं में भारतीय रागों के माध्यम से देवी-देवताओं के 'ध्यान' गाए जाते थे। मुसलमान सूफी 'संगीत' पसंद करते थे। उन्होंने भारतीय भाषाओं में 'अल्लाह', 'मुहम्मद' और 'पीरों' का 'ध्यान' करना आरंभ कर दिया; भाषा और राग भारतीय रहे। 'ध्यान' का पर्य्याय 'खयाल' था। अर्थात् 'खयाल' शब्द का संबंध विषय से था, गान-शैली से नहीं।

खयाल-गायक जिन अलंकारों का प्रयोग करते हैं, वे सर्वथा भारतीय हैं; आरोही, अवरोही, स्थायी और संचारी वर्ण भारतीय हैं; खयाल की 'स्थायी' और 'अंतरा' नामक धातुएँ भारतीय हैं; गायकी में लय का प्रयोग और अप्रयोग भारतीय है; स्वर के तरंगित रूपों या गमकों का प्रयोग भारतीय है।

मुसलमानों के संपर्क से कुछ नए 'ठाठ' भले ही भारतीय संगीत में आए हों, राग-निर्माण की कुछ नई विधियाँ आई हों, 'सप्तक' की जगह 'अष्टक' को विचार का आधार माना जाने लगा हो और 'स्थान' (मंद्र, मध्य, तार) में बारह स्वरों की सत्ता मूर्च्छना-पद्धति को न समझने और मुकाम-पद्धति का आश्रय लेने के कारण स्वीकृत की गई हो एवं परिणाम-स्वरूप कोमल ऋषभ, कोमल धैवत और तीव्र मध्यम-जैसी स्वर-संज्ञाओं की उत्पत्ति हुई हो, परंतु कोई गानशैली भारत को नहीं मिली !

'संगीत' के प्रौढ़ ग्रंथों के पठन-पाठन की परंपरा की समाप्ति से 'संगीत-शास्त्र' के तत्त्वों की मर्मज्ञता का विनाश हुआ और गाना-बजाना निरक्षरों का कार्य समझा जाने लगा।

मुकाम, मूर्च्छना और मेल

"पौंड्रक, औड्र, द्रविड, कांबोज, यवन, शक, पारद, पल्लव, चीन, किरात, दरद और खश नामक क्षत्रिय जातियाँ ब्राह्मणों के अदर्शन (असंपर्क) के कारण क्रियालोप (क्षत्रियोचित संस्कारों और आचारों के परित्याग) से लोक में धीरे-धीरे वृषलत्व (शूद्रत्व) को प्राप्त हो गईं।" (मनुस्मृति, अध्याय १०, श्लोक ४३, ४४)

'मनुस्मृति' के उपर्युक्त श्लोक यह सिद्ध करते हैं कि आज जो देश भारत की सीमा से बाहर समझे जाते हैं, उनके निवासियों में भी कभी भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार वर्ण-व्यवस्था और उनके अनुसार आचार था, जो संभवतः भारतीयों के राजनीतिक प्रभाव में क्षीणता आने के कारण नष्ट हो गया।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति का अकेला ही एक साधन संगीत है। जहाँ-जहाँ भारतीय आचार हो, वहाँ-वहाँ भारतीय संगीत होना अनिवार्य है। जिन देशों पर एक या डेढ़ हज़ार वर्ष पूर्व तक भरपूर भारतीय प्रभाव रहा हो, वे आज भी भारतीय प्रभाव से सर्वथा अछूते नहीं हो सकते।

मुस्लिम-आक्रमण से पूर्व ईरानी लोग अग्निपूजक थे और उनके पवित्र ग्रंथ 'जिंदावेस्ता' में 'ऋग्वेद' की कुछ ऋचाएँ जैसी-की-तैसी विद्यमान हैं, केवल 'स' के स्थान पर 'ह' है। अरबों के आक्रमण और शासन ने ईरान को बहुत प्रभावित किया।

ईरानी स्वर-शास्त्र पर अभारतीय प्रभाव भी है। प्रस्तुत पंक्तियों का प्रयोजन, वहाँ भारत के प्राचीन प्रभाव का अन्वेषण है।

'मुकाम' शब्द 'प्रदेश' का वाचक है। ईरानी संगीत में इस शब्द का प्रयोग अष्टक या 'ऑक्टेव' के लिए होता है। सप्तक के स्थान पर अष्टक को स्वर-प्राप्ति का आधार माना जाना यूनानी प्रभाव का द्योतक है। अष्टक में अंतिम स्वर कोई नया स्वर नहीं होता, अपितु वह अष्टक के आरंभक स्वर का ही द्विगुण रूप होता है। अष्टक दो चतुष्कों के योग (सा रे ग म+प ध नि सां) से बनता है और इसकी व्याप्ति मंद्र, मध्य अथवा तार-स्थानों में से किसी एक ही स्थान में नहीं हो सकती। अष्टक का आरंभक स्वर यदि मंद्रस्थानीय है, तो अंतिम स्वर मध्यस्थानीय होगा; आदिम स्वर मध्यस्थानीय है, तो अंतिम स्वर तारस्थानीय होगा।

भारतीय दृष्टि सप्तक को स्वरशास्त्र का आधार मानती है, जिसमें एक 'स्थान' एक-सप्तक की व्याप्ति का स्थान होता है। सप्तक में 'मध्यम' स्वर का विशिष्ट स्थान है; वह सप्तक का केन्द्र-बिंदु है; उसके दोनों ओर तीन-तीन स्वर हैं।

अस्तु, यदि मुकाम या अष्टक में अंतिम स्वर को निकाल दें, तो अवशिष्ट भाग सप्तक ही रह जाएगा।

एक फ्रांसीसी वैज्ञानिक ने एक सप्तक को सीधी रेखा मानकर उसे ३०१ घटकों में बाँट दिया है। इस दृष्टि से चतुःश्रुतिक स्वरों का मान लगभग ५१ घटक, त्रिश्रुतिक स्वरों का मान लगभग ४६ घटक, द्विश्रुतिक स्वरों का मान लगभग २८ घटक होता है। इस दृष्टि से ईरानी मुकामों और भरत की मूर्च्छनाओं का साम्य देखने में सरलता रहेगी।

इस दृष्टि से प्रमाणश्रुति का परिमाण प्रायः ५ घटक होता है। षड्ज-मध्यम का अंतर १२५ घटक, षड्ज-पंचम का अंतर १७६ घटक और षड्ज-स्वयंभूगांधार का अंतर लगभग ९७ घटक है।

मूर्च्छनाओं से मुकामों का संबंध :—

रास्त मुकाम अथवा मध्यमग्राम की प्रथम शुद्ध मूर्च्छना

रास्त मुकाम में आठ स्वर हैं। (मध्यमग्राम की प्रथम शुद्ध मूर्च्छना के आरंभिक स्वर का नाम मध्यम है। यदि इस मूर्च्छना के पश्चात् मध्यम पुनः जोड़ दिया जाए, तो यह अष्टक बन जाएगी। मुकामों के साथ मूर्च्छना का साम्य देखने के लिए मूर्च्छना के प्रारंभिक स्वर की आवृत्ति आवश्यक है।) यह मुकाम षड्जग्राम के षड्ज से आरंभ होनेवाली सांतरा (अंतरगांधार-युक्त) मूर्च्छना अथवा मध्यमग्राम की मध्यस्वर से आरंभ होनेवाली प्रथम मूर्च्छना का प्रतिरूप है।

श्रुति-संख्या	०	३	४	२	४	३	२	४
रास्त मुकाम	सा	रे	ग	म	प	ध	नि	सां
घटक-संख्या	०	४६	५१	२८	५१	४६	२८	५१
मध्यमग्राम के स्वर	म	प	ध	नि	सा	रे	ग	म
षड्जग्राम के स्वर	सा	रे	ग	म	प	ध	नि	सां
आदिम ध्वनि से प्रत्येक स्वर का अंतर घटकों में	०,	४६,	९७,	१२५,	१७६,	२२२,	२५०,	३०१

उत्तर-भारतीय सरस्वतीवीणा के 'प, ध, नि, सा, रे, ग, म, प' में 'रास्त' नामक मुकाम, मध्यमग्राम के उपर्युक्त शुद्ध स्वर अथवा षड्जग्राम के उपर्युक्त स्वर सुनाई देंगे।

इस मुकाम के प्रयोग में ठाठवादियों को खमाज ठाठ के स्वर सुनाई देंगे, परंतु प्रस्तुत मुकाम के ऋषभ-पंचम में षड्ज-मध्यम-भाव, अर्थात् नव श्रुतियों अथवा १२५ घटकों का अंतर नहीं, अपितु दस श्रुतियों या १३० घटकों का अंतर (१७६-४६-१३०) है।

मुहम्मद करमइमाम ने 'रास्त' मुकाम का आविष्कर्ता अमीर खुसरो को कहा है। यदि यह सत्य है, तो यही कहना होगा कि अमीर खुसरो पर यह प्रभाव गोपाल-नायक का है।

हमारी दृष्टि अमीर खुसरो को इस मुकाम का आविष्कार मानने के लिए प्रस्तुत

नहीं, क्योंकि मुहम्मद करमइमाम ने ही 'इराक' नामक मुकाम का संबंध हजरत आदम से बताया है, जो मुसलमानों के विश्वास के अनुसार सभी 'आदमियों' के पूर्व पुरुष और सर्वप्रथम पैगंबर हैं। 'इराक' नामक मुकाम में नौ स्वर हैं; सभी स्वर इस मुकाम में 'रास्त' नामक मुकाम के हैं, केवल च्युतषड्ज (घटक २९६) अधिक है। षड्जग्राम की दृष्टि से इस स्वर की संज्ञा शार्ङ्गदेव के शब्दों में च्युतषड्ज और मध्यम-ग्राम की दृष्टि से च्युतमध्यम है। षड्ज अथवा मध्यम की एक 'प्रमाणश्रुति' (५ घटक) च्युत-अवस्था-प्रयोग या क्रिया की सूक्ष्मता का परिणाम-मात्र है।

इराक नामक मुकाम मध्यमग्राम की आदिम शुद्ध मूर्च्छना अथवा षड्जग्राम की आदिम सांतरा मूर्च्छना है। मूर्च्छना के आरंभिक स्वर का प्रयोग तार-स्थान में यदि शुद्ध और च्युत, दोनों अवस्थाओं में हो, तो 'इराक' मुकाम हो जाता है, जिसका संबंध हजरत आदम से है।

इन हजरत आदम का संबंध भारत से देख लेना परमावश्यक है।

अरबी और फारसी के प्रसिद्ध विद्वान् मौलाना सैयद सुलेमान साहब नदवी का कथन है—"हदीसों (हजरत मुहम्मद से संबद्ध प्रामाणिक संस्मरणों) और तफसीरों (टीकाओं) में जहाँ हजरत आदम का किस्सा है, वहाँ मुतअद्दिद (अनेक) रिवायतों (अनुश्रुतियों) से यह बयान आता है कि हजरत आदम जब आसमान की जन्नत (स्वर्ग) से निकाले गए, तो वह इसी जमीन की जन्नत (स्वर्ग) में, जिसका नाम 'हिंदुस्तान जन्नतनिशान' (स्वर्गोपम भारत) है, उतारे गए। सरनदीप (स्वर्णदीप-लंका) में उन्होंने पहला कदम रखा, जिसका निशान उसके एक पहाड़ में मौजूद है।"

इस दृष्टि से मध्यमग्राम का शुद्ध रूप और षड्जग्राम का अंतरगांधार-युक्त रूप 'इराक' के रूप में हजरत आदम द्वारा व्यवहृत था। इराक नामक देश अरब के पूर्वीय भाग में है, जहाँ की राजधानी बगदाद है। इराक नामक मुकाम का संबंध भी इराक देश से है। मुहम्मद करमइमाम का कथन है कि मुकामों का नामकरण प्रदेशों के नाम के आधार पर हुआ है। प्रदेशों में प्रचलित धुनें मुकाम या अष्टक से संबंद्ध दिखाई दीं। मुकाम का नाम भी धुन से संबद्ध प्रदेश के नाम पर रख दिया गया।

हिजाज़ मुकाम अथवा मध्यमग्राम की षड्जादि शुद्ध मूर्च्छना

हिजाज़ अरब का वह प्रदेश है, जहाँ मक्का और मदीना हैं। हिजाज़ नामक मुकाम का नामकरण इसी प्रदेश के आधार पर हुआ है।

श्रुति-संख्या	०	३	२	४	३	२	४	४
हिजाज़ मुकाम	सा	रे	ग॒	म	प	ध	नि॒	सां
मध्यमग्राम के स्वर	सा	रे	ग॒	म	प	ध	नि॒	सां
आदिम स्वर से प्रत्येक स्वर का अंतर घटकों में	०	४६	७४	१२५	१७१	२२२	२५०	३०१

यह मुकाम मध्यमग्राम की चौथी शुद्ध मूर्च्छना है। इसके ऋषभ-पंचम में परस्पर षड्ज-मध्यम के समान अंतर है। भरत के विधान के अनुसार ऋषभ के आधार पर

संवाद करके मध्यमग्राम की इस मूर्च्छना की प्राप्ति षड्जग्राम की प्रथम शुद्ध मूर्च्छना से की जाती है।

उत्तर-भारतीय सरस्वतीवीणा के 'रे, ग, मं, प, ध, नि, सां, रें' में क्रमशः हिजाज मुकाम या मध्यमग्राम की उक्त मूर्च्छना के स्वर सुनाई देते हैं।

रास्त मुकाम इसी स्वरावलि के मध्यम से आरंभ होनेवाली मूर्च्छना से प्राप्त स्वरावलि है।

रहावी मुकाम अथवा षड्जग्राम की चौथी सकाकली मूर्च्छना

श्रुति-संख्या	०	३	४	२	३	२	४	४
रहावी मुकाम	सा	रे	ग	म	प	ध॒	नि॒	सां
षड्जग्राम के स्वर	प	ध	नि	सा	रे	ग॒	म	प
आदिम स्वर से प्रत्येक स्वर का अंतर घटकों में	०	४६	९७	१२५	१७१	१९९	२५०	३०१

उत्तर-भारतीय सरस्वतीवीणा के 'रे, ग, मं, प, ध, नि॒, सां, रें' में रहावी मुकाम के षड्ज इत्यादि स्वर क्रमशः विद्यमान हैं।

हुसेनी मुकाम अथवा षड्जग्राम की शुद्ध चौथी मूर्च्छना

श्रुति-संख्या	०	३	२	४	३	२	४	४
हुसेनी मुकाम	सा	रे	ग॒	म	प	ध॒	नि॒	सां
षड्जग्राम के स्वर	प	ध	नि॒	सा	रे	ग॒	म	प
आदिम स्वर से प्रत्येक स्वर का अंतर घटकों में	०	४६	७४	१२५	१७१	१९९	२५०	३०१

दरबारीकानड़ा इसी मुकाम का राग है। तानपूरे के वाम पार्श्व के तारों को यदि मध्यम में मिलाकर कोई भी सुरीला और रागरूप का मर्मज्ञ गायक दरबारी गाए, तो इसी मुकाम के स्वर लगेंगे। अखिल-भारतीय प्रसिद्धि के कई प्रामाणिक गायकों के कंठ से इस तथ्य को प्रमाणित एवं समर्थित कराया जा चुका है।

इस मुकाम के 'म, प, ध॒, नि॒, सां, रें, गं॒' षड्जग्राम की प्रथम शुद्ध मूर्च्छना के षड्ज इत्यादि स्वर हैं।

उत्तर-भारतीय सरस्वतीवीणा के 'रे, ग, म, प, ध, नि॒, सां, रें' इसी हुसेनी मुकाम के षड्ज इत्यादि स्वर हैं।

कुछ मुकाम ऐसे हैं, जिनमें एक स्वर के दो रूप भी गृहीत हैं, यदि इनमें से एक स्वर का ग्रहण किया जाए, तो भरत की मूर्च्छनाओं के दर्शन वहाँ भी हो जाते हैं। जैसे 'कोचक' नामक मुकाम में दो धैवत हैं। यदि इनमें से एक धैवत का परित्याग कर दिया जाए, तो मध्यमग्राम की चौथी सकाकली मूर्च्छना प्राप्त हो जाती है।

कोचक मुकाम में चौथी सकाकली, मध्यमग्राम की मूर्च्छना

श्रुति-संख्या	०	३	२	४	३	४	४	२
कोचक मुकाम	सा	रे	ग॒	म	प	ध	नि	सां
मध्यमग्राम के स्वर	सा	रे	ग॒	म	प	ध	नि	सां
आदिम स्वर से प्रत्येक स्वर का अंतर घटकों में	०	४६	७४	१२५	१७१	२२२	२७३	३०१

सरस्वतीवीणा के 'रे, ग, म, प, ध, नि, सां, रें' में कोचक मुकाम की यही स्वरावली प्राप्त होती है।

हुसेनी मुकाम का धैवत (घटक १९९) भी कोचक में गृहीत है। इस प्रकार कोचक नौ स्वरों से युक्त है।

बुजुर्ग मुकाम में षड्जग्राम की द्वितीय शुद्ध मूर्च्छना

श्रुति-संख्या	०	४	३	२	४	४	३	२
बुजुर्ग मुकाम	सा	रे	ग	म	प	ध	नि	सां
षड्जग्राम के स्वर	नि॒	सा	रे	ग॒	म	प	ध	नि॒
आदिम स्वर से अंतर घटकों में	०	५१	९७	१२५	१७६	२२७	२७३	३०१

बुजुर्ग मुकाम की यह स्वरावलि भातखंडेजी का बिलावल है और उत्तर-भारतीय सरस्वतीवीणा के 'म़, प़, ध़, नि॒, सा, रे, ग, म' में प्राप्त होता है।

इस मुकाम में पंचम दो हैं। दूसरा पंचम एक प्रमाणश्रुति कम है, जिसका परिमाण १७१ घटक है। पूर्वोक्त स्वरावलि में उस पंचम का परित्याग कर दिया गया है। स्वरावलि का प्रस्तुत रूप अकबरी युग से पूर्व मूल ठाठ के रूप में स्वीकृत हो चुका था। तानसेन ने अपने एक सैद्धांतिक ध्रुवपद में इसकी विवेचना की है।

द्विग्राम-मुकाम

यह बताया जा चुका है कि मुकाम सप्तक न होकर अष्टक हैं, जो चार-चार स्वरों के दो समूहों से बने हैं। ऐसे मुकाम भी हैं, जिनमें दो ग्रामों से लिए हुए दो चतुष्कों का जोड़ दिखाई देता है। 'इस्फहान' ईरान देश का एक प्राचीन और प्रसिद्ध नगर है। इस नगर के नाम पर एक मुकाम का नाम भी इस्फहान है। इस मुकाम के पूर्वार्ध में षड्जग्राम के 'म, प, ध, नि॒' और उत्तरार्ध में मध्यमग्राम के 'प, ध, नि॒, सां' का योग है।

श्रुति-संख्या	०	४	३	२	३	४	२	४
इस्फहान	सा	रे	ग	म	प	ध	नि॒	सां
ग्रामों के स्वर	म	प	ध	नि॒	प	ध	नि॒	सां
			षड्जग्राम				मध्यमग्राम	
आदिम स्वर से अंतर घटकों में	०	५१	९७	१२५	१७१	२२२	२५०	३०१

इस्फ़हान में नौ स्वर हैं। नवाँ स्वर च्युतषड्ज, घटकप्रमाण २६६ है, जिसका संवाद इस मुकाम के पंचम से है। यहाँ उसका परित्याग कर दिया गया है।

ज़ंगूलः

'जंगुल:' अथवा 'ज़ंगूल:' फारसी भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ झाँझ भी होता है और घुँघरू भी। यह एक मुकाम का नाम भी है। इस्फ़हान का च्युतषड्ज-हीन रूप ही ज़ंगूल: है।

अवशिष्ट मुकामों की विशेषता समझने के लिए भरत की श्रुतियों को समझ लेना होगा। परिमाण की दृष्टि से उनके तीन प्रकार हैं। २३ घटक, १८ घटक और ५ घटक—तीन विभिन्न परिमाणवाली श्रुतियों के बोधक हैं।

२३ घटक परिमाणवाली श्रुति को 'महती', १८ घटक परिमाणवाली श्रुति को 'उपमहती' और ५ घटक परिमाणवाली श्रुति को हम 'प्रमाण' श्रुति कहेंगे।

महतीश्रुति का परिमाण उपमहती और प्रमाणश्रुति के योग के बराबर, अर्थात् १८+५=२३ घटक है। महती और उपमहती शब्द हमारे हैं और प्रमाणश्रुति प्राचीन शब्द है।

२३ घटक को एक महतीश्रुति भी कहा जा सकता है और दो श्रुतियों (उपमहती और प्रमाणश्रुति) का योग भी। भरत के गांधार से २३ घटक पश्चात् अंतरगांधार है और निषाद से २३ घटक पश्चात् काकलीनिषाद है। इन स्थलों में २३ घटक, ५ अर्थात् एक प्रमाणश्रुति और १८ अर्थात् एक उपमहतीश्रुति हैं।

भरत-संप्रदाय में एक श्रुति के अंतर पर कोई स्वर स्थापित नहीं किया जाता, अत: २३ घटक का अर्थ पूर्वोक्त स्थलों में एक महतीश्रुति न होकर, दो श्रुति अर्थात् एक प्रमाणश्रुति और एक उपमहतीश्रुति है।

भरत के चतुःश्रुतिक स्वरों का परिमाण ५१ घटक (५+१८+२३+५=५१), त्रिश्रुतिक स्वरों का परिमाण ४६ घटक (१८+२३+५=४६) और द्विश्रुतिक स्वरों का परिमाण २८ घटक (२३+५=२८) है। इस प्रकार भरत की श्रुतियों में २३ घटक एक 'महती' श्रुति के रूप में भी है और प्रमाणश्रुति एवं उपमहतीश्रुति के योग के रूप में भी।

कुछ मुकामों में दो स्वरों का पारस्परिक अंतर २३ घटक है। इस अंतर को हम एक श्रुति का अंतर कहेंगे।

श्रुति-संख्या	०	४	४	१	४	४	१	४
उश्शाक मुकाम	सा	रे	ग	म	प	ध	नि	सां
आदिम स्वर से अंतर घटकों में	०	५१	५१	१२५	१७६	२२७	२५०	३०१

इस मुकाम के 'ग-म' में २३ घटकों का अंतर है और 'ध-नि' में भी। इस मुकाम के 'सा, रे, ग' का पारस्परिक अनुपात और 'म, प, ध' का पारस्परिक अनुपात सदृश है। यह अनुपात भरत के 'ग॒, म, प' में प्राप्त है।

'नवा' नामक मुकाम के 'रे-ग' और 'प-ध॒' में एक महतीश्रुति अथवा २३ घटक का अंतर है।

श्रुति-संख्या	०	४	१	४	४	१	४	४
नवा मुकाम	सा	रे	ग॒	म	प	ध॒	नि	सां
आदिम स्वर से अंतर घटकों में	०	५१	७४	१२५	१७६	१९९	२५०	३०१

उश्शाक मुकाम का श्रुति-क्रम 'सा, रे, ग, म, प, ध, नि' में ४, ४, ४, १, ४, ४, १ है। उश्शाक मुकाम के 'रे, ग, म, प, ध, नि॒, सां' का श्रुति-क्रम ४, ४, १, ४, ४, १, ४ है; यही श्रुतिक्रम नवा के 'सा, रे, ग, म, प, ध, नि' में है। अर्थात् उश्शाक मुकाम के ऋषभ से आरंभ होनेवाली मूर्च्छना नवा मुकाम को जन्म देती है।

मुहम्मद करमइमाम के अनुसार नवा नामक मुकाम के आविष्कारक प्रसिद्ध कवि, दार्शनिक और संत शेख सादी हैं।

बूसलीक मुकाम के 'सा-रे' में २३ घटक का अंतर है।

श्रुति-संख्या	०	१	४	४	३	२	४	४
बूसलीक मुकाम	सा	रे	ग॒	म	प	ध॒	नि॒	सां
आदिम स्वर से अंतर घटकों में	०	२३	७४	१२५	१७१	१९९	२५०	३०१

इन स्वरों की संज्ञाएँ षड्ज, अतिकोमल ऋषभ, अतिकोमल गांधार, शुद्ध मध्यम, त्रिश्रुतिक पंचम, अतिकोमल धैवत, अतिकोमल निषाद और षड्ज निस्संकोच कही जा सकती हैं। इन संज्ञाओं का संबंध भरत-सम्प्रदाय से नहीं।

यदि तानपूरे के वाम पार्श्व के तार को शुद्ध मध्यम में मिलाकर, राग-लक्षण के अनुसार धैवत को प्रबल और पंचम को दुर्बल रखते हुए बिलासखानी तोड़ी गायी जाए, अर्थात् तोड़ी की चाल को भलीभाँति सुरक्षित रखा जाए, तो बिलासखानी की स्वरावली यही है। जिन रागों में पंचम अल्प या दुर्बल है, उनके गान-वादन के समय तानपूरे में पंचम मिलाना अयुक्तियुक्त, अवैज्ञानिक, अशास्त्रीय, अनुचित और राग-लक्षण का विरोधी है। पंचम को अचल मानने की बेतुकी प्रथा ने उन रागों के प्रयोग के समय भी पंचम को तानपूरे पर ध्वनित करने की 'भेड़चाल' को जन्म दिया है, जिन रागों के लक्षण में चिल्ला-चिल्लाकर पंचम को अल्प कहा जाता है। ऐसी निरर्थक रूढ़ियों का परित्याग उचित है।

बिलासखानी में 'ग॒-प' संगति है। अतिकोमल गांधार और त्रिश्रुति पंचम में वही स्वयंभू सप्तश्रुति-संबंध है, जो षड्ज और स्वयंभू गांधार में है; यह ९७ घटक का अंतर है। अतिकोमल गांधार (७४ घटक) और त्रिश्रुतिक पंचम (१७१) घटक में ९७ घटक का अंतर ही इष्ट है। मतंग ने इस अंतर को भी संवाद कहा है। षड्ज के संवादी पंचम का परिमाण १७६ घटक है। अतिकोमल गांधार से इस पंचम का अंतर १०२ घटक या आठ श्रुति है, जो अनिष्ट है, अतः बिलासखानी के प्रयोग के समय तानपूरे पर षड्ज का संवादी पंचम मिलाना ठीक नहीं।

मुहम्मद करमइमाम ने बिलासखानी का आविष्कर्ता बिलास खाँ कव्वाल बताया है। उस समय तक तानसेन के पुत्र बिलास खाँ को बिलासखानी का आविष्कारक नहीं कहा जाता था। कव्वालों की परंपरा ही खुसरो के द्वारा प्रवर्तित है, जिसमें मुकामों का सूक्ष्म ज्ञान भी सुरक्षित था।

बूसलीक मुकाम के 'ग॒ म प ध॒ नि॒ सां' में वही अनुपात है, जो भरत के 'नि॒, सा, रे, ग, म, प' में है।

* * * *

मुकामों का यह सूक्ष्म अध्ययन हमें बताता है :—

(अ) पैगम्बरवादियों के विश्वास के अनुसार सृष्टि के प्रथम नर और पैगम्बर हजरत आदम स्वर्ग से भारतभूमि में उतारे गए। हजरत आदम मध्यमग्राम की प्रथम शुद्ध मूर्च्छना अथवा षड्जग्राम की प्रथम सांतरा मूर्च्छना से परिचित थे। मध्यमग्राम की दृष्टि से च्युतमध्यम और षड्जग्राम की दृष्टि से जब च्युतषड्ज का प्रयोग भी इस स्वरावलि में होता था। इस स्वरावलि से 'इराक़' नामक मुकाम की सृष्टि हुई। इस मुकाम का नामकरण पूर्वी अरब के प्रदेश इराक़ के नाम पर हुआ। यह स्वरावलि हजरत आदम के साथ ही भारतवर्ष से अरब पहुँची और ईरान पर अरबों का प्रभाव इस नामकरण को ईरान में लाया।

(आ) रास्त नामक मुकाम मध्यमग्राम की प्रथम शुद्ध मूर्च्छना अथवा षड्ज-ग्राम की चौथी सांतरा मूर्च्छना से उत्पन्न हुआ है।

(इ) हिजाज़ मुकाम की उत्पत्ति मध्यमग्राम की चौथी शुद्ध मूर्च्छना से हुई है, अर्थात् मध्यमग्राम के षड्ज, त्रिश्रुति ऋषभ, द्विश्रुति गांधार, चतुःश्रुति मध्यम, त्रिश्रुति पंचम, चतुःश्रुति धैवत, द्विश्रुति निषाद और चतुःश्रुति षड्ज ही हिजाज़ नामक मुकाम हैं।

दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि रास्त मुकाम के 'प, ध, नि॒, सा, रे, ग, म, प' ही हिजाज़ मुकाम के 'सा, रे, ग॒, प, ध, नि॒' हैं, या हिजाज़ मुकाम के 'म, प, ध, नि॒, सा, रे, ग॒, म' ही रास्त मुकाम के 'सा, रे, ग, म, प, ध, नि॒' हैं।

इस प्रकार भरत की मूर्च्छना-पद्धति मुकामों में भी विराजमान है।

(ई) हुसेनी मुकाम का जन्म षड्जग्राम की शुद्ध चौथी मूर्च्छना से हुआ है। यों भी कहा जा सकता है कि हुसेनी मुकाम के 'म, प, <u>ध</u>, <u>नि</u>, सा, रे, <u>ग</u>' षड्जग्राम की प्रथम शुद्ध मूर्च्छना हैं।

(उ) बुजुर्ग मुकाम षड्जग्राम की द्वितीय शुद्ध मूर्च्छना और अकबरी युग की शुद्ध स्वरावलि है। बुजुर्ग फारसी शब्द है, जिसका अर्थ 'पूर्वज' (पहले उत्पन्न) होता है। संभवतः इसी अर्थ के कारण इसे मुसलमानों ने 'जनक' या 'प्राचीन' मानकर शुद्ध अथवा आदिम स्वरावली माना। सरस्वतीवीणा के बाज के तार की ध्वनि को आरंभक स्वर या 'सा' मानने पर जो 'सा, रे, ग, म, प, ध, नि, सां' प्राप्त होते हैं, वे बुजुर्ग मुकाम के ही द्योतक हैं। यही व्यंकटमखी का धीरशंकराभरण मेल और भातखंडेजी का बिलावल ठाठ है। यही स्वर भरत के द्विश्रुति निषाद, चतुःश्रुति षड्ज, त्रिश्रुति ऋषभ, द्विश्रुति गांधार, चतुःश्रुति मध्यम, चतुःश्रुतिपंचम त्रिश्रुति धैवत और द्विश्रुति निषाद हैं।

(ऊ) षड्जग्राम की चौथी शुद्ध मूर्च्छना हुसेनी मुकाम में सुरक्षित है और यही मूर्च्छना सकाकली होने पर रहावी मुकाम को जन्म देती है।

(ए) मध्यमग्राम की चौथी शुद्ध मूर्च्छना, जहाँ हिजाज़ मुकाम को जन्म देती है, वहाँ इसी ग्राम की यही मूर्च्छना सकाकली होकर कोचक मुकाम की सृष्टि करती है। कोचक मुकाम में <u>ध</u> (१६६) भी है, जो <u>ग</u> (७४) का संवादी (७४+१२५ =१६६) मात्र है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पूर्वोक्त सात मुकामों में भरत की कई मूर्च्छनाएँ सुरक्षित हैं।

यूनानी प्रभाव

षड्ज-मध्यम-भाव अर्थात् १२५ घटक के प्राकृतिक अंतर, षड्ज-पंचम-भाव अर्थात् १७६ घटक के प्राकृतिक अंतर और मध्यम-धैवत-भाव अथवा षड्ज-अंतर-गांधार-भाव अर्थात् ६७ सेवर्ट के प्राकृतिक अंतर से भारतवर्ष के वे महर्षिगण भली-भाँति परिचित थे, जिन्होंने सामवेद सप्त स्वरों में गाना प्रारंभ किया था। मध्यम-धैवत-भाव का ज्ञान सबसे पहले तुम्बुरु को प्राप्त हुआ था। इस संबंध में सभी सहमत हैं।

तुम्बुरु, भरत, नारद से लेकर सर्वप्रथम पैगम्बर आदम तक—'कॉन्सोनेंस ऑफ थर्ड'—सात विश्रुतियों के स्वाभाविक संबंध अथवा ६७ घटक के प्राकृतिक अंतर से परिचित थे, परंतु यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक पायथागोरस या उसके पूर्वज यूनानी विचारकों को इस 'कॉन्सोनेंस ऑफ थर्ड' का ज्ञान नहीं था। यूनानियों को इसका ज्ञान

ईसा की प्रथम शती में हुआ है। वाल्मीकि-रामायण का लंका-कांड पाश्चात्य विचारकों की दृष्टि में भी पायथागोरस की अपेक्षा कहीं प्राचीन है, जिसमें विपंची की चर्चा है, जिसमें दोनों ग्रामों की सभी मूर्च्छनाओं की सिद्धि के लिए नौ तार होते थे।

अस्तु, प्राचीन यूनानियों का एक अष्टक यों है :—

श्रुति-संख्या	०	४	४	१	४	४	४	१
स्वर	सा	रे	ग	म	प	ध	नि	सां
आदिम स्वर से अंतर घटकों में	०	५१	१०२	१२५	१७६	२२७	२७८	३०१

इस अष्टक के स्वरों में चतुःश्रुतिक अंतर (५१ घटक) है अथवा एक महतीश्रुति (२३ घटक) का अंतर है। त्रिश्रुतिक अंतर (४६ घटक) अथवा द्विश्रुतिक अंतर (२८ घटक) इस अष्टक में नहीं है। एक चतुःश्रुतिक और एक त्रिश्रुतिक स्वर का योग (५१+४६=९७) सप्तश्रुति अंतर होता है। उपर्युक्त स्वरावलि में ४६ घटक अथवा त्रिश्रुति-अंतर कहीं नहीं है, इसलिए सप्तश्रुति-अंतर का ज्ञान भी इस स्वरावलि के द्वारा असंभव है। षड्ज-मध्यम-अंतर १२५ घटक में से सप्तश्रुति-अंतर ९७ घटक घटाने से, द्विश्रुति-अंतर २८ घटक की प्राप्ति होती है। पूर्वोक्त स्वरावलि में द्विश्रुति अंतर अथवा २८ घटक का अभाव भी सप्तश्रुति-अंतर अर्थात् ९७ घटक के अभाव का परिणाम है।

उश्शाक मुकाम पूर्वोक्त यूनानी स्वरावलि के 'प, ध, नि, सा, रे, ग, म, प' को 'सा, रे, ग, म, प, ध, नि, सां' कहने से बनता है और पूर्वोक्त यूनानी स्वरावलि के 'ध, नि, सा, रे, ग, म, प, ध' को 'सा, रे, ग, म, प, ध, नि, सां' कहने से नवा मुकाम की प्राप्ति होती है।

आधुनिक वीणाओं में अचल सारिकाओं का स्थापन

किसी भी अचल पर्दोंवाले वाद्य में उन दोनों ध्वनियों के लिए अलग-अलग पर्दे बाँधे जाने संभव नहीं, जिन दो ध्वनियों में केवल एक प्रमाणश्रुति का अंतर हो। सितार-जैसे वाद्य में पर्दों को सरकाकर अभीष्ट ध्वनि प्राप्त की जा सकती है, परंतु सरस्वतीवीणा या तंजोरवीणा जैसे वाद्यों में पर्दों का सरकाया जाना संभव नहीं।

अचल पर्दोंवाले वाद्यों में अचल बारह पर्दों के आधार पर जिन लोगों ने भी रागों का वर्गीकरण किया, उन्होंने वर्गीकरण की सुविधा के लिए उन दो ध्वनियों को एक ही मान लिया, जिनमें परस्पर एक प्रमाणश्रुति का अर्थात् ५ घटक का अंतर हो।

मंद्र, मध्य, तार-स्थानों में अचल बारह स्वर मानने अर्थात् 'प्रमाणश्रुति' के सूक्ष्म, परंतु अत्यंत महत्त्वपूर्ण अंतर को उपेक्षित करने से भारतीय संगीत का घोर अहित हुआ है। अहोबल हों या व्यंकटमखी, इस दायित्व से मुक्त नहीं हो सकते।

ईरान में मूर्च्छना-पद्धति का लोप अरब या यूनानी प्रभाव से हुआ। उसी दोष से दूषित ईरानी प्रभाव ने भारत की राजधानी दिल्ली में आकर 'इंद्रप्रस्थ-मत' को जन्म दिया और परिणाम यह हुआ कि 'प्रमाणश्रुति' के सूक्ष्म अंतर को मूर्त करनेवाली मूर्च्छना-पद्धति लुप्त हुई और मुकाम-सिद्धांत का अपूर्ण रूप पल्ले बँध गया।

मुकामों का पूर्वोक्त विश्लेषण बताता है कि बूसलीक, हुसेनी, हिजाज, रहावी, जंगूला, इस्फ़हानी, बुज़ुर्ग और कोचक मुकामों में पंचम त्रिश्रुतिक है और षड्ज का संवादी नहीं, परंतु इस पंचम को भी सुविधा के लिए षड्ज का संवादी-जैसा मानकर या इसके स्थान पर षड्ज के संवादी पंचम का ग्रहण करके त्रिश्रुतिक पंचम का तर्पण कर दिया गया। 'प्रमाणश्रुति' की उपेक्षा का यह भीषण परिणाम हुआ :—

ईरानी संगीत में एक स्थान के अंतर्गत सत्रह स्वर हैं। अचल-सारिकावाले वाद्यों में इनमें से बारह ले लिए गए। ये बारहों स्वर पृथक् स्वतंत्र स्वर हैं, इनके नाम पृथक्-पृथक् हैं। इन बारहों स्वरों के लिए जो भारतीय स्वर-संज्ञाएँ गढ़ी गईं, उनमें पाँच को विकृत और सात को शुद्ध स्वर कहा गया। यह 'फ़िटिंग' यों हुआ।

संख्या	ईरानी स्वर-नाम	हिंदुस्तानी नाम	घटक लगभग	टिप्पणी
१	रास्त	षड्ज	०	मध्यम और पंचम का संवादी
२	शाह-नवाज़	कोमल ऋषभ	२८	तीव्र मध्यम और कोमल धैवत का संवाद
३	दोका	तीव्र ऋषभ	५१	पंचम का संवादी तीव्र धैवत से असंवादी
४	कुर्द	कोमल गांधार	७९	कोमल धैवत का संवादी कोमल निषाद से असंवादी
५	सीका	तीव्र गांधार	९७	तीव्र धैवत और तीव्र निषाद का संवादी
६	गिरका	शुद्ध मध्यम	१२५	षड्ज और कोमल निषाद का संवादी
७	हिजाज़	तीव्र मध्यम	१५३	कोमल ऋषभ का संवादी तीव्र निषाद से असंवादी
८	नवा	पंचम	१७६	षड्ज का संवादी
९	हिसार	कोमल धैवत	२०४	कोमल ऋषभ और कोमल गांधार का संवादी
१०	हुसेनी	तीव्र धैवत	२२२	तीव्र गांधार का संवादी तीव्र ऋषभ का असंवादी
११	अगनू	कोमल निषाद	२५०	शुद्ध मध्यम का संवादी कोमल गांधार से विसंवादी
१२	नीम माहुर	तीव्र निषाद	२७३	तीव्र गांधार का संवादी तीव्र मध्यम का असंवादी

ऋषभ और धैवत का कोमलत्व

उत्तर-भारतीय सरस्वतीवीणा में सातवीं सारिका की ध्वनि को 'सा' माना जाता है। इस ध्वनि को 'सा' मानने पर उपर्युक्त सारणी में दिए हुए स्वर सरस्वती-वीणा पर जैसे-के-तैसे मिलते हैं। 'रे-ध' में परस्पर तथा 'ग-नि' में परस्पर संवाद का अभाव सर्वथा अभारतीय है।

विदेशी बारह स्वरों के चौखटे में भारतीय स्वर-संज्ञाओं को ठोक-पीटकर बिठाने के लिए उन संज्ञाओं की अन्वर्थता के साथ स्वैराचार हुआ है।

'ऋषभ' शब्द के द्वारा ऋषभ स्वर की विशेषता को प्रकट करते हुए कहा गया है—"जिस प्रकार गौओं में बलीवर्द (बिजार, साँड़) बैठा हुआ या विद्यमान होने पर महान् होकर शोभित होता है, उसी प्रकार यह 'ऋषभ' स्वर-समूह में उत्पन्न हुआ है।" बलवत्ता, महत्ता और पौरुष ऋषभ की विशेषताएँ हैं; उत्साह, क्रोध, विस्मय से ऋषभ का संबंध है। यह ऋषभ भला कोमल कैसे होगा? यदि हो भी जाए, तो उसका अर्थ कैसे घटित होगा? नाम तो ऋषभ और स्वभाव में दीनता या करुणा! यह असंगति कैसे दूर होगी?

धीवान् अर्थात् बुद्धिमान् व्यक्तियों को उपध्वनि के रूप में सुनाई देने के कारण धैवत का नामकरण 'धैवत' हुआ है। मंद्र षड्ज से उत्थित होनेवाले उपध्वनि-रूप स्वयंभू गांधार से सभी स्वरज्ञ व्यक्ति परिचित हैं। गान-सम्प्रदाय में षड्ज प्रथम स्वर है, परंतु सामगान-सम्प्रदाय में प्रथम स्वर 'मध्यम' के स्थान पर है। इस मध्यम स्वर से उपध्वनि के रूप में 'धैवत' सबसे पहले तुम्बुरु को सुनाई दिया था। मध्यम और धैवत में 'कॉन्सोनेंस ऑफ थर्ड' अथवा प्राकृतिक सप्तश्रुति-संबंध है। जो षड्जग्राम की दृष्टि से 'स-अंतरगांधार' हैं। मध्यमग्राम की दृष्टि से वही 'मध्यम-धैवत' हैं। 'धैवत' शब्द ही स्वाभाविक सप्तश्रुति-संबंध को ध्वनित करता है। यदि धैवत अपने स्थान से तनिक भी विचलित हो, तो मध्यम के साथ उसका सप्तश्रुति-संबंध नष्ट हो जाएगा, फलतः उस ध्वनि की वह विशेषता समाप्त हो जाएगी, जिसके कारण उसका नाम धैवत रखा गया है।

कोमल धैवत का मध्यम के साथ वह संबंध नहीं, जोकि धैवत नामक ध्वनि का होना चाहिए, इसलिए कोमल धैवत शब्द ही सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर असंगत है।

तीव्र मध्यम में मध्यमत्व का अभाव

मध्यम अर्थात् शुद्ध मध्यम, क्रम की दृष्टि से तो सात स्वरों के मध्य में है ही, अनुपात की दृष्टि से भी वह सप्तक का केंद्र-बिंदु है। षड्ज अर्थात् 'ग्राम के मूल सप्तक के आरंभिक स्वर' का अस्तित्व मध्यम से ठीक नव श्रुति पूर्व है और द्विश्रुतिक निषाद अर्थात् सप्तक के अंतिम स्वर का अस्तित्व मध्यम से ठीक नवश्रुति पश्चात् है। 'मध्यम' शब्द के दो अर्थ हैं—'जो बीच में हो' और 'जो मध्य अर्थात् केंद्र-बिंदु को नापनेवाला हो।' मध्यम नामक स्वर में दोनों गुण विद्यमान हैं। तनिक भी इधर-उधर हटते ही मध्यम का 'मध्यमत्व' नष्ट हो जाएगा।

तीव्र मध्यम सप्तक के बीचोबीच में नहीं। षड्ज उससे ग्यारह श्रुति पूर्व है और तीव्र मध्यम से ग्यारह श्रुति पश्चात् किसी स्वर की स्थापना, उसी सप्तक के अंतर्गत ब्रह्मा भी नहीं कर सकते।

सप्तक तो सप्तक, अष्टक के बीच में भी तीव्र मध्यम को अनुपात की दृष्टि से त्रिकाल में भी नहीं लाया जा सकता।

कोमल ऋषभ, कोमल धैवत और तीव्र मध्यम-जैसे नाम अन्वर्थता की दृष्टि से असंगत हैं।

मूर्च्छना की दृष्टि से विचार करने पर इन संज्ञाओं की आवश्यकता ही नहीं होती।

अहोबल हों या हृदयनारायण, इन्होंने स्वरों की शुद्धता का कोई लक्षण नहीं दिया है। इन दोनों का धैवत इनके चतुःश्रुति ऋषभ का संवादी होने के कारण षड्ज की अपेक्षा सत्रह श्रुतियों के अंतर (सा+४रे+१३ध=१७) पर और मध्यम की अपेक्षा आठ श्रुति ऊँचा है। अर्थात् मध्यम और इस तथाकथित शुद्ध धैवत में वह प्राकृतिकता या शुद्धता नहीं है, जो मध्यम की अपेक्षा सात श्रुतियों के अंतर पर स्थित, भरत या मतंग के धैवत में है। इसलिए चतुःश्रुति धैवत कही जानेवाली ध्वनि में धैवतत्व का ही अभाव है।

मंद्र षड्ज से मंद्र शुद्ध मध्यम का नवश्रुति-संबंध या संवाद है। मंद्र मध्यम से मंद्र द्विश्रुति निषाद का नवश्रुति-संबंध या संवाद है। मंद्र द्विश्रुति निषाद और मध्य त्रिश्रुति ऋषभ में वही 'कॉन्सोनेंस आफ थर्ड' या सप्तश्रुति-संबंध है; जो मध्यम और धैवत में है; इस स्वाभाविकता के कारण त्रिश्रुतिक ऋषभ ही शुद्ध ऋषभ है। यह शुद्धता अहोबल या हृदयनारायण के चतुःश्रुतिक ऋषभ में कहाँ है ?

द्विश्रुति निषाद और त्रिश्रुति ऋषभ, मध्यम और धैवत के सप्तश्रुत्यंतर अथवा शुद्ध मध्यम और द्विश्रुति निषाद के नवश्रुत्यंतर का सर्वथा विनाश जिसमें हो, वह सप्तक किसी का भी क्यों न हो, उसे शुद्ध किस दृष्टि से कहा जाएगा ?

पारिभाषिक शब्दों की अन्वर्थता का ज्ञान 'शास्त्रों' का रहस्य समझने के लिए अनिवार्य है। अन्यथा लोग भिक्षुक को भी 'धनीराम' कहने लगते हैं।

यदि कोई व्यक्ति स्वयं अपनी आँखों पर पट्टी बाँध ले और दिखाई न देने की शिकायत करे, तो उसे क्या कहा जाएगा ?

मध्यमग्राम के लोप का कारण

षड्ज के संवादी पंचम के साथ संवाद करनेवाले चतुःश्रुति ऋषभ की सृष्टि जिसने भी की, उसने ऐसा करके आँखों पर पट्टी बाँध ली। त्रिश्रुति ऋषभ ही त्रिश्रुति पंचम या मध्यमग्राम के पंचम को प्राप्त करने का आधार था। हिजाज नामक मुकाम में भरत के मध्यमग्रामीय 'सा, रे, ग॒, म, प, ध नि॒' सुरक्षित हैं, जिनमें त्रिश्रुति ऋषभ अपने संवादी त्रिश्रुति पंचम के साथ विद्यमान है, परंतु उसी त्रिश्रुति ऋषभ को एक श्रुति उचकाकर त्रिश्रुतिक पंचम के ज्ञान का द्वार उसने अवरुद्ध कर दिया, जिसने इस चतुःश्रुति ऋषभ को शुद्ध ऋषभ कहा। यह कृत्य करने के पश्चात् घोषित किया गया कि मध्यमग्राम लुप्त हो गया है और षड्जग्राम रह गया है, जबकि ये चतुःश्रुति ऋषभ और धैवत न तो षड्जग्राम के हैं और न मध्यमग्राम के।

ग्राम की परिभाषा

यहाँ 'ग्राम' शब्द पर विचार कर लेना आवश्यक है।

'ग्राम' शब्द का सीधा-सादा अर्थ 'व्यवस्थित' समूह है। ग्राम या गाँव घरों का व्यवस्थित समूह है। ग्राम या गाँव के प्रधान को 'ग्रामणी' कहा जाता है, जो ग्राम या गाँव में व्यवस्था रखता है।

ऐसा स्वर-समूह 'ग्राम' कहलाता है, जिसमें स्वरों के पारस्परिक नैसर्गिक संबंध के आधार पर एक विशिष्ट क्रम या व्यवस्था या उस व्यवस्था का आधारभूत स्वर 'ग्रामणी' या 'ग्राम का प्रमुख स्वर' कहलाता है। 'ग्रामणी' शब्द मतंग का है।

ग्रामणी स्वर में निम्नलिखित विशेषताएँ होनी आवश्यक हैं:—

(अ) ग्रामणी स्वर, परिमाण में किसी भी अन्य स्वर की अपेक्षा न्यून नहीं होना चाहिए, अर्थात् ग्रामणी स्वर का चतुःश्रुतिक होना अनिवार्य है।

(आ) एक सप्तक में ग्रामणी स्वर से नव और तेरह श्रुतियों के अंतर पर दो स्वर अवश्य होने चाहिए।

(इ) ग्रामणी स्वर से अगला स्वर त्रिश्रुतिक अवश्य होना चाहिए।

ये तीनों विशेषताएँ षड्जग्राम की प्रथम मूर्च्छना के आरंभक स्वर षड्ज और मध्यमग्राम की प्रथम मूर्च्छना के आरंभक स्वर मध्यम में ही हैं, जो इस प्रकार हैं:—

	४	३	२	४	४	३	२
षड्जग्राम—	सा	रे	<u>ग</u>	म	प	ध	<u>नि</u>
	४	३	४	२	४	३	२
मध्यमग्राम—	म	प	ध	<u>नि</u>	सा	रे	<u>ग</u>

दोनों ग्रामों की इन दोनों स्वरावलियों में आदिम स्वर चतुःश्रुतिक हैं, उनसे अग्रिम स्वर त्रिश्रुतिक हैं और चौथे और पाँचवें स्वर आदिम स्वर के पश्चात् नव और तेरह श्रुतियों के अंतर पर स्थित हैं।

इन दो स्वरों के अतिरिक्त कोई स्वर ऐसा नहीं, जो 'ग्रामणी' स्वर की विशेषताओं से पूर्णतया युक्त हो, अतएव भरत-सम्प्रदाय के ग्रामजनक स्वर षड्ज और मध्यम ही हैं।

अहोबल, हृदयनारायण-जैसे उत्तर-भारतीय विचारकों एवं रामामात्य और व्यंकटमखी-जैसे दाक्षिणात्य विचारकों के तथाकथित शुद्ध ठाठ या मेल षड्जग्राम अथवा मध्यमग्राम की शुद्ध मूल स्वरावलि नहीं हैं, क्योंकि उनके आरंभक स्वर में 'ग्रामणी' स्वर की पूर्वोक्त विशेषताएँ नहीं।

मुकाम और मेल

मुकाम में सप्तक की अपेक्षा एक स्वर अधिक होता है, अर्थात् मुकाम सप्तक न होकर अष्टक होता है, बारह मुकामों के चौबीस खंड 'शोब:' कहलाते हैं। प्रत्येक शोब: में दो खंडों को जन्म देने की योग्यता होती है, जिन्हें 'गोश:' कहा जाता है। गोश: अड़तालीस हैं।

दो विभिन्न मुकामों से लिए हुए दो स्वर-समूहों से 'आवार:' का जन्म होता है। बारह मुकामों से जन्म लेनेवाले आवार: छह हैं।

बारह स्वर बारह नग़मे कहलाते हैं, नग़म: स्वर का पर्याय है।

आवार:, शोब: और गोश: की विस्तृत व्याख्या के लिए यहाँ अवकाश नहीं। केवल इतना समझ लिया जाना चाहिए कि आवार: शोब: और गोश: ऐसे स्वर-समूह हैं, जिनकी प्राप्ति का मूल मुकामों या उनके अंदर विद्यमान स्वर-समूहों में है। ये स्वर-समूह विभिन्न धुनों से संबद्ध हो जाते हैं।

मंद्र, मध्य अथवा तार-स्थान में से प्रत्येक स्थान में बारह स्वतंत्र स्वरों की सत्ता मानने का अर्थ मूर्च्छना-पद्धति का परित्याग और एक नवीन और अभारतीय पद्धति का ग्रहण था।

अलाउद्दीन खिलजी की मृत्यु १३१६ ई० में हुई और अमीर खुसरो की मृत्यु १३२४ ई० में। अमीर खुसरो की मृत्यु से केवल बारह वर्ष पश्चात् दक्षिण में एक विद्वान् पं० विद्यारण्य की सहायता से विजयनगर राज्य की नीवें पड़ी। यही विद्यारण्य कर्नाटक-पद्धति में प्रयुक्त 'मेल' शब्द के जन्मदाता हैं।

विद्यारण्य ने देश के कोने-कोने में बचे हुए रागों को प्रयत्नपूर्वक ढूँढ़कर एकत्र किया। उन्हें केवल पचास राग मिले। प्राचीन लक्षण-ग्रंथों में वर्णित संप्रदाय मुस्लिम-आक्रमणों के कारण उच्छिन्न हो चुके थे, इसलिए प्राचीन ग्रंथों का अर्थ न समझ में आने के कारण विद्यारण्य ने वीणा पर दिखाई देनेवाली सारिकाओं के आधार पर—विभिन्न अष्टकों में—प्राप्त पचास रागों को वर्गीकृत किया। इन विभिन्न अष्टकों को 'मेल' नाम भी विद्यारण्य ने दिया।

मुहम्मद तुगलक (राज्य-काल १३२५-१३५१ ई०) के शासन की अव्यवस्था ने विजयनगर राज्य को जन्म दिया था। विद्यारण्य-जैसे गुणग्राही राजनीतिज्ञ विद्वान् इस साम्राज्य के महामंत्री थे। समस्त देश से विद्वान्, कलाकार और प्रतिभाशाली व्यक्ति विजयनगर आ रहे थे। मुस्लिम-प्रभाव से प्रभावित वीणावादक भी उत्तर से दक्षिण गए। १३२६-१३२७ ई० में मुहम्मद तुगलक ने दिल्ली के सभी निवासियों को, दक्षिण में देवगिरि को राजधानी बनाने के विचार से, भेज दिया था। इस प्रकार दिल्ली के अनेक निवासी दक्षिण पहुँच चुके थे और उनमें से अनेक वहीं बस गए थे।

विजयनगर राज्य की स्थापना के साथ ही उन लोगों का भाग्य जागा, जो उत्तरभारतीय गुणी थे और दक्षिण में बस चुके थे।

विद्यारण्य ने जिन पंद्रह मेलों में रागों को विभाजित किया है, उनमें एक मेल 'हेज्जुज्जि' या 'हिजुज्जि' भी है। इस मेल के स्वर—'सा, रे॒, ग॒, म, प, ध॒, नि, सां' हैं। रामामात्य के 'हेज्जुज्जि' मेल में अंतरगांधार है। विद्यारण्य का 'हेज्जुज्जि' व्यंकटमखी का धेनुक मेल है।

यह 'हेज्जुज्जि' शब्द हिजाज़ का अपभ्रंश है। तीव्र स्वरों को कोमल और कोमल स्वरों को तीव्र करके एक सप्तक से नवीन सप्तक का निर्माण मुस्लिम-प्रभावित इंद्रप्रस्थ में खूब था। यदि प्रमाणश्रुति के सूक्ष्म अंतर पर विचार न किया जाए, तो ठाठवादियों को हिजाज़ मुकाम में काफी ठाठ सुनाई देगा। यदि मुकाम के ऋषभ-धैवत को कोमल और निषाद को तीव्र कर दिया जाए, तो विद्यारण्य का, और गांधार को भी तीव्र कर दिया जाए, तो रामामात्य का हेज्जुज्जि मेल तैयार हो जाता है, जो व्यंकटमखी का पंद्रहवाँ मेल मायामालवगौड है।

एक बात और भी है। हिजाज़ मुकाम में ऋषभ-धैवत त्रिश्रुतिक हैं, परंतु विद्यारण्य कोमल ऋषभ-धैवत को त्रिश्रुतिक समझे थे। अतः उनके मेल में इन दोनों का कोमल हो जाना तो स्वाभाविक था।

रामामात्य का हेज्जुज्जि, लोचन का गौरी-संस्थान, व्यंकटमखी का मायामालवगौड और हिंदुस्तानी-पद्धति का भैरव ठाठ एक ही बात है।

विद्यारण्य का ग्रंथ आज उपलब्ध नहीं, परंतु तंजोर-नरेश रघुनाथ ने अपने ग्रंथ 'संगीत-सुधा' में विद्यारण्य का मत ही स्वीकृत किया है, अतः विद्यारण्य के मेलों का ज्ञान 'संगीत-सुधा' से होता है।

अमीर खुसरो अथवा उनकी परंपरा से प्रभावित जो वीणावादक विद्यारण्य के पास पहुँचे, उन्हें ग्राम, मूर्च्छना एवं श्रुति इत्यादि का ज्ञान नहीं था। अतः विद्यारण्य को इस संबंध में उनसे ठीक मार्ग-निर्देश नहीं मिल सका।

वीणा के मुक्त तार की ध्वनि को लोचन, हृदयनारायण ने 'सा' माना है; दाक्षिणात्य भी इस ध्वनि को 'सा' मानते हैं और दिल्लीवालों का शुद्ध ठाठ बुजुर्ग मुकाम या भातखंडे जी का बिलावल भी इसी ध्वनि को 'सा' मानने से मिलता है।

विद्यारण्य के द्वारा बाज के मुक्त तार की ध्वनि को षड्ज समझने के कारण इससे अगली पहले पर्दे की ध्वनि (हिंदुस्तानी प) को भरत का शुद्ध गांधार समझ लिया गया; इसके पश्चात् की ध्वनि (हिंदुस्तानी ध॒) को 'साधारण गांधार' कह दिया गया, क्योंकि शार्ङ्गदेव ने शुद्ध गांधार के बाद साधारण गांधार लिखा है; इससे

पश्चात् की ध्वनि को 'अंतरगांधार' (हिंदुस्तानी ध) कहा गया; इससे अगली ध्वनि (हिंदुस्तानी नि) शुद्ध मध्यम कहलाई; इससे अगली ध्वनि (हिंदुस्तानी नि) को वराली मध्यम या त्रिश्रुतिक मध्यमग्रामीय पंचम माना गया; इससे अगली ध्वनि (हिंदुस्तानी सा) को पंचम कहा गया; इसके बादवाली ध्वनि (हिंदुस्तानी कोमल रे) भरत का शुद्ध धैवत हो गई; इससे अगली ध्वनि (हिंदुस्तानी रे) भरत का शुद्ध निषाद समझ ली गई; इसके बादवाली ध्वनि (हिंदुस्तानी ग) को शार्ङ्गदेव का कैशिक निषाद मान डाला गया और इसके बादवाली ध्वनि (हिंदुस्तानी ग) को काकली निषाद कह दिया गया।

इस प्रकार हिंदुस्तानी 'म़, मं़, प़, ध़, ध़, नि़, नि़, सा, रे, रे, ग, ग' को क्रमशः षड्ज, शुद्ध ऋषभ, शुद्ध गांधार, साधारण गांधार, शुद्ध मध्यम, त्रिश्रुति पंचम (या वराली मध्यम), पंचम, शुद्ध धैवत, शुद्ध निषाद, कैशिक निषाद और काकली निषाद कहकर ईरानी बारह नगमों (स्वरों) के भारतीय नाम केवल क्रम के अनुसार रख दिए गए।

विद्यारण्य को ग्राम-मूर्च्छना-पद्धति का ज्ञान न था और अनेक शास्त्रों का पुनरुद्धार करने के अतिरिक्त राजनीतिक कार्य भी कम न थे। उन्होंने वीणा के पर्दों की ध्वनियों के क्रमानुसारी नाम 'रत्नाकर' की स्वर-संज्ञाओं के अनुसार रख दिए, संज्ञाओं की अन्वर्थता पर ध्यान न दिया।

यदि तनिक भी ध्यान दिया जाता, तो स्वरों की शुद्धता के संबंध में वह भूल न होती, जिसके शिकार विद्यारण्य, रामामात्य, रघुनाथ और व्यंकटमखी इत्यादि सभी हुए। विचारणीय स्थितियाँ ये थीं, जो आज भी वैसी ही बनी हुई हैं।

कनकांगी मेल में शुद्धता का अभाव

१. जो अंतर शुद्ध मध्यम और पंचम में है, वही अंतर 'सा' और 'रे' में है। 'म-प' का जो अंतर चतुःश्रुतिक रूप में ग्राह्य है, वही अंतर 'सा-रे' में पंचश्रुति कैसे हो सकता है? हिंदुस्तानी शुद्ध मध्यम जब 'सा' है, तब हिंदुस्तानी पंचम भला पंचश्रुति या भरत का शुद्ध गांधार कैसे हो जाएगा?

२. भरत के द्विश्रुति गांधार और पंचम में आठ श्रुतियों का अंतर है। हिंदुस्तानी 'प़-सा' में नौ श्रुतियों का प्रत्यक्ष और वही अंतर है, जो 'सा-म' में दाक्षिणात्यों को भी ग्राह्य है, तो हिंदुस्तानी 'प़-सा' भरत के गांधार-पंचम भला कैसे हो सकेंगे। दाक्षिणात्य सज्जन सरस्वतीवीणा के (उत्तर-भारतीय) 'प-सां' को शुद्ध 'ग-प' कहते हैं।

३. 'सा' और अंतरगांधार में सात श्रुतियों का अंतर सर्वमान्य है, दाक्षिणात्य भी मानते हैं। भरत के 'म-ध' में यही अंतर है। 'म-ध' में यह अंतर न तो

विश्व में आज तक किसी को दिखाई दिया है, न देगा। विद्यारण्य से लेकर व्यंकटमखी तक 'म-धु' अंतर को सप्तश्रुतिक मानकर 'धु' को शुद्ध धैवत घोषित कर रहे हैं। सरस्वतीवीणा के 'नि-रे' दाक्षिणात्यों के मध्यम-शुद्ध धैवत (?) हैं। धैवत की तथाकथित यह शुद्धता उस सप्तश्रुतिक प्राकृतिक अंतर की कपाल-क्रिया है, जो दाक्षिणात्यों को भी षड्ज-अंतरगांधार में ग्राह्य है।

(४) 'म-प' अंतर को चतुःश्रुतिक अंतर दाक्षिणात्य भी मानते हैं। भरत के निषाद और षड्ज में यही अंतर है। सरस्वतीवीणा (उत्तर-भारतीय) 'रे-म' को शुद्ध निषाद और षड्ज कहना 'म-प' में स्वीकृत चतुःश्रुति-अंतर का उपहास करना है।

इस प्रकार विद्यारण्य के तथाकथित शुद्ध ऋषभ, शुद्ध गांधार, शुद्ध धैवत और शुद्ध निषाद की शुद्धता को प्रमाणित करनेवाला कोई तर्क या आधार समस्त दाक्षिणात्य वाङ्मय में नहीं है।

वराली मध्यम या तीव्र मध्यम को मध्यमग्राम का त्रिश्रुतिक पंचम कहना सर्वथा अनर्गल है। 'रे' को शुद्ध ऋषभ मानकर उससे संवाद करनेवाले 'मं' को त्रिश्रुति पंचम दाक्षिणात्य लोग इसलिए कहते हैं कि भरत ने त्रिश्रुति ऋषभ के साथ मध्यमग्राम के पंचम का संवाद बताया है, परंतु जब 'रे' भरत का ऋषभ ही नहीं, तो उसका संवादी 'मं' मध्यमग्राम का पंचम कैसे हो जाएगा।

भरत ने चतुःश्रुति पंचम और मध्यमग्राम के पंचम में केवल एक प्रमाणश्रुति का अंतर बताया है। शुद्ध मध्यम के पश्चात् तीव्र मध्यम २३ घटक के अंतर पर स्थित है और तीव्र मध्यम के पश्चात् पंचम २८ घटक के अंतर पर स्थित है। अर्थात् 'म-मं' के अंतर की अपेक्षा 'मं-प' का अंतर अधिक है। 'म-मं' के कम अंतर को त्रिश्रुतिक और 'मं-प' के, अपेक्षया अधिक अंतर को एकश्रुतिक बताना किसी भी दृष्टि से ठीक नहीं। एक 'प्रमाणश्रुति' के अंतर पर दो परदों की स्थापना ही संभव नहीं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विद्यारण्य के मेल-सिद्धांत के जन्म का कारण उस युग में प्रचलित वे वीणाएँ हैं, जिनमें सारिका-स्थापन ईरानी बारह नगमों के आधार पर हुआ था।

क्या रघुनाथ से भूल हुई ?

वेद के प्रसिद्ध भाष्यकार सायण और माधव का नाम साथ-साथ आता है। माधव और विद्यारण्य एक ही व्यक्ति हैं। कुछ लोगों का कथन है कि सायण और माधव सहोदर थे।

सायण ने वैदिक स्वरों की तुलना लौकिक स्वरों से की है।

सामवेदीय परंपरा में क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मंद्र, अतिस्वार को अवरोहक्रम से 'मं, गुं, रें, सां, त्रि, ध, प' कहा गया है। सायण ने इन्हें 'नि, ध, प, म,

ग, रे, सा' कहा है। प्रथम क्रम को यदि आरोह की दृष्टि से कहा जाए, तो 'प, ध, नि, सा, रे, ग॒, म' अर्थात् षड्जग्राम की चौथी मूर्च्छना बनती है। इन्हीं स्वरों को यदि 'सा, रे, ग॒, म, त्रिश्रुतिक प, ध, नि' कहा जाए, तो सायण के मत का प्रतिपादन हो जाता है। हुसेनी मुकाम के स्वर भी सर्वथा यही हैं। 'प्रमाणश्रुति' के सूक्ष्म अंतर की उपेक्षा—लोचन, हृदयनारायण, व्यंकटमखी का अनुसरण करके—की जाए, तो लोचन का मुखारी-संस्थान, व्यंकटमखी का नटभैरवी मेल, विद्यारण्य का भैरवी मेल और भातखंडे जी का आसावरी ठाठ यही स्वर हैं।

विद्यारण्य जिसे भैरवी मेल कहते हैं, उसमें सायण की वैदिक स्वरावली सुनाई दे रही है और वही लोचन का मुखारी-संस्थान है।

व्यंकटमखी 'सा, रे॒, रे, म, प, ध॒, ध, सां' को मुखारी मेल कहते हैं। इस मेल में स्वर-शास्त्र की कपाल-क्रिया है। व्यंकटमखी का कथन है कि मेरे पिता गोविंद-दीक्षित ने तंजोर-नरेश रघुनाथ के नाम से 'संगीतसुधा' की रचना की। व्यंकटमखी ने मुखारी मेल 'संगीतसुधा' से लिया है।

प्रश्न यह है कि सायण को जो वैदिक स्वरावली सुनाई देती है, वह लोचन का मुखारी मेल तो है, परंतु व्यंकटमखी और उनके पिता का मुखारी मेल नहीं।

'संगीतसुधा' में 'संगीतरत्नाकर' और उसके टीकाकार केशव और कल्लिनाथ को भी भला-बुरा कहा गया है और उस युग में प्रचलित 'विद्यारण्य-मत' का ग्रहण किया गया है, परंतु मुखारी मेल की अवैज्ञानिकता यह प्रश्न उत्पन्न करती है कि कहीं गोविंद दीक्षित के द्वारा विद्यारण्य का वास्तविक आशय समझने में भी भूल न हुई हो।

भारतीय संगीत के परम भक्त अमीर खुसरो

अमीर खुसरो का व्यक्तित्व राष्ट्रीयतावादी किसी भी व्यक्ति के लिए आदर्श है। अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'नुह सिपहर' में उन्होंने अपनी निस्सीम भारत-भक्ति का प्रदर्शन किया है।

भारतीयों का उच्चारण-नैपुण्य

अमीर खुसरो का कथन है कि भारतीय लोग अनेक भाषाओं को सुंदरतापूर्वक बोलते हैं, परंतु जब विदेशी लोग हमारी भाषा को बोलने का प्रयत्न करते हैं, तो उनके होंठ सिल-से जाते हैं। स्पष्ट है कि हम विदेशियों की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं।[1]

भारत, ज्ञान-कोष

अमीर खुसरो ने कहा है कि ज्ञान-प्राप्ति के लिए चिर अतीत से लोग भारत आते रहे हैं, हम लोग विद्या की भिक्षा माँगने के लिए अन्यत्र नहीं गए। गणित-जैसे उपयोगी शास्त्र का आविष्कार भारत में हुआ। शतरंज-जैसे विश्वप्रिय खेल का आविष्कार भी भारत ने किया और 'कलीला वदमना' (पंचतंत्र)-जैसे नीति-ग्रंथ की रचना भी भारत में हुई। अंकविद्या, शतरंज एवं 'पंचतंत्र' संसार को भारत की ही देन हैं।[2]

ब्राह्मणों की विद्वत्ता और श्रेष्ठता

अमीर खुसरो कहते हैं कि भारतीय ब्राह्मण अरस्तू के सिद्धांतों की धज्जियाँ उड़ा सकते हैं। शास्त्रों के रहस्य से सुपरिचित ब्राह्मण मौन का अवलंबन करते हैं। लोगों ने इनसे ज्ञान को प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं किया। मैंने संभव प्रयत्नों से इनकी कृपा प्राप्त की और इन्होंने मुझे अपना कृपापत्र बनाया।[3]

भारतीय संगीत की श्रेष्ठता

खुसरो का कथन है, भारतीय संगीत समस्त विश्व में उत्कृष्टतम है और श्रोता को इस सीमा तक तन्मय कर देता है कि इसके प्रभाव से हरिण तक मंत्रमुग्ध होकर बहेलियों को अपने प्राण अर्पित कर देते हैं।[4]

अरब के संगीत की अपेक्षा भारतीय संगीत की श्रेष्ठता

अमीर खुसरो कहते हैं कि अरबी बद्दुओं की टेर से मस्त होकर ऊँट रास्ता

---

१. 'अमीर खुसरो', संपादक डा० मलिक, प्रकाशक : राजपाल एंड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली, पृष्ठ ८५–८६

२. वही, पृष्ठ वही (भावार्थ)।

३. वही, पृष्ठ ८५ ४. वही, पृष्ठ ८५

चलते हैं, परंतु भारतीय संगीत से मुग्ध हरिण की भाँति निश्चेतन नहीं होते, इसलिए दोनों की तुलना व्यर्थ है।[1]

विदेशियों के लिए भारतीय संगीत की अगम्यता

अमीर खुसरो ने स्पष्ट कहा है कि भारत में भारतीय संगीत की शिक्षा प्राप्त करने के लिए अनेक विदेशी संगीतज्ञ आए, परंतु एक राग पर भी उनका अधिकार न हो सका।[2]

भारतीय संगीत की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए अमीर खुसरो के प्रयत्न

अमीर खुसरो की रचना 'किरानुस्सादैन' (रचना-काल १२८० ई०) से प्रतीत होता है कि अमीर खुसरो को अड़तीस वर्ष की आयु में ही ईरानी संगीत के चार उसूलों और बारह परदों तथा सूक्ष्म रहस्यों का ज्ञान हो चुका था[3], परंतु इस वक्तव्य से पैंतीस-छत्तीस वर्ष पश्चात् लिखित 'नुह सिपहर' में वे सर्वश्रेष्ठता में भारतीय संगीत के सम्मुख नतमस्तक हैं। अमीर खुसरो भारतीय संगीत की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए विदेशी तथा भारतीय संगीतज्ञों की प्रतियोगिताएँ भी कराते थे।[4]

हिंदी-भक्त खुसरो

'हिंदी', 'हिंदवी' अथवा 'हिंदुई' खुसरो की मातृभाषा थी, क्योंकि ये उत्तर-प्रदेश में स्थित एटा जिले के अंतर्गत पटियाली नामक ग्राम में उत्पन्न हुए थे और इनकी माँ हिंदू (विशुद्ध भारतीय रक्त की महिला) थीं। इनके नाना 'रावत' (जमींदार) थे, जिनका नाम तो पता नहीं चलता, परंतु इनको शाही दरबार से 'इमादुल्मुक' उपाधि मिली थी और ये इसी नाम से प्रसिद्ध थे।

खुसरो की रचनाओं के अंतःसाक्ष्य से यह प्रमाणित होता है कि वे—१. ईरानी संगीत के मर्मज्ञ थे, २. भारतीय संगीत के घोर प्रशंसक और भक्त थे, ३. भारतीय-संगीत की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए प्रतियोगिताएँ आयोजित कराते थे, ४. ब्राह्मणों के कृपापात्र थे तथा ५. ब्राह्मणों से खुसरो ने कुछ सीखा था और वे ब्राह्मणों के एवं अपनी मातृभूमि भारत के बहुत बड़े भक्त थे।

ये भी सिद्ध होता है कि वे विदेशी मुसलमानों के उच्चारण का मजाक उड़ाते थे, उन्हें भारतीय संगीत सीखने के लिए अनुपयुक्त समझते थे, यहाँ तक कि वे भारत की रोटी खाकर परदेस की तारीफ करनेवालों को खरी-खरी सुनाते थे। उन्होंने 'अरब' का नाम लेकर कहा है कि वहाँ का संगीत भारतीय संगीत की अपेक्षा घटिया है।

---

१. 'खिलजीकालीन भारत', पृष्ठ १८० पर उद्धृत 'नुह सिपहर' का भावार्थ।

२. 'अमीर खुसरो' (पूर्वोक्त), पृष्ठ ८६

३. 'लाइफ एंड वर्क्स ऑव् अमीर खुसरो', लेखक—मुहम्मद वहीद, पृष्ठ २३८

४. 'संगीत-चिंतामणि', प्रथम संस्करण, पृष्ठ २६८ पर उद्धृत खुसरो की प्रसिद्ध रचना 'एजाज-ए-खुसरवी' का पृष्ठ १८३, द्वितीय संस्करण का अंश।

उनका यह संकेत अपने उन समवर्तियों की ओर है, जो 'अरब' को प्रत्येक दृष्टि से आदर्श समझते थे।

वे अपनी काव्य-शक्ति पर गर्व करते हुए कहते हैं—"भारत इसलिए भी श्रेष्ठ है कि उसे खुसरो-जैसा गायक, कवि प्राप्त है।"[१] अपनी प्रशंसा खुसरो ने कम नहीं की है।

पूर्वोक्त स्थिति को देखते हुए आज के युग में या औरंगजेबी युग में खुसरो-जैसे सूफी को 'हिंदू-द्वेषी' बना देना कहाँ तक न्यायसंगत है, यह पाठकों के विवेक पर निर्भर है।

कैकुबाद (राज्यकाल, १२८७-१२९० ई०) के युग में खुसरो के साथी

दिल्ली के सुलतानों में खुसरो का सर्वप्रथम आश्रयदाता कैकुबाद था। इस युग में 'अवध' की रूपाजीवाएँ, गायिकाएँ और नर्तकियाँ भी दिल्ली-दरबार में पहुँचने लगी थीं। गजलों के साथ-साथ हिंदी गाने भी गाए जाते थे।[२] संभव है, इनमें से कुछ कलाकार अमीर खुसरो की ही सिफारिश पर पहुँचे हों, क्योंकि कैकुबाद के दरबार में पहुँचने से पूर्व अमीर खुसरो अवध के सूबेदार मीर अमीरअली जामदार के ही आश्रय में थे।[३] अवध ही नहीं, चारों ओर से संगीतजीवी लोग उस समय दिल्ली पहुँच रहे थे, क्योंकि कैकुबाद का एक अमीर निजामुद्दीन मलिक भी कव्वालों को प्रभूत पुरस्कार देता था[४] और सम्राट् संगीत तथा नृत्य का अनुरागी होने के साथ-ही-साथ एक हिंदू (भारतीय रक्त की महिला) माँ की संतान था।[५] कैकुबाद ने ही अमीर-खुसरो को 'मलिकुश्शुअरा' (कवीश्वर) की उपाधि दी थी।

इन कलाकारों की संगति ने अमीर खुसरो को अवध के संगीत और वहाँ की गेय वस्तुओं से प्रभावित किया।

जलालुद्दीन खिलजी के युग में अमीर खुसरो और उनके संगीतजीवी साथी

जलालुद्दीन खिलजी (राज्यकाल १२९०-१२९६ ई०) की विजयों का वर्णन अमीर खुसरो ने अपने ग्रंथ 'मिफताहुल्फुतूह' में किया। सम्राट् ने इस महान् व्यक्ति को 'अमीर' उपाधि से विभूषित किया। 'अमीर' की प्रतिष्ठा में वृद्धि की गई और इनका वेतन बारहसौ 'तनका' (एक विशिष्ट सिक्का) कर दिया गया।

जलालुद्दीन खिलजी के दरबार में फकाई की पुत्री नुसरत खातून और फुतूहा-जैसी रूपवती गायिकाएँ थीं, मेहर अफ़रोज के कटाक्ष मोहनमंत्र थे, मुहम्मदसना चंगी

१. 'अमीर खुसरो', पृष्ठ ८६ पर उद्धृत 'नुह सिपहर'।
२. 'मुसलमान और भारतीय संगीत', पृष्ठ ५८
३. 'अमीर खुसरो', पृष्ठ १५
४. 'मुसलमान और भारतीय संगीत', पृष्ठ ५८
५. 'निजामी बंसरी', पृष्ठ ३० पर उद्धृत 'चेहलरोजा'।

(ढोल-वादक)-जैसे कलाकार उनकी संगति करते थे।[1] (अवध में ऐसी संगीत-जीवी जातियाँ आज भी हैं, जिनकी नारियाँ सार्वजनिक रूप में गाती-बजाती हैं और उनके पिता व भाई उनकी संगति करते हैं। उन जातियों में एक जाति 'डेरेदार' कहलाती है, जिसने 'इस्लाम' अंगीकृत कर लिया है। संभव है, उपर्युक्त गायिकाएँ भी भारतीय रही हों, जिनके फारसी नामों ने उनकी भारतीयता पर परदा डाल दिया है।)

अमीर खुसरो इन रूपवती गायिकाओं के सौंदर्य का वर्णन अपनी रचनाओं में करते थे।

अलाउद्दीन खिलजी के युग में अमीर खुसरो और उनके संगीतज्ञ साथी

अलाउद्दीन खिलजी (राज्य-काल १२९६-१३१६ ई०) ने अमीर को 'खुसरुए-शाइराँ' उपाधि दी। अलाउद्दीन खिलजी की विजयों का वर्णन अमीर खुसरो ने अपने कई ग्रंथों में किया है, जिसमें 'तारीखे अलाई' अत्यंत लोकप्रिय हुई।

१२९७ ई० में अलाउद्दीन खिलजी ने अपने दो सरदारों—नुसरत खाँ और उलुग खाँ—को गुजरात-विजय के लिए नियुक्त किया। इन लोगों के सफल अभियान के तीन बड़े परिणाम हुए—१. गुजरात पर अलाउद्दीन का अधिकार हो गया, वहाँ की रानी बंदी बनाकर लाई गई और अलाउद्दीन खिलजी की अंकशायिनी हुई, राजा ने भागकर देवगिरि में शरण ली, उसकी पुत्री देवलदेवी भी उसके साथ थी। २. खंभात से एक कर्पूरगौर अत्यंत सुंदर दास एक हजार दीनार में खरीदा गया, जो अनेक भाषाविद् था। भविष्य में यही दास अलाउद्दीन खिलजी का प्रसिद्ध सेनापति मलिक काफूर बना, जिसने समस्त दक्षिण-भारत को जीतकर दिल्ली-साम्राज्य में सम्मिलित कर दिया। ३. गुजरात की परवार (परिवार ?) नामक संगीतजीवी जाति के सहस्रों सुंदर नर-नारी बंदी बनाकर दिल्ली लाए गए, जो दिल्ली के बाजारों में बिककर मुसलमानों के घरों में पहुँचे और उन्हें गुजरात के संगीत से मुग्ध करने लगे। यहाँ तक कि आगे चलकर इसी जाति का एक नौमुस्लिम सेनापति खुसरो खाँ अलाउद्दीन खिलजी के पुत्र कुतुबुद्दीन खिलजी का प्रमुख सेनापति, अनन्य प्रेमी और वधकर्ता हुआ।

अस्तु, गुजरात से तो संगीतजीवी आए ही, दक्षिण-विजय के पश्चात् दक्षिण के संगीतजीवी भी दिल्ली में आए; क्योंकि देवलदेवी दिल्ली लाई गई थी। उसका विवाह अलाउद्दीन खिलजी के पुत्र खिज्र खाँ के साथ हुआ था। अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'दिवलरानी-खिज्र खाँ' में अमीर खुसरो ने इस विवाह से संबंधित उत्सवों में दक्षिण-भारत के कलाकारों द्वारा कला-प्रदर्शन की चर्चा की है, तथापि किसी कलाकार के नाम की चर्चा वहाँ नहीं है।

निम्नलिखित ध्रुवपद को इन उत्सवों में गोपाल नायक के सम्मिलित होने का प्रमाण माना जा सकता है :—

---

१. 'मुसलमान और भारतीय संगीत', पृष्ठ ५८ पर उद्धृत 'खिलजीकालीन भारत'।

धक दलन रे प्रबल्ल माद सिंघनाद बल अपबल वक्क अर ।
कुडांन धीर अडान मिलवत चपल चाप अचपल अक्कअर ।।
गीत गावत नायक गोपाल विद्यावर ।
सहिनिसाहि अलावदीं तपै डिलीनरेस जाकी वसुधा सुचित तक्क धर ।।

प्रस्तुत ध्रुवपद में 'साहिनिसाहि अलावदीं.......डिलीनरेस', 'शाहंशाह अलाउद्दीन दिल्ली-नरेश' का अपभ्रंश है ।[1] अस्तु, इस ध्रुवपद में नायक गोपाल दिल्ली के प्रतापी नरेश अलाउद्दीन का वर्णन कर रहे हैं ।

देवगिरि उस समय यादव वंश की राजधानी था, उसके राजा रामचंद्र को 'रायरायान' उपाधि देकर उसे गुजरात का सूबेदार बना दिया गया था । लगता है कि गोपाल नायक के विद्या और गुण से प्रभावित होकर अमीर खुसरो ने गोपाल नायक को दिल्ली में ही रोक लिया और गोपाल नायक के आश्रयदाता 'रायरायान' राजा रामचंद्र गुजरात चले गए ।

गोपाल नायक ने दिल्ली में रहकर 'चतुर्दंडी' संप्रदाय का प्रवर्तन किया । 'आलाप, ठाय (स्थाय, लोक-भाषा में 'ठाह'), गीत और प्रबंध' ये चार दंड 'चतुर्दंडी-संप्रदाय के आधार-दंड हैं ।[2] सोलहवीं शती के नायक बैजू ने भी अपने एक प्रसिद्ध ध्रुवपद में चारौं डांडी (चतुर्दंडी) बाँधि आए नायक गोपाल' कहकर गोपाल नायक को चतुर्दंडी-संप्रदाय का प्रवर्तक कहा है । ध्रुवपद यों हैं :—

विद्या सोई भली जौन साधी है रे लाल ।
रंगमहल[3] महँ दोउ जुरि बैठे रीझि मृगन दई माल ।
'सात गुपित, सात प्रगट', चारौं डाँडी बाँधि आए नायक गोपाल ।
'बैजू' कहे, गाए तें भूलि गए, सप्त सुर पिघिलौ पाहन बूढ़े ताल ।।

इसका अर्थ यह है—'वत्स, विद्या वही भली है, जिसकी सिद्धि की गई है (अर्थात् केवल तर्क-वितर्क से कुछ नहीं होता) । बैजू कहते हैं कि दोनों (अमीर खुसरो और गोपाल नायक ?) मिलकर प्रेमपूर्वक बैठ गए, 'मृगों' (गोपाल नायक के गाने से अनुरक्त व्यक्तियों) ने जयमाला गोपाल नायक के गले में डाल दी, नायक गोपाल ने सात 'गुप्त' (मूर्च्छना-पद्धति के) और सात 'प्रकट' (मेल-पद्धति या मुकाम-पद्धति) तथा

---

१. यह ध्रुवपद रामपुर-दरबार के एक कलाकार के पास एक संग्रह में प्राप्त हुआ है। संग्रह की माइक्रो-फिल्म 'संगीत-नाटक-एकेडमी', दिल्ली में सुरक्षित है ।

२. 'भरतकोष', पृष्ठ १९९

३. जिस विशेष भवन में संगीत-सभाएं आयोजित होती थीं, वे मुस्लिम दरबारों में 'रंगमहल' कहलाते थे, रामपुर के वर्तमान किले में बने हुए 'रंगमहल' में आजकल एक विद्यालय है । 'रंगमहल' में 'रंग' शब्द संस्कृत का है और पूर्वरंग, रंगभूमि, रंगमंच-जैसे शब्दों में प्रयुक्त हुआ है ।

भारतीय ग्राम-मूर्च्छना-सिद्धांत को न समझने के कारण मुसलमान-दरबारों की 'समिति' में सदा उसकी खिल्ली उड़ाई गई । गयासुद्दीन खिलजी की 'समिति' का मुँह 'संगीत-रत्नाकर' के तेलुगु-व्याख्याता विट्ठल के पिता ने प्रत्यक्ष प्रयोग के द्वारा श्रुति-सिद्धि से बंद कर दिया था । ('भरतकोष', भूमिका, पृष्ठ ५)

चतुर्दंडी (आलाप, ठाय, गीत और प्रबंध) निश्चित कर दिए। गाने के प्रभाव से अलाउद्दीन-जैसा पाषाण पिघल गया, (जिन सात स्वरों के विषय में शास्त्रार्थ हो रहा था; वे) सात सुर लोगों के ध्यान से उतर गए और संगति करनेवालों के ताल (झाँझ या मँजीरे) उलट (रुक) गए।

गोपाल नायक और अमीर खुसरो की प्रतिस्पर्धा की कहानी का मूल इसी ध्रुवपद में है, जिसके सीधे-सादे अर्थ का सत्यानाश परवर्तियों ने किया है।

औरंगजेबकालीन फकीरुल्लाह-जैसे लोगों ने अमीर खुसरो की मृत्यु से प्रायः साढ़े तीनसौ वर्ष पश्चात् 'रागदर्पण' में लिखा है कि गोपाल नायक अमीर खुसरो से हारकर मुसलमान हो गए और दक्षिण-भारतीयों का कहना है कि गोपाल नायक ने अमीर खुसरो पर विजय प्राप्त की।[1]

गोपाल नायक मुकाम-सिद्धांत से अपरचित थे और अमीर खुसरो मूर्च्छना-सिद्धांत से। गोपाल नायक पराधीन और पराजित राजा के कलाकार थे और अमीर खुसरो अलाउद्दीन खिलजी-जैसे विजेता के दरबार का सम्मान थे। अमीर खुसरो गुण-ग्राही थे और गोपाल नायक भी गुणग्राहियों की खोज में थे। फलतः दोनों की मित्रता हो गई। वेदाश्रित मूर्च्छना-पद्धति को गुप्त रखना गोपाल नायक का धार्मिक कर्तव्य था और मुकाम-पद्धति को स्वीकृत करके उसमें देशी रागों का वर्गीकरण कर डालना आपद्-धर्म। आंजनेय का यह नियम गोपाल नायक के सम्मुख था ही कि देशी रागों में श्रुति, स्वर, ग्राम, जाति इत्यादि का नियम नहीं होता। अस्तु, गोपाल नायक ने मूर्च्छना-सिद्ध रागों की मूर्च्छना की आरंभिक ध्वनियों को 'सा' मानकर उसके संवादी पंचम को भी अचल मान लिया। शेष पाँच स्वरों के भी चढ़े और उतरे दो-दो भेद मान लिए गए। स्वरों के ये नवीन नाम 'खरज, उत्तरी रिखब, चढ़ी रिखब, उतरी गांधार, चढ़ी गांधार, उतरी मध्यम, चढ़ी मध्यम, पंचम, उतरी धैवत, चढ़ी धैवत, उतरी निखाद और चढ़ी निखाद मान लिए गए। इन ध्वनियों के क्रमशः विदेशी नाम रास्त, शहनवाज, दोका, कुर्द, सीका, गिरका, हिजाज, नवा हिसार, हुसेनी, अगनू और नीम माहुर को याद रखने की आवश्यकता भी भारतीय गुणियों ने न समझी।[2]

अचल सारिकाओंवाली वीणा का जन्म

मंद्र, मध्य और तार-स्थान में बारह-बारह ध्वनियों का अस्तित्व मान लिया गया और 'प्रमाण-श्रुति' के अंतर की उपेक्षा कर दी गई। षड्ज और पंचम की अचलता के कारण लोगों का ध्यान सप्तक की ओर से हटकर अष्टक की ओर चला गया। षड्ज, ऋषभ, गांधार और मध्यम को अष्टक का पूर्वार्द्ध और पंचम, धैवत, निषाद और अग्रिम स्थानीय षड्ज को अष्टक का उत्तरार्द्ध मान लिया गया।

१. 'संगीत-शास्त्र', लेखक—वासुदेव शास्त्री, पृष्ठ १४६

२. निरक्षर मुस्लिम गुणी, इन बारह ध्वनियों को क्रमशः खरज, जरज, रिखब, चंधार, गांधार, तद्धम, मद्धम, पंचम, हैवत, धैवत, लिखाद, निखाद कहते थे। इनके खरज, रिखब, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निखाद कल्याण ठाठ हैं और खरज, जरज, चंधार, तद्धम, पंचम, हैवत और लिखाद भैरवी ठाठ के बोधक हैं। ये संप्रदाय कल्याण के स्वरों को मूल स्वर मानता था और उतरे हुए स्वरों को विकृत। —लेखक

अचल परदोंवाली उत्तर-भारतीय बीन तथा दक्षिण-भारतीय तंजोर वीणा पर विभिन्न स्वरावलियाँ

(चतुःश्रुतिक स्वरों का क्षेत्र ५१ घटक, त्रिश्रुतिक स्वरों का ४६ घटक और द्विश्रुतिक स्वरों का २८ घटक है।)

परदों का क्रम	मेरु की अपेक्षा प्रत्येक परदे की ध्वनि का अंतराल	परदों की ध्वनियों का पारस्परिक अंतराल	ईरानी स्वर-नाम और उनका अंतराल	उत्तर-भारतीय स्वर और 'सा' की अपेक्षा उनका अंतर	दाक्षिणात्य स्वर और 'सा' की अपेक्षा उनका अंतर	दुर्गा मुकाम और मातंगे का विलावल, शंकराभरण	रास्त मुकाम के स्वर और 'सा' की अपेक्षा अंतराल	हिजाज मुकाम और 'सा' की अपेक्षा अन्य स्वरों का अंतर	रहावी मुकाम और 'सा' की अपेक्षा अन्य स्वरों का अंतर	हुसेनी मुकाम और 'सा' की अपेक्षा अन्य स्वरों का अंतर	कोचक मुकाम और 'सा' की अपेक्षा अन्य स्वरों का अंतर	षड्ज-ग्राम और 'सा' की अपेक्षा अन्य स्वरों का अंतर	मध्यम-ग्राम और 'सा' की अपेक्षा अन्य स्वरों का अंतर	उत्तर-भारतीय 'नि' अर्थात् षड्ज-ग्रामीय 'नि' को षड्ज मानने पर अग्रिम स्वर
को० १	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५
मेरु ०	०	०	गिरका	म़	सा [illegible]	सा ०						नि	ग	प़
१	२३	२३	हिजाज	म़	रे २३							नि़	ग़	ध
२	५१	२८	नवा	प़	रे ५१	रे ५१	सा ०					सां ०	म ०	ध
३	७९	२८	हिसार	ध़	ग ७९	×	×	×	×	×	×	×	×	नि
४	९७	१८	हुसेनी	ध़	ग ९७	ग ९७	रे ४६					रे ४६	प़	नि़
५	१२५	२८	अगनू	नि	म १२५	म १२५						ग ७४		सा ० [illegible]
६	१४८	२३	नीममाहुर	नि़	मं १४८		ग ९७					ग ९७	ध	रे २३

७	१७६	२८	रास्त	सा ०ॐ	प १७६	प १७६	म १२५					म १२५	नि॒	रे ५१
८	१९९	२३	शहनवाज	रे॒ २३	ध॒ १९९								नि	ग॒ ७४
९	२२७	२८	दोका	रे ५१	ध २२७	ध २२७	प १७६	सा ०	सा ०	सा ०	सा ०	प १७६	सा ०	ग १०२
१०	२५५	२८	कुर्द	ग॒ ७६	नि॒ २५५									म १३०
११	२७३	१८	सीका	ग ९७	नि २७३	नि २७३	ध २२२	रे ४६	रे ४६	रे ४६	रे ४६	ध २२२	रे ४६	मं १४८
१२	३०१	२८	गिरका	म १२५	सां ३०१	सां ३०१	नि॒ २५०	ग॒ ७४		ग॒ ७४	ग॒ ७४	नि॒ २५०	ग॒ ७४	प १७६
१३	३२४	२३	हिजाज	मं १४८					ग ९७			नि २७३	ग ९७	ध॒ १९९
१४	३५२	२८	नवा	प १७६			सां ३०१	म १२५	म १२५	म १२५	म १२५	सां ३०१	म १२५	ध २२७
१५	३८०	२८	हिसार	धु २०४	×	×	×	×	×	×	×	×	×	नि॒ २५५
१६	३९८	१८	हुसेनी	ध २२२				प् १७१	प् १७१	प् १७१	प् १७१		प् १७१	नि २७३
१७	४२६	२८	अगनू	नि॒ २५०					ध॒ १९९	ध॒ १९९	ध २२२		ध २२२	सां ३०१
१८	४४९	२३	नीममाहुर	नि २७३				ध २२२						
१९	४७७	२८	रास्त	सां ३०१				नि॒ २५०	नि॒ २५०	नि॒ २५०			नि॒ २५०	
२०	५००	२३	शहनवाज								नि २७३		नि २७३	
२१	५२८	२८	दोका					सां ३०१	सां ३०१	सां ३०१	सां ३०१		सां ३०१	
२२	५५६	२८	कुर्द											
२३	५७४	१८	सीका											

आनुवंशिक कारीगर बीन पर इन परदों की स्थापना यों करते हैं :—

१. मुक्त तंत्री की ध्वनि को षड्ज मानकर चौथे, पाँचवें और सातवें परदे पर क्रमशः स्वयंभू या अंतर गांधार, शुद्ध मध्यम और पंचम की स्थापना कर दीजिए।

२. पंचम के आधार पर दूसरे परदे पर ऋषभ (चतुःश्रुति ऋषभ) और उस ऋषभ के आधार पर चतुःश्रुति धैवत की स्थापना नवें परदे पर कर दीजिए।

३. अंतर गांधार के आधार पर ग्यारहवें परदे पर 'नि', इस 'नि' के आधार पर छठे परदे पर 'मं' और इस 'मं' के आधार पर 'रे' की स्थापना पहले परदे पर कर दीजिए।

४. तीसरा परदा वहाँ मिलाइए कि उस पर 'ग' बोलने लगे और 'ग-प' में षड्जांतर-गांधार-संबंध हो जाए। इस 'ग' के आधार पर 'नि' की स्थापना दसवें परदे पर कीजिए।

५. पहले परदे पर स्थापित 'रे' के आधार पर 'ध' की स्थापना आठवें परदे पर कर दीजिए।

इन स्वरों की स्थापना का आधार उत्तर-भारतीय बीन की दाहिनी ओर से दूसरा तार है। दाहिनी ओर के पहले तार को 'म' में मिलाने पर सातवें परदे पर बोलनेवाली ध्वनि बीनकारों का 'सा' हो जाएगी।

विज्ञ पाठक देखेंगे कि किसी भी मुकाम या मूर्च्छना में तीसरे परदे की ध्वनि (दक्षिण-भारतीय 'ग' और उत्तर-भारतीय 'ध') का कोई उपयोग नहीं है। यदि बीन की दाहिनी ओर से तीसरे तार को उत्तर-भारतीय अनुमंद्र पंचम में मिलाया जाए, तो तीसरे परदे पर 'नि' बोलेगा।

अस्तु, संप्रदाय से परिचित व्यक्ति के लिए इस वीणा पर षड्ज-ग्राम, मध्यम-ग्राम, छह मुकाम, बारहों ईरानी स्वर, बारहों दाक्षिणात्य स्वर और बारहों उत्तर-भारतीय स्वर विद्यमान हैं तथा संप्रदाय से अपरिचित व्यक्तियों के लिए ग्राम और मुकाम लुप्त हो गए हैं।

वर्तमान सारिकाओं में मध्यम-ग्राम, हिजाज मुकाम, रहावी मुकाम, हुसेनी मुकाम और कोचक मुकाम का 'सा' हमें नवें परदे पर ही मिलता है। 'रास्त' मुकाम का और षड्ज-ग्राम का 'सा' हमें दूसरे परदे पर मिलता है। यह तथ्य हमें अरब और ईरान की सांगीतिक ध्वनियों पर भारत के प्राचीन प्रभाव का परिचय देता है।

वर्तमान सारिका-स्थापन में मुक्त तंत्री को 'सा' या 'म' मानने पर त्रिकाल में भी ग्राम-ज्ञान न होगा। ऐसा ही हुआ भी। 'प्रकट' स्वर-संज्ञाओं का ज्ञान रखनेवाले खुसरो के अनुवर्ती हुए, इन पर दरबार की मुद्रा लगी। 'गुप्त' और 'प्रकट' दोनों स्वर-संज्ञाओं का ज्ञान रखनेवाले गोपाल नायक के अनुवर्ती सज्जनों ने अपने को मौन रखा।

गोपाल नायक के परम भक्त कल्लिनाथ जानते थे कि स०, रे ५१, ग॒ ७६, म (१२५), प (१७६), ध (२२७) और नि॒ (२५५) में 'रे, ग॒, ध, नि॒' षड्जग्रामीय रे (४६), ग॒ (७४), ध (२२२), नि॒ (२५०) की अपेक्षा एक-एक प्रमाण श्रुति (५, ५ घटक) चढ़े हुए हैं। परंतु अहोबल 'सा रे, ग॒, म, प, ध, नि॒' (खरहरप्रिया या काफी ठाठ) को ही शुद्ध स्वर समझ बैठे।

दक्षिण-भारत पर इस वीणा का प्रभाव

दक्षिण-भारतवालों ने तो और भी गजब किया। इस वीणा के दाहिनी ओर से प्रथम तंत्री की मुक्त ध्वनि को षड्ज मानकर क्रमशः पहले, दूसरे, तीसरे, चौथे, पाँचवें, छठे, सातवें, आठवें, नवें, दसवें और ग्यारहवे' परदे की ध्वनि को त्रिश्रुति शुद्ध ऋषभ, शुद्धगांधार या पंचश्रुति ऋषभ, साधारणगांधार, अंतरगांधार, शुद्धमध्यम, वराली मध्यम या पतपंचम, त्रिश्रुति शुद्ध धैवत, शुद्ध निषाद या पंचश्रुति धैवत, कैशिक निषाद और काकली निषाद कह दिया। यही नहीं, तथाकथित साधारण गांधार को षट्श्रुतिक ऋषभ और तथाकथित कैशिक निषाद को षट्श्रुतिक धैवत भी कहा जाने लगा।

खुसरो ने अपनी पद्धति में सा, रे॒, ग, म, प ध॒, नि सा' में मिलनेवाले वर्तमान हिंदुस्तानी भैरव राग को प्रथम राग कहा। सोलहवीं शती में इसी राग के स्वर कर्नाटक-पद्धति में भी मालवगौड मेल नाम से राग-शिक्षण का आधर बन गए।

खुसरो की मृत्यु १३२५ ई० से केवल १२३ वर्ष पश्चात् हिंदुत्व के पुनरुद्धार में संलग्न विजयनगर-साम्राज्य के दरबार में बैठे हुए कल्लिनाथ कह रहे थे कि मेरे युग में 'संगीत-रत्नाकर' दुर्बोध हो गया है, प्रत्येक राग 'सा' से आरंभ किया जाता है, मध्यमग्राम की समझ-बूझ गायब हो गई है और षड्ज का संवादी पंचम ही प्रयोग में रह गया है, काफी ठाठ के स्वर 'शुद्ध' स्वर समझे जाने लगे हैं, 'ग॒' को ऋषभ और 'नि॒' को धैवत भी कहा जाने लगा है। मध्यम भी दो श्रुति चढ़कर 'म॑' कहलाने लगा है।

यह समस्त उत्पात उन सज्जनों की देन था, जो केवल वादक थे और स्वर-संज्ञाओं का अर्थ अथवा स्वरों का अर्थ समझने की आवश्यकता नहीं समझते थे।

भैरव के 'रे॒-ग' (रे॒ २३+७४=९७ ग) में तथा ध॒ (ध॒ १९९+७४=२७३ नि) में ७४ घटकों या पाँच श्रुतियों का अंतर है। वैदिक संप्रदाय में एक स्वर का क्षेत्र ५१ सेवर्ट या चार श्रुतियों से अधिक नहीं होता। भैरव को आदि राग मान लेने पर भारतीय स्वर-शास्त्र का संबंध भरत और शार्ङ्गदेव की परंपरा से सर्वथा विच्छिन्न हो गया था। तोड़ी, मारवा और पूर्वी-जैसे राग विदेशी परंपरा की देन थे।

अमीर खुसरो समन्वयवादी थे। उन्होंने विदेशियों को स्वरों के ईरानी नाम और उनके आधार पर सिद्ध होनेवाले मुकामों को भुलाने का आधार प्रस्तुत कर

दिया[1] और गोपाल नायक ने इस पद्धति के द्वारा 'संगीत-रत्नाकर' के रहस्यों पर परदा डाल दिया।

रागवर्गीकरण का नवीन आधार

अमीर खुसरो के साहित्य का प्रत्येक पाठक यह तथ्य जानता है कि वे विशुद्ध भारतीय हृदय के व्यक्ति थे, विदेशी मुसलमानों की प्रतिभा को प्रत्येक क्षेत्र में ललकारते थे। उन्होंने इस वीणा (बीन) में स्वदेशी और विदेशी रागों को एक ही वाद्य-यंत्र के सहारे वर्गीकृत करने का आधार प्रस्तुत कर दिया। ईरानी स्वरों के नाम बदलकर बीन में हिंदुस्तानीपन ला दिया और हिंदुस्तानी संगीत को भैरव, पूरवी, मारवा और तोड़ी-जैसे ठाठ दिए, जो मूर्च्छना-पद्धति में नहीं आते, परंतु इस बीन में मिलते हैं।[2]

कव्वाल बच्चों का परहेज और कलावंतों का सामीप्य

इस बीन से विदेशी मुसलमान कलाकारों अर्थात् कव्वाल बच्चों ने परहेज किया। कलावंतों (भारतीय नौमुस्लिम गुणियों) ने इस बीन को अपनाया और वे इस बीन के रहस्यों से मुहम्मदशाह रँगीले के युग तक परिचित रहे। उत्तर-भारत में कलावंत और कव्वाल बच्चे सदैव प्रतिस्पर्धी रहे।

खुसरो कव्वाली के आविष्कारक नहीं

गायकों का एक समूह जब परस्पर मिलकर कोई उक्ति गाता है और प्रमुख गायक उनका नेतृत्व करता है, तो गाने की उस विधा को 'कव्वाली कहते हैं। इसकी विषय-वस्तु भक्तिपरक होती है। कव्वाली की संगति ढोलक से होती है। अमीर खुसरो

---

१. इन मुकामों और इनके स्वरों के लिए 'ध्वनि और संगीत', पृ० २९२, २९३ और २९४ देखिए। चौदहवीं शती ई० अर्थात् अमीर खुसरो की मृत्युवाली शती में ही अब्दुलकादिर द्वारा ये निर्धारित किए हुए हैं। मुहम्मद शीराजी की मृत्यु १३१५ ई० में हुई, यह अलाउद्दीन खिलजी का राज्य-काल था और इस समय अमीर खुसरो तथा गोपाल नायक, दोनों विद्यमान थे। सा०, रे (२३), रे (४६), रे (५१), ग (७४), ग (९७), ग (१०२), म (१२५), मं (१४८), प (१७१), प (१७६), ध (१९९), ध (२२२), ध (२२७), नि (२५०), नि (२९३), सां (२९६), सां (३०१) के रूप में सत्रह ध्वनियाँ शीराजी मानता था।

२. बीनकार लोग तो मींड़ द्वारा प्रत्येक राग की अभीष्ट ध्वनियों को प्राप्त कर लेते हैं, परंतु तोड़ी के ग (७४), ध (१९९) पाठकों को सारणी के पंद्रहवें कोष्ठक में मिलेंगे। बाज के तार को पंचम में मिलाने से पाँचवें परदे की ध्वनि 'सा' हो जाएगी और तोड़ी के स्वर मिल जाएँगे। अन्यथा परदों पर इनकी प्राप्ति असंभव है। मुलतानी के 'ग' (७४) और 'ध' (२०४) सातवें परदे की ध्वनि को षड्ज मानने पर मिलते हैं। भैरव के रे (२३) और ध (१९९) मुक्त तंत्री की ध्वनि को षड्ज मानने से मिलते हैं।

की मृत्यु से एक वर्ष पूर्व १३२४ ई० में रचित 'संगीतोपनिषद्' के लेखक प्रसिद्ध जैन आचार्य सुधाकलश ने अपने एक दूसरे ग्रंथ 'संगीतोपनिषत्सारोद्धार' में 'ढोल' की गणना म्लेच्छ वाद्यों में की है।[1] भारत में चिश्ती सूफियों के आदिपुरुष गाना सुनते और अपने गायकों के द्वारा अपने सिद्धांतों का प्रचार करते थे।[2] आदिपुरुष ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती अजमेरी थे, उनके शिष्य शैख हमीदुद्दीन नागौरी का प्रसिद्ध कव्वाल महमूद अमीर खुसरो के जन्म से कहीं पूर्व सुल्तान शम्सुद्दीन इल्तुतमिश (शासनकाल १२१०–१२३५ ई०) के दरबार में धूम मचा रहा था। अत: खुसरो को कव्वाली का आविष्कारक कहना ठीक नहीं।

खुसरो कौल के आविष्कारक नहीं

'कौल' का अर्थ 'सूक्ति' है। इसे पढ़ा जाए, तो इसे 'रुबाई' कहते हैं। 'कौल' गानेवाले 'कव्वाल' कहलाते हैं और ये लोग सामूहिक रूप में गजल भी गाते हैं। इनमें से प्रत्येक का अस्तित्व पहले से विद्यमान है।[3]

खुसरो तराना के आविष्कारक नहीं

जब सूफी भारत आए, तब अपनी रुचि का तराना भी साथ लाए।[4]

श्री रशीदअहमद कहते हैं—"कव्वाली और तराना, दोनों हजरत अमीर खुसरो से पहले की चीजें हैं और भारत के इतिहास में भी हमें ऐसे प्रमाण मिलते हैं, जिनके आधार पर हम कव्वाली का आविष्कारक अमीर खुसरो को नहीं कह सकते।.... रफी गजनवी ने कहा है कि अमीर खुसरो का कव्वाली या उसके विकास से कोई संबंध न था और न ही वे उसके आविष्कारक माने जा सकते हैं।[5] खुसरो ने कव्वालों को भारतीय धुनों में बँधे हुए हिंदी-गीत दिए।"

खुसरो सितार के आविष्कारक नहीं

१८५४ ई० में 'मअदनउल् मूसिकी' के लेखक मुहम्मदकरम इमाम ने इस झूठ का प्रचार किया कि सितार के आविष्कारक अमीर खुसरो हैं, जबकि मुहम्मदबिन कासिम से लेकर मुहम्मदशाह रँगीले तक के दरबार में किसी सितार-वादक की चर्चा नहीं मिलती। खुसरो के ग्रंथों में सितार की चर्चा तक नहीं है।

अदारंग का वास्तविक नाम फीरोज खाँ था, इन्हीं की बनाई हुई गतें सितार की प्राचीनतम 'फीरोजखानी गतें' हैं। फीरोज खाँ 'अदारंग' रुहेले नवाब सादुल्लाह खाँ के आश्रय में थे। फीरोज खाँ के पिता खुसरो खाँ भारतीय सितार के आविष्कारक थे

१. 'संगीतोपनिषत्सारोद्धार', भूमिका, पृष्ठ ६-८-८८, गायकवाड़ सीरीज, प्रथम संस्करण।
२. 'निजामी बंसरी', पृष्ठ ११०
३. 'अमीर खुसरो', पृष्ठ २०८ पर श्री हसनुद्दीनअहमद का लेख।
४. वही, पृष्ठ २११
५. वही, पृष्ठ २०९

और नेमत खाँ 'सदारंग' खुसरो खाँ के अग्रज (बड़े भाई) थे। फीरोज खाँ को 'सदारंग' की लड़की ब्याही थी।[1]

मुगल-सम्राट् शाह आलम ने अपने ग्रंथ 'नादिरातिशाही' (संकलन-काल १७९८ ई०) में सितार की चर्चा भारतीय वाद्यों की सूची में की है। 'सदारंग' के वंशजों ने अच्छे-अच्छे सितार-वादक तैयार किए। 'सदारंग' तो सेनिए नहीं थे, परंतु उनके परवर्तियों ने स्वयं को सेनिया कहना आरंभ कर दिया।

अस्तु, सितार के साथ अमीर खुसरो का कोई संबंध नहीं।[2]

तबले के आविष्कारक अमीर खुसरो नहीं

मुहम्मदशाह रँगीले के युग में किसी तबला-वादक की चर्चा नहीं मिलती[3] और 'नादिरातिशाही' तक में तबले की चर्चा नहीं है। कहा जाता है कि उन्नीसवीं शती ईसवी के आरंभ में सितार की संगति के लिए तबले का आविष्कार दिल्लीवासी सुधार खाँ (सत्तार खाँ) ने किया, जिनका ठेका 'सत्तारखानी' (सितारखानी) प्रसिद्ध है।

इतिहास से अपरिचित लोग बेतुकी बातें कह डालते हैं और नासमझ लोग छानबीन किए बिना उन्हें रटने लगते हैं। भगवान् का बड़ा अनुग्रह है कि लोग सारंगी और सरोद को अमीर खुसरो का आविष्कार नहीं कह रहे हैं।

खुसरो के समसामयिक कुछ अन्य कलाकार

अमीर खुसरो के समवर्ती कुछ कलाकारों की चर्चा यथास्थान हो चुकी है। खुसरो के एक प्रसिद्ध ग्रंथ 'एजाजे खुसरवी' के दूसरे अध्याय में नूरमनि (तुरमुती) खातून की चर्चा है, जो ईरानी और भारतीय गायकों की समिति की अध्यक्षा थी और अमीर खुसरो की कृपा से ही राजकीय अनुग्रह की अधिकारिणी हुई थी।

बाबा फरीदुद्दीन गंजशकर के दौहित्र ख्वाजा सैयद मुहम्मद इमाम और उनके अनुज ख्वाजा सैयद मुहम्मद मूसा महान् संगीत-मर्मज्ञ और गायक थे। ये दोनों भाई शेख निजामुद्दीन चिश्ती के मुरीद थे।

गायक खुसरो

अमीर खुसरो के संगीत-गुरु का पता नहीं चलता, परंतु उन-जैसे मेधावी पुरुष के लिए यह अत्यंत सरल था कि संगति से ही सब-कुछ सीख लें। वे अपने पीर शेख

---

१. 'मुसलमान और भारतीय संगीत', पृष्ठ ७९-९५

२. एक सितार-वादक बंबईवासी खाँ साहब हमसे बहुत नाराज हैं और समझते हैं कि हम हजरत अमीर खुसरो से सितार छीने ले रहे हैं। इन खाँ साहब का यह दावा है कि ये उस ढंग से सितार बजाकर दिखाते हैं, जिस प्रकार अमीर खुसरो के जमाने में बजाया जाता था। इन खाँ साहब को रशीदअहमद और हसनुद्दीन अहमद साहब से भी नाराज होना चाहिए, जो हजरत अमीर खुसरो से कव्वाली और तराना भी छीने ले रहे हैं।
□ लेखक

३. इस युग के कलाकारों की सूची 'मुसलमान और भारतीय संगीत', पृष्ठ ७९ पर देखिए।

निजामुद्दीन चिश्ती के सामने नाचते भी थे और गाते भी थे। दरबार में उनका पद गायक या नर्तक का न था। एक बार कोई व्यक्ति रहँट से खेत में पानी दे रहा था और टेर लगा रहा था—'बारिहि लाइयो, राम मनाइयो।' अर्थात् 'पानी निकालो, और राम का स्मरण करो।' यह सुनकर शैख निजामुद्दीन चिश्ती, सैयद मुहम्मद इमाम, सैयद मुहम्मद मूसा, प्रसिद्ध कवि हसनअल सजरी, अमीर खुसरो तथा अन्य कव्वाल गाने और नाचने लगे।

अमीर खुसरो की संगीतज्ञता (एक पाकिस्तानी मुस्लिम की दृष्टि में)

कुछ ही दिनों पूर्व एक उर्दू-पुस्तक 'हज़रत अमीर खुसरो का इल्मे मूसिक़ी और दूसरे मकालात' देखने का अवसर मिला। पुस्तक के लेखक हैं, जनाब रशीद मलिक, और प्रकाशक हैं 'रिफ़ेंस रिप्रिंट्स' लाहौर। यह अक्टूबर १९७५ में प्रकाशित हुई है तथा इसकी भूमिका लिखी है प्रोफेसर सैयद अली अब्बास जलालपुरी साहब ने।

पुस्तक के दृष्टिकोण को समझने के लिए विद्वान् भूमिका-लेखक के निम्नलिखित वाक्य पर्याप्त हैं :—

"मुसलमानों के लाए हुए ईरानी तमद्दुन (संस्कृति) ने जिस तनासुब (अनुपात) व तवाफ़ुक (सादृश्य), तज़ाय्युन (श्रृंगार) व ज़ेबाइश (अलंकरण), कुशादगी (खुलापन) व फ़राखत (विस्तार) को रिवाज दिया, उससे यहाँ हिंदुओं के दरख़्तों के झुंड खूबसूरत और खुशक़तअ़ (क्रमबद्ध) बाग़ात (उपवनों) में बदल गए, उनके तंग और तारीक (अंधकारमय) महलों में कुशादगी (फैलाव) और मुसव्विरी (चित्रकला) में रंग व खत (रेखाओं) की रानाई (छटा) का इज़ाफ़ा (वर्द्धन) हुआ और उन्हें कपड़े पहनने और खाना खाने का सलीक़ा आया। क़दीम (पुराने) हिंदू अपने बदन पर बेसिए कपड़े लपेट लेते थे और पत्तों पर रखकर खाना खाते थे, जूते की जगह खड़ाऊँ पहनने का रिवाज था।[1]

अस्तु, हमें इस दृष्टिकोण को अज्ञानजन्य मानकर मौन का अवलंबन करना चाहिए और प्रस्तुत पुस्तक से लाभ उठाना चाहिए।

पुस्तक-लेखक का मत है कि हजरत अमीर खुसरो ने भारतीय संगीत में कोई नया आविष्कार नहीं किया, न रागों में, न तालों में, न वाद्यों में। वे ईरानी संगीत

---

१. पता नहीं कि 'मुसलमान' शब्द से प्रोफेसर साहब का क्या तात्पर्य है! भारत के बाहर जिन-जिन देशों में इस्लाम फैला, उन देशों की अपनी अलग-अलग संस्कृति थी। ईरान और भारत दो देश हैं और भौगोलिक खंड हैं। इस्लाम के उदय से पूर्व अरबों और भारतीयों के संबंध थे। मुहम्मद साहब के जन्म से पूर्व भी अरबों की एक अपनी संस्कृति थी। ईरान पर जब अरब मुसलमानों का आक्रमण हुआ, तब ईरानी लोग अरबों की अपेक्षा कम सुसंस्कृत नहीं थे। खैबर घाटी से भारत पर आक्रमण करनेवाले मुसलमान गोरी (गोर निवासी) या गजनवी (गजनी निवासी) थे। जो लोग उर्दू नहीं जानते, उन विभिन्नदेशीय मुसलमानों की सभ्यता और संस्कृति भी संबद्ध देशों की है। समझ में नहीं आता कि ये पढ़े-लिखे पाकिस्तानी आदरणीय विद्वान् संस्कृति का संबंध किस वस्तु से समझते हैं!

के मर्मज्ञ थे, परंतु एक कलाकार के रूप में उनके किसी समसामयिक प्रामाणिक ग्रंथकार ने उनकी चर्चा नहीं की है। लेखक का यह विचार भी है कि इस तथ्य का साधक कोई भी प्रमाण उनकी या उनके किसी समसामयिक की कृति में नहीं मिलता कि हज़रत अमीर खुसरो को भारतीय संगीत आता था।

जनाब रशीद मलिक साहब की पुस्तक हमें अनेक स्थलों पर अच्छी लगी है, अतः हम उनके तर्कों को पाठकों के लाभार्थ क्रमशः रखेंगे।

१—"सितार की ईजाद (आविष्कार), इख्तिराअ, (आविष्करण) यातरमीम (परिवर्तन, सुधार) से कोई वास्ता न था। (पृ० १४६)

अपने इस विचार की पुष्टि में लेखक का कथन है कि हजरत अमीर खुसरो ने अपने ग्रंथ 'एजाजे खुसरवी' के दूसरे रिसाले (पुस्तिका, प्रकरण) में छब्बीस वाद्यों के नाम गिनाए हैं, परंतु उनमें सितार की कोई चर्चा नहीं है। उस समय के कवि अपने कारनामों का जिक्र अपने अशआर (शेरों) में अक्सर करते थे। इस बात में हज़रत अमीर खुसरो किसी से पीछे न थे। (पृ० १४६-१४७) सितार के बारे में उनकी खामोशी इस बात की दलील है कि उन्हें सितार की ईजाद से कोई वास्ता न था। (पृ० १४७) खुद हजरत अमीर खुसरो ने, न उनके किसी 'हमअस्त्र' (समवर्ती) ने और न ही अबुल्फजल ने इस सितार की ईजाद को उनसे मन्सूब (सम्बद्ध) किया है। सितार अमीर खुसरो से कहीं पहले इख्तिराअ या ईजाद हो चुका था और उनके जमाने से अहदे अकबरी तक हमें हिंदुस्तान में इसका कोई सुराग़ नहीं मिलता।[१] (पृ० १५७)

हम लेखक के इस दृष्टिकोण से सर्वथा सहमत हैं कि हजरत अमीर खुसरो सितार के आविष्कारक नहीं हैं।

२—"यह साज़ (ढोल) बहुत क़दीम है और अमीर खुसरो का इसकी ईजाद से कोई वास्ता नहीं है।" (पृ० १७६)

हम लेखक के इस विचार से सर्वथा सहमत हैं कि 'ढोल' हजरत अमीर खुसरो का आविष्कार नहीं है, परन्तु हजरत अमीर खुसरो के समवर्ती ग्रंथकार सुधाकलश ने अपने ग्रंथ 'संगीतोपनिषत्सारोद्धार' में कहा है :—

तथैवं म्लेच्छवाद्यानि डोल तब्ब मुखानि तु।
डपा च···· ···· ···· ···· ···· ···· ॥ (भरतकोष, पृ० ३७)

इस उद्धरण में 'डोल' (ढोल) 'तब्ब' (तब्ल) और 'डपा' (दफ़ > ढफ़ > ढप) को म्लेच्छवाद्य कहा गया है। वास्तविकता यह है कि हजरत अमीर खुसरो के युग में इस 'ढोल' को म्लेच्छवाद्य कहा जाता था।

---

१. मुहम्मदशाह रंगीले के दरबार को देखनेवाले नवाब दरगाहकुली खां ने भी सितार की कोई चर्चा नहीं की है।

३—"हमें इस बात की मुस्तनद (प्रामाणिक) शहादत (साक्ष्य) मिलती है कि ग्यारहवीं सदी ईसवी के आग़ाज़ (आरंभ) में तबले का रिवाज यहाँ हो चुका था।" (पृ० १७७)

विद्वान् लेखक का कथन है कि हजरत अमीर खुसरो के जन्म से सैकड़ों वर्ष पहले तबला भारत में आ चुका था, इसके आविष्कार से हजरत अमीर खुसरो का कोई संबंध नहीं है। हम केवल इतना जानते हैं कि 'तब्ल:' फारसी शब्द है, परंतु मुगल सम्राट् शाह आलम तक के युग में हमें किसी तबला-वादक का नाम नहीं मिलता। हम लेखक से सहमत हैं कि हजरत अमीर खुसरो तबले के आविष्कारक नहीं। न तो वर्तमान 'सितार' अपने इस रूप में विदेश की देन है और न अपने वर्तमान रूप में तबला।

४—"ढोलक को भी किसी तरह से अमीर खुसरो की ईजाद नहीं कहा जा सकता। 'दुहल' फ़ारसी लफ्ज़ है काफ़ (क) तसग़ीर (लघुतावाचक प्रत्यय) की है। चुनाँचि दुहलाक या ढोलक दुहल की ही मुख्तलिफ़ शक्लें हैं।····इस साज़ का ज़िक्र उनकी अपनी तहरीरों (लेखों) में भी मिलता है, जो इस अम्र (तथ्य) का वाज़ै (स्पष्ट) सुबूत है कि ढोलक उनके ज़माने में भी मौजूद थी।" (पृ० १७७-१७८)

हमें लेखक के इस कथन पर कोई आपत्ति नहीं।

५—"हज़रत अमीर खुसरो के कलाम (उक्ति) से भी हमें इस (तालों के आविष्कार के) दावे के हक़ (पक्ष) में कोई शहादत (साक्ष्य) नहीं मिलती और न ही उनके हमअस्रों (समवर्तियों) में से किसी ने ऐसी किसी ताल का ज़िक्र किया है, जो उन्होंने ईजाद की हो।" (पृ० १८०-१८१)

इस संबंध में हमारा कोई मतभेद नहीं।

६—"क़व्वाली मूसिक़ी की सिन्फ़ (प्रकार, विधा) की हैसियत से हज़रत अमीर खुसरो से बहुत पहले हिंदुस्तान में पहुँच चुकी थी।" (पृ० १९५) "कव्वाली और तरान: दोनों हज़रत अमीर खुसरो से बहुत पहले की चीज़ें हैं····हम क़व्वाली को हरगिज अमीर खुसरो की ईजाद नहीं कह सकते।" (पृ० १९३)

हम जनाब रशीद साहब से यहाँ बिलकुल सहमत हैं कि हजरत अमीर खुसरो कव्वाली या तराने के आविष्कारक नहीं हैं, परंतु कव्वाली के न तो छंद भारत के लिए नए हैं न ताल। विषय भी भक्तिपरक है। लौकिक श्रृंगार से अध्यात्मपरक अर्थों की व्यंजना भी भारतीय शैली है। अमीर खुसरो से पूर्ववर्ती, परंतु उसी शताब्दी के जैन आचार्य पार्श्वदेव ने अपने इस प्रकार के गीतों की चर्चा इन शब्दों में की है:—

गूढार्थैः परमार्थैश्च संसार सुखमुख्यकैः।
पदैर्नियोजितं गीतमध्यात्मं योगिवल्लभम् ॥

अर्थात्—'अध्यात्मपरक ऐसा गीत योगिवल्लभ है, जिसमें ऐसे शब्दों की योजना हो, जो शब्द सांसारिक सुख का वर्णन प्रत्यक्षतया करते हों, परंतु जो गूढ़ार्थ और परमार्थबोधक हों।'

ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती अजमेरी उन भारतीय भजन-मंडलियों से प्रभावित हुए, जो लोक के लिए ऐसे गीत गाती थीं। परिणाम कव्वाली हुआ।

निस्संदेह 'तरानः' एक फारसी शब्द है, परंतु उसमें ताल, शुष्काक्षर और शुष्काक्षरों का प्रयोग सर्वथा भारतीय है। वस्तुतः वर्तमान तराने की विधा 'तेन्न-करण' नामक प्रबंध से प्रभावित है। बारहवीं शती के भारतीय ग्रंथकार हरिपाल (काल, ११७५ ई०) ने अपने ग्रंथ 'संगीतसुधाकर' में 'तेन्नकरणप्रबंध' की चर्चा इन शब्दों में की है:—

गीयते तेन्नकरणं स्वरैः धात्वोस्सतेन्नकैः।

जगदेकमल्ल भी अमीर खुसरो से पूर्ववर्ती हैं, वे कहते हैं:—

स्वरास्सतेन्नका यत्र दृश्यंते धातुयुग्मके।
तदुक्तं तेन्नकरणं चालुक्य पृथिवीभुजा। (भरतकोष, पृ० २५६)

पार्श्वदेव ने 'संगीतसमयसार' में जगदेक के शब्द उद्वृत किए हैं।

७—"क़ौल बतौर सिन्फ़ मूसिक़ी ग्यारहवीं सदी ई० से मक़बूल (लोकप्रिय) हो चुका था....मूसिक़ी की यह सिन्फ़ हज़रत अमीर खुसरो की विलादत (जन्म) से पेश्तर की है। चुनांचि यहाँ क़ौल भी था, क़व्वाली भी और उसके माहिरीन भी, जिनको क़व्वाल कहा जाता था। खुद हज़रत अमीर खुसरो ने भी मुहव्वलाबाला (पूर्वोद्धृत) 'एजाज़े खुसरवी' में ख्वाजः लतीफ क़व्वाल और शाबान क़व्वाल का ज़िक्र किया है। (पृ० १९६, १९७)

इस संबंध में जनाब रशीद अहमद साहब से हमारा कोई मतभेद नहीं।

८—"हम यह मानने पर मजबूर हैं कि एमन और फरोदस्त का हज़रत अमीर खुसरो से कोई तअल्लुक़ नहीं है।" (पृ० २१४)

यह सत्य है कि इनके आविष्कार का श्रेय हजरत अमीर खुसरो को नहीं दिया जा सकता। 'कल्याण' शब्द 'एमन' का अनुवाद है। रामामात्य और वेंकटमखी 'कल्याण' को तुरुष्कप्रिय, अधम और गीत-प्रबंध के लिए अयोग्य मानते हैं, परंतु एमन राग के प्रचलित रूप से उस कल्याण का चलन नहीं मिलता।

९—"हज़रत अमीर खुसरो ने 'एजाज़े-खुसरवी' में जहाँ बहुत-से ईरानी अरबी मूसिक़ी से मुतअल्लिक़ रागों का ज़िक्र किया है, वहाँ उन्होंने 'हिजाज' का बहैसियत एक मुकाम के ज़िक्र किया है।" (पृ० २२४)

"हमारी किताबों में सबसे पहले इसका ज़िक्र पंडित विद्यारानिया (विद्यारण्य) की किताब 'संगीतसार' में मिलता है।[1] (पृ० २२२)

"जंगूला का हज़रत अमीर ख़ुसरो से कोई तअल्लुक़ नहीं है।" (पृ० २२५)

"सरपरदा एक मुक़ाम है और यह भी 'एजाज़े ख़ुसरवी' में आता है। (पृ० २२५)

"साजगिरि ईरानी मूसिक़ी का एक पुराना 'लह्न' (टेर) है। हज़रत अमीर ख़ुसरो ने इसकी ईजाद का दावा किए बग़ैर दो जगह इसका इस्तेमाल किया है। (पृ० २२८)

"ग़ारा राग 'रागतरंगिणी' में अमीर ख़ुसरो से पहले का है। (पृ० २३१)

"यह (बहार) राग फ़ारसीउल् अस्ल (ईरान में उत्पन्न) है, हमने इसे ईरानी मूसिक़ी से लिया है। (पृ० २३४)

"राग मुजीर ईरानी मूसिक़ी से मुतअल्लिक़ है और मुक़ाम हुसेनी का एक शअबः है, 'एजाज़े ख़ुसरवी' में भी इसका ज़िक्र मिलता है।" (पृ० २३४)

"हज़रत अमीर ख़ुसरो भी राग बाखरज का कई बार ज़िक्र करते हैं—मगर कहीं उन्होंने इसकी ईजाद का दावा नहीं किया।" (पृ० २३५)

"फ़रग़ान: अमीर ख़ुसरो के यहाँ यह इन मानों में दो बार इस्तेमाल हुआ है ....लेकिन इसकी ईजाद का दावा भी नहीं किया गया है। (पृ० २३५)

अस्तु, रशीद अहमद साहब के अनुसार हज़रत अमीर ख़ुसरो किसी राग के आविष्कारक नहीं हैं।

९—"ख़याल हज़रत अमीर ख़ुसरो से पहले भी गाया जाता था, तक़रीबन् तमाम मुहक़्क़िक़ीन (शोधकर्ता) इस बात पर मुत्तफ़िक़ (सहमत) हैं कि यह सुलतान हुसेन शर्की वालिए (शासक) जौनपुर (राज्याभिषेक १४५२ ई०) की विसातत (माध्यम) से मक़बूल हुआ।" (पृ० २४०)

जनाब रशीद अहमद साहब से हम इस बात में सहमत हैं कि हज़रत अमीर ख़ुसरो ख़याल के आविष्कारक नहीं हैं। 'ख़याल' शब्द 'ध्यान' का पर्याय है। आरंभ में 'ख़याल' शब्द का संबंध गीत के विषय के साथ था, किसी गायकी के साथ नहीं। शाह बुरहानुद्दीन जानम (रचना-काल १५८२ ई०) ने जो 'ख़याल' लिखे हैं, उनमें बिरहिन की पीर है। ख़याल-गायकी का वर्तमान रूप पचास वर्ष पुराना भी नहीं है, इसमें तानों की भरमार बड़े मुहम्मद ख़ाँ की देन है, जिनकी नकल हद्दू ख़ाँ और हस्सू ख़ाँ ने की। भाषा, भाव और अर्थ की उपेक्षा करके किया जानेवाला कंठ-व्यायाम निरक्षर खोपड़ियों की उपज है।

---

१. विद्यारण्य की कृति 'संगीतसार' की 'चर्चा विद्यारण्यमतम्' के नाम से 'संगीतसुधा' में की गई है, 'संगीतसार' अब उपलब्ध नहीं है। विद्यारण्य के शिष्य और विजयनगर-साम्राज्य के संस्थापक हरिहर और बुक्क दिल्ली में क़ैद रहे थे। 'संगीतसार' के मेलकर्ता मुक़ाम-सिद्धांत से प्रभावित हैं।

१०—"हज़रत अमीर खुसरो को मूसिक़ी में बहुत दस्तरस हासिल थी, लेकिन इस अम्र की कहीं वज़ाहत नहीं मिलती कि वह कौन-सी मूसिक़ी थी ? क्या उनका इल्म सिर्फ़ मुक़ाम ईक़ाअ के निज़ाम तक महदूद था या वह बर्रे-आज़म (अविभाजित भारत) की मूसिक़ी पर भी इतनी ही गहरी नज़र रखते थे ? (पृ० २४६)""उनकी किताबों में जा-ब-जा उस मूसिक़ी का ज़िक्र आया है, जो मुक़ाम ईक़ाअ के निज़ाम से मुतअल्लिक़ है, दूसरे अलफ़ाज़ में वह सिर्फ़ उस मूसिक़ी का ज़िक्र करते हैं, जो अफ़गान और तुर्क हुक्मरान अपने हमराह लाए थे और जिस माहौल में हज़रत अमीर खुसरो रहते थे, वहाँ मफ़्तूह (पराजित) क़ौम की मूसिक़ी कभी बार (पहुँच) न पा सकी।" (पृ० २४६)

हम यहाँ तक तो जनाब रशीद अहमद साहब से सहमत हैं कि हजरत अमीर खुसरो ने 'एजाज़े खुसरवी' में भारतीय संगीत अथवा हिंदू संगीतकारों की चर्चा नहीं की, परंतु यह मानने में हमें संकोच है कि हजरत अमीर खुसरो भारतीय संगीत से अपरिचित थे या जो कलाकार उनके द्वारा चर्चा का विषय बने हैं, वे कहीं बाहर से आए थे। हम जनाब रशीद अहमद साहब से यहाँ भी सहमत हैं कि हजरत अमीर खुसरो को भारतीय संगीत के शास्त्रीय पक्ष पर अधिकार न था, परंतु उन-जैसा प्रतिभाशाली व्यक्ति लोक से दूर था या उस समय प्रचलित भारतीय संगीत से अपरिचित था यह बात मानने के लिए कोई भी प्रस्तुत न होगा।

उस समय के गोपाल नायक जैसे-गायक विदेशीय संगीत के सिद्धांतों से उतने ही अपरिचित थे, जितने कि हज़रत अमीर खुसरो ग्राम-मूर्च्छना-पद्धति से। अतः इन दोनों महापुरुषों को परस्पर परिचय से लाभ हुआ, वहाँ हार-जीत का प्रश्न ही नहीं था।

जनाब रशीद अहमद साहब का विचार है कि हज़रत अमीर खुसरो भारतीय संगीत को ईरानी या अरब संगीत की अपेक्षा घटिया समझते थे, हमें इस विषय में केवल इतना ही कहना है कि 'नुहसिपहर' में हज़रत अमीर खुसरो ने भारतीय संगीत को संसार में सर्वश्रेष्ठ कहा है और अरब का नाम लेकर वहाँ के संगीत को भारतीय संगीत की अपेक्षा घटिया बताया है।

रशीद अहमद साहब की पुस्तक में ३१९ पृष्ठ हैं, प्रस्तुत लेख का प्रयोजन उस समस्त पुस्तक की आलोचना नहीं, यहाँ तो केवल हज़रत अमीर खुसरो की संगीतज्ञता के संबंध में रशीद साहब के विचार प्रस्तुत करना ही लक्ष्य है।

भारतीय संगीत के इतिहास में हमें केवल एक व्यक्ति ऐसा मिलता है, जिसने मुसलमान होते हुए भी भारतीय संगीत-सिद्धांतों को गम्भीरतापूर्वक समझने की चेष्टा की, वह है बहादुर मलिक, जो बेचारा इब्राहीम शर्की के (कड़ा में) सूबेदार सुलतान मलिक का पुत्र था। 'संगीत शिरोमणि' नामक ग्रंथ की रचना कराने का श्रेय इसी को है।

रशीद अहमद साहब-जैसे विद्वान् लेखक इस ऐतिहासिक तथ्य को सर्वथा भूल जाते हैं कि विभिन्न युगों में हिंदू संगीतजीवी विभिन्न कारणों से मुसलमान हो गए,

इस धर्म-परिवर्तन से न तो उनका रक्त बदला और न उनका संगीत, हाँ, उनके अन्नदाता बदल गए।

होता यह है कि एक 'उस्ताद' होते हैं और एक 'प्रशंसक'। ये प्रशंसक महोदय 'उस्ताद' से जो कुछ सुनते हैं, लिख मारते हैं। संगीत का इतिहास बनने लगता है।

कुछ वर्गों में उत्पन्न लोगों का यह जन्मसिद्ध अधिकार है कि वे स्वयं को 'उस्ताद' कहलवाएँ। एक ऐसे ही 'उस्ताद' आजकल भी हैं, जो अपने विश्वास के अनुसार वैसे ही सितार बजाकर दिखाते हैं, जैसे कि हज़रत अमीर ख़ुसरो के सामने बजाया जाता था (!) इनके भक्तों की भी कमी नहीं है, जनाब रशीद अहमद साहब की पुस्तक इन उस्ताद साहब को पढ़ना चाहिए।

हम यह मानते हैं कि मेलकर्त्ता-पद्धति मुकाम-पद्धति का प्रसाद है, जिसमें 'ग्राम-नियम' नहीं है, परंतु 'आंजनेय'-जैसे आचार्य भी ग्राम-नियम-हीन स्वर-व्यवस्था को देशी रागों में मान्यता देते हैं और प्राचीन भारतीयों का विदेशों के साथ परिचय इस्लाम के जन्म से हज़ारों वर्ष पूर्व का है।

उपसंहार

जो लोग सितार को अमीर ख़ुसरो के मत्थे मढ़ देना चाहते हैं, उन्हें यह जानकर अत्यंत प्रसन्न होना चाहिए कि अचल सारिकायुक्त पूर्वोक्त 'बीन' का निर्माण दिल्ली में अमीर ख़ुसरो और गोपाल नायक के सम्मिलित प्रयत्न से हुआ।

अमीर ख़ुसरो की मृत्यु से केवल ग्यारह वर्ष पश्चात् हरिहर और बुक्क ने १३३६ ई० में विजयनगर-साम्राज्य की आधार-शिला रखी। ये दोनों भाई दिल्ली में बंदी रह चुके थे। इन्हीं दोनों भाइयों के गुरु विद्यारण्य जी ने इसी बीन के आधार पर प्रचलित पचास रागों का वर्गीकरण पंद्रह मेलों में किया।[1] बुक्क की मृत्यु १३७९ ई० से केवल इकहत्तर वर्ष पश्चात्, विजयनगर-सम्राट् देवराज द्वितीय के सभा-पंडित कल्लिनाथ ने अपने युग के विषय में जो-कुछ कहा है, उससे सिद्ध होता है कि उस समय समस्त दक्षिण-भारत में इस 'बीन' का प्रचार हो चुका था और 'संगीत-रत्नाकर' को समझनेवाले कल्लिनाथ-जैसे विरल व्यक्ति बच रहे थे।

कल्लिनाथ ने 'संगीत-रत्नाकर' की टीका १४४८ ई० में की है। इस समय प्रसिद्ध मेवाड़-नरेश महाराणा कुंभा अपना महान् ग्रंथ 'संगीतराज' लिख रहे थे। इसी समय इलाहाबाद के निकट कड़ा के सूबेदार का पुत्र बहादुर मलिक अनेक प्रतिष्ठित विद्वानों को एकत्र करके 'संगीत-शिरोमणि' जैसे महा ग्रंथ की रचना करा रहा था।

बाबर ने इब्राहीम लोदी को १५२६ ई० में पराजित किया, उसका एक कलाकार शैखी बचपन से ही बीन बजाने का अभ्यास करता चला आया था।[2] इसी युग में विजयनगर में बैठकर रामामात्य अपने ग्रंथ 'स्वरमेलकलानिधि' की रचना कर रहे थे।

---

१. 'संगीत-शास्त्र', लेखक—वासुदेव शास्त्री, पृष्ठ १४१-१५३, द्वितीय संस्करण।

२. 'मुसलमान और भारतीय संगीत', पृष्ठ ७०

अकबर (राज्य-काल १५५६-१६०५ ई०) के दरबार में शहाब खाँ और प्रबीन खाँ-जैसे बीनकार विद्यमान थे।

इस 'बीन' के साथ न जाने कैसे 'सरस्वती' और रुद्र का नाम जुड़ गया और मुसलमान लोग इस 'बीन' का साथ हिंदुओं से जोड़ बैठे। इस हालत में 'सितार' को 'पुराना मुसलमान' सिद्ध करना आवश्यक हो गया। फलतः अठारहवीं शती ईस्वी में बेचारे खुसरो खाँ के द्वारा आविष्कृत सितार को मुहम्मदकरम इमाम ने उन्नीसवीं शती में अमीर खुसरो के खाते में जमा कर दिया।

खुसरो निस्संदेह मुसलमान थे, परंतु वे हिंदुस्तानी सूफी थे, काजी या मौलवी नहीं। वे राजनीतिज्ञ थे, परंतु अपने पीर (दीक्षा-गुरु) शैख निजामुद्दीन चिश्ती के अनन्य भक्त थे, जिनका जन्म बदायूँ (उत्तर-प्रदेश) में हुआ था और जिन्होंने खुसरो को हिंदी में काव्य-रचना के लिए प्रेरणा दी थी। वे फारसी के महान् कवि थे, परंतु हिंदी-भाषा पर उनका अधिकार अधिक था। जो कठमुल्ला उन्हें 'मूर्तिपूजक' कहकर उनकी निंदा करते थे, उनसे वे कहते थे कि हाँ, मैं मूर्तिपूजक हूँ, मुझे संसार से कोई प्रयोजन नहीं।

'रंग' और 'बसंत'-जैसी भारतीय वस्तुओं को अमीर खुसरो ने सूफियों की चिश्ती-परंपरा में प्रचलित कर दिया। प्रत्येक वसंत-पंचमी को जिन अमीर खुसरो की कृपा से आज भी शैख निजामुद्दीन चिश्ती की दरगाह में 'वसंत' मनाया जाता है, उन्हें यदि औरंगजेब के लेखक फकीरुल्लाह ने औरंगजेबी ऐनक से देखकर अपने रंग में रँगा है, तो अमीर खुसरो का क्या अपराध है।

संगीत-जगत् के एक स्वर्गवासी कर्णधार का यह विश्वास था कि खुसरो जन्मना हिंदू थे और लोभ में आकर मुसलमान हो गए थे। ये महाशय एक अत्यंत प्रतिष्ठित संस्था के प्रिंसिपल थे और बी० ए० पास थे। ये खुसरो से संबद्ध इतिहास-ग्रंथ पढ़ने के लिए उद्यत ही न हुए। इनकी दृष्टि में यह असंभव था कि भारतीय संगीत-जगत् का खुसरो-जैसा युग-पुरुष जन्मना हिंदू न हो। यह सज्जन प्रत्येक प्रश्न का उत्तर देते थे—"संगीत परिवर्तनशील है।" परिवर्तनशील तो समस्त जगत् है, परंतु परिवर्तन की पृष्ठभूमि की प्रामाणिक खोज इतिहास का निर्माण करती और मानव के ज्ञान में वृद्धि करती है।

कुछ खाँ साहबों का यह विश्वास है कि हिंदुस्तानी संगीत का समस्त लालित्य अमीर खुसरो की देन है। ये सज्जन इतनी बात नहीं सोचते कि जिन आविष्कारों की जिम्मेदारी अमीर खुसरो पर थोपी जाती है, वे सब कालकवलित क्यों हो गए!

अमीर खुसरो के बाद भी संगीत के क्षेत्र में कुछ प्रतिभाशाली मुसलमान हुए हैं, क्या उन्होंने कुछ नहीं सोचा, उनकी संगति में रहनेवाले हिंदुओं में क्या चिंतन-शक्ति सर्वथा लुप्त थी!

खुसरो और गोपाल नायक-जैसी दो प्रतिभाओं का संपर्क संगीत-क्षेत्र की एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण घटना थी। क्या हम-सब के संतोष के लिए यह जान लेना पर्याप्त

संतोष का कारण नहीं कि एक हिंदू और मुसलमान-मनीषी के सहयोग ने हमें 'बीन' के रूप में एक ऐसा भारतीय वाद्य दिया, जो संपूर्ण देश में राग-वर्गीकरण का सर्वमान्य आधार हो गया।

आज संगीत उच्चतम परीक्षाओं का विषय हो गया है। संगीत में शोध-कार्य हो रहा है। हमारे संगीतज्ञ अपनी कला का प्रदर्शन करने के लिए विदेशों में जा ही नहीं रहे, वहाँ बस गए हैं। ये सब अच्छे लक्षण हैं।

यदि लोग इस तथ्य से परिचित हो जाएँ कि विक्रम की पाँचवीं शती (चौथी शती ईस्वी) में बारह हजार हिंदू गायक भारत से ईरान भेजे गए थे और वह बादशाह बहराम गोर का शासनकाल था[1], तो कोई हानि नहीं है। यदि संगीतज्ञ सज्जन भी इस तथ्य से परिचित हो जाएँ कि भारतीयों की पुरानी संगीत-लिपि संसार में प्राचीनतम है[2], जो भारत से ईरान में, ईरान से अरब में और वहाँ से ग्यारहवीं शती ईस्वी में गाइडो डी अरेज़ो के द्वारा योरोप में पहुँची, तो उनके सुरीलेपन में कोई कमी न आएगी।[3] अमीर खुसरो इस प्रकार के तथ्यों से परिचित थे, इसी लिए उन्होंने कहा है कि चिर अतीत से लोग भारत में संगीत सीखने आते रहे हैं।

---

१. 'राजपूताने का इतिहास', जिल्द १, पृष्ठ २९–३०

२. 'शार्ट अकाउंट आफ दी हिंदू सिस्टम्स ऑव् म्यूजिक', पृष्ठ ५ लेखक—एनी विल्सन

३. 'इंडियन गैजेटियर', इंडिया, पृष्ठ २२३ लेखक—विलियम हंटर

वेंकटमखी का सम्प्रदाय

भगवान् का परम अनुग्रह है कि पढ़े-लिखे दाक्षिणात्य सज्जन भी अब यह मानने लगे हैं कि रामामात्य, रघुनाथ और वेंकटमखी का—तथाकथित शुद्ध—मुखारी मेल सर्वथा अवैदिक है[1] और उसका संबंध भरत, मतंग और शार्ङ्गदेव की वैदिक परंपरा से नहीं है। साथ-ही-साथ यह भी सिद्ध हो चुका है कि वागीश्वरी में प्रयुज्यमान स्वरावलि ही वह षड्जग्रामीय मूल सप्तक है, जो षड्जग्रामीय अन्य मूर्च्छनाओं का आश्रय है और जिसके गांधार को दो श्रुति चढ़ाकर धैवत का संवादी बना देने से षड्जग्राम की षड्जादि मूर्च्छना ही मध्यमग्रामीय मध्यमादि मूर्च्छना में बदल जाती है और अवशिष्ट मध्यमग्रामीय मूर्च्छनाओं का आश्रय बनती है।[2]

उपर्युक्त तथ्य के निर्भ्रांत और प्रामाणिक होने पर भी कुछ सज्जनों के द्वारा यह निरंतर कहा जा रहा है कि दक्षिण-भारत का संगीत पारंपरिक है और उत्तर-भारत के संगीत में मुसलमानों के संपर्क से विकृति आ चुकी है।[3] 'दयनीय' वर्ग में स्व० भातखंडेजी की परंपरा के श्रद्धालु सज्जन आते हैं और 'चिंतनीय' वर्ग में वे महात्मा हैं, जिनसे परिचित होने का सौभाग्य देववाणी को प्राप्त नहीं हुआ है, परंतु जिनके तिलकयुक्त भाल और वेशभूषा से भ्रम होता है कि वे संस्कृतज्ञ हैं। उनकी गणना भी इसी वर्ग में की जाएगी, जिन्होंने संस्कृत-इंगलिश-कोष की सहायता से संस्कृत का कामचलाऊ ज्ञान प्राप्त किया है, जिन्हें प्रकृति-प्रत्यय का ज्ञान नहीं है और जो पारिभाषिक शब्दों की अन्वर्थता पर विचार नहीं करते।

दाक्षिणात्यों के मुखारी का मूल

मेलवादी और ठाठवादी प्रमाण-श्रुति के सूक्ष्म अंतर की उपेक्षा करके मंद्र, मध्य और तार-स्थान में बारह-बारह स्थिर ध्वनियाँ मानते हैं। उत्तर-भारत में इन ध्वनियों की संज्ञाएँ पृथक् हैं और दक्षिण-भारत में पृथक्। वास्तव में मुसलमानों के द्वारा स्वीकृत बारह ध्वनियों का नामकरण, भारतीय संज्ञाओं में कुछ परिवर्तन-परिवर्द्धन करके, उत्तर-भारत और दक्षिण-भारत में पृथक्-पृथक् किया गया। इस पार्थक्य का कारण मुसलमानों के 'मुकाम-सिद्धांत' के अनुसार प्रतिपादित बारह ध्वनियों पर, शार्ङ्गदेव की स्वर-संज्ञाओं का, दाक्षिणात्य वैणिकों द्वारा बलात् आरोप है। इस कृत्य से ही ग्रंथ-चुंबी सज्जनों को शताब्दियों से यह भ्रम होता रहा है कि दाक्षिणात्यों की परंपरा आचार्य शार्ङ्गदेव से सम्बद्ध है।

भारतीय स्वर-शास्त्र पर मुसलमानों का यह घातक प्रभाव पड़ा, परंतु बैजू, तानसेन और सदारंग तक भारतीय रक्त के मुस्लिम गुणी मूर्च्छना-सिद्धांत को समझते

---

१. टी० आर० श्रीनिवास आयंगर, 'संग्रहचूड़ामणि', भूमिका, पृष्ठ १२–१३

२. वही, पृष्ठ ८–९

३. संस्मारिका, १९६७, साम्बमूर्ति, पृ० ५७, अखिल-भारतीय संगीत-शिक्षक-परिषद्, छठा अधिवेशन, हैदराबाद

रहे और स्वरों की मूर्च्छनानुसारिणी संज्ञाओं को 'गुपत (गुप्त) स्वर' और मेलानुसारिणी संज्ञाओं को 'प्रकट स्वर' कहते रहे, परंतु दाक्षिणात्य वैणिक 'तत्त्व' से दूर जा पड़े, क्योंकि उन्होंने मुस्लिम स्वर-संज्ञाओं पर शार्ङ्गदेव की स्वर-संज्ञाओं का आरोप बिना सोचे-समझे किया था और स्वाभाविक असंगति को हटाने के लिए 'वराली-मध्यम' जैसी स्वर-संज्ञाएँ गढ़ी थीं, जिनमें 'मध्यमत्व' का सर्वथा अभाव था।

प्रमाण-श्रुति जैसे सूक्ष्म, परंतु परमोपयोगी अंतराल का ज्ञान समस्त विश्व को भारत की ही देन है। षड्ज और पंचम को अचल मानने का अर्थ 'प्रमाण-श्रुति' के अस्तित्व की अस्वीकृति और वेद-मूलक ग्राम-मूर्च्छना-सिद्धांत का तर्पण है। मुसलमानों के संपर्क से यही हुआ और दाक्षिणात्य शास्त्रकार (!) अपने 'वराली-मध्यम' को भरत का मध्यमग्रामीय अथवा च्युत पंचम समझ बैठे। उत्तर-भारत की परंपरा ने यह भद्दी भूल कभी नहीं की। वराली-मध्यम और पंचम का अंतर तो भरत के धैवत और निषाद के अंतराल के समान द्विश्रुतिक है।

अस्तु, वागीश्वरी में प्रयुज्यमान स्वरों के रे, ग॒, ध, नि भीमपलासी के इन स्वरों से एक-एक 'प्रमाण-श्रुति' उतरे हुए हैं। इस सूक्ष्म अंतराल की उपेक्षा करके मेलवादी और ठाठ-भक्त वागीश्वरी और भीमपलासी को एक ही ठाठ में ठूँस देते हैं, परंतु क्रिया-कुशल उत्तर-भारतीय गुणियों की परंपरा वागीश्वरी गाते समय तानपूरे के वाम-पार्श्व का तार 'मध्यम' में मिलाती है और भीमपलासी गाते समय पंचम में। भले ही वे आज इसके कारण का स्पष्टीकरण न कर सकें, परंतु उनकी इस क्रिया में 'सप्त गुप्त' और 'सप्त प्रकट' का तत्त्व समझनेवाले गुणियों का विधान है।

वास्तविक बात यह है कि दाक्षिणात्यों का 'हरप्रिया मेल' या स्व० भातखंडे का 'काफी ठाठ' मध्यमग्राम की ऋषभादि साधारणी मूर्च्छना है। स्थिति इस प्रकार है:—

मूर्च्छना के स्वर :	रे	ग	म	प	ध	नि	सा	(रे)
ठाठ या मेल के स्वर :	सा	रे	ग॒	म	प	ध	नि॒	सा
स्वरों के पारस्परिक अंतराल श्रुतियों में :	०	४	२	३	४	४	२	३
अंतराल सेवर्टों में :	०	५१	२८	४६	५१	५१	२८	४६
आरंभक स्वर से अंतराल श्रुतियों में :	०	४	६	९	१३	१७	१९	२२
आरंभक स्वर से अंतराल सेवर्टों में :	०	५१	७९	१२५	१७६	२२७	२५५	३०१

भारतीय मुसलमानों ने एक समझौता किया था। मुकाम-सिद्धांत की बारह ध्वनियों में पहली ध्वनि को उन्होंने 'सा' और उसकी संवादिनी आठवीं ध्वनि को 'प' कहा। दूसरी ध्वनि को 'उतरी ऋषभ', तीसरी ध्वनि को 'चढ़ी ऋषभ', चौथी ध्वनि को 'उतरी गंधार', पाँचवीं को 'चढ़ी गंधार', छठी को 'उतरी मध्यम', सातवीं को 'चढ़ी मध्यम', आठवीं को 'पंचम', नवीं को 'उतरी धैवत', दसवीं को 'चढ़ी धैवत', ग्यारहवीं को 'उतरी निषाद' और बारहवीं को 'चढ़ी निषाद' कह दिया। इस प्रकार 'सा' और 'प' अचल और ऋषभ, गांधार, मध्यम, धैवत और निषाद के दो-दो प्रकार हो गए।

ठाठ लौटना

किसी ठाठ के चढ़े स्वरों को 'उतारना' और उतरे स्वरों को 'चढ़ाना' भी नवीन सप्तक की प्राप्ति का उपाय माना गया। अठारहवीं शती में दक्षिण में यह क्रिया 'स्वर-व्यत्यास' या 'मेलभेदन' कहलाई। इसी उपाय को उत्तर-भारत में 'ठाठ लौटना' कहा गया।

काफी ठाठ से पूरबी ठाठ की प्राप्ति

काफी ठाठ को उलटकर पूरबी ठाठ की प्राप्ति यों की गई :—

काफी ठाठ :	सा	रे	ग॒	म	प	ध	नि॒	सां
पूरबी ठाठ :	सा	रे॒	ग	मॅ	प	ध॒	नि	सां

फलतः 'श्री' और 'वसंत' जैसे राग काफी ठाठ से पूरबी ठाठ में चले आए।

पूरबी ठाठ से मुखारी मेल का जन्म

पूरबी ठाठ के निषाद की मूर्च्छना मुखारी मेल की जननी है :—

पूरबी की निषादादि मूर्च्छना :	नि	सा	रे॒	ग	मॅ	प	ध॒	नि
मुखारी मेल के स्वरों की उत्तर-भारतीय स्वर-संज्ञाएँ :	सा	रे॒	रे	म	प	ध॒	ध	सां

इस क्रिया को सदारंग-परंपरा में 'सुरभेद' और दक्षिण में 'श्रुतीकरण' कहा गया।

यह काफी ठाठ से पूरबी और उससे मुखारी की उत्पत्ति का इतिहास है। भरत, मतंग की किसी भी मूर्च्छना से पूरबी या मुखारी की उत्पत्ति असंभव है।

काफी ठाठ से भैरव ठाठ या मालवगौड मेल

काफी ठाठ के ऋषभ-धैवत को उतारने और गांधार-निषाद को चढ़ाने से भैरव ठाठ उत्पन्न होता है। मुसलमानों द्वारा प्रवर्तित 'इंद्रप्रस्थ-मत' में इस ठाठ का राग 'भैरव' सब रागों में प्रथम राग कहलाया। मुसलमानों के प्रभाव से यह ठाठ विजयनगर पहुँचा और सोलहवीं शती में पुरंदरदास के युग से कर्नाटक की राग-शिक्षा का प्रमुख आधार बन गया।

भैरव से सिंहेंद्र-मध्यम

भैरव के मध्यम की मूर्च्छना से सिंहेंद्र-मध्यम की सृष्टि होती है, जो वेंकटमखी का सत्तावनवाँ मेलकर्ता है। स्थिति यों है :—

भैरव ठाठ की मध्यमादि मूर्च्छना :	म	प	ध॒	नि	सा	रे॒	ग	(म)
सिंहेंद्रमध्यम के स्वर :	सा	रे	ग॒	मॅ	प	ध॒	नि	(सां)

भैरव से रसिकप्रिया

भैरव ठाठ की ऋषभादि मूर्च्छना से बहत्तरवें मेलकर्ता रसिकप्रिया का विकास हुआ :—

रे॒	ग	म	प	ध॒	नि॒	सां	(रें॒)
सा	ग॒	ग	मॅ	प	नि॒	नि	(सां)

आधुनिक भैरव ठाठ का दर्शन 'रत्नाकर' में प्रलय-काल तक न होगा, क्योंकि भरत या शार्ङ्गदेव के सम्प्रदाय में दो क्रम-प्राप्त स्वरों का अंतराल अधिक-से-अधिक 'उदात्त' या 'चतु:श्रुतिक' होता है। 'रे ग', 'ध नि' या 'ग मं' जैसे अंतराल को एक स्वर का अंतराल किसी भी वेदमूलक परंपरा में नहीं माना जा सकता।

आसावरी से मारवा

'स्वर-व्यत्यास' या 'ठाठ लौटने की प्रक्रिया' से आसावरी ठाठ मारवा ठाठ को जन्म देता है।

आसावरी :	सा	रे	ग	म	प	ध	नि	सां
मारवा :	सा	रे	ग	मं	प	ध	नि	सां

मारवा से झंकारध्वनि

मारवा ठाठ की गांधारादि मूर्च्छना से उन्नीसवाँ मेलकर्ता झंकारध्वनि इस प्रकार उत्पन्न होता है :—

मारवा की गांधारादि मूर्च्छना :	ग	मं	प	ध	नि	सां	रें	गं
झंकारध्वनि :	सा	रे	ग	म	प	ध	ध	सां

खमाज ठाठ से तोड़ी ठाठ

स्वर-व्यत्यास करके, अर्थात् ठाठ लौटने से, खमाज ठाठ के स्वर इस प्रकार तोड़ी ठाठ या पंतुवराली मेल में बदल जाते हैं :—

खमाज ठाठ :	सा	रे	ग	म	प	ध	नि	सां
तोड़ी ठाठ :	सा	रे	ग	मं	प	ध	नि	सां

तोड़ी के उत्तर-भारतीय रूप अर्थात् दाक्षिणात्य पंतुवराली को वेंकटमखी ने तुरुष्कों को अति प्रिय कहा है।[1]

तोड़ी से चलनाट

तोड़ी ठाठ के धैवत की मूर्च्छना से छत्तीसवें मेलकर्ता चलनाट का जन्म होता है, जो तथाकथित विद्यारण्य-मत का आदिम मेल है :—

तोड़ी के धैवत की मूर्च्छना :	ध	नि	सा	रे	ग	मं	प	(ध)
चलनाट के स्वर :	सा	ग	ग	म	प	नि	नि	(सां)

इस प्रकार हम देखते हैं कि भैरव ठाठ या मालवगौड मेल, तोड़ी ठाठ या पंतुवराली मेल, पूर्वी ठाठ या कामवर्धनी मेल और मारवा ठाठ या गमनश्रम मेल का मूल भरत और शार्ङ्गदेव की परंपरा में न होकर मुसलमानों द्वारा प्रवर्तित 'इंद्रप्रस्थ-मत' की परंपरा में है और जो अभारतीय मुकाम-सिद्धांत का हिंदुस्तानी रूप है। 'मुकाम-सिद्धांत' को लोचन ने 'संस्थान-पद्धति' कहा है, 'मुकाम' और 'संस्थान' पर्यायवाची शब्द हैं।

---

१. 'चतुर्दंडिप्रकाशिका', राग-प्रकरण, श्लोक १०८

मुस्लिम-प्रभाव से दाक्षिणात्यों के दृष्टिकोण में परिवर्तन

भारतीय आर्ष सिद्धांत का आधार 'सप्तक' है। 'मध्यम' का मध्यमत्व सप्तक में ही संभव है, अष्टक में नहीं। मंद्र, मध्य और तार-स्थान में एक-एक सप्तक की व्याप्ति होती है। 'सारेगमपधनिसां' में अंतिम स्वर, आदिम स्वर का ही अग्रिमस्थानीय रूप है, परंतु 'अष्टक' में वह अनिवार्यतः आता है। अष्टक या 'ऑक्टेव' की कल्पना अभारतीय है और अष्टक-संबंधी विचार-सरणि भारतीय ग्राम-मूर्च्छना-सिद्धांत से सर्वथा पृथक् है।

ग्राम-मूर्च्छना-पद्धति में संपूर्ण राग सात स्वरों का होता है, परंतु अष्टकवादी वेंकटमखी कहता है कि संपूर्ण राग में आठ स्वर होते हैं। 'षाडव' शब्द का अर्थ ही 'षट्' (छह) स्वरों का 'अवन' (धारण) करनेवाला राग है, परंतु वेंकटमखी अग्रिम-स्थानीय 'सा' की भी गणना करके कहता है कि 'षाडव' रागों में सात स्वर होते हैं। 'उडु' (नक्षत्र) जिसमें 'वान' (गमन) करते हैं, वह 'उडुव' (आकाश) कहलाता है। पंच महाभूतों में आकाश पाँचवाँ है, इसलिए 'उडुव' शब्द 'पाँच' संख्या का बोधक है। जिन रागों में पाँच स्वर होते हैं, वे 'औडुव' कहलाते हैं, परंतु वेंकटमखी कहता है कि औडुव राग में छह स्वर होते हैं।[1]

बड़ी मनोरंजक बात यह है कि कुछ लोग शब्दों की अन्वर्थता के परम शत्रु वेंकटमखी को कर्नाटक-संगीत का पाणिनि (!) कहते हैं।[2]

रामामात्य ने शार्ङ्गदेव को ठीक समझे बिना 'रत्नाकर' की स्वर-संज्ञाओं का आरोप एक 'स्थान' में विदेशियों द्वारा स्थापित बारह ध्वनियों पर कर डाला, रघुनाथ ने 'सप्ताध्यायी' (संगीत-रत्नाकर) को अबोध्य और अस्पष्ट कहकर कल्लिनाथ और केशव-जैसे टीकाकारों का उपहास किया, सोमनाथ ने प्राचीन ग्रंथों के आशय को अनवबोध्य कहा। कारण यही था कि इन सभी वैणिकों में मेलों की दृष्टि से राग-वर्गीकरण का मोह मुकाम-पद्धति के प्रभाव से आ गया था और प्राचीनों के पारिभाषिक शब्दों की अन्वर्थता पर ध्यान देना इन सभी ने छोड़ दिया था। इनमें से किसी के पास स्वरों की 'शुद्धता' की कोई परिभाषा न थी, ये 'मुखारी' की वाहियात स्वरावलि को भरत और शार्ङ्गदेव के शुद्ध स्वर अकारण मानने लगे थे, जो काफी ठाठ से स्वर-व्यत्यास द्वारा प्राप्त पूर्वी ठाठ की निषादादि मूर्च्छना था।

वेंकटमखी के परम गुरु तानप्पा

वेंकटमखी ने कहा है—"धीमान् शार्ङ्गदेव ने 'रत्नाकर' ग्रंथ में दो सौ चौंसठ रागों का वर्णन किया है, परंतु लक्ष्यमार्ग में उनका दर्शन कहीं नहीं होता, अतएव

---

१. भवन्त्यष्टौ स्वरा रागे सम्पूर्णे, सप्तषाडवे।
औडुवे षट्..............................॥ 'चतुर्दंडिप्रकाशिका', आलाप-प्रकरण, श्लोक १३

२. 'चतुर्दंडिप्रकाशिका' की अँग्रेजी-भूमिका, पृष्ठ ४

उनकी अप्रसिद्धि के कारण मैं अपने परमाचार्य तानप्पाचार्य के द्वारा समुद्धृत और लक्ष्यलक्षणसम्मत रागों का निरूपण करूँगा ।[1]

वेंकटमखी का कथन है, "मैंने इस प्रकार पचपन रागों का स्पष्टीकरण किया है, इनमें गीतों, ठायों और प्रबंधों का प्रवर्तन आर्य तानप्पा ने किया है ।[2] मेरे द्वारा किया हुआ आलाप-लक्षण तानप्पा-कृत पचपन रागों में लक्षित करना चाहिए ।[3] मेरे परम गुरु आचार्य शेखर तानप्पा ने लक्ष्य के अनुसार इन-सब रागों के ठायों की कल्पना की है ।[4]

वेंकटमखी के गुरु तानप्पा थे । वे एक विशिष्ट संप्रदाय के प्रवर्तक थे । अपने युग के 'रामामात्य' इत्यादि से उनका तीव्र मतभेद था; राग-वर्गीकरण की उनकी दृष्टि अलग थी । वेंकटमखी के पिता गोविंद दीक्षित का संप्रदाय तानप्पा के संप्रदाय से भिन्न था । वेंकटमखी अपने पिता का अनुयायी न होकर तानप्पा-संप्रदाय का अनुवर्ती था । तानप्पा ने प्रचलित पचपन रागों में आलाप, गीत, ठाय और प्रबंध का प्रवर्तन किया था । वेंकटमखी की उक्तियों से यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है । अनेक स्थलों पर अपने पिता से वेंकटमखी का वैसा ही मतभेद है, जैसा रामामात्य के साथ है । अंतर इतना है कि रामामात्य बेचारे को तो वेंकटमखी ने खुलकर गालियाँ दी हैं, परंतु अपने पिता को मौन अंगीकृत करके बख्श दिया है ।

तानप्पा-संप्रदाय पर मुस्लिम-प्रभाव

वेंकटमखी का कथन है कि 'देश अनंत हैं और उनमें स्थित मानव भी अनंत हैं । उनमें घटिया-बढ़िया संगीतज्ञों के द्वारा कल्पित, कल्प्यमान और कल्पयिष्यमाण राग हैं ।[5] इस वक्तव्य का यह स्पष्ट अर्थ है कि वेंकटमखी की ज्ञान-परिधि में अनेक राग ऐसे थे, जिनका मूल अभारतीय था और उनके सामने भी अभारतीय विधि से

---

१. तत्र रत्नाकरग्रंथे शार्ङ्गदेवेन धीमता । चतुःषष्टयधिकं रागशतद्वयमुदीरितम् ।
लक्ष्यन्ते ते न कुत्रापि लक्ष्यवर्त्मनि सम्प्रति । ततः प्रसिद्धिवैधुर्यात्त्यक्त्वा रागांस्तु तान् पुनः ॥
सर्वत्रलक्ष्यमार्गेऽत्र सम्प्रति प्रचरन्ति ये । तानस्मत्परमाचार्यतानप्पार्यसमुद्धृतान् ॥
रागान्निरूपयिष्यामि लक्ष्यलक्षणसम्मतान् । —चतुर्दंडिप्रकाशिका,राग-प्रकरण, श्लोक २३–२६

२. लक्षिताः पंचपंचाशदिति रागाः स्फुट मया । गीतठायप्रबंधा हि तानप्पार्यै. प्रवर्तिताः ॥
—चतु० प्र०, राग-प्रकरण, श्लोक १०५

३. तानप्पाकृतपंचाशद्रागालापेषु मत्कृतम् । आलापलक्षणमिदं लक्ष्यतां लक्ष्यकोविदैः ॥
—चतु० प्र०, आलाप-प्रकरण, श्लोक ३२

४. परमो गुरुरस्माकं तानप्पाचार्यशेखरः । सर्वेषामपि रागाणामेतल्लक्ष्मानुसारतः ॥
ठायान् प्रकल्पयामास लक्ष्यमस्य तदेव सः । —चतु० प्र०, ठाय-प्रकरण, श्लोक ७

५. अनन्ताः खलु देशास्तद्देशस्था अपि मानवाः । तेषु सांगीतिकैरुच्चावचसंगीतकोविदैः ॥
ये कल्पयिष्यमाणाश्चकल्प्यमानाश्चकल्पिता । अस्मदादिभिरज्ञाता ये च शास्त्रैकगोचराः ॥
ये च देशीयरागास्तद्रागसामान्यमेलकाः । येन पन्तुवराल्याख्यकल्याणिप्रमुखा अपि नानादेशीय रागाः....॥
—चतु० प्र०, मेल-प्रकरण, श्लोक ८२–८५

रागों की सृष्टि हो रही थी। ये अभारतीय विधि मुसलमानों की ही थी, जो कर्णाट-संगीत में घुल-मिल गई थी। बहत्तर मेलकर्ताओं की योजना उसने अपनी दृष्टि से समस्त संभव रागों का वर्गीकरण करने के लिए की है।

वेंकटमखी का यह स्पष्ट कथन है कि गायक कर्णाट-पदों (कन्नड़ भाषा की बंदिशों), आंध्र-पदों (तेलगू भाषा की बंदिशों) और तुरुष्क-पदों (मुसलमानों द्वारा व्यवहृत दक्खिनी हिंदी की बंदिशों) के गान में तार-स्थान के ऋषभ-गांधार का प्रयोग करते हैं।[१] इस वक्तव्य का स्पष्ट अर्थ यह है कि कर्णाटपदों, आंध्र-पदों और तुरुष्क पदों के गायक एक ही संप्रदाय के थे और उनके गान की शैली सदृश थी। विजयनगर-साम्राज्य का पतन होने पर वहाँ के कुछ कलाकार तंजोर गए और कुछ ने बीजापुर-दरबार का आश्रय लिया। इब्राहीमअली आदिलशाह द्वितीय बीजापुर-सुलतान की सांगीतिक रचनाएँ दक्खिनी हिंदी में हैं, जो 'संगीत-नाटक-अकादमी' द्वारा प्रकाशित, उसके ग्रंथ 'किताबे-नवरस' में संगृहीत हैं।

कल्याणी और पंतुवराली-जैसे रागों को वेंकटमखी ने अभारतीय रागों में गिनाया है और इन्हें 'तुरुष्कप्रिय' कहा है। इन दोनों शब्दों पर तनिक ध्यान देना चाहिए।

'ऐमन' अरबी शब्द है, इसका अर्थ 'कल्याणमय' होता है। 'कल्याणिन्' शब्द 'ऐमन' का ठीक-ठीक संस्कृत-रूपांतर है। षड्जग्रामीय गांधारादि शुद्ध मूर्च्छना हमें ऐमन की ही स्वरावलि देती है। मुसलमानों के प्रभाव के कारण 'कल्याणी' (कल्याण) को प्रमुखता प्राप्त हुई, इसी लिए वेंकटमखी ने कल्याणी (कल्याणिन्) को तुरुष्कप्रिय कहा है।

'पंतु' शब्द 'पंडित' का अपभ्रंश है, मराठी और कुमायूँनी में यही शब्द 'पंत' है। 'पंतुवराली' का अर्थ पंडितों (मुस्लिम-पंडितों) की वराली होता है। खमाज ठाठ को मुस्लिम-स्वरव्यत्यास-विधि से उलटकर पंतुवराली की प्राप्ति होती है, इसी लिए वेंकटमखी ने पंतुवराली को भी तुरुष्कप्रिय कहा है।

वेंकटमखी से कुछ ही पहले सोमनाथ ने 'राग-विबोध' में स्पष्ट कहा है कि परद (परद देश, फारस) के बारह राग प्रचलित हैं। हुसेनी और तोड़ी, जुलुफ और भैरव, मुसली (बूसलीक ?) और रामक्रिया, उज्ज्वल और आसावरी, नवरोज और विहंगड़, बाखरेज और देशकार, हिजेज और सैंधवी, पंचग्रह और कल्याणयवन, पुष्क और देवक्री, सरपर्दा और वेलावली, कर्णाट और इराख में समच्छायता है।[२]

वास्तविकता यह है कि भारतीय मुसलमानों और उनसे प्रभावित अन्य हिंदू कलाकारों ने अभारतीय विधि से विभिन्न ठाठों के स्वरों की संसृष्टि करके नवीन रागों का निर्माण किया था, परंतु नाम उन्हें भारतीय दिए थे। खुसरो, हुसेनशाह शर्की,

---

१. कर्णाटान्ध्रतुरुष्कादिपदगनिषु संग्रहम्। तारस्थानरिगादीनां कुर्वते खलु गायकाः।
—चतु० प्र०, वीणा-प्रकरण, श्लोक १५०-१५१

२. 'राग-विबोध', तृतीय विवेक, श्लोक ५६-५७ की वृत्ति

तानसेन, रामदास इत्यादि गुणियों ने जिन संसृष्ट रागों का निर्माण किया, उनका मूल 'बृहद्देशी', 'रत्नाकर' या 'संगीतराज' में नहीं मिलेगा। भैरव ठाठ, पूर्वी ठाठ, मारवा ठाठ और तोड़ी ठाठ में जिन प्रचलित रागों को वर्गीकृत किया जाता है, भले ही उनके नाम भारतीय भाषाओं के हों, उनका मूल मुक़ाम-पद्धति में है।

जो सज्जन मेल-सिद्धांत का उद्भावक दाक्षिणात्यों को मानते हैं, उनके पास अपने पक्ष के समर्थन के लिए कोई तर्क नहीं है।

सोमनाथ ने स्पष्ट कहा है कि मेलों की अभिव्यक्ति वीणा से होती है। वे स्वरसंस्थानविशेष 'मेल' हैं, जिनमें राग मिलते (प्राप्त होते) या वर्गीकृत होते हैं। भाषा में उन्हें थाट (ठाठ) कहा जाता है।[1] अचल सारिकावाली अखिल-राग-मेला वीणा के ठाठ को सोमनाथ ने 'वज्र थाट' (अचल ठाठ) कहा है।[2]

सोमनाथ ने 'मुकाम' के पर्याय 'संस्थान', 'थाट' और 'मेल' का प्रयोग करके स्थिति स्पष्ट कर दी है।

इस प्रकार यह स्वतः सिद्ध है कि ठाठ-पद्धति या मेल-सम्प्रदाय मुस्लिम-प्रभाव का परिणाम है।

दिल्ली भारत की राजधानी थी। दिल्ली-दरबार में होनेवाले परिवर्तनों का प्रभाव देश-भर में पड़ता था।

मध्य-युग के सभी वैणिकों ने एक स्वर से यह घोषित कर डाला कि उनके युग में केवल षड्ज-ग्राम रह गया है। मनोरंजक बात यह है कि इन लोगों के तथा-कथित षड्ज-ग्राम का कोई लक्षण नहीं है और भरत, मतंग, शार्ङ्गदेव द्वारा षड्ज-ग्रामीय मूल मूर्च्छना का जो लक्षण बताया गया है, वह इनके किसी मेल या ठाठ में घटित नहीं होता।

भरत का कथन है कि षड्ज और मध्यम के पारस्परिक अंतराल के समान ही मध्यम और निषाद का पारस्परिक अंतराल है। षड्ज-ग्राम के षड्ज-मध्यम ही मध्यम-ग्राम के मध्यम और निषाद हो जाते हैं। मध्यम जब तक सप्तक के आदिम और अंतिम स्वर के ठीक मध्य में नहीं होगा, उसकी संज्ञा ही 'मध्यम' न होगी। दाक्षिणात्यों के किसी मेल में षड्ज-मध्यम और मध्यम-निषाद का अंतर समान नहीं है। भरत के गांधार-मध्यम, मध्यम-पंचम और निषाद-षड्ज में सदृश दूरी है। दाक्षिणात्य वैणिकों के किसी मेल में यह विशेषता नहीं है। पुंडरीक, श्रीकंठ, अहोबल, श्रीनिवास, रामामात्य, सोमनाथ, वेंकटमखी, भातखंडे, सभी इस श्रेणी में आते हैं।

---

१. एव श्रुतिस्वरादिनिरूपणानंतरं रागाणां निरूपणस्यावसरः प्राप्तः। ते तु मेलैः प्रकाश्यंते, मेलाश्च वीणया अभिव्यंज्यते····मिलन्ति वर्गीभवंति रागा येष्विति तदाश्रया स्वरसंस्थानविशेषाः, 'थाट' इति भाषायाम्। ('राग-विबोध', द्वितीय विवेक, प्रथम श्लोक की वृत्ति)

२. वही, द्वितीय विवेक, १५–१६ श्लोक की वृत्ति।

तानप्पा के गाँव, प्रदेश, वंश इत्यादि के विषय में दाक्षिणात्य सज्जन मूक हैं। संभवतः ये कोई उत्तर-भारतीय आचार्य हों। कुछ लोगों का अनुमान है कि वे 'तानसेन' थे और कुछ लोगों का अनुमान है कि ये भावभट्ट के दादा 'तानभट्ट' थे।

तानसेन का एक रहस्यगर्भ ध्रुवपद यों मिलता है :—

धैवत, पंचम, मधिम, गांधार, रिखब, खरज, सुर साधि साधि साधि गुनी निषाद रे।
तेरौ अलंकार, बाईस श्रुति साधि बाद उचारि सारेगमपधनिसा सुघर सानिधनिधपमगरे।
त्रिविध त्रिविध सुरनि मधि तृतीय तृतीय तृतीय रे वितंत जानत विदमान सप्त सुर तीनि
ग्राम इकईस मूरछिना छत्तीस भेद नादवाद तानसेन विधान रे।

इस ध्रुवपद में तानसेन ने कहा है कि क्रमशः धैवत, पंचम, मध्यम, गांधार, ऋषभ, षड्ज और निषाद की साधना कर। इस आधार पर तेरहों अलंकारों और बाईसों श्रुतियों की साधना कर। इतना करने के पश्चात् पूर्वोक्त स्वरों को आरोह-क्रम से सारेगमपधनि कह। अर्थात् प्राचीनों के ध, प, म, ग़, रे, सा, त्रि ही आरोह-क्रम में अकबरी युग के बिलावल के सारेगमपधनि हैं। प्रत्येक स्वर में, उसे छोड़कर, अगले तीसरे अर्थात् षड्ज-मध्यम-भाव से संवादी स्वर का निवास अथवा प्रतिनिधित्व का सामर्थ्य होता है; जैसे सा रे ग म प ध त्रि (षड्जग्रामीय प्रथम मूर्च्छना) तथा म प ध त्रि सा रे ग़ (मध्यमग्रामीय प्रथम मूर्च्छना); इस तत्त्व को विद्वान् जानते हैं। सप्त स्वर, तीन ग्राम, इक्कीस मूर्च्छना और छत्तीस नाद के वाद से युक्त तानसेन का विधान है।[1]

अकबरी युग का बिलावल, दाक्षिणात्यों का शंकराभरण और मुसलमानों का बुजुर्ग मुकाम एक ही बात है। बुजुर्ग मुकाम में मध्यमग्रामीय पंचम भी होता था, जिसका यहाँ परित्याग कर दिया गया है।

यह ध्रुवपद निर्भ्रान्त रूप में सिद्ध करता है कि तानसेन ग्राम-सिद्धांत और मूर्च्छना-पद्धति को समझते थे और उन्हें भरत का यह नियम भली-भाँति ज्ञात था कि षड्ज-ग्राम की प्रथम सांतरा मूर्च्छना ही मध्यम-ग्राम की प्रथम शुद्ध मूर्च्छना हो जाती है और वे यह तत्त्व भी समझते थे कि षड्ज- ग्राम की निषादादि मुर्च्छना ही शंकराभरण मेल है। साथ-ही-साथ वे मुकाम-सिद्धांत और स्वर-व्यत्यास के नियम को भी समझते थे और संभव है कि 'मियाँ की तोड़ी' का वर्तमान रूप उन्होंने खमाज ठाठ के स्वरों को उलटकर प्राप्त किया हो। सदारंग-परंपरा के रामपुरी गुणी स्वर-व्यत्यास के नियम को भली-भाँति समझते थे।

अस्तु, प्रस्तुत ध्रुवपद तानसेन को एक विशिष्ट विधान का निर्माता अथवा विशिष्ट परंपरा का प्रवर्तक अवश्य सिद्ध करता है। 'जिनि पायौ, तिनि ही लुकायौ' सिद्धांत के अनुसार, तानसेन ने भले ही मूर्च्छना-सिद्धांत का तत्त्व गुप्त रखा हो।

पुंडरीक विट्ठल का संबंध अकबरी दरबार के साथ भली-भाँति रहा था। तानसेन का प्रभाव उनपर अवश्य पड़ा होगा। अकबरी दरबार में 'राग-सागर' नामक ग्रंथ की रचना हुई थी, यह सूचना हमें राग-दर्पणकार फ़क़ीरुल्लाह से मिलती है।

---

१. रागमाला, पृ० १८६, हस्तलिखित प्रति—ग्वालियर-परंपरा।

इस ग्रंथ की रचना में पुंडरीक का योग भी संभव है। उत्तर-भारतीय रागों का मर्म पुंडरीक विट्ठल को तानसेन ने ही समझाया होगा।

वीणा का लक्षण करते समय पुंडरीक विट्ठल वीणा पर सारिका स्थापित करने की कोई वैज्ञानिक विधि नहीं बताते, अपितु कहते हैं कि लक्ष्यज्ञ शिल्पी के द्वारा निर्मित वीणा ले लेनी चाहिए; ठीक यही बात वेंकटमखी ने भी कही है।

'चंद्रोद्रय' में पुंडरीक के शब्द हैं:—

लक्ष्यप्रवीणेन विनिर्मितायां सुवीणिकायामुपरिप्रदेयाः।
तंत्र्यश्चतस्रोऽथ स एव पार्श्वेऽधो दक्षिणेतिस् इमा निवेश्याः।

(वीणा-प्रकरण-१०)

वेंकटमखी का कथन है:—

लक्ष्यज्ञेन प्रवीणेन निर्मितायां तु शिल्पिना।
वीणायामुपरिस्थाने चतुस्तंत्रीः प्रसारयेत्॥

पुंडरीक और वेंकटमखी, दोनों ने ही सारिका-स्थापन का महत्त्वपूर्ण कार्य लक्ष्यज्ञ शिल्पी पर छोड़ दिया है।

वेंकटमखी ने अपने परम गुरु आचार्यशेखर तानप्पा का नाम तो बारंबार लिया, परंतु 'गुरु' के विषय में सर्वथा मौन का अवलंबन किया है। संभव है, पुंडरीक विठ्ठल वेंकटमखी के गुरु हों।

रसकौमुदीकार श्रीकंठ का 'वीणा-प्रकरण' भी पुंडरीक विट्ठल-जैसा ही है। 'रसकौमुदी' के संपादक ने तो निभ्रांत रूप से यह सिद्ध किया है कि पुंडरीक श्रीकंठ के गुरु थे।[1]

यदि तानप्पा तानसेन थे और पुंडरीक उनके शिष्य थे, तो वेंकटमखी तानसेन के प्रशिष्य हुए। यह एक अनुमान-मात्र है, जिसके सत्य होने की संभावना कम नहीं है। भावभट्ट के पितामह तानभट्ट भी वेंकटमखी के परम गुरु हो सकते हैं। वेंकटमखी के अतिरिक्त अन्य किसी दाक्षिणात्य ग्रंथ ने आचार्यशेखर तानप्पा की चर्चा नहीं की।

मंद्र, मध्य और तार-स्थान में बारह-बारह ध्वनियों के विषय में श्रीकंठ केवल अपने गुरु का हवाला देता है, किसी ग्रंथ का नहीं।

रामामात्य का 'स्वरमेल-कलानिधि' प्रथम उपलब्ध ग्रंथ है, जिसमें एक 'स्थान' के अंतर्गत बारह स्थिर ध्वनियों की चर्चा मिलती है, परंतु श्रीकंठ अपने गुरु की चर्चा करता है, रामामात्य की नहीं।[2]

मुकाम-सिद्धांत की बारह ध्वनियों को दक्षिण के वैणिक बड़े कष्ट के साथ निगल रहे थे और उन्हें भारतीय अनन्वर्थ संज्ञाएँ देकर आत्म-प्रवंचना कर रहे थे।

१. 'रस-कौमुदी', गायकवाड़-सीरीज, भूमिका, पृ० ५

२. स्वीयकल्पनया नोक्ता प्रामाण्यं तेषु विद्यते। गुरुणा मे यथोद्दिष्टा वीणायां सुप्रपंचिताः।
('रसकौमुदी', द्वि० अ०, श्लोक ४६)

जब 'रत्नाकर' के साथ इस नवीन विधान की संगति न बैठी, तो दाक्षिणात्य बंधुओं ने स्वयं को मेल-सिद्धांत का प्रवर्तक कहकर संतोष कर लिया।

प्रमाण-श्रुति की उपेक्षा

प्रमाण-श्रुति के सूक्ष्म अंतराल का ज्ञान भारतीय महर्षियों की विश्व के लिए अनुपम देन है। मेलवादियों ने इसी की उपेक्षा की; सोमनाथ ने तो स्पष्ट व्यवस्था दे दी कि एक-आध श्रुति कम या अधिक हो, तो कोई दोष नहीं।[१] सभी मेलवादी और ठाठवादी उसी वर्ग में आते हैं, जिसने ग्राम-भेदक प्रमाण-श्रुति की उपेक्षा करके वैदिक परंपरा को तिलांजलि दे दी।

दक्षिण-भारत पर मुस्लिम-प्रभाव के ऐतिहासिक प्रमाण

अरब-यात्रियों और व्यापारियों का संबंध सहस्रों वर्षों से भारत के समुद्री तटों से रहा है। अरब-व्यापारी भारत के समुद्री तटों पर होते हुए ही चीन जाते थे।[२] महमूद गजनवी के आक्रमण से पौने दो-सौ वर्ष पूर्व ८१५ ई० में मलीवार के एक नगर कदंगान्नूर का राजा मुसलमान हो चुका था। इसकी आज्ञा से दक्षिण-भारत में मुस्लिम-उपनिवेश बस गए थे।[३]

जलालुद्दीन खिलजी के राज्य-काल में कारोमंडल मुसलमानों से भली-भाँति प्रभावित था। इतिहास-प्रसिद्ध सुंदर-पांड्य का महामंत्री मलिक तकीउद्दीन नामक मुसलमान था।[४] चौदहवीं शती के अंतिम दशक में जब सुंदर-पांड्य पर मलिक काफूर ने आक्रमण किया था, तब सुंदर-पांड्य की ओर से दक्षिण-भारतीय मुसलमान लड़े थे।[५]

इंद्रप्रस्थ-मत और उसका भारतव्यापी प्रभाव

सूफियों की चिश्तिया परंपरा में संगीत ईश्वर-प्राप्ति का एक साधन माना जाता था। ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती अजमेरी गाना खूब सुनते थे। कुतुबुद्दीन ऐबक इनका परम भक्त था।[६]

ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती के मुरीद ख्वाजा कुतुबुद्दीन बख्तयार काकी थे। सुलतान शम्सुद्दीन इल्तुतमिश इनका परम भक्त था। ख्वाजा कुतुबुद्दीन का स्वर्गवास तो कव्वाली सुनते-सुनते ही हुआ था।[७]

---

१. श्रुत्यैकयाधिकत्वं न्यूनत्वं वा न दोषाय। ('राग-विबोध', द्वितीय विवेक, कारिका ३४)
२. 'अरब और हिंद के ताल्लुकात', पृष्ठ ६–७
३. Ibid, P. 266-267
४. Ibid, P. 271–373
५. Ibid, P. 275
६. 'निजामी बाँसरी', पृ० ११०
७. Ibid, P. 112

ख्वाजा फरीदुद्दीन के मुरीद बाबा फरीदुद्दीन गंजशकर थे। जब ये ख्वाजा कुतुबुद्दीन के मुरीद हुए, तब प्रसिद्ध संत शैख बहाउद्दीन जकरिया मुलतानी (जन्म : ११८२, मृत्यु : १२६७ ई०) भी ख्वाजा कुतुबुद्दीन से मिलने आए थे। शैख बहाउद्दीन जकरिया ही 'मुलतानी श्री' राग के आविष्कर्ता हैं और इनकी गणना महान् संगीतज्ञों में की जाती है।[1] ईरानी मुकाम-पद्धति का आश्रय लेकर इन्होंने अनेक संसृष्ट रागों का निर्माण किया। उस युग में संगीत को मुसलमान गणित की एक शाखा मानते थे।

शैख निज़ामुद्दीन चिश्ती बाबा फरीदुद्दीन के मुरीद थे और अमीर खुसरो शैख निजामुद्दीन चिश्ती के लाड़ले थे।[2]

बाबा फरीदुद्दीन गंजशकर के धेवते ख्वाजा सैयद मुहम्मद इमाम और उनके छोटे भाई ख्वाजा सैयद मूसा महान् संगीत-मर्मज्ञ, गायक और हिंदी तथा फारसी कृतियाँ गानेवालों के महान् संरक्षक और आश्रयदाता थे।[3]

गयासुद्दीन तुगलक की सभा के एक शास्त्रार्थ में निजामुद्दीन चिश्ती ने धार्मिक दृष्टि से भक्तिपरक संगीत की ग्राह्यता सिद्ध की थी। शैख बहाउद्दीन जकरिया के पौत्र शैख बहाउद्दीन सुहरावर्दी ने इसी शास्त्रार्थ में अपनी व्यवस्था शैख निजामुद्दीन चिश्ती के पक्ष में दी थी।[4]

शैख निजामुद्दीन चिश्ती ने प्रचार के लिए चार-सौ सूफी दक्षिण भेजे थे। इनमें दक्षिण के प्रसिद्ध सूफी ख्वाजा बन्दानवाज गेसूदराज के पिता राजू कत्ताल भी शैख बुरहानुद्दीन के साथ दक्षिण गए थे।[5]

अमीर खुसरो के नाना हिंदू रावत थे, जो मुसलमान हो गए थे। अर्थात् खुसरो की माँ भारतीय थीं और पिता लाचीमी तुर्क। खुसरो का जन्म पटियाली, जिला एटा (ब्रज-क्षेत्र) में हुआ था।[6] मातृ-पक्ष से खुसरो को भारतीय संस्कार मिले, मातृ-भाषा के रूप में ब्रज-भाषा पिता की ओर से उन्हें इस्लाम, सूफीवाद, तुर्की, फारसी और अरबी का ज्ञान मिला।

खुसरो ब्राह्मणों के भी शिष्य थे। उन्होंने भारतीय संगीत की अत्यंत प्रशंसा की है। भारतीय ब्राह्मणों को उन्होंने अरस्तू के समान कहा है और भारत को अनेक विषयों में अन्य देशों की अपेक्षा श्रेष्ठ कहा है।

वैदिक परंपरा से संबद्ध ग्राम-रागों को लौकिक विनोद के लिए प्रयुक्त करना निषिद्ध कर दिया गया, जिससे उनकी विकृति न हो। सोमेश्वर (राज्य-काल

---

१. 'मअदनुल-मूसीकी', पृ० १५१-१५२

२. 'निजामी बाँसरी', पृ० ७८-८१

३. Ibid, P. 446-447

४. Ibid, P. 289-292

५. 'दक्षिणी हिंदी', पृ० ६५

६. 'खिलजीकालीन भारत', पृष्ठ १९८

११२७-११३४ ई०) ने इस निषेध की चर्चा की है।[1] अतः अमीर खुसरो को ग्राम-मूर्च्छना पद्धति का ज्ञान न था, परंतु उस युग की शिक्षण-पद्धति के अनुसार उसको ईरानी संगीत के चार उसूलों, बारह परदों और अन्य सूक्ष्मताओं का ज्ञान था।

तंत्री वाद्यों पर स्थापित सारिकाएँ फारसी में 'परदा' कहलाती हैं। इनपर बाएँ हाथ की अँगुली से तार को दबाकर उसपर दाएँ हाथ के 'मिजराब' (नखी) के आघात से उत्पन्न ध्वनि 'नग़मः' (स्वर) कहलाती है।

ईरानी संगीत में ग्राह्य बारह ध्वनियों की चर्चा पहले की जा चुकी है। इन बारह ध्वनियों से वांछनीय राग की अवतारणा के लिए आवश्यक 'परदों' के समुदाय को वांछनीय राग की प्राप्ति का मुकाम (संस्थान) कहा गया और इसी विधि के परिणामस्वरूप 'मुकाम' दक्षिण में पहुँचकर 'मेल' कहलाया।

१२९९ ई० में अलाउद्दीन खिलजी के सेनापति उलुग खाँ और नुसरत खाँ ने गुजरात पर आक्रमण किया। गुजरात की रानी कर्णवती इन लोगों के हाथ पड़ गई और अलाउद्दीन के अन्तःपुर में भेज दी गई। गुजरात के राजा कर्ण ने अपनी पुत्री देवलदेवी-सहित देवगिरि में शरण ली।[2] इस आक्रमण में 'परवार' नामक एक अत्यंत सुंदर संगीतजीवी जाति के अनेक नर-नारी बंदी बनाकर दिल्ली भेजे गए।[3] इसी आक्रमण में एक अत्यंत सुंदर हिजड़ा भी एक हजार दीनार में खरीदकर दिल्ली भेजा गया, जिसका विकास मलिक काफूर नामक प्रसिद्ध सेनापति के रूप में हुआ।

'परवार' जाति अपने रूप और गुण के कारण दिल्ली पर छा गई।

१३०६ ई० में मलिक काफूर को दक्षिण पर आक्रमण करने के लिए भेजा गया। वह सफल हुआ। देवलदेवी पकड़कर दिल्ली लाई गई और उसका विवाह १३०७ ई० में अलाउद्दीन खिलजी के पुत्र खिज्र खाँ के साथ किया गया। देवगिरि का राजा रामचंद्र राय अलाउद्दीन खिलजी की अधीनता स्वीकृत करने के लिए दिल्ली आया। संभवतः इसी समय देवलरानी के विवाह के अवसर पर दक्षिण के संगीतज्ञ भी दिल्ली आए, जिनमें गोपाल नायक भी थे।

अलाउद्दीन खिलजी की प्रशंसा में गोपाल नायक का यह ध्रुवपद प्राप्त है :—

> **धक दलन रे प्रबल्ल नाद सिंघनाद बल अपबल वक्कवर।**
> **कुडान धीर अडान मिलवत चपल चाप अचपल अक्कअर॥**
> **गीत गावत नायक गोपाल विद्यावर।**
> **साहिनिसाहि अलावदी तपै डिली नरेस जाके वसुधा सुचित तुअतक्कधर॥**

खुसरो मुलतान, अवध और बंगाल में रहे थे; ब्रजवासी तो थे ही और दिल्ली तो इनका कार्य-क्षेत्र ही था। गुजरात के परवार दिल्ली में बस ही गए थे और दक्षिण

---

१. **नामतो गदिताः सर्वे रागा मुनिसमीरिताः। विनोदे नोपयुज्यंते तस्माल्लक्ष्म न् लक्ष्यते॥**
('Manasollasa', Vol. III., P. 13. Sl. 132)

२. **'खिलजीकालीन भारत', पृष्ठ १६०**

३. **'निजामी बाँसरी', पृष्ठ २२८**

के गुणी भी आ गए। इन परिस्थितियों ने इंद्रप्रस्थ-मत को जन्म दिया, जिसमें अनेक राग भारतीय थे, परंतु जिनका वर्गीकरण ईरानी ढंग पर मुकाम-पद्धति से किया गया था। ऐसे राग भी थे, जो भारतीय और ईरानी रागों को मिलाकर बनाए गए थे और जिनका नाम भारतीय रखा गया था—और ऐसे राग भी थे, जिनके नाम तो पुराने थे, परंतु स्वर-व्यत्यास से जो एक ठाठ से अन्य ठाठ में चले गए थे; जैसे 'वसंत' और 'श्री' काफी ठाठ से पूरबी ठाठ में आए थे। भारतीय संगीत का यह नवीन संप्रदाय 'कव्वाल-बच्चों की परंपरा' कहलाया। कालांतर में यही परंपरा इंद्रप्रस्थ-मत कहलाई।

विजयनगर-साम्राज्य की स्थापना और उसपर मुस्लिम प्रभाव

विजयनगर-साम्राज्य के संस्थापक हरिहर और बुक्क पर्याप्त समय तक दिल्ली में बंदी रहे थे। राजनीतिक कारणों से इन्हें मुक्त किया गया और श्री विद्यारण्य के निर्देशन में इन दोनों भाइयों ने १३३६ ई० में विजयनगर-साम्राज्य की स्थापना की। १३४७ ई० में मुहम्मदशाह प्रथम ने बहमनी-राजवंश की नीवें डाली। मुहम्मदशाह प्रथम निजामुद्दीन चिश्ती का परम भक्त था।

विजयनगर-राजवंश और बहमनी-राजवंश में जन्मजात शत्रुता थी।

मुहम्मदशाह प्रथम के दरबार में तीन-सौ गायक थे। खुसरो की कृतियाँ उस दरबार में खूब गाई जाती थीं। एक दिन मुहम्मदशाह प्रथम ने गायकों से खुसरो की कृतियाँ सुनकर प्रसन्नता व्यक्त की और विजयनगर के शासक बुक्क को आदेश भेजा कि गायकों को पुरस्कार विजयनगर के कोष से दिया जाए। स्वाभिमानी स्वतंत्र नरेश बुक्क ने मुहम्मदशाह के दूत का तिरस्कार किया। फलतः भयानक युद्ध हुआ, जिसमें भयानक नर-संहार हुआ और बुक्क को बहमनी-सुलतान की शर्तों पर संधि करनी पड़ी और गवैयों को पुरस्कार का भुगतान करना पड़ा।[1]

१३९८ ई० में बहमनी-सुलतान फीरोज ने विजयनगर के शासक हरिहर के साथ युद्ध छेड़ दिया। फीरोज संगीत का दीवाना था और इसका काजी सिराज संगीत और नृत्य में इतना प्रवीण था कि इसने अपने साथियों के साथ नारी-वेष में हरिहर के पुत्र के सम्मुख नृत्य किया और अपने छद्म-वेष में ही उस बेचारे का वध कर दिया।[2]

यह घटना बताती है कि खुसरो-प्रभावित बहमनी-दरबार का संगीत विजयनगर दरबार में अपना रंग कहाँ तक जमा चुका था।

१४०६ ई० में तो पराकाष्ठा हो गई और विजयनगर के शासक देवराय प्रथम को अपनी पुत्री बहमनी-शासक फीरोज को देनी पड़ी, जिसका विवाह फीरोज के पुत्र हसन के साथ हुआ। इस अवसर पर फीरोज विजयनगर में तीन दिन देवराय प्रथम

१. 'ए फारगॉटेन एम्पायर', पृष्ठ ३३-३९

२. वही, पृष्ठ ५३-५४

का अतिथि रहा। इस अवसर पर विजयनगर के कलाकारों ने अपनी कला से बरातियों का मनोरंजन किया था।[1]

देवराय द्वितीय ने तो बहमनी-सुलतान अलाउद्दीन द्वितीय से हारकर संगीत और नृत्य में निपुण दो-सौ दासियाँ भी विजयनगर से भेजी थीं।[2] अलाउद्दीन द्वितीय के पिता अहमदशाह प्रथम को शेख गेसूदराज का अनुग्रह प्राप्त था।

१४४२ ई० में देवराय ने अपने यहाँ नौकरी करनेवाले मुसलमानों को प्रसन्न करने के लिए उन्हें जागीरें दीं, विजयनगर में एक मस्जिद बनवाई और आदेश दिया कि कोई उनके धार्मिक आचरण में बाधा न दे। उसने अपने सभागार में राजसिंहासन के समक्ष एक ऊँचे और बहुमूल्य पीठ पर 'कुरान-शरीफ' रखने का आदेश दिया, जिससे कि अपनी धार्मिक मर्यादाओं का उल्लंघन किए बिना मुसलमान राजा को अभिवादन कर सकें। देवराय ने धनुष चलाने और अनुशासन में रहने का ढंग मुसलमानों से सीखने के लिए हिंदुओं को प्रवृत्त किया। फलतः साठ हजार हिंदू और दो हजार मुसलमान धनुर्विद्या में निपुण हो गए।[3]

देवराय द्वितीय की इस प्रवृत्ति से ही प्रभावित होकर ईरान के शाह ने अब्दुर्रज्जाक को राजदूत बनाकर विजयनगर भेजा, जो १४४३ ई० तक विजयनगर में रहा। देवराय अब्दुर्रज्जाक को सप्ताह में दो बार बुलाया करता और उसका सम्मान किया करता था।[4]

मुसलमानों के प्रभाव से पूर्णतया आक्रांत इसी युग में कल्लिनाथ ने 'संगीत-रत्नाकर' की व्याख्या की है, जिसे समझनेवाले अपने युग में दक्षिण में वे ही बचे थे।

उस समय विजयनगर के प्रचलित संगीत पर मुस्लिम मुकाम-सिद्धांत का प्रभाव कल्लिनाथ के इन शब्दों से व्यक्त होता है :—

(क) मेरे युग में प्रत्येक राग 'सा' से आरंभ किया जाता है।

(ख) षड्ज का संवादी पंचम ही रह गया है। (ऋषभ के संवादी पंचम का प्रयोग लुप्त होने के कारण) दोनों ग्रामों के रागों में षड्ज के संवादी पंचम का ही प्रयोग होने लगा है।

(ग) श्री राग में ऋषभ, गांधार, धैवत और निषाद अपने मूल स्थान से एक-एक-श्रुति चढ़ गए हैं।

(घ) क्रियांग 'रामक्री' में मध्यम दो श्रुति चढ़ गया है। (अर्थात् मध्यम में मध्यमत्व का विनाश हो गया है और वराली-मध्यम, पत पंचम या तीव्र मध्यम-जैसी संज्ञाओं का बीजारोपण हो गया है।)

---

१. वही, पृ० ६०–६१

२. वही, पृ० ७२

३. वही, पृ० ७३

४. 'हिस्ट्री आफ मैडियावेल इंडिया', ईश्वरीप्रसाद, पृष्ठ ४३१–४३२

(ङ) 'नट्ट' और 'देवक्री' जैसे रागों में ऋषभ ने अंतर-गांधार की और धैवत ने काकली निषाद की दो-दो श्रुतियाँ ले ली हैं। (अर्थात् 'सा ग॒ ग म प नि॒ नि सां' के 'ग॒' को ऋषभ और 'नि॒' को धैवत कहा जाने लगा है।) इस प्रकार पंचश्रुतिक ऋषभ और पंचश्रुतिक धैवत जैसी अवैदिक संज्ञाओं का जन्म हो चुका है।

(च) कर्णाट गौड़ में षड्ज के स्थान पर निषाद अंश और ग्रह हो गया है। (अर्थात् इस राग का ठाठ बदल गया है।)

(छ) हिंदोल में ऋषभ-धैवत के लोप के स्थान पर ऋषभ-पंचम का लोप होने लगा है।

(ज) कहीं-कहीं षाडव और औडुव रागों में लोप्य स्वर का प्रयोग भी किया जाने लगा है।

(झ) कहीं-कहीं जन्य और जनक के मेलन में भेद हो गया है।

(ञ) राग के अनुसार रस आदि के विनियोग में अनियम देखा जाता है।

निष्कर्ष यह है कि माधवाचार्य से सौ वर्ष पश्चात् और रामामात्य से सौ वर्ष पूर्व विजयनगर का रागवर्गीकरण अवैदिक हो चुका था, ग्राम-मूर्च्छना-पद्धति का वहाँ सर्वथा विनाश हो चुका था। राग-वर्गीकरण का मेल-सिद्धांत सबके कंठ से उतर गया था। कल्लिनाथ के ये शब्द 'संगीत-रत्नाकर' के रागाध्याय, श्लोक १५८-१५६ की व्याख्या में देखे जा सकते हैं।

कल्लिनाथ ने इस आमूल परिवर्तन के कारणों पर मौन रहना ही उचित समझा है और कहा है कि इन रागों के देशी होने के कारण इनमें 'अनियम' दोष नहीं है, परंतु यह कथन सांस्कृतिक पराजय पर आवरण डालने का प्रयत्न-मात्र है, तर्क-संगत अथवा विज्ञान-सिद्ध नहीं।

ऐसे अवसरों पर विरोध का परिहार करने के लिए मध्ययुगीन आचार्यों को आंजनेय की यह उक्ति हाथ लग गई थी :—

येषां श्रुतिस्वरग्रामजात्यादिनियमो नहि।
नानादेशगतिच्छाया देशीरागास्तु ते स्मृताः॥

अर्थात्—'जिन रागों में श्रुति, स्वर, ग्राम, जाति इत्यादि का नियम नहीं होता, जो विभिन्न देशों की गतियों और छाया से युक्त होते हैं, वे देशी राग कहे गए हैं।'

इस उक्ति का यदि यह अर्थ हो कि 'देशी' राग सर्वथा उच्छृंखल होते हैं, तब तो इनपर विचार करने का न कोई आधार रहेगा और न विचार की आवश्यकता ही रहेगी। आंजनेय की उक्ति का आश्रय लेकर यदि कोई मनमाना चिल्लाने लगे, तो कलाकार नहीं कहा जा सकेगा।

कल्लिनाथ राज्याश्रित पंडित थे। वे जिस राज्य के आश्रित थे, उसकी पराजय की गाथा भला कैसे लिखते!

यह ध्यान देने की बात है कि उस समय तक 'मेवाड़' के संगीत पर मुस्लिम-प्रभाव नहीं हुआ था, क्योंकि महाराणा कुंभा का 'संगीतराज' कल्लिनाथ के युग की ही रचना है और उसमें उन अवैदिक सांगीतिक उत्पातों की चर्चा सर्वथा अप्राप्य है, जो कल्लिनाथ के द्वारा चर्चा का विषय बने हैं।

कल्लिनाथ ने 'मेल-सिद्धांत' की चर्चा कहीं नहीं की, क्योंकि वे 'संगीत-रत्नाकर' की व्याख्या लिख रहे थे, जिसमें प्रचलित संगीत की चर्चा आपाततः आई है। उन्होंने 'जन्य-जनक रागों में मेलन-भेद' की चर्चा की है, जो उस देश में 'मुकाम-सिद्धांत' के प्रभाव का पर्याप्त प्रमाण है। 'प्रत्येक राग 'सा' से आरंभ होने लगा है, और षड्ज का संवादी-पंचम ही प्रयुक्त होता है' कहकर कल्लिनाथ ने स्पष्टतया यह कह दिया है कि मूर्च्छना का रहस्य लोगों की समझ से बाहर हो गया है।

कल्लिनाथ से पचास-साठ वर्ष पश्चात् विजयनगर-सम्राट् के आश्रित लक्ष्मी-नारायण ने अपने 'संगीत-सूर्योदय' में 'गजल' और 'कौल' की परिभाषा प्रस्तुत की है, जिससे सिद्ध है कि उस समय 'गजल और कौल' का प्रचलन विजयनगर में भली-भाँति था। इसी स्थिति ने ऐसे गायक उत्पन्न किए, जो आंध्र-पद, कर्णाटपद और तुरुष्क-पद सदृश शैली में गाते थे और जिनकी चर्चा वेंकटमखी ने की है।

उपलब्ध ग्रंथकारों में 'स्वर-मेल-कलानिधि' के लेखक रामामात्य वे पहले व्यक्ति हैं, जिन्होंने दाक्षिणात्य ग्रंथों में मेल-सिद्धांत का सर्वप्रथम प्रतिपादन किया।

मुसलमानों के साथ रामामात्य का संबंध और उनपर मुस्लिम-प्रभाव

रामामात्य ने 'स्वर-मेल-कलानिधि' में स्वयं को तिम्मामात्य का पुत्र कहा है। इन दोनों शब्दों में 'राम' और 'तिम्म' नाम हैं और 'अमात्य' शब्द यह बताता है कि ये राज-मंत्री थे। इतिहासज्ञ जिस व्यक्ति को 'अलिय रामराय' कहते हैं, वही 'रामामात्य' हैं। 'ए फारगॉटन एम्पायर' के लेखक ने कृष्णदेवराय के मंत्री का नाम 'तिम्म' ही लिखा है और 'रामराय' को तिम्म का पुत्र बताया है। 'रामराय' में 'राय' शब्द 'राजा' का वाची है। रामामात्य कृष्णदेवराय के दामाद थे। १५४२ ई० में 'सदाशिव' विजयनगर के सम्राट् हुए, परंतु वे पूर्णतया 'रामामात्य' के हाथों में बंदी थे। वास्तविक शासन रामामात्य का ही था। अतः मुस्लिम-इतिहासकारों ने 'राम' को ही 'राजा' समझकर 'रामराय' लिखा है।*

रामामात्य ने बुरहान-निजामशाह, जमशेद-कुतुबशाह, इब्राहीम, उसके बेटे अली आदिलशाह से यथावसर 'संधि' और 'विग्रह' किया। रामामात्य ने एक बार हुसैन निजामशाह के हाथ का चुम्बन भी किया था। अली आदिलशाह को रामामात्य की पत्नी ने 'धर्मपुत्र' घोषित किया था। १५६५ ई० में दक्षिण के मुस्लिम-शासकों ने संघ बनाकर रामामात्य से युद्ध किया, जिसमें रामामात्य ९६ वर्ष की आयु में मारे गए।

---

*कुछ लोगों का कथन है कि रामराय और रामामात्य दो भिन्न व्यक्ति हैं। राजनीतिज्ञ रामराय थे और रामामात्य उनके आश्रित पंडित। —लेखक

इस घटना के पश्चात् रामामात्य के भाई तिरुमल ने पेनुकोंडा को राजधानी बनाया। १५६८ ई० में तिरुमल ने सम्राट् सदाशिव का वध कर दिया। १५७५ ई० में तिरुमल की मृत्यु हुई और तिरुमल का पुत्र रंग द्वितीय, शासक हुआ। १५८६ ई० में उसका भाई वेंकट प्रथम, उत्तराधिकारी हुआ। १६१४ ई० में वेंकट प्रथम की मृत्यु हुई॥

वेंकट प्रथम के शासन-काल के अंतर्गत १६०२ ई० में तंजोर और मदुरा के राजाओं ने स्वयं को स्वतंत्र घोषित किया।

वेंकटमखी विजयराघव तंजोर-नरेश के आश्रित थे, जिसके पूर्वज, रामामात्य के उत्तराधिकारियों के अधीन सामंत थे और रामामात्य के वंशज वेंकट प्रथम के विरुद्ध विद्रोह करके स्वतंत्र हुए थे। रामामात्य के प्रति वेंकटमखी की असह्य कटुता का कारण आनुवंशिक वैर ही प्रतीत होता है।

प्रो० रामकृष्ण कवि ने 'भरत-कोष' में रामामात्य को कल्लिनाथ का दौहित्र लिखा है, परंतु इस तथ्य का आधार कोई नहीं दिया। कल्लिनाथ की टीका पर श्रम करने की आवश्यकता रामामात्य ने नहीं समझी, अन्यथा वे अपने 'हिजूजी' (मुसलमानों के हिजेज) को ग्राम-राग और शार्ङ्गदेव-सम्मत न कहते और अपने युग में प्रचलित 'श्री' के स्वरों के साथ न्याय करते।

यदि रामामात्य ने कल्लिनाथ की उक्तियों को समझा होता, तो वे शुद्ध मध्यम से दो श्रुति ऊँचे 'वराली-मध्यम' को शुद्ध मध्यम से तीन श्रुति ऊंचा न कहते, जिसके विषय में कल्लिनाथ ने स्पष्ट कहा है कि क्रियांग 'रामक्री' में मध्यम ने पंचम की दो श्रुतियाँ ले ली हैं। अर्थात् वह मध्यम, षड्ज के संवादी पंचम से दो श्रुति नीचे है।

वास्तव में मेलवादियों ने कल्लिनाथ की घोर उपेक्षा की और मुसलमानों की स्वरावलि पूरबी ठाठ या कामवर्द्धनी मेल की निषादादि मूर्च्छना से उत्पन्न होनेवाले घोर अवैदिक अपने मुखारी को शार्ङ्गदेवोक्त शुद्ध स्वरावलि मानकर भ्रम की सृष्टि की।

रामामात्य ने रागों के तीन वर्ग उत्तम, मध्यम और अधम किए हैं और अधम रागों को 'पामर-भ्रामक' कहा है। वेंकटमखी ने पंतुवराली को 'पामरप्रिय' कहा है। रामामात्य और वेंकटमखी के 'पामर' शब्द का संकेत जिस वर्ग की ओर है, वही वर्ग मेल-सिद्धांत के मूल में है।

जिस संप्रदाय ने कल्लिनाथ-जैसे दाक्षिणात्य आचार्य की भी परवाह न की हो और निश्शंक शार्ङ्गदेव-जैसे कश्मीरी आचार्य की उक्तियों के साथ स्वैराचार किया हो, वह अपनी परंपरा के प्राचीन और वैदिक होने का दावा कैसे कर सकता है!

वेंकटमखी ने गोपाल नायक की चर्चा श्रद्धापूर्वक की है। यह कौन नहीं जानता कि गोपाल नायक का संबंध दिल्ली-दरबार और अमीर खुसरो के साथ रहा था। गोपाल नायक एक संप्रदाय-प्रवर्तक मनीषी थे। चतुर्दंडी अर्थात् आलाप, ठाय, गीत, प्रबंध के विशिष्ट संप्रदाय का प्रवर्तन उन्होंने किया था। 'चारौ डाँडी (चतुर्दंडी)

बाँधि आए नायक गोपाल।' जैसे शब्द ध्रुवपदों में मिलते हैं और यह सिद्ध करते हैं कि गोपाल नायक चतुर्दंडी-संप्रदाय के प्रवर्तक थे। इस नवीन संप्रदाय में दिल्ली का कुछ भी योग न हो, यह असंभव है। वेंकटमखी के परम गुरु तानप्पा इस नवीन संप्रदाय के कुछ रहस्यों से परिचित रहे होंगे।

तानप्पा कोई भी हों, वे ग्राम-मूर्च्छनावादी नहीं थे। यदि वे ग्राम-मूर्च्छना के रहस्य से परिचित भी हों, तो भी उन्होंने जिस विधान का प्रवर्तन किया, जिस ढंग से राग-वर्गीकरण किया, स्वरों को जो संज्ञाएँ दीं, 'ग्राम' या 'षड्ज-ग्राम' का जो अर्थ समझाया, वह सर्वथा अभारतीय और मुस्लिम-प्रभावित है।

संस्थान-पद्धति से रागों का वर्गीकरण करनेवाले लोचन का 'मुखारी' तो षड्ज-ग्राम की धैवतादि सांतरा मूर्च्छना है और आसावरी ठाठ या नटभैरवी मेल के सदृश है।

स्वर्गीय भातखंडेजी के कुछ प्रश्न और उनका समाधान

स्व० भातखंडेजी ने अपने जीवन-काल के अंतिम भाग में अपने ग्रंथ 'हिंदुस्तानी-संगीत-पद्धति' के उपसंहार में यह मान लिया था—'संगीत-रत्नाकर' का स्पष्ट किया जाना संभव है और यह कार्य किया जाना चाहिए।" उन्होंने वहाँ यह भी कहा है कि अनेक तथ्यों के विषय में उनकी खोज निर्णयात्मक स्थिति तक नहीं पहुँची है, उन तथ्यों के विषय में निर्णयात्मक स्थिति तक पहुँचना भावी पीढ़ियों का कर्त्तव्य है।

अस्तु, हम यहाँ कुछ वे प्रश्न लिखकर उनका समाधान कर रहे हैं, जो प्रश्न स्वर्गीय भातखंडेजी 'हिंदुस्तानी संगीत-पद्धति' के द्वितीय भाग में लिख गए हैं। उन्होंने वहाँ अपने श्रोता शिष्य से कहा है कि तुम विनम्रतापूर्वक शुद्ध अंतःकरण से इन्हें विज्ञजनों के समक्ष रख सकते हो।

स्व० भातखंडेजी के उन प्रश्नों में क्रम हमने स्थापित किया है। स्व० भातखंडेजी के कार्य को पूरा करने की दृष्टि से उन प्रश्नों के उत्तर दिए जा रहे हैं।

१. प्रश्न—आप प्राचीन शुद्ध स्वरमेल किसे समझते हैं ?

उत्तर—'मेल' शब्द ही प्राचीन नहीं है। इस शब्द का प्रयोग विजयनगर साम्राज्य के संस्थापक और महामंत्री विद्यारण्य ने किया है। उनके मेलों में एक मेल 'हेजुज्जी' भी है, हेजुज्जी शब्द फ़ारसी 'हिजाज़' का अपभ्रंश है। विद्यारण्य का 'मेल' शब्द फ़ारसी के 'मुक़ाम' और लोचन के 'संस्थान' शब्द का पर्य्यायवाची है। मेल में आठ स्वर 'सा' से 'सां' तक होते हैं। पूर्वार्ध और उत्तरार्ध में चार-चार स्वर होते हैं। इस प्रकार मेल-सिद्धांत का आधार 'अष्टक' है, 'सप्तक' नहीं। मेल-सिद्धांत मुसलमानों की मुकाम-पद्धति का प्रसाद है।

यदि आप प्राचीन शुद्ध स्वर-सप्तक जानना चाहते हैं, तो आपके लिए सरलतम विधि यह है कि आपके बिलावल ठाठ के 'रे, ग, म, प, ध, नि सां, रें' षड्जग्राम के शुद्ध स्वर हैं और उस दृष्टि से इनके नाम क्रमशः षड्ज, त्रिश्रुति ऋषभ, द्विश्रुति गांधार, चतुःश्रुति मध्यम, चतुःश्रुति पंचम, त्रिश्रुति धैवत, द्विश्रुति निषाद और चतुःश्रुति षड्ज होंगे।

आपके 'रे, ग, म, प, ध, नि, सां, रें' में वे सभी विशेषताएँ विद्यमान हैं, जो षड्ज-ग्राम के शुद्ध स्वरों में होना चाहिए।

आपके 'रे–प' षड्ज-ग्राम के 'सा–म' हैं, केवल नामों का अंतर है। आपके 'रे–प' में परस्पर षड्ज-मध्यम-भाव है, जो षड्ज-ग्राम के 'सा–म' में है।

आपके 'ग–ध' में षड्ज-मध्यम-भाव का अभाव है। आपके यही 'ग–ध' षड्ज-ग्राम के 'रे-प' हैं; वहाँ भी संवाद का यही अभाव है।

आपके 'म–सां' में परस्पर षड्ज-पंचम-भाव है; यही षड्ज-ग्राम के शुद्ध गांधार-निषाद हैं, जिनमें षड्ज-पंचम-भाव है।

आपके 'प–रें' में षड्ज-पंचम-भाव है और यही स्वर षड्ज-ग्राम के 'म–सां' हैं, जिनमें षड्ज-पंचम-भाव है।

इस नाम-भेद ने सरल-सी बात को जटिल बना दिया।

इसे संयोग कहें या भारतीय संगीत का दुर्भाग्य कि आपका ध्यान अपने गुरु रामपुर-निवासी स्व० वजीर खाँ की वीणा पर नहीं गया। वे उत्तर-भारत के गुणी थे। आप उत्तर-भारतीय संगीत का विवेचन कर रहे थे। यह विधि का विधान ही है कि स्व० वजीर खाँ की वीणा आपके द्वारा उपेक्षित रही। इस वीणा के बाज के तार की ध्वनि को मंद्र-मध्यम माना जाता है। इस वीणा पर इस दृष्टि से जो बिलावल प्राप्त होता है, उसके न तो 'रे–ध' में परस्पर संवाद है और न 'ग–नि' में। इस वीणा के 'ग–ध' में संवाद है, परंतु आपके द्वारा माने हुए बिलावल के 'ग–ध' में संवाद का अभाव है। सरस्वती-वीणा के 'ध–नि' आपके द्वारा माने हुए काफी ठाठ के 'ध–नि' की अपेक्षा एक-एक प्रमाण-श्रुति उतरे हुए हैं।

यदि सरस्वती-वीणा के 'म, प, ध, नि, सा, रे, ग, म' को आप ध्यानपूर्वक सुनते, तो आपको यह स्पष्टरूपेण ज्ञात हो जाता कि इनसे ध्वनित होनेवाले नाद क्रमशः आपके बिलावल-ठाठ के 'सा, रे, ग, म, प, ध, नि' हैं। यही स्वरावलि षड्ज-ग्राम की, निषाद से आरंभ होनेवाली 'रजनी' मूर्च्छना का शुद्ध रूप है। आपने ध्रुवपदों के संग्रहों को ध्यानपूर्वक देखने की आवश्यकता न समझी, अन्यथा आपको तानसेन के ही एक ध्रुवपद में इस तथ्य का विवेचन मिल जाता कि षड्ज-ग्राम की शुद्ध रजनी मूर्च्छना से उत्पन्न होनेवाला आपका बिलावल ही अकबरी युग में भी 'सा, रे, ग, म, प, ध, नि' कहा जाने लगा था।

अब मध्यम-ग्राम के शुद्ध स्वरों की चर्चा की जाए।

आपकी सुविधा की दृष्टि से यों कहा जाना चाहिए कि आपके भैरवी ठाठ के 'नि, सा, रे, ग, म, प, ध, नि' मध्यम-ग्राम के षड्ज, त्रिश्रुति ऋषभ, द्विश्रुति गांधार, चतुःश्रुति मध्यम, त्रिश्रुति पंचम, चतुःश्रुति धैवत, द्विश्रुति निषाद और चतुःश्रुति षड्ज हैं। यह मध्यम-ग्राम की चौथी मूर्च्छना है।

यदि आप स्वर्गीय वजीर खाँ की वीणा में 'रे, ग, म, प, ध, नि, सां, रें' ध्यानपूर्वक सुनते, तो आपको मध्यम-ग्राम की उपर्युक्त मूर्च्छना सुनाई दे जाती और उस वीणा के 'ग, म, प, ध, नि, सां, रें, गं' में आपको अपना भैरवी ठाठ सुनाई दे जाता। सरस्वती-वीणा के 'सा, रे, ग, म, प, ध, नि, सां' में आपको अपने भैरवी-ठाठ का निषाद न मिलता, क्योंकि सरस्वती-वीणा के 'ग–नि' में परस्पर संवाद नहीं है।

भगवान् की बड़ी कृपा है कि सरस्वती-वीणा के वादक अभी भारत में विद्यमान

हैं और उन वीणाओं की सारिकाएँ अचल हैं। उन वीणाओं पर हमारे कथन की परीक्षा की जा सकती है।

आपका काफी ठाठ भी सरस्वती-वीणा के काफी ठाठ में जैसा-का-तैसा नहीं मिलेगा, क्योंकि उसके 'ग़–नि़' में परस्पर संवाद का अभाव है।

आपको अपना काफी ठाठ सरस्वती-वीणा के 'ग, म, प, ध, नि, सां, रें, गं' में भलीभाँति सुनाई दे जाएगा।

आपका काफी ठाठ मध्यम-ग्राम के 'ऋषभ, अंतरगांधार, मध्यम, त्रिश्रुति पंचम, चतुःश्रुति धैवत, द्विश्रुति निषाद, चतुःश्रुति षड्ज और त्रिश्रुति ऋषभ में मिल जाएगा। सरस्वती-वीणा के 'ग, म, प, ध, नि, सां, रें, गं' यही स्वरावलि देते हैं।

प्रश्न यह है कि प्राचीनों की दृष्टि में शुद्धता क्या है?

प्राचीनों की दृष्टि में षड्ज-ग्राम का मूल शुद्धस्वर-सप्तक वह है, जिसका 'ग्रामणी' स्वर (ग्राम का व्यवस्थापक स्वर या प्रमुख स्वर) किसी भी अन्य स्वर की अपेक्षा परिमाण में कम न हो, अर्थात् त्रिश्रुतिक अथवा द्विश्रुतिक न होकर चतुःश्रुतिक हो और उसके पश्चाद्वर्ती स्वर क्रमशः त्रिश्रुतिक और द्विश्रुतिक हों। षड्ज, ऋषभ और गांधार षड्ज-ग्राम में क्रमशः चतुःश्रुतिक, त्रिश्रुतिक और द्विश्रुतिक हैं।

इस त्रिक—अर्थात् षड्ज, ऋषभ, गांधार के साथ षड्ज-पंचम-भाव से संवादी त्रिक के निर्माता, चतुःश्रुति पंचम, त्रिश्रुति धैवत और द्विश्रुति निषाद हैं। षड्ज को यदि 'पंचम' मान लिया जाए तो षड्ज, ऋषभ, गांधार में पंचम, धैवत, निषाद में षड्ज, ऋषभ, गांधार सुनाई देंगे।

तीन-तीन स्वरों से बने हुए दोनों त्रिकों के ठीक मध्य में 'मध्यम' की स्थिति है, अर्थात् प्रथम त्रिक के आरंभक स्वर षड्ज से पश्चात् नौ श्रुतियों के अंतर पर और द्वितीय त्रिक के अंतिम स्वर निषाद से पूर्व नौ श्रुतियों के अंतर पर मध्यम की स्थिति है, अर्थात् अनुपात की दृष्टि से 'मध्यम' षड्ज और द्विश्रुति निषाद के ठीक मध्य में आता है।

यदि मध्यम को तराजू की डंडी का मध्य बिंदु माना जाए, तो ये दोनों त्रिक उस तराजू के ऐसे दो पलड़े हैं, जो समानभार होने के कारण संतुलित हैं। केन्द्र-बिंदु से थोड़ा-सा इधर-उधर हटने पर पलड़ों में संतुलन नहीं रह सकता, इसी लिए प्राचीनों ने मध्यम-स्वर को प्रवर या श्रेष्ठ कहा है।

मध्यम स्वर में एक और गुण है, यह सामगान करनेवालों का 'प्रथम' स्वर था; इसका नाम 'मध्यम' तो तब हुआ है, जब तुंबुरु को धैवत और निषाद का दर्शन हो गया और सप्तक की पूर्णता हो गई है।

तो सामवेदियों का 'प्रथम' और वेणु-वादकों का 'मध्यम' स्वर हमें षड्ज-पंचम-भाव या मध्यम-षड्ज-भाव, षड्ज-मध्यम-भाव या मध्यम-निषाद-भाव और

षड्ज-अंतर-गांधार-भाव या मध्यम-धैवत-भाव जैसे प्राकृतिक स्वर-संबंधों के आधार पर षड्ज-ग्राम का मूल स्वर-सप्तक देता है।

मध्यम से पूर्ववर्ती स्वर षड्ज, ऋषभ, गांधार को हम पूर्व-भाग और मध्यम से परवर्ती पंचम, धैवत, निषाद को हम पर-भाग में अवस्थित स्वर कहेंगे।

मध्यम स्वर 'षड्ज-पंचम-भाव' के आधार पर हमें पूर्व-भाग में स्थित षड्ज और उस षड्ज के द्वारा षड्ज-पंचम-भाव के आधार पर हमें षड्ज का संवादी पंचम स्वर देता है।

मध्यम स्वर षड्ज-मध्यम-भाव के आधार पर हमें निषाद पर-भाग में देता है। और वह निषाद षड्ज-मध्यम-भाव के आधार पर हमें पूर्व-भाग में गांधार देता है। यह क्रिया-अंतर सरल है।

मध्यम-धैवत-भाव या षड्ज-अंतरगांधार-भाव जैसे स्वयंभू-संबंध के आधार पर मध्यम ही हमें धैवत स्वर पर-भार में देता है और यही धैवत षड्ज-मध्यम-भाव के आधार पर हमें ऋषभ देता है।

जिस प्रकार आज मंद्र-षड्ज से उत्थित होनेवाली ध्वनि 'अंतरगांधार' अथवा 'स्वयंभू गांधार' सुनाई देती है, उसी प्रकार यह ध्वनि तुंबुरु को मध्यम की तंत्री से उठती हुई सुनाई दी थी। यह ध्वनि 'धीवान्' (बुद्धिवान्) अर्थात् स्वरज्ञ व्यक्ति के कानों को ही सुनाई दे सकती थी, इसी लिए इस ध्वनि का दर्शन करने के पश्चात् इसका नाम धैवत रखा गया था। धैवत शब्द का अर्थ 'बुद्धिमान व्यक्तियों को सुनाई देनेवाली ध्वनि है।'

भरत ने 'सा-म' में भी नौ श्रुतियों का अंतर बताया है और 'म-नि' में भी षड्ज-ग्राम के 'सा-म' ही मध्यम-ग्राम के 'म-नि' हो जाते हैं, यह भरत का असंदिग्ध विधान है। इसका अर्थ स्पष्ट रूप में यही है कि 'सा-म' अंतर और 'म-नि' अंतर सर्वथा समान हैं। क्योंकि दोनों ग्रामों के 'म-नि' का अंतराल एक-जैसा है, इसलिए इस संबंध में किसी शंका के लिए अवकाश नहीं है।

संवाद

कुछ लोगों ने शंका की है कि भरत ने 'म-नि' में परस्पर संवाद नहीं बताया है, अतः 'म-नि' का अंतर संभवतः 'सा-म'-अंतर के बराबर नहीं है। यह शंका निर्मूल है। प्राचीनों की भाषा में जब तक संवाद का अर्थ न समझ लिया जाए, तबतक इस निष्कर्ष पर पहुँचना ठीक नहीं।

किन्हीं दो ध्वनियों में 'संवाद' होने के लिए उनमें नौ या तेरह श्रुतियों का अंतर-मात्र ही पर्याप्त नहीं, अपितु उन दोनों स्वरों की श्रुति-संख्या का भी समान होना प्राचीनों की दृष्टि में आवश्यक है।

'म-नि' का अंतर नवश्रुतिक अवश्य है, परंतु इन दोनों स्वरों की श्रुति-संख्या समान नहीं है—मध्यम चतुःश्रुतिक है और निषाद द्विश्रुतिक। इसका परिणाम यह

है कि अवरोह की ओर 'मगुरे'–जैसा त्रिक हमें स्वरों का जो अनुपात देता है, उस अनुपात की प्राप्ति हमें 'निधप' में नहीं होती। वास्तव में 'मगुरे' का उत्तर 'सानिध' में है और 'निधप' का उत्तर 'गुरेसा' में।

जातियों में लोप-विधि

जातियों के संपूर्ण रूप से षाडव रूप भी बनते हैं और औडुव रूप भी। जिस स्वर के लोप से षाडव रूप बनता है, उसके संवादी स्वर के लोप से ही औडुव रूप भी बन सकता है, यह एक सामान्य नियम है। षड्ज-ग्राम की शुद्ध जातियों में इस नियम का उलंघन कभी नहीं होता।

लोप्य तथा अलोप्य स्वर

जिस स्वर का लोप होने से षाडव या औडुव रूप बनता हो, वह लोप्य स्वर कहलाता है। जिन जातियों में निषाद के लोप से उनका षाडव रूप बनता हो, उन जातियों के षाडव रूप का निर्माण निषाद के लोप से ही होगा। इन दोनों की श्रुति-संख्या समान होने के कारण 'सा–ध' और 'म–रे' स्वर-संगतियों का अंतराल समान होगा, इसलिए 'गु–नि' में संवाद बताया गया है।

मध्यम का लोप किसी ग्राम में नहीं होता तथा निषाद की और मध्यम की श्रुति-संख्या में अंतर भी है, इसलिए भी मध्यम और निषाद के संवाद की चर्चा भरत ने नहीं की है।

वास्तव में वहाँ 'संवाद' का अर्थ गानक्रिया-संबंधी संवाद है, केवल ध्वनि-संबंधी संवाद नहीं।

फिर भी औडुव रूप निर्माण करने की यह विधि निरपवाद नहीं है।

यद्यपि षड्ज-ग्राम की शुद्ध जातियों में इस नियम का उलंघन नहीं है, परंतु संसर्गज विकृत जाति षड्जोदीच्यवा में ऋषभ के लोप से षाडव रूप बनता था; इसका औडुव रूप बनाने के लिए धैवत के स्थान पर पंचम का लोप किया गया है, क्योंकि षड्ज-ग्राम में धैवत का लोप षड्ज-ग्राम की जातियों के गेय रूप का ही विनाश कर देगा। 'रे–प' में षड्ज-ग्राम के अंतर्गत दस श्रुतियों का अंतर होने के कारण संवाद का अभाव है, परंतु षड्जोदीच्यवा में 'रे–प' के लोप से औडुव रूप बनाया गया है।

मध्यम-ग्राम के 'रे–ध' में तेरह श्रुतियों का अंतर तो है, परंतु वहाँ ऋषभ त्रिश्रुतिक है और धैवत चतुःश्रुतिक। गांधारी जाति मध्यम-ग्रामीय है, जिसका षाडव रूप ऋषभ के लोप से बनता है। मध्यम-ग्राम के 'रे–प' में षड्ज-मध्यम-भाव है ओर ये दोनों त्रिश्रुतिक भी हैं, परंतु मध्यम-ग्राम में 'पंचम' का लोप उसकी जातियों के रूप का विनाशक हो जाएगा; इसलिए गांधारी, रक्तगांधारी और कैशिकी जातियों के औडुव रूप 'रे–ध' के लोप से बनते हैं।

इससे सिद्ध है कि षड्ज-ग्राम में धैवत का अविलोपी होना और मध्यम-ग्राम में पंचम का अविलोपी होना लोपविधि के इस सामान्य नियम का विरोध भी करता था

कि लोप्य स्वरों में ध्वनि-संवाद और समानश्रुतिकता आवश्यक हैं। अस्तु, यह असंदिग्ध है कि लोप-विधि में अपवाद के अवसर भी निश्चित थे और उनका कारण भी निश्चित और उपयुक्त था।

अब तक के विचार का सारांश यह है :—

(अ) सरस्वती-वीणा के बाज के तार की ध्वनि को 'सा' मानने पर जो बिलावल प्राप्त होता है, वह षड्ज-ग्राम की शुद्ध रजनी मूर्च्छना है। इस बिलावल के 'रे, ग, म, प, ध, नि, सां, रें' षड्ज-ग्राम की प्रथम शुद्ध मूर्च्छना है।

(आ) आज का भैरवी ठाठ मध्यम-ग्राम के ऋषभ से आरंभ होनेवाली शुद्ध मूर्च्छना है। सरस्वती-वीणा के 'ग, म, प, ध, नि, सां, रें, गं' में आज के भैरवी ठाठ के दर्शन होते हैं और 'रे, ग, म, प, ध, नि, सां' में मध्यम-ग्राम की षड्ज से आरंभ होनेवाली शुद्ध मूर्च्छना के।

(इ) सरस्वती-वीणा के 'ग, म, प, ध, नि, सां, रें, गं' में काफी ठाठ मिलेगा। यह मध्यम-ग्राम की ऋषभ से आरंभ होनेवाली सांतरा मूर्च्छना है।

(ई) प्राचीनों की दृष्टि में मूल शुद्धस्वर-सप्तक वह है, जिसका आरंभिक स्वर चतुःश्रुतिक हो और द्वितीय, तृतीय स्वर क्रमशः त्रिश्रुतिक और द्विश्रुतिक हों। अनुपात की दृष्टि से इन तीनों स्वरों के साथ षड्ज-पंचम-भाव से संवाद करनेवाले स्वर पर-भाग में विद्यामान हों, मध्यम स्वर अनुपात की दृष्टि से सप्तक के आदिम स्वर और अंतिम स्वर के ठीक मध्य में हो, साथ-ही-साथ सप्तक में आदिम स्वर के संवादी स्वर दो हों।

ये समस्त गुण षड्ज-ग्राम के मूल सप्तक में ही हैं, संसार के किसी अन्य सप्तक में ये सभी गुण होना संभव ही नहीं है।

(उ) मध्यम प्रवर स्वर है, क्योंकि यह क्रम और अनुपात, दोनों ही दृष्टि से सप्तक के ठीक बीचोबीच है और षड्ज-पंचम-भाव, षड्ज-मध्यम-भाव और षड्ज-अंतर-गांधार-भाव या मध्यम-धैवत-भाव के आधार पर हमें क्रमशः 'सा–प', 'नि़–ग़' और 'ध–रे' जैसे संवादी स्वरों के जोड़े देता है।

(ऊ) 'सा–म'-अंतर और 'म–नि़'-अंतर बराबर हैं। इनमें परस्पर ध्वनि-संवाद होने पर भी इनमें गान-संवाद न बताए जाने का कारण 'म–नि़' का समान-श्रुतिक न होना है। गान-संवाद को समझने के लिए लोप-विधि का समझा जाना परमावश्यक है।

२. प्रश्न—शार्ङ्गदेव ने अपने 'रत्नाकर' के आरंभ में 'श्रुति-वीणा' रचकर दिखाई है; क्या वह उपयुक्त है? क्यों?

उत्तर—मतंग का 'बृहद्देशी' १९२८ ई० में 'अनंतशयनम् ग्रंथावलि' के अंतर्गत छपा। आपको उसे देखने का अवसर नहीं मिला। मतंग के उतने ही उद्धरणों से आपका परिचय है, जितने 'रत्नाकर' में दिए हुए हैं। यदि 'बृहद्देशी' आपने देखा होता,

तो आपको ज्ञात होता कि 'श्रुति-वीणा' की रचना शार्ङ्गदेव ने नहीं की है, अपितु उसने उसे जैसा-का-तैसा मतंग से लिया है।

शार्ङ्गदेव ने श्रुति-वीणा पर जो क्रमशः समान ऊँचाई में बाईस तारों को मिलाने के लिए कहा है, उसका तात्पर्य यही है कि संवाद के आधार पर स्वरों की वास्तविक स्थापना की जाए, तो तारों को बहुत अधिक उतारना-चढ़ाना न पड़े। आप इस प्रकार मिलाए हुए तारों को ही षड्ज-ग्राम की बाईस श्रुतियों का व्यंजक मान बैठे हैं, जबकि शार्ङ्गदेव ने कहीं यह नहीं कहा है कि बाईस तारों से उद्भूत होनेवाली वे ध्वनियाँ किसी भी सप्तक की बाईस श्रुतियाँ हैं। यदि यही षड्ज-ग्राम की बाईस श्रुतियाँ होतीं, तो भला किसलिए 'ध्रुव-वीणा' और 'चल-वीणा' नामक दो श्रुति-वीणाओं की आवश्यकता होती और क्या आवश्यकता भला सारणा-क्रिया की होती ! मतंग अथवा उनके अनुवर्ती शार्ङ्गदेव पागल तो थे नहीं, जो व्यर्थ में ही सारणा-क्रिया करते फिरते, जिसका प्रयोजन ही बाईस श्रुतियों के रूपों की प्राप्ति है।

शार्ङ्गदेव ने उन तारों से उत्पन्न ध्वनियों को सामान्य 'श्रुति' कहा है और उनको 'श्रुति' कहने का कारण उनकी श्रवणगोचरता बताया है। यदि यही बाईस ध्वनियाँ षड्ज-ग्राम की बाईस श्रुतियाँ होतीं, तो शार्ङ्गदेव ने वहीं उनके नाम तीव्रा, कुमुद्वती, मंदा, छंदोवती इत्यादि लिख डाले होते। शार्ङ्गदेव ने तो श्रुतियों पर स्वरों की स्थिति स्वर-स्थापना और सारणा-क्रिया के कहीं पश्चात् बताई है और वहीं श्रुतियों के नाम भी बताए हैं। इससे सिद्ध होता है कि षड्ज-ग्राम की वास्तविक श्रुतियों की प्राप्ति सारणा-क्रिया से होती है; उनकी प्राप्ति के पश्चात् ही उनके नाम बताए गए हैं।

शार्ङ्गदेव ने श्रुति-वीणा की चौथी, सातवीं, नवीं, तेरहवीं, सत्रहवीं, बीसवीं और बाईसवीं 'तंत्रियों' पर (श्रुतियों पर नहीं, क्योंकि ग्राम की श्रुतियाँ तो अभी हैं ही नहीं) 'षड्ज' इत्यादि स्वरों की 'स्थापना' करने के लिए कहा है, यह नहीं कहा कि पूर्वोक्त प्रकार से मिलाई हुई श्रुति-वीणा की चौथी, सातवीं इत्यादि तंत्रियों को षड्ज, ऋषभ इत्यादि समझ लेना चाहिए। 'स्थापना' उस वस्तु की होती है, जो वहाँ पहले से स्थापित न हो। स्वरों की स्थापना का आधार 'संवाद' का ज्ञान होता है। मतंग ने नौ और तेरह श्रुतियों के अंतर को संवाद बताया ही है, सात श्रुतियों के नैसर्गिक अंतर को भी वे संवाद कहते हैं। यदि आपको 'बृहद्देशी' देखने का अवसर मिला होता, तो इस संवाद का ज्ञान अवश्य होता। अस्तु, मतंग की ध्रुव-वीणा का अनुकरण करनेवाले शार्ङ्गदेव तो मतंग के मत से परिचित थे ही। ध्रुव-वीणा के पूर्वोक्त तारों पर षड्ज-ग्राम के मूल सप्तक की स्थापना करके, चल-वीणा पर उसी सप्तक की स्थापना करने के पश्चात् सारणा-क्रिया की जानी है और प्रत्येक सारणा का परिणाम ध्रुव-वीणा पर अविचल रूप से स्थापित करते जाना है। ध्रुव-वीणा पर एक सारणा का परिणाम स्थापित करने के पश्चात् उसकी उन तंत्रियों को अगली सारणा में छूना-छेड़ना नहीं है, यही ध्रुववीणा का अचलत्व है। उसपर जो परिणाम अंकित हो जाए, वह अविचल रूप से अंकित हो जाना चाहिए। हाँ, चलवीणा के तारों को प्रत्येक सारणा में आवश्यकता के अनुसार उतारा जा सकता है। चल-वीणा सारणा-क्रिया के लिए है और ध्रुव-वीणा सारणाओं के परिणामों को नोट करने के लिए।

आपके तो क्या, आपके परम श्रद्धेय वेंकटमखी के बहत्तर मेलकर्त्ताओं में भी षड्ज-ग्राम के शुद्ध सप्तक की प्राप्ति न होगी। हाँ, जैसाकि कहा जा चुका है, आपको अपने बिलावल के 'रे, ग, म, प, ध, नि, सां' में षड्ज-ग्राम के मूल शुद्ध सप्तक की प्राप्ति हो जाएगी।

३. प्रश्न—क्या आप सिद्ध कर सकते हैं कि शार्ङ्गदेव आदि पंडितों को नाद के आंदोलन की जानकारी थी? यदि नहीं, तो वे अपने स्वर किस प्रकार कायम करते थे?

उत्तर—ध्वनि तरंगमय है और 'आकाश' नामक तत्त्व उसका वाहक है। 'ध्वनि' आकाश का गुण है, यह तो भारतीय दर्शनों का सामान्य व्यक्ति भी जानता रहा है। मतंग ने कहा है—'ध्वनि को परम कारण जानना चाहिए; वही सबका कारण है। स्थावर और जंगम जगत् को ध्वनि ने आक्रांत कर रखा है।' यदि विज्ञान की शाखा 'फ़िज़िक्स' की बात करते हुए आप ध्वनि के आंदोलन की चर्चा कर रहे हैं, तो इतना कहा जा सकता है कि शार्ङ्गदेव जैसे आचार्य इतना अवश्य जानते थे कि मंद्र-सप्तकीय ध्वनि की अपेक्षा उस ध्वनि का मध्य-सप्तकीय रूप द्विगुण होता था और मध्य-सप्तकीय रूप की अपेक्षा तार-सप्तकीय रूप। मुसलमान गुणी भी तार 'सां' को मध्य 'सा' की अपेक्षा दून का 'सां' कहते हैं।

शार्ङ्गदेव-जैसे आचार्य भी स्वर-संवाद के आधार पर ही स्वर-स्थापना करते थे। शार्ङ्गदेव ने 'रत्नाकर' के वाद्याध्याय में किन्नरी पर सारिकाओं का स्थान गणित के आधार पर निश्चित किया है। किन्नरी के तार सारिकाओं से जितने ऊँचे रहने चाहिए, यह भी वहाँ स्पष्ट लिखा गया है। तार को पर्दे का स्पर्श कराने से तार दबता है और उसका खिंचाव बढ़ता है, इस कसर का ध्यान भी वहाँ रखा गया है।

आपके परम आदर्श वेंकटमखी ने तो कहा है कि वीणा का निर्माण लक्ष्य को जाननेवाले चतुर शिल्पी से कराना चाहिए। आज जो गुणी निहायत अच्छी तरबों या तानपूरे के तारों को मिलाते हैं, उन्हें आंदोलनों की प्रत्यक्ष जानकारी कहाँ तक है? सीधी-सी बात है कि स्वरों के संवाद-संबंध का ज्ञान स्वर-स्थापना का कारण सदा से रहा है।

४. प्रश्न—आज हिंदुस्तानी पद्धति का शुद्ध ठाठ बिलावल माना जाता है। वह शार्ङ्गदेव का कौन-सा ठाठ होगा? यह (बिलावल) शार्ङ्गदेव का वर्णित 'शुद्ध' क्यों नहीं हो सकेगा?

उत्तर—जिस बिलावल को आप शुद्ध ठाठ कहते हैं, वह आपके गुरु वजीर खाँ की वीणा के बिलावल से भिन्न है; क्योंकि उस बिलावल के 'रे–ध' में परस्पर संवाद नहीं है। आपने स्वयं शुद्धता का कोई लक्षण नहीं किया है। आपके 'ग–ध' में दस श्रुतियों का अंतर है, जो सरस्वती-वीणा के 'ग–ध' में नहीं है।

आपने स्वरों की शुद्ध स्थिति उनकी आदिम श्रुति पर मान डाली है, जिसके पीछे न कोई तर्क है, न प्रमाण। षड्ज की प्रथम श्रुति पर षड्ज का शुद्ध रूप मान

लेने से ऋषभ की प्रथम श्रुति पर आपका शुद्ध ऋषभ प्रलय-काल तक भी न मिलेगा। आप स्वयं समस्त श्रुतियों को अकारण ही समान मानकर स्वरों की शुद्धावस्था उनकी प्रथम श्रुति पर मान बैठे हैं। आपकी दृष्टि में आज का उत्तर-भारतीय संगीत केवल बारह स्वरों के आधार पर टिका है, इसलिए आपको श्रुतियों के झंझट में पड़ने की आवश्यकता ही न थी।

यह प्रथम प्रश्न के उत्तर में बताया जा चुका है कि शार्ङ्गदेव की षड्ज-ग्रामीय निषादादि शुद्ध मूर्च्छना आपका बिलावल है। सरस्वती-वीणा का बिलावल षड्ज-ग्राम की अंतरगांधार-युक्त मध्यमादि मूर्च्छना है। यही मध्यम-ग्राम की निषादादि शुद्ध मूर्च्छना भी है।

आपका बिलावल षड्ज-ग्राम की मूल मूर्च्छना नहीं हो सकता; उसके कारण निम्नलिखित हैं :—

(क) **बिलावल ठाठ** में अनुपात की दृष्टि से मध्यम का 'मध्यमत्व' नष्ट हो जाता है। सप्तक के आरंभक स्वर 'सा' के पश्चात् मध्यम नौ श्रुतियों के अंतर पर स्थित है, परंतु सप्तक के अंतिम स्वर काकली निषाद से वह 'मध्यम' ग्यारह श्रुति पूर्व है। इसलिए यह सप्तक **शार्ङ्गदेव या भरत का मूल सप्तक नहीं हो सकता।**

(ख) षड्ज के संवादी पंचम का संवाद इस सप्तक में ऋषभ के साथ भी है। किसी भी ग्राम के मूल सप्तक में पंचम के साथ षड्ज और ऋषभ—दोनों का संवाद असंभव है।

(ग) षड्ज और अंतरगांधार का पारस्परिक अंतर सात श्रुतियों का है, यह आप भी मानते हैं। भरत और शार्ङ्गदेव के 'म–ध' में भी यही अंतर है। आपके 'म–ध' में आठ श्रुतियों का अंतर है, इसलिए **आपका बिलावल षड्ज-ग्रामीय मूल सप्तक नहीं।**

(घ) शार्ङ्गदेव के 'रे–प' में दस श्रुतियों का अंतर है, जबकि बिलावल के 'रे–प' में नौ श्रुतियों का अंतर है, भरत-शार्ङ्गदेव का ऋषभ षड्ज के पश्चात् तीन श्रुतियों के अंतर पर स्थित है, परंतु बिलावल का ऋषभ षड्ज के पश्चात् चार श्रुतियों के अंतर पर है। **इसलिए बिलावल षड्ज-ग्राम का मूल सप्तक नहीं** हो सकता।

(ङ) बिलावल में—आपके बिलावल में—'प–ध'-अंतर चतुःश्रुतिक है और षड्ज-ग्रामीय मूल सप्तक में 'प–ध'-अंतर त्रिश्रुतिक है। इसलिए **आपका बिलावल षड्ज-ग्रामीय मूल सप्तक नहीं हो सकता।**

(च) षड्ज-ग्रामीय मूल सप्तक में त्रिश्रुतिक ऋषभ के साथ षड्ज-मध्यम-भाव के आधार पर संवाद करके चतुःश्रुतिक पंचम को एक प्रमाण श्रुति उतारकर मध्यम-ग्राम का त्रिश्रुति पंचम प्राप्त किया जाता है, परंतु बिलावल ठाठ में पंचम का संवाद षड्ज और ऋषभ—दोनों के साथ होने के कारण पंचम को एक प्रमाण-श्रुति उतारने का मार्ग ही अवरुद्ध हो गया है। इसलिए **आपका बिलावल ही ग्राम-ज्ञान का शत्रु बन गया है।**

५. प्रश्न—अपने यहाँ तीन प्रकार के स्वरांतर हैं और पश्चिम की ओर भी तीन ही हैं। क्या केवल इतने साम्य से पश्चिम के त्रिश्रुतिक, द्विश्रुतिक इत्यादि स्वर अपने ग्रंथों पर लादे जा सकेंगे? इस बात का प्रमाण किस ग्रंथ से दिया जा सकेगा?

उत्तर—संस्कृत में जिसे 'मनुष्य' कहते हैं, अँग्रेजी में उसे ही 'मैन' (Man) कहते हैं; क्या यह 'अष्टाध्यायी' के आधार पर प्रमाणित किया जा सकेगा? 'रसाल' और 'मैंगो' (Mango) एक ही पदार्थ हैं; यह बात क्या अष्टादश पुराणों में मिलेगी? ऐसी बातों का निर्णय तो लक्षणों की समानता से ही होता है!

षड्ज-मध्यम-भाव, षड्ज-पंचम-भाव और षड्ज-अंतरगांधार-भाव सनातन और सार्वभौम सत्य हैं। षड्ज-अंतरगांधार-भाव या 'कांसोनेंस ऑव् थर्ड' का ज्ञान ईसा की प्रथम शती ई० में पायथॉगोरस के मतानुयायियों को हुआ है; स्वयं पायथॉगोरस इस ज्ञान से वंचित था। तुंबुरु को इन तीनों संबंधों का ज्ञान था। 'सा–म', 'सा–प' और 'म–ध' में पूर्वोक्त तीनों अंतराल या संबंध विद्यमान हैं।

पाश्चात्य जिस स्वर-समुदाय को अपना प्राकृतिक सप्तक कहते हैं, उसमें षड्ज-ग्राम की सांतरा मध्यमादि मूर्च्छना के और मध्यम-ग्राम की निषादादि शुद्ध मूर्च्छना के सभी लक्षण घटित होते हैं। ऐसी स्थिति में यह स्पष्ट है कि उनके कारणों या घटकों में भी साम्य होगा। पश्चिम की शुद्ध स्वरावली मध्यम-ग्राम की निषादादि मूर्च्छना की शुद्ध स्वरावली है। अतः यह स्वयं सिद्ध है कि हमारे यहाँ के चतुःश्रुतिक, त्रिश्रुतिक और द्विश्रुतिक अंतराल ही पश्चिम के भी त्रिविध अंतराल हैं।

६. प्रश्न—प्राचीन ग्रंथकार अंतर और काकली को विकृत मानते हैं, इससे क्या ज्ञात होता है?

उत्तर—सप्तक में अनुपात की दृष्टि से मध्यम का मध्यमत्व तभी सुरक्षित रहता है, जबकि निषाद की स्थिति षड्ज से अठारह श्रुतियों के अंतर पर सप्तक के पर-भाग में हो। इसी दशा में मध्यम का संबंध निषाद के साथ वह हो सकता है, जो षड्ज का मध्यम के साथ है। यही निषाद हमें मध्यम-ग्राम का शुद्ध मध्यम, षड्ज-ग्राम के 'म–नि' को मध्यम-ग्राम के 'स–म' मानने पर, देता है। यही निषाद हमें वह गांधार देता है, जिसे धैवत के आधार पर दो श्रुति चढ़ाकर षड्ज-ग्रामीय अंतरगांधार या मध्यम-ग्रामीय धैवत बनाया जाता है। काकली निषाद में ऐसी कोई विशेषता नहीं है, इसलिए वह विकृत माना जाता है।

काकली निषाद का ज्ञान 'म–ध' अंतर के ज्ञान के पश्चात् हुआ है, क्योंकि 'म–ध' और 'प–नि' का अंतर समान है। इसी प्रकार 'सा–अंतरगांधार' के अंतर की प्राप्ति भी 'म–ध' अंतर के ज्ञान का परिणाम है।

अंतरगांधार और काकली निषाद को विकृत कहने का यही कारण है और ज्ञान के क्रम में इनकी प्राप्ति अंत में होने के कारण ही इन्हें पौराणिक भाषा में 'शूद्र' कहा गया है।

७. प्रश्न—श्रुति और स्वर में आप कैसा भेद मानते हैं? इस विषय पर आपको किस ग्रंथ का मत पसंद आता है।

उत्तर—'रंजक' अथवा 'अरंजक' अनुरणनात्मक ध्वनि 'श्रुति' है। जब वह रंजक होती है, तब वह 'स्वर' भी कहलाती है; अर्थात् जो ध्वनि रंजक है, वह रंजक होने के कारण 'स्वर' है, क्योंकि 'स्वर' शब्द का अर्थ ही 'स्वत: रंजन करनेवाली 'ध्वनि' है; वही ध्वनि कर्णगोचर अथवा श्रवणीय होने के कारण 'श्रुति' भी है। यदि वह ध्वनि रंजक नहीं है, तो वह 'स्वर' नहीं है, परंतु श्रवणीय होने के कारण 'श्रुति' तो है ही। 'श्रुति' और 'स्वर' शब्दों की व्युत्पत्ति समझनेवाला व्यक्ति इस विषय में स्पष्ट धारणा रखता है। अभिनवगुप्त ने भी यही स्पष्टीकरण किया है। आपको यह सब-कुछ पढ़ने-देखने का अवसर नहीं मिला।

ज्ञान की उपलब्धि और ज्ञान के प्रतिपादन या प्रशिक्षण के क्रम में सदा अंतर होता है। बच्चा पहले भाषा सीखता है, बोलता है, वह वाक्य सीखता है। जब बोलने-चालने लगता है, तब उसे वर्णमाला सिखाई जाती है। अक्षरों के व्यवस्थित क्रम का ज्ञान उसे 'वर्णमाला' के ज्ञान से होता है। भाषा की शिक्षा तो उसे सुन-सुनकर हो चुकी होती है।

आरंभ में कुछ धुनें प्रचलित थीं; वे धुनें कुछ और धुनों को जन्म देती थीं। इन जन्मदायिनी मूल धुनों को 'जाति' कहा गया। इन धुनों की स्वरावलि में सूक्ष्मतम अंतर पाया गया, उसे 'श्रुति' नाम दिया गया। 'श्रुति' के आधार पर स्वरों का नामकरण हुआ। स्वरों के नामकरण में उनके परिमाण कारण थे। स्वरों के उस समूह को ग्राम कहा गया, जो मूर्च्छनाओं या विभिन्न स्वर-सप्तकों का आधार हो। मूल ग्राम का नाम षड्ज-ग्राम रखा गया। विचार करने पर पता चला कि कुछ धुनों में 'पंचम' इतना उतर जाता है कि इसका संवाद ऋषभ के साथ होने लगता है। ऐसे पंचम से युक्त स्वर-सप्तक को मध्यम-ग्राम कहा गया। षड्ज-ग्राम के 'सा' को 'म' कहने पर मध्यम-ग्राम के 'म–प' षड्ज-ग्राम के 'सा–रे' में ही मिल जाते थे। षड्ज-ग्राम के मूल सप्तक की मूल ध्वनि को 'म' का नाम देने से और षड्ज-ग्राम के 'सा' के पश्चात् 'ग' को दो श्रुति चढ़ा देने से षड्ज-ग्राम की विकृत मूर्च्छना में ही मध्यम-ग्राम की मूल मूर्च्छना प्राप्त हो जाती थी, इसी लिए मूर्च्छना-सिद्धि के दो प्रकार माने गए।

षड्ज-ग्राम के पंचम को ऋषभ के आधार पर एक प्रमाण-श्रुति उतारने से मध्यम-ग्राम की 'षड्जादि' मूर्च्छना प्राप्त हो जाती थी और षड्ज-ग्राम के मूल गांधार को दो श्रुति चढ़ा देने से षड्ज-ग्राम की षड्ज से आरंभ होनेवाली मूर्च्छना में, मध्यम-ग्राम की मूल मूर्च्छना का दर्शन होने लगता था।

सारणा-क्रिया में षड्ज-ग्राम के पंचम को एक 'प्रमाण-श्रुति' उतारकर श्रुतियों की संख्या और परिमाणों की सिद्धि की गई है। पहली विधि का प्रयोजन यही है।

दूसरी विधि का आश्रय मूर्च्छना-सिद्धि के लिए लिया गया है। विधियाँ दो हैं, उनके प्रयोजन भी दो हैं।

'संवाद' स्वर-स्थापना का कारण है। स्वर-स्थापना 'प्रमाण-श्रुति' के अंतर की सिद्धि कराती है। यह अंतर-सिद्धि ग्रामों की सिद्धि कराती है। ग्राम-सिद्धि हमें सारणा-क्रिया देती है। सारणा-क्रिया हमें श्रुतियों की संख्या और विभिन्न परिमाण देती है।

भरत का एक वाक्य है—'जातियों और श्रुतियों से स्वर ग्रामत्व को प्राप्त हुए।' इस वाक्य में ज्ञान की उपलब्धि का क्रम है और 'नाट्यशास्त्र' के अट्ठाईसवें अध्याय में ज्ञान के प्रतिपादन का क्रम है। भरत का यह वाक्य 'नाट्यशास्त्र' के अठारहवें अध्याय में है। इस वाक्य का प्रयोग दृष्टांत के रूप में हुआ है।

८. प्रश्न—प्राचीन ग्रंथकारों के पास 'श्रुति' नापने के कौन-से साधन होंगे?

उत्तर—यदि आपका तात्पर्य यह जानना है कि सप्तक के अंतर्गत बाईस श्रुतियों के ज्ञान का साधन प्राचीनों के पास क्या था, तो उसका उत्तर यही है कि 'सारणा-क्रिया' का प्रयोजन यही है। प्रथम सारणा के परिणाम-स्वरूप 'प्रमाण-श्रुति' का ज्ञान होता है, जिसका अस्तित्व और प्रयोग स्वर-विधि का प्राण है। एक तार पर प्राप्त होनेवाली प्रमाण-श्रुति को केशाग्र-अंतर कहा गया है। अच्छे तंत्री-वादक सितार पर भी विभिन्न रागों के वादन के समय परदों को केशाग्र-अंतर चढ़ा-उतारकर अभीष्ट ध्वनियाँ प्राप्त करते हैं।

९. प्रश्न—आप 'अनुरणन' का क्या अर्थ समझते हैं?

उत्तर—'रणन' के पश्चात् सुनाई देनेवाली ध्वनि 'अनुरणन' है। घड़ियाल पर पड़नेवाली मूँगरी के आघात से उत्पन्न 'ठनाका' रणन है और 'ठनाके' के बाद गूँजनेवाली ध्वनि 'अनुरणन' है। 'साहित्य-शास्त्र' में वाच्यार्थ की उपमा 'रणन' से और उससे ध्वनित होनेवाले व्यंग्यार्थ की उपमा 'अनुरणन' से दी जाती है।

१०. प्रश्न—क्या आपको भरत और मतंग का श्रुति-प्रमाण व्यवस्थित ज्ञात होता है? क्यों?

उत्तर—भरत और मतंग का शब्द 'प्रमाण-श्रुति' है, 'श्रुति-प्रमाण' नहीं। षड्ज-ग्राम और मध्यम-ग्राम के पंचमों में जो पारस्परिक अंतर है, उस अंतर का नाम 'प्रमाण-श्रुति' है, क्योंकि वह अंतर षड्ज-ग्राम और मध्यम-ग्राम के अंतर का प्रमाण है। बिलावल को शुद्ध ठाठ मानने के आग्रह ने आपको प्रत्यक्ष संगीत में 'प्रमाण-श्रुति' के दर्शन से वंचित रखा। आपके बिलावल ठाठ के 'ग–ध' में यदि 'ध' को इतना उतार दिया जाए कि वह 'ग' का संवादी हो जाए, तो धैवत जिस परिमाण में उतरेगा, वह परिमाण ही 'प्रमाण-श्रुति' है।

आपने 'प्रमाण-श्रुति' का अर्थ 'श्रुति' का अथवा 'श्रुतियों' का प्रमाण मान लिया है, जो न व्याकरण से सिद्ध होता है न तात्पर्य से। इसी आधार पर आपने यह घोषणा कर दी है कि प्राचीनों की दृष्टि में समस्त श्रुतियाँ समान थीं और सारी श्रुतियों

को समान मानकर आपने स्वच्छंदतापूर्वक स्वरों की शुद्धावस्था की घोषणा उनकी आदिम श्रुतियों पर कर दी है। भरत और शार्ङ्गदेव के अनुसार सारणा-क्रिया करने पर ऋषभ की प्रथम श्रुति पर आपका शुद्ध ऋषभ ब्रह्मा को भी न मिलेगा।

११. प्रश्न—शार्ङ्गदेव ने चार सारणाएँ किस हेतु से बताई हैं ?

उत्तर—भरत, मतंग, शार्ङ्गदेव—सभी ने सारणा-चतुष्टयी का प्रयोजन सप्तकांतर्गत श्रुतियों के परिमाणों और संख्याओं की प्राप्ति माना है। आपने मतंग का श्रुति-वीणा-प्रकरण देखा नहीं, अन्यथा आप जान लेते कि शार्ङ्गदेव ने 'ध्रुव-वीणा' और 'चलवीणा' मतंग से ही ली हैं। शार्ङ्गदेव की ध्रुव-वीणा पर चढ़े हुए बाईस तारों की उन ध्वनियों को आप सप्तक की स्वयंसिद्ध बाईस श्रुतियाँ मान बैठे हैं, जो स्वर-स्थापना और सारणाक्रिया से पूर्व की हैं। यही मान लेने के कारण आपको शार्ङ्गदेव की सारणा-क्रिया निष्प्रयोजन प्रतीत होती है।

१२. प्रश्न—क्या 'द्वाविंशतिरेव श्रुतयः (श्रुतियाँ बाईस ही होती हैं) इसे सिद्ध करने के लिए श्रुति-स्वर-स्थानों को नियत स्थान पर स्वीकृत करना पड़ेगा ? क्या यह विभाग संतोषजनक हो जाएगा ?

उत्तर—सारणा-क्रिया जिन्होंने की है, वे जानते हैं कि सप्तक के आधार पर की हुई सारणा-क्रिया के परिणाम-स्वरूप 'ध्रुव-वीणा' के बाईसों तारों पर क्रमशः बाईस ध्वनियाँ स्थिर रूप में सुनाई देती हैं। प्रत्येक ध्वनि के लिए पृथक्-पृथक् तंत्री होने के कारण किन्हीं भी दो ध्वनियों को साथ-साथ छेड़कर उनका अंतर जाना जा सकता है।

जो लोग भूल से यह मान बैठे हैं कि सप्तक के अंतर्गत समस्त श्रुतियाँ समान हैं, वे सारणा-क्रिया के द्वारा प्राप्त बाईसों श्रुतियों में सभी ठाठ और कोमल, अति-कोमल स्वर इत्यादि प्राप्त करने की कल्पना करते हैं, परंतु समस्त श्रुतियों का परिमाण समान न होने के कारण इस आशा की पूर्ति होना असंभव है।

एक स्थान के अंतर्गत 'सा <u>रे</u> रे <u>ग</u> ग म मं प <u>ध</u> ध <u>नि</u> नि' नामक बारह स्वरों की कल्पना का मूल भरत-शार्ङ्गदेव की 'ग्राम-मूर्च्छना-पद्धति' में न होकर ईरानी मुकाम-पद्धति में है। यदि एक स्थान के अंतर्गत इन बारह स्वरों की कल्पना इस पद्धति में होती, तो मूर्च्छनाओं की कोई आवश्यकता न रहती।

विभिन्न मूर्च्छनाएँ हमें विभिन्न स्वर-सप्तक देती हैं। बिलावल, कल्याण, खमाज, काफी, आसावरी और भैरवी ठाठ दोनों ग्रामों की किसी-न-किसी शुद्ध या विकृत मूर्च्छना में मिल जाते हैं। हिंदुस्तानी पद्धति के भैरव, मारवा, पूर्वी और तोड़ी ठाठों की प्राप्ति हमें किसी भी ग्राम की किसी मूर्च्छना में नहीं होती।

जिन रागों की प्राप्ति मूर्च्छनाओं में हो सकती है, उन्हें ग्राम-राग या मूर्च्छना-राग कहा जाना उचित है और जिन रागों की प्राप्ति मेलों में ही संभव है, उन्हें

मेलराग कहा जाना चाहिए। 'प्रमाण-श्रुति' के महत्त्वपूर्ण और सूक्ष्म अंतर की उपेक्षा करके जब समस्त रागों को ठाठ-संख्या में ठूँसने की चेष्टा की जाती है, तभी असंतोष की वृद्धि होती है।

आचार्य अभिनवगुप्त ने ध्वनि के स्थान और ध्वनि के अंतराल—दोनों को ही 'श्रुति' कहा है। पूर्ववर्ती श्रुति की अपेक्षा परवर्ती श्रुति का स्थान उस सीमा का निर्धारक है और अंतराल उस मध्यवर्ती क्षेत्र का।

राग-वर्गीकरण की सुविधा (!) के लिए **'प्रमाण-श्रुति' के अंतर को सभी मेलवादियों या ठाठवादियों ने अनाहृत किया है।** इस अनादर या उपेक्षा के कारण ग्राम-ज्ञान का लोप हुआ है।

सारणा-विधि से श्रुतियों की प्राप्ति जब की जाती है, तब पता चलता है कि षड्ज, मध्यम और पंचम की आरंभिक और अंतिम श्रुति का प्रमाण 'प्रमाण-श्रुति' है और ऋषभ, धैवत, गांधार, निषाद की अंतिम श्रुति 'प्रमाणश्रुति' है। अर्थात् प्रत्येक स्वर की अंतिम श्रुति का परिमाण प्रमाण-श्रुति है, परंतु षड्ज, मध्यम, पंचम की आदिम श्रुति का परिमाण भी प्रमाण-श्रुति है।

लोग इस वास्तविकता को जानते हैं कि प्रमाण-श्रुतियों की संख्या एक सप्तक में दस है। प्रथम सारणा में स्वरों की अंतिम श्रुति के प्रमाणश्रुतित्व का निश्चय होता है और अंतिम सारणा यह बताती है कि चतुःश्रुतिक स्वरों की आदिम श्रुति का परिमाण भी प्रमाणश्रुति है।

प्रयोग की सूक्ष्मता के परिणामस्वरूप यदि कोई स्वर अपने स्थान से उतरता-चढ़ता है, तो यह अंतर एक 'प्रमाण-श्रुति' का ही होता है। प्राचीनों ने इस अंतर को एक तार पर भी प्रत्यक्ष करके देखा था और इस अंतर का नाम 'केशाग्र'-अंतर रखा था। अहोबल इत्यादि इस 'केशाग्र'-अंतर से परिचित थे, परंतु उन्होंने इस अंतर को जान-बूझकर उपेक्षित किया, क्योंकि वीणा पर 'केशाग्र'-अंतर का बोध करानेवाले परदों की स्थापना संभव नहीं थी। इस अंतर को बतानेवाले दो परदे परस्पर इतने निकट आ जाएँगे कि वीणा बजाने-योग्य नहीं रहेगी; इसलिए 'मेल' या 'ठाठ' वीणा-वादकों के लिए सुविधाजनक थे; गायकों का संबंध ठाठों से नहीं था। गले में तो परदे थे नहीं, जिनकी स्थापना में सुविधा के लिए प्रमाण-श्रुति के अंतर को भुलाया जाता।

१३. प्रश्न—पहले ग्रामों की क्या आवश्यकता थी?

उत्तर—गेय जातियों और उनसे उत्पन्न रागों के वर्गीकरण के लिए प्रयोज्य ध्वनियों को वैज्ञानिक और विशुद्ध ढंग से वर्गीकृत करना ग्राम-भेद का प्रयोजन था। आज भी अनेक प्रचलित रागों के वैज्ञानिक वर्गीकरण के लिए वही वर्गीकरण उपयुक्त है। 'प्रमाण-श्रुति' के सूक्ष्म और महत्त्वपूर्ण अंतर पर विचार किया ही जाना चाहिए और इसपर विचार करने की वैज्ञानिक पद्धति ग्राम-भेद ही है, जो राग के बाह्य-स्वरूप और उसके प्रभाव-पक्ष पर एकसाथ विचार करती है।

१४. प्रश्न—ग्राम तीन ही क्यों माने गए ?

उत्तर—भरत-संप्रदाय में गांधार-ग्राम की चर्चा नहीं है। अभिनवगुप्त ने चर्चा के इस परित्याग का कारण इस ग्राम की अतिमंद्रता, अतितारता और विस्वरता बताया है। शार्ङ्गदेव ने इस ग्राम की चर्चा की है, परंतु उसे दिवंगत बताया है। इस ग्राम के ऋषभ और धैवत भरत के ऋषभ-धैवत की अपेक्षा एक-एक प्रमाण-श्रुति उतरे हुए होते हैं और इसके निषाद और गांधार भरत के निषाद-गांधार की अपेक्षा एक-एक प्रमाण-श्रुति चढ़े होते हैं, षड्ज-मध्यम यथास्थान होते हैं, परंतु पंचम मध्यम-ग्राम जैसा त्रिश्रुतिक होता है।

भरत-संप्रदाय के मनीषियों का कार्य प्राप्त ध्वनियों को वर्गीकृत करना था; उनका वर्गीकरण दो ग्रामों में भली-भाँति हो गया, इसलिए उन्हें गांधार-ग्राम की आवश्यकता न पड़ी।

इन मनीषियों को विचारपूर्वक यह 'सत्य' ज्ञात हुआ कि कुछ गेय वस्तुओं में षड्ज और पंचम में संवाद रहता है और कुछ गेय वस्तुओं में ऋषभ-पंचम परस्पर संवादी रहते हैं। एक ही काल में पंचम का संवाद षड्ज और ऋषभ—दोनों स्वरों के साथ रहना असंभव है; इसलिए पंचम स्वर को ग्राम-भेदक माना गया। पंचम की चतुःश्रुतिकता और षड्ज के साथ षड्ज-पंचम-भाव से उसका संवादित्व षड्ज-ग्राम का प्रधान लक्षण हुआ और त्रिश्रुति-ऋषभ के साथ त्रिश्रुति-पंचम का, षड्ज-मध्यम-भाव से संवादित्व मध्यम-ग्राम का लक्षण हुआ।

ग्राम-भेद का मूल कारण पंचम का चतुःश्रुतिक और त्रिश्रुतिक प्रयोग है। इस भेद का कारण षड्ज-पंचम-भाव और षड्ज-मध्यम-भाव है।

ग्राम-ज्ञान के पश्चात् जब मूर्च्छनाओं पर विचार किया गया, तब पता चला कि षड्ज-ग्राम की मूर्च्छनाओं में यदि द्विश्रुति गांधार को चढ़ाकर अंतरगांधार कर दिया जाए और उसका नाम धैवत रख दिया जाए, तो षड्ज-ग्राम के सा, रे, अंतर-गांधार, म, प, ध, नि' की स्थिति मध्यम-ग्राम के 'म, प, ध, नि, स, रे, ग' की हो जाती है। इस प्रकार जो ध्वनि षड्ज-ग्राम की दृष्टि से षड्ज है, मध्यम-ग्राम की दृष्टि से वही मध्यम है। इस ध्वनि को षड्ज मानने पर इस स्वरा-वलि की तीसरी ध्वनि यदि द्विश्रुतिक हो, तो उसका नाम षड्ज-ग्राम की शुद्ध और आदिम मूर्च्छना हुआ और इस स्वरावलि की तीसरी ध्वनि यदि चतुःश्रुतिक हो और आदिम ध्वनि को मध्यम माना जाए, तो यह स्वरावलि मध्यम-ग्राम की प्रथम शुद्ध मूर्च्छना हुई। यह विधान वैणिकों की सुविधा के लिए है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मध्यम-ग्राम की प्राप्ति षड्ज-ग्राम में दो प्रकार से विकार करने पर प्राप्त होती है।

प्रथम विधि में षड्ज-ग्राम के पंचम को, ऋषभ के साथ संवाद करके, एक प्रमाण-श्रुति उतार दिया जाता है। स्वरों के नाम इस विधि में षड्ज-ग्राम जैसे ही

रहते हैं, केवल पंचम त्रिश्रुतिक हो जाता है। सारणा-प्रक्रिया में इसी विधि का आश्रय लेकर प्रथम सारणा की जाती है।

द्वितीय विधि में षड्ज-ग्राम के द्विश्रुति गांधार को, धैवत के साथ संवाद करके, दो श्रुति चढ़ाकर उसका नाम धैवत रख दिया जाता है और परिणामस्वरूप षड्ज-ग्राम के षड्ज, ऋषभ इत्यादि के नाम मध्यम-ग्राम की दृष्टि से मध्यम, पंचम इत्यादि हो जाते हैं। षड्ज-ग्राम की सांतरा मूर्च्छनाएँ स्वभावत: मध्यम-ग्राम की शुद्ध मूर्च्छनाएँ बन जाती हैं, परंतु मध्यम-ग्राम की किसी भी मूर्च्छना में षड्ज-ग्राम की शुद्ध स्वरावलि नहीं मिलती। इसी लिए षड्ज-ग्राम मूल ग्राम है और दोनों ग्रामों में प्रधान है।

मूर्च्छना-सिद्धि ने हमें बताया कि षड्ज-ग्राम के पंचम को उतारने से मध्यम-ग्राम का जो सप्तक हमें प्राप्त होता है, वह मूर्च्छना-प्रक्रिया की दृष्टि से मध्यम-ग्राम की चौथी मूर्च्छना है, क्योंकि मध्यम-ग्राम की प्रथम मूर्च्छना षड्ज-ग्राम की षड्ज से आरंभ होनेवाली सांतरा (अंतरगांधार-सहित) मूर्च्छना के स्वरों के नाम मध्यम, पंचम इत्यादि रखने पर प्राप्त होती है, अत: मध्यम-ग्राम की अन्वर्थता को देखते हुए मध्यम-ग्राम की प्रथम मूर्च्छना का आरंभक स्वर मध्यम-ग्राम की मूल ध्वनि 'मध्यम' है। मध्यम-ग्राम की दूसरी मूर्च्छना गांधार से, तीसरी मूर्च्छना ऋषभ से, चौथी मूर्च्छना षड्ज से, पाँचवीं मूर्च्छना निषाद से, छठी मूर्च्छना धैवत से और सातवीं मूर्च्छना पंचम से आरंभ होती है।

प्रश्न किया जा सकता है कि जब एक ग्राम की मूर्च्छना में अन्य ग्राम की मूर्च्छनाओं की प्राप्ति हो जाती है, तब दो ग्राम मानने की आवश्यकता क्या है ?

इसके दो उत्तर हैं। पहला उत्तर यह हैं कि किसी भी ग्राम की समस्त मूर्च्छनाओं में दूसरे ग्राम की समस्त मूर्च्छनाएँ प्राप्त नहीं होतीं। नीचे एक ही स्वरावलि के षड्ज-ग्रामीय और मध्यम-ग्रामीय नाम लिखे जाते हैं।

षड्ज-ग्रामीय नाम—

सा रे ग॒ ग म × प ध नि॒ नि

मध्यम-ग्रामीय नाम—

म प × ध नि॒ नि सा रे ग॒ ग

इस स्वरावलि पर विचार करने से ज्ञात होता है कि—

(अ) षड्ज-ग्राम की अंतर-गांधार-युक्त स्वरावलि में मध्यम-ग्राम के शुद्ध स्वर मिल जाते हैं।

(आ) षड्ज-ग्राम का काकली निषाद (नि) ही मध्यम-ग्राम की दृष्टि से अंतर-गांधार (ग) है, अत: षड्ज-ग्राम की साधारणी (अंतर गांधार और काकली निषाद युक्त) मूर्च्छनाओं में मध्यम-ग्राम की सांतरा (अंतरगांधार-युक्त) मूर्च्छनाएँ मिल जाएँगी।

परंतु :—

(इ) मध्यम-ग्राम की 'सकाकली' (काकली निषादसहित) मूर्च्छनाएँ षड्ज-ग्राम की किसी मूर्च्छना में नहीं मिलेंगी, क्योंकि मध्यम-ग्राम के काकली निषाद (नि) का प्रतिनिधित्व करनेवाला कोई स्वर षड्ज-ग्राम में नहीं। षड्ज-ग्राम के 'म-प' ही मध्यम-ग्राम के 'नि-सा' हैं। मध्यम अविकारी स्वर है। ग्राम की दृष्टि से मध्यम का उत्कर्ष संभव नहीं है; उसी ध्वनि को मध्यम-ग्राम की दृष्टि से 'नि' कहकर, जब दो श्रुति चढ़ाने पर मध्यम-ग्राम का काकली निषाद प्राप्त किया जाएगा, तो उसकी संज्ञा षड्ज-ग्राम की दृष्टि से कोई भी न होगी।

(ई) जहाँ षड्ज-ग्राम का द्विश्रुति गांधार है, वहाँ मध्यम-ग्राम का कोई स्वर नहीं, अतः मध्यम-ग्राम की किसी भी मूर्च्छना में षड्ज-ग्राम की कोई भी शुद्ध मूर्च्छना न मिलेगी।

दो ग्राम मानने का एक दूसरा कारण और है।

नीचे एक ही स्वरावलि के षड्ज-ग्रामीय और मध्यम-ग्रामीय नाम लिखे जाते हैं :—

षड्ज-ग्रामीय नाम—सा रे ग म प ध नि

मध्यम-ग्रामीय नाम—म प ध नि सा रे ग

यदि कोई राग ऐसा है, जिसमें इस स्वरावलि का चौथा स्वर लुप्त है, तो वह 'मध्यम-ग्राम' का राग माना जाएगा; क्योंकि मध्यम-ग्राम की दृष्टि से उस ध्वनि का नाम निषाद है और निषाद का लोप दोनों ग्रामों में होता है।

उस षाडव राग को षड्ज-ग्राम का राग नहीं माना जा सकता, क्योंकि षड्ज-ग्राम की दृष्टि से उस लोप्य या चौथी ध्वनि का नाम 'मध्यम' है और मध्यम का लोप किसी ग्राम में नहीं होता।

यदि इस स्वरावलि के चौथे और सातवें स्वर का लोप किसी षाडव राग में है, तो भी उसे मध्यम-ग्राम का राग ही माना जाएगा; क्योंकि मध्यम-ग्राम की दृष्टि से उनकी संज्ञा 'नि-ग' है। दोनों की श्रुतियाँ समान हैं, अर्थात् मध्यम-ग्राम की दृष्टि से दोनों ही द्विश्रुतिक स्वर हैं। 'नि-ग' का लोप दोनों ही ग्रामों में हो सकता है।

चौथे और सातवें स्वर के नाम षड्ज-ग्राम की दृष्टि से 'म-नि' होते हैं। मध्यम अविलोपी स्वर है और निषाद एवं मध्यम की श्रुति-संख्या उनके मूल रूपों में समान न होने के कारण उनमें गान-संवाद या राग-संवाद नहीं है। इसलिए वह राग षड्ज-ग्राम का राग नहीं कहलाएगा।

यदि पूर्वोक्त स्वरावलि में दूसरा स्वर लुप्त है, तो वह राग षड्ज-ग्राम का राग कहलाएगा, क्योंकि षड्ज-ग्राम में 'रे' लोप्य स्वर है। दूसरी ध्वनि का नाम मध्यम-ग्राम की दृष्टि से 'प' है, जोकि मध्यम-ग्राम का अविलोपी और ग्राम-परिचायक स्वर है। मध्यम-ग्राम का राग वह नहीं कहा जा सकता।

यदि पूर्वोक्त स्वरावलि में छठी ध्वनि लुप्त है, तो वह मध्यम-ग्राम का राग होगा; मध्यम-ग्राम की दृष्टि से उस ध्वनि का नाम ऋषभ है। षड्ज-ग्राम की दृष्टि से उस ध्वनि का नाम 'धैवत' है—जो षड्ज-ग्राम में लुप्त नहीं होता, इसलिए वह राग षड्ज-ग्राम से संबद्ध नहीं है।

इस स्वरावलि के पाँचवें स्वर का लोप संभव नहीं, क्योंकि मूर्च्छना के आरंभक स्वर का संवादी स्वर लुप्त नहीं होता।

ग्रामणी स्वर का प्रधान लक्षण यह है कि वह स्वयं चतुःश्रुतिक हो, उसके बाद-वाले स्वर की श्रुतियाँ तीन हों और उस स्वर को ग्रामणी स्वर मानने पर उससे प्राप्त होनेवाले मूल सप्तक में ग्रामणी स्वर का संवाद (ध्वनि-संवाद) उस सप्तक के चौथे और पाँचवें स्वर से हो।

षड्ज-ग्राम की मूल मूर्च्छना में षड्ज 'ग्रामणी' स्वर है। मध्यम और पंचम, दो स्वर उसके संवादी हैं। षड्ज स्वयं चतुःश्रुतिक है।

मध्यम-ग्राम की प्रथम शुद्ध मूर्च्छना में ग्रामणी स्वर 'मध्यम' चतुःश्रुतिक है। सप्तक के चौथे-पाँचवें स्वर निषाद और षड्ज से उसका ध्वनि-संवाद है और उससे अगला स्वर पंचम त्रिश्रुतिक है।

ग्रामणी स्वर की तीन विशेषताएँ—अर्थात् स्वयं का चतुःश्रुतिक होना, मूल सप्तक में दो संवादियों का जनक होना और ग्राम-स्थापना के परिणाम-स्वरूप अग्रिम स्वर का त्रिश्रुतिक रूप में निर्माण करना—षड्ज-ग्राम के षड्ज और मध्यम-ग्राम के मध्यम में ही हैं, इसलिए यही दोनों स्वर षड्ज-ग्राम और मध्यम-ग्राम के ग्रामणी स्वर क्रमशः हो सकते हैं।

ऋषभ-धैवत मूल रूप में त्रिश्रुतिक हैं, इसलिए ग्रामणी स्वर नहीं हो सकते, और मूल रूप में द्विश्रुतिक होने के कारण गांधार-निषाद भी इस दृष्टि से ग्रामणी स्वर नहीं हो सकते। भरत के षड्ज और मध्यम में पंचम की चतुःश्रुतिक और त्रिश्रुतिक—इन दो अवस्थाओं के कारण ग्रामणी स्वर होने के जो गुण विद्यमान हैं, वे गांधार अथवा किसी भी स्वर में विद्यमान नहीं, इसलिए इस संप्रदाय में केवल दो ग्रामों की सत्ता स्वीकार की गई है।

१५. प्रश्न—मध्यम-ग्राम से प्राचीन संगीत का क्या हित हुआ? अब वह क्यों नहीं होता?

उत्तर—यह अब तक स्पष्ट हो चुकना चाहिए कि दोनों ग्रामों के पंचमों में जो 'प्रमाण-श्रुति' का अंतर है, उसका ज्ञान ही ग्राम-भेद का व्यवस्थापक है। इस युग में जिस-जिसने आपका ध्यान इस ओर दिलाने की चेष्टा की, आपने उस-उसको 'श्रुति-पंडित' कहकर उसका उपहास किया।

आपने धैवत को चतुःश्रुतिक माना है, जबकि आपके गुरु वज़ीर खाँ की वीणा पर त्रिश्रुतिक धैवत स्थापित था, चतुःश्रुतिक नहीं। धैवत की चतुःश्रुतिकता मानने ने

ही आपके लिए ज्ञान-मार्ग अवरुद्ध कर दिया। धैवत की त्रिश्रुतिकता ही त्रिश्रुति ऋषभ की प्राप्ति कराती है और इस त्रिश्रुति ऋषभ से संवाद करके ही मध्यम-ग्राम का त्रिश्रुति पंचम प्राप्त किया जाता है। 'धैवत' शब्द के अर्थ पर विचार करके यदि आप शुद्ध मध्यम के साथ उसके सप्तश्रुति-संबंध पर विचार करते, तो सारी गुत्थी सुलझ जाती। नारद ने धैवत को ऐसा स्वर कहा है, जहाँ दोनों ग्रामों की अति-संधि होती है। मध्यम-ग्राम के धैवत को दो श्रुति उतारकर, अर्थात् मध्यम-ग्रामीय गांधार का संवादी बनाकर उसे द्विश्रुति-गांधार बना देने से मध्यम-ग्राम षड्ज-ग्राम में परिवर्तित हो जाता है; और षड्ज-ग्राम के द्विश्रुति गांधार को दो श्रुति चढ़ाकर, अर्थात् उसे षड्ज-ग्रामीय धैवत का संवादी बनाकर जब उसका नाम 'धैवत' रख दिया जाता है, तब षड्ज-ग्राम से मध्यम-ग्राम की प्राप्ति हो जाती है। यही 'धैवत' में दो ग्रामों का अतिसंधित्व है। 'धैवत' शब्द की व्युत्पत्ति, अन्वर्थता इत्यादि पर विचार करके आपने अपने सप्तक के छठे स्वर को धैवत मान डाला है। इसी का परिणाम हुआ है कि आपके लिए ग्राम-तत्त्व अबोध्य रहा है।

मध्यम-ग्राम का अस्तित्व अब भी है, देखनेवालों में दृष्टि की कमी है। आपका काफी ठाठ वास्तव में मध्यम-ग्राम की ऋषभादि सांतरा मूर्च्छना है और भैरवी ठाठ इसी ग्राम की ऋषभादि शुद्ध मूर्च्छना। आपका दृष्टिकोण 'प्रमाण-श्रुति' के महत्त्व को स्वीकार ही नहीं करता। बारह स्थूल स्वरों में समस्त रागों को बलात् ठूँस देने के आपके आग्रह ने बागीश्वर और भीमपलासी को एक ठाठ में ला बिठाया है, जबकि बागीश्वरी षड्ज-ग्राम की षड्जादि प्रथम शुद्ध मूर्च्छना का राग है और भीमपलासी मध्यम-ग्राम की सांतरा मूर्च्छना का। आपके वर्गीकरण में 'प्रमाण-श्रुति' के अंतर की पूर्ण उपेक्षा है, जबकि ग्राम-भेद की दृष्टि प्राप्त करने के लिए 'प्रमाण-श्रुति' पर विचार अनिवार्य है।

सत्य बात तो यह है कि किसी भी वीणा पर अचल सारिकाएँ स्थापित करके एक 'स्थान' में बारह स्वरों की स्थिति मान लेने पर ग्राम-मूर्च्छना-तत्त्व के ज्ञान का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है।

आपने एक स्थान पर एक बड़ी अच्छी बात कही है कि **एक दृष्टि से प्रत्येक राग में षड्ज 'वादी' स्वर माना जा सकता है।** यह बात बड़ी अच्छी थी, यदि आप इतना और सोच लेते कि मूर्च्छना की दृष्टि से विचार करने पर इस 'षड्ज' का नाम बदलता है; परंतु इस ध्वनि का वादित्व बना रहता है—क्योंकि यही ध्वनि तानपूरे के तीन तारों पर, सितार और वीणा के जोड़े और चिकारियों में मिली रहने के कारण सब स्वरों की अपेक्षा अधिक बोलती है और इसी लिए स्थायी ध्वनि भी कहलाती है—तो मूर्च्छनावाली गुत्थी भी सुलझ जाती। आपने यह भी माना है कि अंश या वादी स्वर का अर्थ प्राचीन आचार्य कुछ और, अर्थात् आपके माने हुए अर्थ से भिन्न लगाते थे; यह बात आपने ठीक सोची थी। यदि थोड़े धैर्य से आप काम लेते तो आपको पता चल जाता कि **जिस दृष्टि से आप तानपूरे के तीन तारों पर बोलनेवाली ध्वनि को प्रत्येक राग में वादी कह रहे हैं, वही दृष्टि प्राचीनों की है।** अंतर केवल इतना है कि वे मूर्च्छना के अनुसार इसे मूर्च्छना के आरंभक स्वर की संज्ञा देते और आप मेल-दृष्टि से इसे षड्ज कह रहे हैं।

षड्ज को, प्राचीन आचार्यों की दृष्टि में षड्ज-ग्राम की प्रथम मूर्च्छना का मूल स्वर होने के कारण, षड्ज (छह स्वरों को जन्म देनेवाला) कहा; अन्य स्वरों से आरंभ होनेवाली मूर्च्छनाओं में 'षड्ज' का अर्थ अन्य छह मूर्च्छनाओं के आरंभिक स्वरों से जन्म लेनेवाला माना गया। मतंग ने षड्ज की व्युत्पत्ति बताते हुए षड्ज शब्द के ये दोनों अर्थ स्पष्ट किए हैं। आपने षड्ज को प्रत्येक मेल का जनक मानकर प्रत्येक मेल के आरंभक स्वर को 'षड्ज' कहा। मेल-सिद्धांत के उपासकों की भ्रांत दृष्टि का अनुगमन आपने आँख मूँदकर किया और ग्राम-मूर्च्छना-पद्धति को समझने की चेष्टा किए बिना ही आपने प्राचीन आचार्यों का उपहास किया। संगीत उत्तर-भारत का, वीणाएँ दक्षिण की, वादी-संवादी जैसे शब्दों के अर्थों की स्वच्छंद कल्पना, हारमोनियम-वादकों की संगति अर्थात् ठाकुर नवाबअली खाँ जैसे 'प्रमाण-श्रुति'-शत्रुओं की संगति के परिणामस्वरूप बारह अचल ध्वनियों में सभी रागों को बलपूर्वक बंदी कर डालने की चेष्टा—इन सबने मिलकर आपकी उस पद्धति को जन्म दिया, जिससे चिपके रहने पर ग्राम-मूर्च्छना-तत्त्व का ज्ञान त्रिकाल में असंभव है। मध्यम-ग्राम का अस्तित्व अब भी है और वह उन्हें दिखाई भी देता है। मेल-पद्धति तो षड्ज-ग्राम का भी ज्ञान नहीं कराती, मध्यम-ग्राम तो दूर की बात है।

१६. प्रश्न—क्या शार्ङ्गदेव ने वादि-विवादि-प्रकरण युक्तियुक्त लिखा है ?

उत्तर—सर्वथा ठीक लिखा है। मूर्च्छना का प्रथम स्वर ही एक 'स्थान' (मंद्र, मध्य, तार) को विशिष्ट मूर्च्छना या स्वर-क्रम के अनुसार विशिष्ट अंतरालों में विभाजित करने का कारण होने से 'अंश' कहलाता है। 'अंश' का अर्थ यहाँ 'विभाजक' है। यही अंश स्वर इस प्रकार हमें राग-विशेष की मूर्च्छना (आपकी भाषा में ठाठ) देता है। इस प्रकार यही स्वर विशिष्ट स्वरों से संगत होने के कारण राग-रूप का वाचक होने से 'वादी' कहलाता है; मानो, राग के रूप को मुँह से बोलकर बता रहा हो। यही स्वर तानपूरे के तीन तारों पर निरंतर गूँजता है, वीणा की उपतंत्रियों (चिकारियों) में निरंतर गूँजते रहने के कारण 'स्थायी' कहलाता और राग का अधिष्ठान-पीठ होता है। राग इस स्वर पर 'उपविष्ट' (बैठा हुआ या स्थित) होता है। इसी का प्रयोग राग में सर्वाधिक होता है। मेल-पद्धति से विचार करनेवालों को कोई भी मूर्च्छना सुनाई जाए, वे उसके प्रथम स्वर को 'सा' ही कहेंगे, परंतु मूर्च्छना-पद्धति से विचार करनेवाला उस ध्वनि को मूर्च्छना में ढूँढ़ लेगा। जो स्वर स्वयं चतुःश्रुतिक हो, सप्तक के दो स्वरों के साथ जिसका संवाद हो और जिससे अगला स्वर त्रिश्रुतिक हो, उस 'सा' के अनुसार वह मूर्च्छना के आरंभक स्वर का नाम निश्चित करेगा। दृष्टिकोण का यह भेद कोई सामान्य भेद नहीं है।

आप केवल बहुलता तो 'वादी' का लक्षण मान बैठे हैं; परंतु किसी भी राग में, जिसे आप 'बहुल' कहते हैं, उस स्वर की अपेक्षा भी मेल की दृष्टि से 'सा' तो कहीं बहुलतर होता है। इसी लिए आपको भी कहना पड़ा है कि एक दृष्टि से 'सा' को प्रत्येक राग में 'वादी' स्वर कहा जा सकता है। यह दृष्टि आपको ऐसे ध्रुवपद-गायकों से मिली थी, जिनके वंशज 'मेल' की दृष्टि से 'सा' को ही प्रत्येक राग में वादी स्वर मानते हैं और ठीक मानते हैं।

मेल-सिद्धांत आप दक्षिण से लाए, जिस सिद्धांत में मूर्च्छना के प्रथम स्वर की संज्ञा 'सा' हो गई थी, चाहे वह कोई मूर्च्छना हो। इस सिद्धांत में मूर्च्छना-पद्धति की परिभाषाओं को अपने मनमाने ढंग से ठूँसने की चेष्टा की, तब अनर्थ की सृष्टि अवश्यंभाविनी थी। यदि बलपूर्वक अपने नेत्रों को स्वयं बंद कर लिया जाए और शिकायत की जाए कि दिखाई नहीं देता, तो इसका इलाज यही है कि हठ छोड़कर आखें खोल ली जाएँ; दिखाई देने लगेगा।

भरत ने कहा है कि जो स्वर जहाँ अंश होता है, वही वहाँ वादी होता है। मतंग ने भी यही कहा, और अंश स्वर की व्याख्या करते समय शार्ङ्गदेव ने भी यही कहा। मतंग ने 'बृहद्देशी' में और आचार्य शार्ङ्गदेव ने 'रत्नाकर' के वाद्याध्याय में जितने भी राग लिखे हैं, उन-सब रागों की मूर्च्छना का प्रथम स्वर ही रागों का वादी स्वर बताया है। 'बृहद्देशी' आपने नहीं पढ़ा था, परंतु 'रत्नाकर' का रागाध्याय तो आपको प्राप्त था ?

इस प्रकार सिद्ध है कि मूर्च्छना का प्रथम स्वर ही राग का अंश, वादी या स्थायी स्वर होता था। वही बात शार्ङ्गदेव भी कह रहे हैं।

अब विवादी स्वर की बात सुनिए।

पहले तो यह समझ लीजिए कि विवादी स्वर का अर्थ 'वर्जित स्वर' नहीं है, जो आप समझते हैं। जिसे आप वर्जित स्वर कहते हैं, उसे मतंग और शार्ङ्गदेव 'लोप्य' या 'लुप्त' स्वर कहते थे, 'विवादी' स्वर नहीं।

भरत के यहाँ 'विवाद' का अर्थ दो स्वरों के अंतर में पाई जानेवाली अनिष्टता अथवा अवांछनीयता है। गांधारादि मूर्च्छना में जब गांधार सप्तक का आरंभक स्वर होता है, तब अपने स्थान पर स्थित ऋषभ का उसके साथ विवाद-संबंध होता है। प्रयोग में, ऋषभ अपने स्थान से एक प्रमाण-श्रुति चढ़ जाता है, परंतु ऋषभ की यह अवस्था स्थिर अवस्था नहीं होती। ऋषभ की यह चढ़ी हुई अवस्था द्विश्रुत्यंतर से प्राप्त विवाद को समाप्त कर देती है। आपकी 'नि-सां' वाली स्थिति यही है। यह प्रयोगसिद्ध है कि 'नि' पर विश्रांति करने के पश्चात् जब 'सां' में मिलने की चेष्टा की जाती है, तब 'नि' अपने स्थान से एक 'प्रमाणश्रुति' चढ़ जाता है।

'प्रमाण-श्रुति' के प्रयोग की इस विचित्रता की ओर आचार्य अभिनव गुप्त ने स्पष्ट संकेत किया है।

ऋषभादि मूर्च्छना के रागों में भी यह विवाद गांधार के एक प्रमाण-श्रुति उतरने से समाप्त होता है। 'रे-ग॒' के क्रमशः प्रयोग में यह स्थिति होती है। आज षड्ज और अतिकोमल ऋषभ में जो अंतर माना जाता है, वही अंतर विवाद की समाप्ति के पश्चात् ऋषभादि मूर्च्छना के 'रे-ग॒' में रह जाता है।

धैवतादि मूर्च्छना के 'ध-नि॒' की वही स्थिति है, जो ऋषभादि मूर्च्छना के 'रे-ग॒' की, और निषादादि मूर्च्छना में निषाद और धैवत की स्थिति गांधारादि मूर्च्छना के गांधार-ऋषभ जैसी है। विवाद और उसके दूर होने का नियम यहाँ भी वही है।

यह ध्यान रखना चाहिए कि सारणा-क्रिया से चतुःश्रुतिक स्वरों में जिन चार श्रुतियों की सिद्धि होती है, उन चार श्रुतियों में पहली और चौथी श्रुति का परिमाण एक-एक 'प्रमाण-श्रुति' है; परंतु दूसरी और तीसरी श्रुति का परिमाण 'प्रमाण-श्रुति' से कहीं अधिक है। यदि दूसरी श्रुति में पहली प्रमाण-श्रुति जोड़ दी जाए, तो यह योग तीसरी श्रुति के बराबर होगा। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि द्विश्रुति निषाद और काकली निषाद में पाए जानेवाले द्विश्रुति अंतर की अपेक्षा काकली निषाद का अंतर एक 'प्रमाण-श्रुति' अधिक है। विवाद को दूर करने के लिए जब त्रिश्रुति स्वर और द्विश्रुति स्वर का अंतर एक प्रमाण-श्रुति घटता है, तो वह द्विश्रुति निषाद और काकली निषाद के अंतर के बराबर रह जाता है।

द्विश्रुतिक निषाद और काकली निषाद में पाए जानेवाले द्विश्रुत्यंतर और काकली निषाद एवं षड्ज में पाए जानेवाले द्विश्रुत्यंतर की असमानता मध्यम के संवादी निषाद और काकली निषाद को स्थापित करके सरलतापूर्वक देखी जा सकती है।

भरत के इसी दृष्टिकोण को सम्मुख रखकर शार्ङ्गदेव ने ऋषभ-गांधार में तथा धैवत-निषाद में परस्पर विवाद बताया है।

विवाद के संबंध में जिस दूसरे मत का उल्लेख आचार्य शार्ङ्गदेव ने किया है, वह मतंग का है। इस मत के अभिप्राय को समझने के लिए, मतंग के शब्दों में ही—वादी, संवादी, अनुवादी और विवादी का अर्थ सप्रयोजन समझना होगा।

भरत के युग की वीणाओं में सारिकाओं (परदों) का अस्तित्व नहीं था। इन परिभाषाओं की व्याख्या मतंग ने सारिका-स्थापन की दृष्टि से की है। यद्यपि 'बृहद्देशी' का वाद्याध्याय आज प्राप्त नहीं है, तथापि वह कुंभ को प्राप्त था और उन्होंने 'संगीतराज' में 'मतंग-किन्नरी' का लक्षण दिया है।

मतंग-किन्नरी में दो चिकारियाँ थीं और वादन-क्रिया के लिए केवल एक तार था; अठारह सारिकाएँ थीं। मुक्त तंत्री पर एक, अठारह सारिकाओं पर अठारह—इस प्रकार मंद्र और मध्य सप्तक के सात-सात स्वर मुक्त तंत्री और तेरह सारिकाओं पर निकल आते थे। अवशिष्ट पाँच सारिकाओं पर तार-सप्तक के पाँच स्वरों की प्राप्ति होती थी और अठारहवीं सारिका पर मीड़ से तार-सप्तक के अवशिष्ट दो स्वरों की प्राप्ति हो जाती थी। इस प्रकार एक ही तार पर तीनों संपूर्ण सप्तकों की प्राप्ति मतंग-किन्नरी में संभव थी। विभिन्न मूर्च्छनाओं की स्थापनाओं में स्वरों के परिमाण का सादृश्य किस प्रकार सुविधा का कारण होता है, इस तत्त्व को स्पष्ट करने के लिए मतंग ने कहा है कि जिन दो स्वरों की श्रुति-संख्या सदृश हो और जिनमें परस्पर नौ या तेरह श्रुतियों का अंतर हो, वे स्वर परस्पर संवादी होते हैं। 'संवादित्व का क्या उपयोग है ?' यह प्रश्न स्वयं उठाकर मतंग उत्तर देते हैं—'जिस गीत (स्वर-सन्निवेश, राग) में जो षड्ज अंश-रूप में ग्रहण किया गया है, अर्थात् मतंग-किन्नरी में यदि षड्ज से आरंभ होनेवाली मूर्च्छना मिलाना है और मतंग-किन्नरी में यदि मध्यमादि मूर्च्छना मिली हुई है, तो मध्यम को षड्ज मानकर प्रयुक्त करने से, अर्थात् 'म, ग,

रे, सा' को 'सां, नि, ध, प' कहने से उस जाति-राग का विनाश नहीं होता, षड्जादि मूर्च्छना के जिस जाति-राग का वादन हमें अभीष्ट हो। 'म, ग, रे, सा, नि' और 'सां' नि, ध, प' स्वर-समुदायों में क्रमशः जो स्वर आए हैं, उनकी श्रुति-संख्या चार, दो, तीन, चार है। इन दोनों समुदायों के आरंभक स्वर षड्ज और मध्यम हैं, इसलिए वे परस्पर संवादी हैं और संवादी चतुष्कों का निर्माण करते हैं। यदि षड्जादि मूर्च्छना मतंग-किन्नरी पर मिली हुई है, तो उसके 'सां, नि, ध, प' से 'म, ग, रे, सा' का काम लिया जा सकता है।

'सा, रे, ग, म' और 'प,ध, नि, सां' जैसे चतुष्क भी परस्पर संवादी हैं; इसीलिए षड्जादि मूर्च्छना के प्रथम चार स्वर पंचमादि मूर्च्छना के चार स्वरों का काम दे सकते हैं और पंचमादि मूर्च्छना के चार स्वर षड्जादि मूर्च्छना के चार स्वरों का काम दे सकते हैं। यह मूर्च्छना की दृष्टि से षड्ज-पंचम और पंचम-षड्ज का संवादित्व है।

कोई भी मूर्च्छना हो, उसमें पूर्वोक्त चतुष्क अपने संवादी चतुष्क का काम दे सकते हैं। धैवत और ऋषभ, दोनों ही त्रिश्रुतिक हैं और एक-दूसरे का प्रतिनिधित्व कर सकते हैं। मतंग ने कहा है कि यदि आर्षभी जाति का वादन ऋषभ को अंश मानकर किया जा रहा हो, तो वह 'ऋषभ' नामक ध्वनि 'रेवगुप्त' नामक राग के प्रयोग के लिए ऋषभादि मूर्च्छना देगी और 'ककुभ' राग के लिए वही ध्वनि धैवतादि मूर्च्छना का धैवत हो जाएगी। 'रे, ग, म' तथा 'ध, नि, सां' जैसे त्रिक समानश्रुतिक और परस्पर संवादी हैं और 'रें, सां, नि' तथा 'ध, प, म' भी

गांधार-निषाद भी इसी प्रकार मूर्च्छना-स्थापन में परस्पर प्रतिनिधि हो सकते हैं। 'ग, रे, सा, नि' और 'नि, ध, प, म' का श्रुति-क्रम एक-जैसा है।

इस प्रकार मतंग ने संवाद-संबंध के द्वारा मूर्च्छना-स्थापन की क्रिया में प्राकृतिक सुकरता का विवेचन किया है।

मतंग ने देशी संगीत का विवेचन किया है। देशी संगीत में थोड़ा-बहुत कामचलाऊपन उन्हें सह्य है। त्रिश्रुतिक स्वरों का परिमाण चतुःश्रुतिक स्वरों के परिमाण की अपेक्षा केवल एक 'प्रमाण-श्रुति' कम है। मतंग का कथन है कि त्रिश्रुतिक स्वरों का काम वीणा-वादन में चतुःश्रुतिक स्वरों से तथा चतुःश्रुतिक स्वरों का काम त्रिश्रुतिक स्वरों से चलाया जा सकता है, और उस अवस्था में जाति-राग का विनाश नहीं होता।

'सा, रे, अंतरगांधार' को व्यंजित करनेवाली सारिकाओं से 'नि, सा, रे' का काम लिया जा सकता है। दोनों त्रिकों के आरंभिक और अंतिम स्वरों में मध्यम-धैवत-भाव है। इन त्रिकों में पहले त्रिक का दूसरा स्वर त्रिश्रुतिक ऋषभ है और दूसरे त्रिक में दूसरा स्वर षड्ज चतुःश्रुतिक है। पूर्वोक्त दोनों त्रिकों का प्रयोग जब एक-दूसरे के स्थान पर अंश-भेद से किया जाएगा, तब 'ऋषभ' के स्थान पर 'षड्ज' और 'षड्ज' के स्थान पर 'ऋषभ' प्रयुक्त होगा। इस विशेषता के कारण मतंग ने

'षड्ज-ऋषभ, षड्ज-धैवत, पंचम-ऋषभ, पंचम-धैवत, मध्यम-ऋषभ, मध्यम-धैवत जैसे जोड़ों को परस्पर अनुवादी कहा है।

त्रिश्रुति और द्विश्रुति स्वरों को मतंग परस्पर विवादी कहते हैं। 'ग़, रे, सा' या 'नि़, ध, प' जैसे त्रिक न तो 'ध, प, म' अथवा 'रे, सा, नि़' के स्थान पर प्रयुक्त हो सकते हैं, न 'सा, नि़, ध़' अथवा 'प, म, ग' के। इस प्रकार गांधार और निषाद किसी भी अन्य स्वर के स्थानीय न होने के कारण अन्य स्वरों के विवादी कहे गए हैं।

एक बात और भी विचारणीय है। त्रिश्रुति और चतुःश्रुति स्वरों के परिमाण में एक 'प्रमाण-श्रुति' का अंतर है। त्रिश्रुति स्वरों के परिमाण की अपेक्षा द्विश्रुति स्वरों के परिमाण में भी एक 'श्रुति' का अंतर है, परंतु वह श्रुति तीन प्रमाण-श्रुतियों की अपेक्षा भी बड़ी है। इसलिए द्विश्रुति स्वरों से त्रिश्रुति स्वरों का या त्रिश्रुति स्वरों से द्विश्रुति स्वरों का कामचलाऊ काम भी मतंग नहीं ले सकते थे, न द्विश्रुति स्वरों का काम चतुःश्रुति स्वरों से और न चतुःश्रुति स्वरों का काम द्विश्रुति स्वरों से ही लिया जा सकता था।

इसलिए मतंग ने गांधार और निषाद को किसी भी अन्य स्वर का अनुवादी नहीं, विवादी ही माना।

आचार्य शार्ङ्गदेव ने 'विवादी' के संबंध में भरत और मतंग—दोनों के ही मत की ओर संकेत किया है।

मध्यम-ग्राम में वादी, संवादी, अनुवादी और विवादी का निर्णय करते हुए सात श्रुतियों के अंतर को भी संवाद कहा है। पंचम के त्रिश्रुतिक हो जाने के कारण मध्यम-ग्राम में धैवत चतुःश्रुतिक हो जाता है। मध्यम चतुःश्रुतिक है ही; धैवत उसके पश्चात् सात श्रुतियों के अंतर पर है, जो चतुःश्रुतिक है। अतः मूर्च्छना-भेद से मध्यम और धैवत एक-दूसरे के स्थानीय हो सकते हैं। मतंगोक्त सप्तश्रुति-संवाद का इतना ही अर्थ है। षड्ज-मध्यम षड्ज-ग्राम में अनुवादी हैं, परंतु मध्यम-ग्राम में श्रुति-संख्या समान होने के कारण परस्पर अनुवादी हैं। मतंग के मत का सार यही है।

यहाँ इतना ध्यान रखना चाहिए कि मध्यम-निषाद में ध्वनि-संवाद सिंहभूपाल और कल्लिनाथ—दोनों को ही प्रत्यक्षतया दृष्टिगोचर हो रहा है। षड्ज-ग्राम के 'सा-म' ही मध्यम-ग्राम के 'म-नि़' हो जाते हैं, यह भरत का नैसर्गिक विधान है, जिसपर इन दोनों मर्मज्ञ टीकाकारों की दृष्टि है।

१७. प्रश्न—क्या शार्ङ्गदेव के विवादी-प्रकरण को आप उदाहरणों से समझा सकेंगे? क्या विवादी की व्याख्या शार्ङ्गदेव की कुछ जातियों में प्रयुक्त करके दिखा सकेंगे? क्या प्राचीन संगीत में विवादी का उपयोग हो सका था? किस नियम से? वह कहाँ किया हुआ दिखाई देता है? क्या इन स्वरों का संबंध ठाठ-रचना से रहा था? क्या इस प्रकरण पर सिंहभूपाल की की हुई टीका आपने देखी है? क्या आप समझते हैं कि यह सब यथार्थ है? क्यों?

उत्तर—इन सभी प्रश्नों का उत्तर पूर्व-प्रश्न के उत्तर में दिया जा चुका है। आप जब तक 'विवादी' और वर्जित शब्दों को पर्यायवाची समझते रहेंगे, तबतक ये उलझनें आपके लिए बनी रहेंगी। सिंहभूपाल की टीका में मतंग का उद्धरण-मात्र है और वे उस उद्धरण के आशय को यथायथ रूप में समझे हैं। चल-सारिकाओंवाली मतंग-किन्नरी की विशेषताओं को समझने पर मतंग का आशय स्पष्ट हो जाता है।

'वादी' स्वर रागविशेष की मूर्च्छना का आरंभक स्वर होता है। इस प्रकार 'वादी' स्वर किसी रागविशेष का 'ठाठ' ही बताता है, परंतु उस ठाठ में सात स्वर होते हैं, आठ नहीं। कुछ मूर्च्छनाओं में, आरंभक स्वर के साथ षड्ज-पंचम-भाव से संवाद रखनेवाला स्वर होता ही नहीं और ऐसे स्वर आ जाते हैं, जो आपके शुद्ध मध्यम और तीव्र मध्यम के स्थानीय होते हैं; जैसे षड्ज-ग्राम के 'ध, नि, सा, रें, ग, म, प' आपको 'सा, रे, ग, म, मं, ध, नि' सुनाई देंगे। आप तो इसे ठाठ मानने से रहे, क्योंकि इसमें आपको अपने पंचम का अभाव दिखाई देगा और अपने मध्यम के शुद्ध और तीव्र—दोनों रूप आपको इस स्वरावलि में मिलेंगे! मेलवादी तो षड्ज-ग्राम की इस मूर्च्छना के प्रस्तुत परिणाम को देखकर हतबुद्धि हो जाएँगे।

१८. प्रश्न—क्या मतंग का मूर्च्छना-संबंधी मत आपको मान्य है? 'मूर्च्छना' शब्द-संबंधी उलझन क्या शार्ङ्गदेव के पूर्व से चलती आ रही है? मतंग द्वादशस्वर-मूर्च्छना ही मानता है, क्या इस बात से कोई हित होगा?

उत्तर—बड़ी कठिनता तो यह है कि आपको मतंग का 'बृहद्देशी' पढ़ने को नहीं मिला; 'संगीत-रत्नाकर' आपको मिला, तो पढ़ानेवाला न मिला!

मतंग सप्तस्वर-'मूर्च्छना' भी मानते हैं और द्वादशस्वर-'मूर्च्छना' भी। सप्तस्वर-मूर्च्छनाओं के मंडल उन्होंने दोनों ग्रामों में दिए हैं और उनके चार भेद शुद्धा, काकली-कलिता, सांतरा और अंतरकाकलीयुक्ता भी दिए हैं। यही भरत का भी मत है; इसी मत का अनुकरण शार्ङ्गदेव ने किया है।

दत्तिल ने मूर्च्छनाओं के चार भेद—पूर्णा, षाडवा, औडुविता और साधारण माने हैं; मतंग ने इस मत का भी उल्लेख किया है। षाडव और औडुव रूपों को भरत ने 'तान' कहा है।

द्वादशस्वर-मूर्च्छना मतंग ने नंदिकेश्वर के मत के अनुसार लिखी हैं।

इन सभी मतों में संगति है, क्योंकि मूर्च्छना के परिमाण में अंतर होने पर भी मूर्च्छना में प्राप्त होनेवाले स्वरों के परिमाणों या अनुपातों में अंतर नहीं है।

भरत ने मूर्च्छना का प्रयोजन मत्तकोकिला जैसी वीणाओं के मध्य स्वर (मध्य सप्तक के आरंभक तार की ध्वनि) को आधार मानकर विभिन्न मूर्च्छनाओं के तीनों संपूर्ण स्थान—मंद्र, मध्य और तार की प्राप्ति बताया है। मत्तकोकिला में इक्कीस तार होते थे, सात-सात तारों पर मंद्र, मध्य और तार स्थान में प्रत्येक मूर्च्छना की सिद्धि हो सकती थी।

मूर्च्छना में सात स्वर होते हैं। एक सप्तक में राग का 'ठाठ' भले ही मिल जाए, राग के रूप की निष्पत्ति असंभव है। इसी लिए भरत ने मूर्च्छना का प्रयोजन 'तीनों स्थानों की प्राप्ति' कहा है।

मूर्च्छना की चर्चा आरंभ करते ही मतंग ने उनके दो भेद 'सप्त स्वर' और 'द्वादश स्वर' माने हैं। सप्तस्वर-मूर्च्छनाएँ स्थान-प्राप्ति तथा नष्ट-उद्दिष्ट इत्यादि की सिद्धि देती हैं। दोनों ग्रामों में गणित की दृष्टि से जिन क्रमों और कूटतानों की प्राप्ति होती है, उन-सबका आधार सप्तस्वर-मूर्च्छनाएँ हैं।

जो मत मूर्च्छना को राग की अभिव्यक्ति अर्थात् उसके पूर्ण रूप के स्पष्टीकरण का आधार मानता था, उसने देखा कि एक सप्तक में तो किसी भी राग का आलाप इत्यादि संभव नहीं है; उसने मध्य-सप्तक के स्वरों के आगे-पीछे कुछ स्वर जोड़कर बारह-बारह स्वरों के समूह बनाए, जिनमें एक से अधिक सप्तकों के स्वर थे।

इस संप्रदाय में कहा गया था कि राग-व्यवहार के समय मूर्च्छना का रूप बारह स्वरोंवाला माना जाना चाहिए। इस संप्रदाय की ये द्वादशस्वर-मूर्च्छनाएँ षड्ज-ग्राम में क्रमशः मंद्र-धैवत, मंद्र-निषाद, षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम से और मध्यम-ग्राम में निषाद, षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत से आरंभ होती थीं। नंदिकेश्वर के इस संप्रदाय में मूर्च्छनाओं का क्रम आरोही था, जबकि सप्तस्वर-मूर्च्छनाओं का क्रम अवरोहात्मक है।

'मतंग-किन्नरी' में अठारह सारिकाएँ हैं। सातवीं सारिका मध्य-सप्तक का आरंभक स्वर उत्पन्न करती है। सातवीं से लेकर आठारहवीं सारिका तक कुल बारह सारिकाएँ होती हैं। सातवीं सारिका की ध्वनि को क्रमशः धैवत, निषाद, षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम मानकर मतंग अगली सारिकाओं की मूर्च्छना के आरंभक स्वर के बादवाले स्वरों में क्रमशः मिलाने को 'सारी-विधान' (सारिकाओं को सरकाकर अभीष्ट स्वर प्राप्त करना) कहते हैं। यह षड्ज-ग्राम के सारी-विधान की क्रिया है। मध्यम-ग्राम के सारी-विधान में मध्यम-ग्राम की मूर्च्छनाओं की प्राप्ति सातवीं सारिका की ध्वनि को 'ऩि, सा, रे, ग॒, म, प, ध' क्रमशः मानकर की जाती है।

इस प्रकार संप्रदाय-सिद्ध द्वादशस्वर-मूर्च्छना का संपूर्ण रूप सातवीं से लेकर अठारहवीं सारिका तक मिल जाता है। द्वादशस्वर-मूर्च्छना स्थापित होने पर पहली से लेकर छठी सारिकाएँ भी मूर्च्छना के आदिम स्वर के पूर्ववर्ती स्वरों में मिला ली जाती हैं।

मतंग षाड्जी जाति की मूर्च्छना 'धैवतादि' बताते हैं। वह मूर्च्छना द्वादशस्वर-धैवतादि-मूर्च्छना है। संप्रदाय के इस तत्त्व से अपरिचित व्यक्ति यह रहस्य समझ नहीं पाते और मतंग एवं इस दिशा में उनके अनुवर्ती शार्ङ्गदेव पर झुँझलाते हैं।

जातियों की मूर्च्छनाएँ निर्दिष्ट करते समय मतंग और शार्ङ्गदेव ने मूर्च्छनाओं के पारिभाषिक नामों का प्रयोग न करके 'धैवतादि', 'पंचमादि' जैसे शब्दों से

मूर्च्छनाओं का निर्देश किया है। 'रत्नाकर' के टीकाकार सिंहभूपाल ने भी इसी मार्ग का अनुगमन किया है।

सप्तस्वर-उत्तरमंद्रा षड्ज से आरंभ होती है, परंतु द्वादशस्वर-उत्तरमंद्रा का आरंभक स्वर धैवत है। पारिभाषिक नामों का परित्याग इसी लिए करके, जातियों के मूर्च्छना-निर्देश के समय मतंग, शार्ङ्गदेव, सिंहभूपाल ने धैवतादि, पंचमादि जैसे शब्दों का उपयोग किया है।

सिंहभूपाल ने द्वादश-स्वर पर मूर्च्छनाओं पर भलीभाँति विचार किया है, परंतु कल्लिनाथ ने इस ओर संकेत-मात्र करके छोड़ दिया है। आचार्य कल्लिनाथ के प्रति संपूर्ण श्रद्धा होते हुए भी हमें यह कहने का अपराध करना पड़ रहा है कि कल्लिनाथ ने जातियों पर टीका करते समय जातियों के लिए निर्दिष्ट द्वादशस्वर-मूर्च्छनाओं के पारिभाषिक नामों के स्थान पर सप्तस्वर-मूर्च्छनाओं के पारिभाषिक नाम लिख दिए हैं। उनके इस प्रमाद से पश्चाद्वर्ती विचारक भ्रम में पड़ गए हैं। कल्लिनाथ ने षाड्जी की धैवतादि मूर्च्छना को सप्तस्वर-उत्तरायता मूर्च्छना समझा है, जबकि वह द्वादशस्वर-उत्तरमंद्रा है।

सिंहभूपाल ने अपनी टीका की रचना 'रत्नाकर' के लिखे जाने से प्रायः सौ-सवासौ वर्ष पश्चात् की है। कल्लिनाथ का काल पंद्रहवीं शती का उत्तरार्द्ध है, अर्थात् वे सिंहभूपाल से भी सौ-सवासौ वर्ष पश्चात् हुए हैं। सिंहभूपाल के समय तक दो ग्रामों का वह संकट नहीं हुआ था, जिसकी चर्चा कल्लिनाथ ने की है; इसी लिए सिंहभूपाल से वह भूल न हुई, जो जाति-प्रकरण की मूर्च्छनाओं की संज्ञा निर्दिष्ट करते समय कल्लिनाथ से हुई।

मतंग अथवा शार्ङ्गदेव के मस्तिष्क में मूर्च्छना-संबंधी कोई उलझन नहीं थी। सप्तस्वर और द्वादशस्वर-मूर्च्छनाओं के भिन्न-भिन्न प्रयोजन मतंग की दृष्टि में स्पष्ट थे। अभिनवगुप्त द्वादशस्वर-मूर्च्छना को मूर्च्छना ही नहीं मानते थे; उन्होंने इस दृष्टिकोण का खंडन किया है।

१९. प्रश्न—भरत ने मूर्च्छना की व्याख्या कैसी की है?

उत्तर—महर्षि भरत क्रमयुक्त सात स्वरों को मूर्च्छना कहते हैं। शुद्धा, काकली-सहिता, सांतरा और साधारणकृता—मूर्च्छना के ये चार प्रकार भरत, मतंग, शार्ङ्गदेव—सबको मान्य हैं। एक दूसरा दृष्टिकोण मूर्च्छनाओं के चार भेद—पूर्ण, षाडवित, औडुवित और साधारणीकृत मानता है। मतंग ने इस दृष्टिकोण की भी चर्चा की है।

प्रथम दृष्टिकोण में षाडवित और औडुवित रूप 'तान' थे, मूर्च्छना नहीं। द्वितीय दृष्टिकोण के अनुसार आरोह-क्रम को 'मूर्च्छना' और अवरोह-क्रम को 'तान' कहते थे। द्वितीय दृष्टिकोण मूर्च्छना की परिभाषा पर खरा नहीं उतरता।

'नाट्यशास्त्र' में षाडवित और औडुवित रूप को 'तान' कहा गया है।

२०. प्रश्न—शार्ङ्गदेव ने मूर्च्छना का उपयोग किस उद्देश्य से किया? 'शुद्धा, सांतरा, सकाकली और अंतरकाकलीसहिता' भेद उसने किस लिए किया? क्या उसके भेद भरत के भेदों से मिल जाते हैं।

उत्तर—शार्ङ्गदेव ने मूर्च्छनाओं के ये भेद भरत और मतंग के अनुसार ही लिखे हैं। 'स्वराध्याय' में इन मूर्च्छनाओं से शुद्ध तानों, कूटतानों और क्रमों की सिद्धि शार्ङ्गदेव ने मतंग इत्यादि के अनुसार ही की है। 'रागाध्याय' में शार्ङ्गदेव ने प्रत्येक राग की मूर्च्छना से उस राग का 'ठाठ' ही बताया है।

२१. प्रश्न—मतंग का विधान—'स्वरों का ही मूर्च्छनात्व है'—क्या भरत और शार्ङ्गदेव के मत से विसंगत हो जाता है?

उत्तर—आरोह-अवरोह-रूप क्रिया के परिणाम-स्वरूप प्राप्त क्रमबद्ध सात स्वर मूर्च्छना कहलाते हैं। लोग आरोह-अवरोह-क्रिया को मूर्च्छना न समझ बैठें, इसलिए मतंग ने कहा है कि 'स्वर-समूह' मूर्च्छना है, आरोह-अवरोह-क्रिया मूर्च्छना नहीं है। यही बात भरत ने स्पष्ट की है कि क्रमयुक्त स्वर-सप्तक मूर्च्छना है। मतंग ने भी आरोह-अवरोह-क्रम से प्राप्त होनेवाले स्वर-सप्तक को मूर्च्छना कहा है।

दत्तिल मूर्च्छना के भेद षाडव और औडुव भी मानते हैं। भरत की दृष्टि में षाडव और औडुव रूप मूर्च्छना से उत्पन्न होनेवाली 'तान' हैं, मूर्च्छना नहीं। दत्तिल इत्यादि स्वर-सप्तक अथवा उससे प्राप्त होनेवाले षाडव या औडुव रूप के आरोह को 'मूर्च्छना' और अवरोह को 'तान' कहते हैं।

२२. प्रश्न—भरत ने स्वयं मूर्च्छना का उपयोग कहाँ और किस प्रकार किया है? उसके ग्रंथ में राग नहीं हैं, परंतु जाति हैं; तो भी प्रत्येक जाति की मूर्च्छना जिस प्रकार शार्ङ्गदेव बताता है, उस तरह भरत नहीं बताता; ऐसा क्यों? शार्ङ्गदेव ने भला ऐसा क्यों किया होगा? ऐसा करने की आवश्यकता कैसे हुई?

उत्तर—'नाट्यशास्त्र' में जातियों के लक्षण हैं, प्रस्तार नहीं। वह सूत्र-ग्रंथ है। जातियों से उत्पन्न सात ग्राम-राग भी 'नाट्यशास्त्र' में बताए गए हैं और यह भी बताया गया है कि नाटक में उनका उपयोग किस-किस अवसर पर होना चाहिए। आप न-जाने कहाँ से सुनी-सुनाई बातें लिख देते हैं!

भरत ने मूर्च्छना का प्रयोजन स्थान की प्राप्ति बताया है; अर्थात् मूर्च्छना तीनों सप्तकों में ठाठ देती है, राग नहीं। मत्तकोकिला के आठवें तार की ध्वनि को ही मूर्च्छना के अनुसार षड्ज, ऋषभ इत्यादि मानकर अगले-पिछले तारों को अभीष्ट स्वरों की प्राप्ति के लिए चढ़ा-उतार कर किसी भी मूर्च्छना का त्रिस्थानीय रूप प्राप्त किया जा सकता है। भरत की दृष्टि में भी अंश या वादी स्वर एक ही है। जो स्वर अंश हो, वही सप्तस्वर-मूर्च्छना का आरंभक स्वर होता है; इसलिए किसी भी राग का अंश स्वर बताने पर उसकी मूर्च्छना का बोधन स्वतः हो जाता है।

मतंग ने कूटतान इत्यादि की सिद्धि के लिए द्वादश-स्वर-मूर्च्छनाओं का उपयोग गान या वादन के समय करने के लिए कहा है। वे मूर्च्छना का प्रयोजन राग-रूप का स्पष्टीकरण भी मानते हैं, इसी लिए उनकी इस मूर्च्छना का परिमाण एक सप्तक की अपेक्षा पाँच स्वर अधिक है; क्योंकि एक सप्तक में राग का रूप स्पष्ट नहीं हो सकता। मतंग ने द्वादशस्वर-मूर्च्छना के प्रयोग में नंदिकेश्वर के मत का अनुसरण किया है और सप्तस्वर-मूर्च्छना के प्रयोजन में भरत का।

जातियाँ विशेष प्रकार के 'चलन' या 'स्वर-सन्निवेश' हैं; इनमें रागों के प्रायः सभी लक्षण हैं। 'चलन' वही रहते हुए इन जातियों में स्थायी, वादी या अंश स्वर कई हो सकते हैं। यह वही क्रिया है, जो कुछ दाक्षिणात्यों की भाषा में 'षड्ज-चालन' है। भरत की भाषा में यही कृत्य अंश-विकार है।

उदाहरण के तौर पर षाड्जी जाति के अंश स्वर षड्ज, गांधार, मध्यम, पंचम और धैवत हैं। यदि षड्ज अंश स्वर रखकर षाड्जी जाति का वादन करना हो और उसमें तीनों सप्तक प्राप्त करना हो, तो मत्तकोकिला के इक्कीस तारों पर षड्जादि-सप्त-स्वर-मूर्च्छना के तीनों स्थान मिल जाएँगे। इसी प्रकार गांधारादि मूर्च्छना गांधारांश-अवस्था में, मध्यमादि मूर्च्छना मध्यमांश-अवस्था में, पंचमादि मूर्च्छना पंचमांश-अवस्था में और धैवतादि मूर्च्छना धैवतांश-अवस्था में तीन संपूर्ण सप्तकों की प्राप्ति कराएगी। किसी भी अंश-विकृत या शुद्ध रूप का वादन करने के लिए अंश स्वर से आरंभ होने-वाली मूर्च्छना की स्थापना करने पर मत्तकोकिला जैसी वीणा के इक्कीस तारों से उस सप्तस्वर-मूर्च्छना के संपूर्ण मंद्र-स्थानीय, मध्य-स्थानीय और तार-स्थानीय रूप की प्राप्ति होगी। तीनों स्थानों का संपूर्ण रूप प्राप्त करने के लिए इसके अतिरिक्त अन्य कोई विधि संभव ही नहीं है।

एक जाति में जितने अंश स्वर होंगे, उतनी सप्तस्वर-मूर्च्छनाओं का प्रयोग उसमें संभव होगा। षाड्जी जाति में जब षड्ज अंश स्वर होगा, तब वह शुद्ध षाड्जी जाति कहलाएगी; यदि पूर्वोक्त अंश स्वरों में से कोई और स्वर अंश होगा, तब वह रूप उस जाति का अंश-विकृत रूप होगा, अर्थात् जाति की चाल वही रहेगी, उसके स्वरों की संज्ञाएँ वही रहेंगी। ठाठवादी यदि प्रत्येक अंश स्वर का नाम 'सा' रख दें, तब उन्हें षाड्जी की षड्जांश-अवस्था में वागीश्वरी का, गांधारांश-अवस्था में कल्याण का, मध्यमांश-अवस्था में खमाज का, पंचमांश अवस्था में आसावरी का ठाठ सुनाई देगा। धैवतांश-अवस्था की स्वरावलि में मेलदलन सुनाई देगा, अर्थात् वह स्वरावलि आपको 'सा, रे॒, ग॒, म, मं, ध॒, नि॒' सुनाई देगी।

आपने यह स्वयं माना है कि 'वादी' या 'अंश' स्वर का जो तात्पर्य आप समझते हैं, प्राचीनों का तात्पर्य उससे भिन्न है। उस भिन्न तात्पर्य को समझ लेने पर आपके मस्तिष्क में मूर्च्छना-संबंधी उलझन नहीं रहेगी।

आपने एक स्थान पर लिखा है कि आपने कुछ दिनों वीणा का भी अभ्यास किया है, इसलिए मतंग की द्वादशस्वर-मूर्च्छना का तात्पर्य समझने में आपको सुविधा रहेगी।

यह कहा जा चुका है कि मतंग की किन्नरी में वादनक्रिया के लिए केवल एक तार है और वही हमें तीन संपूर्ण सप्तकों की प्राप्ति कराता है । तार-सप्तक की अंतिम दो ध्वनियाँ हमें इस वीणा के अठारहवें पर्दे पर मिलती हैं ।

मतंग का कथन है कि किसी भी राग का रूप स्पष्ट होने के लिए बारह स्वर अर्थात् मध्य-सप्तक के सात स्वर तथा मंद्र और तार-सप्तक के कुछ स्वर आवश्यक हैं।

जाति में अंश स्वर कई हो सकते हैं । काश्यप ने कहा है कि विशिष्ट 'जाति' में हो सकनेवाले अंश स्वरों पर विचार करके ऐसी द्वादशस्वर मूर्च्छना निश्चित करना चाहिए, जिसे मिला लेने पर वीणा में जाति के विभिन्नांश-रूपों का वादन हो सके । जिस स्वर को अंश स्वर मानकर वादन करना हो, मतंग-किन्नरी की एक चिकारी उस स्वर में और दूसरी चिकारी अंश स्वर के संवादी स्वर में मिला देना चाहिए; इस क्रिया से वही स्वर 'स्थायी' हो जाता है, जिसमें चिकारी मिली हो । ठाठ-पद्धति वाले उस स्वर को 'सा' कहने लगेंगे, जिसमें प्रधान चिकारी मिली हो; परंतु मूर्च्छना-पद्धति के लोग उस स्वर का नाम बदले बिना यह कहेंगे कि वह स्वर स्थायी, वादी या अंश हो गया है, जिसमें प्रधान चिकारी मिली हुई है ।

मतंग ने षाड्जी जाति के लिए द्वादशस्वर-मूर्च्छना 'ध, नि, सा, रे, ग, म, प, ध, नि, सा, रे, ग' निश्चित की है । अर्थात् षाड्जी जाति के विभिन्न अंशों का वादन करने के लिए मतंग-किन्नरी की मुक्त तंत्री की ध्वनि को षड्जग्रामीय 'ध' मानकर पहले, दूसरे, तीसरे, चौथे, पाँचवें और छठे पर्दे क्रमशः निषाद, षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम और पंचम में मिलाए जाएँगे । सातवें से लेकर तेरहवें सप्तक पर 'ध, नि, सा, रे, ग, म, प' मध्य-सप्तक में बोलेंगे और चौदहवें, पंद्रहवें, सोलहवें, सत्रहवें, अठारहवें परदे पर तार-सप्तक के 'ध, नि, सा, रे, ग' सुनाई देंगे और अठारहवें परदे पर मीड़ के द्वारा मध्यम और पंचम की प्राप्ति हो जाएगी ।

इस स्थिति में भरत की दृष्टि से मतंग-किन्नरी पर सप्तस्वर-मूर्च्छना उत्तरायता मूर्च्छना मिली है, जिसका आरंभक स्वर 'ध' है; और उस मूर्च्छना के त्रिसप्तकीय स्वर 'ध़ नि़ सा़ रे़ ग़ म़ प़, ध नि सा रे ग म प, धं निं सां रें गं मं पं' हमें प्राप्त हैं ।

मतंग की दृष्टि से मतंग-किन्नरी पर इस समय धैवतादि द्वादशस्वर-मूर्च्छना सातवें से लेकर अठारहवें पर्दे पर मिली है और उसका नाम उत्तरायता न होकर उत्तरमंद्रा है । सप्तस्वर-उत्तरमंद्रा का आरंभक स्वर 'सा' है, 'ध' नहीं । मतंग की दृष्टि में मुक्त तंत्री की ध्वनि से लेकर छठे परदे तक की ध्वनियाँ द्वादशस्वर-मूर्च्छना मिलाए जाने के परिणाम हैं, कारण नहीं ।

मूर्च्छना की स्थापना का आधार-रूप परदा सातवाँ है, जो मध्य-स्थान का आरंभक है । मत्तकोकिला में आठवाँ तार मध्य-सप्तक का आरंभक है । मध्य-सप्तक का आरंभक तार या परदा ही 'वीणा का मध्यम स्वर' अर्थात् मध्य-सप्तक के आरंभ में बोलनेवाली आरंभक ध्वनि है । 'वीणा का मध्यम स्वर' का अर्थ 'सप्तक का मध्यम स्वर' नहीं ।

मतंग-किन्नरी में धैवतादि-सप्तस्वर-उत्तरायता या धैवतादि-द्वादशस्वर-उत्तर-मंद्रा की स्थापना करने पर षाड्जी के षड्जांश, गांधारांश, मध्यमांश, पंचमांश, धैवतांश—सभी रूपों का वादन हो सकता है। धैवतांश-रूप में तो तीनों संपूर्ण सप्तकों की प्राप्ति होगी, परंतु अन्य स्वरों को अंश मानकर जब वादन किया जाएगा, तो 'जाति' का रूप तो प्रत्यक्ष हो जाएगा, परंतु मध्य-स्थान में कल्पित अंश स्वर के पश्चात् तेरह ध्वनियाँ और पूर्व में सात ध्वनियाँ नहीं मिलेंगी। स्थिति यों है :—

ध	नि॒	सा	रे	ग॒	म	प	ध	नि॒	सा	रे	ग॒	म	प
०,	१,	२,	३,	४,	५,	६,	७,	८,	९,	१०,	११,	१२,	१३,

ध	नि॒	सा	रे	ग॒	म	प
१४,	१५,	१६,	१७,	१८,	मीड़,	मीड़

शून्य मुक्त तंत्री का बोधक है और उसके पश्चात् लिखी हुई संख्याएँ पर्दों का बोध कराती हैं। अठारहवें पर्दे तक उन्नीस ध्वनियाँ मिल जाती हैं और अंतिम दो ध्वनियाँ अठारहवें पर्दे पर मीड़ द्वारा प्राप्त होती हैं।

षड्ज में चिकारी मिलाने पर जाति का षड्जांश-रूप बजाया जा सकेगा, जो षाड्जी जाति का शुद्ध रूप कहलाएगा। चिकारी नवें पर्दे की ध्वनि में मिली होगी।

इस स्थिति में षड्जादि-सप्तस्वर-उत्तरमंद्रा के मंद्र-रूप की प्राप्ति हमें दूसरे पर्दे से आठवें पर्दे तक, मध्य-रूप की प्राप्ति नवें से पंद्रहवें पर्दे तक और तार-रूप के 'सा, रे, ग॒' की प्राप्ति अंतिम तीन पर्दों पर होगी।

गांधारांश-अवस्था प्राप्त करने के लिए या तो हमें बाज के तार को वहाँ मिलाना होगा, जहाँ मिलाने से ग्यारहवें पर्दे की ध्वनि प्रधान चिकारी की ध्वनि में मिल जाए, अथवा चिकारी को ग्यारहवें पर्दे की ध्वनि में मिलाना होगा। इस अवस्था में हमें सप्त स्वर गांधारादि अश्वक्रांता मूर्च्छना के 'ग॒, म, प, ध, नि॒, सा, रे, ग॒, म, प, ध, नि॒, सा, रे, ग॒' चौथे पर्दे से अठारहवें पर्दे तक मिल जाएँगे।

मध्यमांश-रूप प्राप्त करने के लिए पाँचवें पर्दे की ध्वनि और चिकारी की ध्वनि को सदृश करना होगा और उस अवस्था में हमें मध्यमादि सप्त स्वर मत्सरी-कृता मूर्च्छना के 'म, प, ध, नि॒, सा, रे, ग॒, म, प, ध, नि॒, सा, रे, ग॒' पाँचवें पर्दे से अठारहवें पर्दे तक मिल जाएँगे।

पंचमांश-रूप प्राप्त करने के लिए छठे पर्दे की ध्वनि और चिकारी की ध्वनि को एक करना होगा। हमें पंचमादि सप्त स्वर शुद्धषड्जा के 'प, ध, नि॒, सा, रे, ग, म, प, ध, नि, सा, रे, ग॒' छठे पर्दे से अठारहवें पर्दे तक मिल जाएँगे।

इस प्रकार मूल रूप में धैवतादि मूर्च्छना मिलाने पर हमें मंद्र, मध्य और तार-सप्तकों के इक्कीस स्वर तो धैवतादि मूर्च्छना के ही मिलेंगे, परंतु अन्य स्वरों को

'स्थायी' करने पर उन स्थायी स्वरों से आरंभ होनेवाली मूर्च्छना का त्रिस्थानीय सप्तस्वर-पूर्ण रूप नहीं मिलेगा।

किसी भी जाति या राग के रूप को स्पष्ट करने के लिए यह आवश्यक नहीं कि तीन सप्तकों के इक्कीसों स्वरों का उपयोग किया ही जाए, इसलिए धैवतादि मूर्च्छना के स्थापित करने पर एक ही जाति के विभिन्नांश-रूपों का वादन करने के लिए बाज के तार या चिकारी को आवश्यकतानुसार उतारने-चढ़ाने से काम चल जाता है। मूर्च्छना-परिवर्तन के लिए पर्दे सरकाने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

षाड्जी जाति में 'ध–सा' संगति प्रबल है, इसलिए मतंग ने इस जाति के लिए धैवतादि मूर्च्छना निश्चित की है, जो द्वादशस्वर होने पर मतंग की उत्तरमंद्रा है और सप्तस्वर-दृष्टि से भरत की उत्तरायता है।

वास्तव में यह मूर्च्छना-विधि वादकों की सुविधा के लिए है, गायक के लिए नहीं। गले में पर्दे तो होते नहीं, जिन्हें सरकाने के झंझट से बचने के लिए द्वादशस्वर-मूर्च्छनावाद का आश्रय लिया जाए।

सीधी-सी बात यह है कि यदि तीनों संपूर्ण सप्तकों में सुविधापूर्वक पूर्ण विस्तार करना है, तो 'वीणा के मध्यम-स्वर' अर्थात् मत्तकोकिला के आठवें तार या मतंग-किन्नरी के सातवें पर्दे की ध्वनि को अभीष्ट अंश स्वर का नाम देकर अन्य तारों या पर्दों की स्थापना उस अंश स्वर से आरंभ होनेवाली मूर्च्छना के अनुसार करनी होगी।

आचार्य शार्ङ्गदेव ने जातियों के लक्षण और प्रस्तार मतंग से ही लिए हैं और विशिष्ट जाति के लिए विशिष्ट मूर्च्छनाओं का विनियोग भी जैसा-का-तैसा किया है। आपको 'बृहद्देशी' देखने का अवसर यदि मिलता, तो संगीत का सौभाग्य होता।

यह भलीभाँति स्पष्ट हो जाना चाहिए कि यदि किसी स्वर को अंश मानकर किसी जाति या राग का वादन संपूर्ण सप्तकों में करना है, तो तीनों संपूर्ण सप्तकों की प्राप्ति के लिए उसी स्वर से आरंभ होनेवाली मूर्च्छना मत्तकोकिला या मतंग-किन्नरी में मिलाना ही पड़ेगी। यदि तीनों संपूर्ण सप्तकों की प्राप्ति नहीं करना है, तो किसी भी स्वर को 'अंश' या 'स्थायी' बनाने के लिए चिकारी की ध्वनि और उस स्वर की ध्वनि को एक करना होगा।

२३. प्रश्न—ग्राम-राग जाति से उत्पन्न कहा जाता है। क्या इनकी मूर्च्छनाएँ जाति की मूर्च्छनाओं से भिन्न होती हैं? क्यों? क्या आप व्यवस्थित पाँच रागों को लेकर उनकी मूर्च्छना और जनक जाति की मूर्च्छना बताकर उनका परस्पर संबंध दिखा सकेंगे? जाति के लक्षणों में ग्रह आदि स्वर होते हैं; इनका मूर्च्छना से कौन-सा संबंध रहेगा? जाति के अंश स्वर अनेक और मूर्च्छना का एक, भला ऐसा क्यों?

उत्तर—सोलहवें प्रश्न के उत्तर में यह बताया जा चुका है कि 'जाति' के स्वर-क्रम या चाल को जैसा-का-तैसा रखते हुए उसमें कई स्वर अंश हो सकते हैं। अंश स्वर बदलने पर आपको ठाठ बदला हुआ दिखाई देगा, क्योंकि आप अंश स्वर को 'सा' कहने लगेंगे।

शुद्ध ग्राम-राग का अंश स्वर जो होगा, जनक जाति के अंश स्वरों में से ही कोई एक होगा; अर्थात् उस ग्राम-राग का अंश स्वर ऐसा नहीं होगा, जो जनक जाति में अंश स्वर न हो। यदि कई जातियाँ मिलकर एक राग की जननी हों, तो उनमें से किसी जाति के अंश स्वरों में जन्य राग का अंश स्वर अवश्य होगा।

(अ) मध्यम-ग्राम नामक शुद्ध राग का अंश स्वर 'षड्ज' है। गांधारी, मध्यमा और पंचमी नामक तीन जातियाँ मिलकर इस मध्यम-ग्रामीय राग को जन्म देती हैं। गांधारी और मध्यमा—दोनों ही जातियों में षड्ज भी अंश स्वर होता है।

इसका अर्थ यह है कि 'मध्यम-ग्राम' नामक राग को गाते-बजाते समय उसमें गांधारी और मध्यमा के षड्जांशरूपों अर्थात् चलनों का दर्शन होगा और पंचमी जाति की चाल भी दिखाई देगी।

सात शुद्ध जातियों में मध्यम-ग्राम की शुद्ध जातियाँ गांधारी, मध्यमा और पंचमी हैं। इन तीनों जातियों के चलन जब मिश्रित हो जाते हैं, तब उसका परिणाम यह होता है कि एक ऐसे राग का निर्माण होता है, जिसमें मध्यम-ग्राम नामक ग्राम से उत्पन्न तीनों जातियों का निचोड़ आ जाए। इस निष्कर्ष, तत्त्व या निचोड़ से युक्त राग का नाम भी मध्यम-ग्राम रखा गया, क्योंकि यह इस ग्राम के सभी विभिन्न स्वर-सन्निवेशों या चलनों का बोध करा देता है। इस राग के अभ्यास से सभी मध्यम-ग्रामीय स्वर-संगतियों का बोध हो जाता है।

इस राग की जनक जातियों से मध्यमा जाति में षड्ज अंश होने पर काकली निषाद के प्रयोग का विधान है, इसलिए मध्यम-ग्राम के राग में भी काकली निषाद का प्रयोग है और इसकी स्वरावलि 'सा, रे, <u>ग</u>, म, प, ध, नि' है। इस स्वरावलि में ऋषभ और पंचम त्रिश्रुतिक, गांधार द्विश्रुतिक, निषाद चतुःश्रुतिक, षड्ज द्विश्रुतिक और मध्यम चतुःश्रुतिक है। (यदि प्रमाण-श्रुति के सूक्ष्म अंतरों को ठाठ-वादियों के समान एक ओर उठाकर रख दिया जाए, तो यह वेंकटमखी का तेईसवाँ मेल गौरीमनोहारी होगा।)

जातियों में काकली निषाद का प्रयोग केवल आरोही में होता है, परंतु उनसे उत्पन्न रागों में आरोही एवं अवरोही—दोनों में ही काकली प्रयुक्त होता है। 'मध्यम-ग्राम' नामक राग में रागत्व का यह भी एक कारण है।

(आ) षड्ज-ग्राम नामक शुद्ध ग्राम-राग का अंश स्वर षड्ज है, जोकि इस राग की जनक जाति षाड्जी और षड्जमध्यमा—दोनों में ही अंश स्वर होता है। इस राग में अंतर-गांधार और काकली निषाद का प्रयोग होता है। इसकी मूर्च्छना

साधारणीकृता (अंतरगांधार और काकलीनिषाद से युक्त) उत्तरमंद्रा है। ठाठवादियों को यह बिलावल ठाठ का राग प्रतीत होगा।

(इ) शुद्ध साधारित नामक ग्राम-राग की जनक जाति षड्ज-मध्यमा है। इस राग का अंश स्वर षड्ज है, जो जनक जाति में भी अंश स्वर होता है। शुद्ध सप्तस्वर-उत्तरमंद्रा इसकी मूर्च्छना है।

(ई) पंचम या शुद्ध पंचम नामक शुद्ध ग्राम-राग, मध्यमा और पंचमी जाति से उत्पन्न हुआ है। पंचम राग में अंश स्वर पंचम है, जो इस राग की जनक जातियों में भी अंश स्वर होता है। इस राग में काकली निषाद और अंतर-गांधार प्रयुक्त हैं। इसकी मूर्च्छना साधारणीकृता हृष्यका—'प, ध, नि, सा, रे, ग, म' है। ठाठवादियों को यह खमाज ठाठ का राग प्रतीत होगा।

(उ) कैशिक अथवा शुद्धकैशिक राग का अंश स्वर षड्ज है, जो कि इस राग की जननी जातियों कार्मारवी और कैशिकी में कैशिकी जाति का एक अंश स्वर भी है। इस राग में काकली निषाद का प्रयोग होता है। इसकी मूर्च्छना सकाकली का शुद्धमध्या है। मेलवादियों को यह गौरीमनोहारी मेल का राग प्रतीत होगा।

(ऊ) षाडव या शुद्ध षाडव नामक राग, शुद्ध ग्राम-रागों में छठा होने के कारण 'शुद्ध षाडव' कहलाता है। इसका अंश स्वर मध्यम है, जो इसकी जननी मध्यमा जाति का भी एक अंश स्वर है। इसमें काकली निषाद, अंतर-गांधार प्रयुक्त होते हैं। मूर्च्छना 'म, प, ध, नि, सा, रे, ग' है। ठाठवादियों को इसमें कल्याण ठाठ सुनाई देगा।

जातियों में अंश स्वर का मध्य-स्थानीय रूप ही ग्रह स्वर होता है। इस राग में अंश स्वर का तार-रूप ग्रह स्वर है, यह भी रागत्व का एक लक्षण है।

(ए) कैशिक मध्यम या शुद्धकैशिक मध्यम का अंश स्वर षड्ज है। ऋषभ-पंचम इस राग में वर्जित हैं। इस राग में जनक जातियों—कैशिकी और षड्जमध्यमा में भी षड्ज स्वर अंश हो सकता है, इसमें निषाद काकली है।

इन सातों ही ग्राम-रागों का विनियोग 'नाट्यशास्त्र' में दिया हुआ है। इनके आलाप और बंदिशें 'बृहद्देशी' और 'संगीत-रत्नाकर' में हैं।

प्रथम राग भैरव, प्रथम ठाठ कल्याण

आंजनेय का यह प्रसिद्ध वाक्य है—"देशी राग वे हैं, जिनमें श्रुति, स्वर, ग्राम, जाति आदि का नियम नहीं और जो विभिन्न देशों की 'गति' (स्वर-संचार) और 'छाया' (रागच्छवि) के युक्त हैं।"[1]

ग्राम-मूर्च्छना-पद्धति में दो स्वरों का पारस्परिक अंतराल अधिक-से-अधिक 'उदात्त' या 'चतुःश्रुतिक' होता है, जो शुद्ध मध्यम और पंचम में सदैव और सर्वत्र प्राप्त है; परंतु दाक्षिणात्य मालवगौड़ मेल अर्थात् उत्तर-भारतीय भैरव ठाठ के ऋषभ और गांधार का पारस्परिक अंतर चतुःश्रुतिक अंतराल की अपेक्षा अधिक है, इस ठाठ के धैवत और निषाद के पारस्परिक अंतर की भी स्थिति यही है, अतः यह ठाठ किसी भी ग्राम की किसी भी मूर्च्छना में प्राप्त नहीं होता और देशी है। यद्यपि मतंग, शार्ङ्गदेव और कुंभ ने भी देशी रागों का वर्णन किया है, तथापि उन रागों में भी पंचश्रुतिक स्वरों का उपयोग नहीं है; अतः सिद्ध है कि वर्तमान भैरव ठाठ 'अवैदिक' तो है ही, मूल रूप में 'अभारतीय' भी है।

जिस भैरव राग को शताब्दियों से आदि राग या प्रथम राग कहा जाता हो, उसे अवैदिक और अभारतीय कहा जाना श्रद्धालु सज्जनों के लिए अप्रीतिकर लग सकता है, परंतु 'सत्य' तो सत्य है।

यह सर्वविदित तथ्य है कि सोलहवीं शती ईस्वी के पूर्वार्द्ध में दक्षिण के प्रसिद्ध संत गायक पुरंदरदास भैरव ठाठ को उत्तर-भारत से दक्षिण ले गए और उन्होंने ही कर्नाटक-संगीत में राग-शिक्षा का मूल आधार इस ठाठ को बनाया। उस युग के ग्रंथकार रामामात्य ने इस ठाठ को 'मालवगौड़ मेल' कहा है। 'मालवगौड़ मेल' का अर्थ होता है—'मालवा और गौड़ देश में प्रचलित मेल।' संत पुरंदरदास ने अनेक बार भारत का भ्रमण किया था, अतः उनका परिचय इस ठाठ से हुआ और उन्होंने देखा कि उत्तर-भारत में इस ठाठ को राग-शिक्षा का मूल आधार माना जा रहा है, तो उन्होंने भी इसका अनुकरण किया।

रामामात्य से कहीं पूर्ववर्ती आचार्य लोचन[2] ने इस ठाठ को 'गौरी-संस्थान' कहा है। 'गौरी' शब्द 'गौड़ी' का अपभ्रंश है, जिसका अर्थ 'गौड़ देश से संबद्ध' होता है।

इतिहास से सुपरिचित पाठक जानते हैं कि गौड़ और बंगाल पर कुतुबुद्दीन ऐबक (राज्यकाल १२०६-१२१० ई०) के सेनापति मुहम्मद बख्तयार ने अधिकार कर लिया था और लखनौती एवं आस-पास के प्रदेशों में उसके अमीरों ने मस्जिदों, मदरसों और खानकाहों की स्थापना कर दी थी। खानकाहों में चिश्ती-परंपरा के सूफी और कव्वाल रहते थे। मालवे पर शम्सुद्दीन इल्तुतमिश ने १२३५ ई० में

---

१. येषां श्रुतिस्वरग्रामजात्यादिनियमो नहि। नानादेशगतिच्छाया देशीरागास्तु ते स्मृताः॥

२. 'मुसलमान और भारतीय संगीत', पृष्ठ ३९–४०

अधिकार किया था। वहाँ भी मस्जिदों, मदरसों और खानकाहों की स्थापना हो चुकी थी और वहाँ के दरबारों पर भी सूफी और कव्वाल छा गए थे।

पंद्रहवीं शती ई० के उत्तरार्द्ध में मालवा के सुलतान गयासुद्दीन खिलजी (राज्यकाल, १४६९-१५०० ई०) के दरबार के संगीतज्ञों की 'समिति' थी। सुलतान स्वयं भारतीय श्रुतिसिद्धांत का मजाक उड़ाता था, जिसे 'संगीत-रत्नाकर' के प्रसिद्ध तेलुगु-टीकाकार विट्ठल के पिता ने बाईसों श्रुतियों का प्रदर्शन करके संतुष्ट किया और उससे एक सहस्र स्वर्ण-मुद्राएँ प्राप्त की थीं।[1] अस्तु, मालवा और गौड़ में शताब्दियों पूर्व वर्तमान भैरव ठाठ, मुकाम-पद्धति के प्रसाद से, मूल ठाठ के रूप में और वर्तमान भैरव राग आदिराग के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका था।[2]

दिल्ली-सम्राट् सिकंदर लोदी (राज्यकाल, १४८८-१५१७ ई०) के दरबारी मियाँ ताहा बड़े-बड़े ब्राह्मणों और पंडितों को संगीत की शिक्षा देते थे[3]। 'गौरा' (गौड़) सिकंदर लोदी का प्रिय राग था।

यह ऐतिहासिक परिस्थिति बताती है कि पुरंदरदास को अपना 'मालवगौड़' मालवा और गौड़ में प्रचलित दिखाई दिया और इसी लिए इसके 'मेलकर्ता' का नाम दक्षिण-भारत में 'मालवगौड़' रखा गया। दिल्ली-दरबार में पंडितों द्वारा मुसलमान गुणियों से शिक्षा प्राप्त किया जाना इस स्थिति का स्पष्ट प्रमाण है कि उस समय तक दरबारी पद्धति 'टकसाली' मानी जाती थी और तत्कालीन पंडित उसे समझने और उसके अनुसार आचरण करने के लिए प्रस्तुत थे।

अस्तु, यह सत्य है कि अकबर के युग से पूर्व ही वर्तमान भैरव प्रथम राग के रूप में उत्तर-भारतीय दरबारों में प्रतिष्ठित हो चुका था।

पुंडरीक ने अपनी 'रागमाला' में वर्तमान भैरव को ही शुद्ध भैरव और प्रथम राग कहा है। शताब्दियों पुराने ध्रुवपद-संग्रहों में सर्वप्रथम भैरव राग की ही चीजें संगृहीत मिलती हैं। शाहजहाँ के युग में 'सहसरस' नाम से संकलित बख्शू के ध्रुवपद-संग्रह में भैरव के ही ध्रुवपदों से बंदिशों का आरंभ है।

मुकाम-पद्धति का आधार ही 'अष्टकवाद' है। काफी ठाठ के ऋषभ-धैवत को उतारने और गांधार-निषाद के चढ़ाने से भैरव ठाठ बन जाता है। ऐसी अवस्था में ऋषभ और धैवत क्रमशः अपने पूर्ववर्ती षड्ज और पंचम के सन्निकट चले जाते हैं और गांधार तथा निषाद क्रमशः अपने उत्तरवर्ती मध्यम और तारषड्ज के निकट पहुँच जाते हैं। यह स्थिति खुसरो के युग में आ चुकी थी और उस इंद्रप्रस्थ-मत का बीजारोपण हो चुका था, जो दिल्ली के मुस्लिम दरबारों की उपज था। उस व्यक्ति की सूझ-बूझ की प्रशंसा किए बिना नहीं रहा जा सकता, जिसने इसका नाम

---

१. 'भरत-कोष' की भूमिका, पृष्ठ १२

१. 'संगीत-रत्नाकर' में वर्णित भैरव वर्तमान भैरव से सर्वथा पृथक् है। आज की दृष्टि से उसमें प्रयोज्य स्वरावलि 'सा रे॒ ग॒ म म॑ ध॒ नि॒ सां' है, जो किसी मेलकर्ता में नहीं आती।

३. मुसलमान और भारतीय संगीत', पृष्ठ ६२

'भैरव' रखा। इस नामकरण के कारण ही इसमें धार्मिकता का पुट आया। इसका यह नामकरण पुरंदरदास को स्वीकृत न था, अतः उन्होंने इसे 'मालवगौड़' नाम से ही स्वीकृत किया।

जो 'स्वरावलि' हिंदुस्तानी अथवा दाक्षिणात्य किसी भी पद्धति की मूल स्वरा-वलि नहीं है, उसे दाक्षिणात्य पद्धति में शिक्षा का आधार बनाया जाना और उत्तर-भारतीय पद्धति में उससे संबद्ध राग को आदि राग कहा जाना एक विलक्षण तथ्य है। बाद में तो इस भैरव को शंकर जी के मुख से उत्पन्न भी माना जाने लगा।

कोई वस्तु अभारतीय होने के कारण बुरी या त्याज्य नहीं हो जाती। हमें भैरव बेचारे से कोई शत्रुता नहीं है, परंतु एक 'स्थान' (मंद्र, मध्य अथवा तार) में उतरे-चढ़े बारह स्वर मानने की कल्पना सर्वथा अभारतीय है। इस संप्रदाय में षड्ज और पंचम को अचल माना जाता है, जो क्रमशः अष्टक के पूर्वार्ध और उत्तरार्द्ध के आधार स्वर हैं। तानपूरे की बाईं ओर के तार पर प्रायः 'पंचम' स्थापित किया जाना इसी प्रवृत्ति का परिचायक है।

यह तो रही भैरव की बात।

कल्याण ठाठ को प्रथम ठाठ कहा जाता है। उत्तर संध्या के पश्चात् एमन ही सबसे पहले गाया जाता है। भातखंडे जी ने भी कल्याण को प्रथम ठाठ कहा है और उनकी पद्धति में भी एमन ही विचार और संग्रह का प्रथम विषय बना है।

सदारंग-परंपरा के गुणी स्वरों के तीन रूप अचल, चढ़े और उतरे मानते हैं। उनकी दृष्टि में स्वरों की चढ़ी हुई अवस्था मूल अवस्था है, इसी लिए वे कल्याण को प्रथम या मूल ठाठ मानते हैं। प्रायः सभी मुस्लिम कलाकारों की यह दृष्टि है। बड़ी मनोरंजक बात यह है कि रामामात्य, पुंडरीक, श्रीकंठ, सोमनाथ और रघुनाथ-जैसे ग्रंथकार वर्तमान कल्याण ठाठ की चर्चा तक नहीं करते। हाँ, लोचन इसे 'ईमन' कहते हैं और अहोबल 'कल्याण'। लोचन और अहोबल, दोनों ही उत्तर-भारतीय संगीत के ग्रंथकार हैं।

अस्तु, कल्याण को मूल ठाठ मानने पर यदि हम एक विशिष्ट क्रम से स्वरों को उतारें, तो हमें क्रमशः बत्तीस ठाठों की प्राप्ति होती है। सोलहवीं शती ई० में बीन पर बारह स्वरों का बोध कराने के लिए अचल सारिकाओं की स्थापना हो चुकी थी और यह विधान समस्त भारत में स्वीकृत हो चुका था। सदारंग स्वयं अच्छे बीनकार थे, अतः वे इस सिद्धांत के भी मर्मज्ञ थे, जिसकी चर्चा की जा रही है।

कल्याण ठाठ के निषाद को उतार देने से 'वाचस्पति' (सा, रे, ग, मं प, ध नि॒, सां) नामक स्वरावलि की प्राप्ति होती है, जिसमें कोमल निषाद का संवादी कोई स्वर नहीं है। वाचस्पति के उतरे स्वरों को चढ़ाने और चढ़े स्वरों को उतारने से 'धेनुका' नामक स्वरावलि (सा, रे॒, ग॒ म, प, ध॒, नि सां) की प्राप्ति होती है। सदारंग-परंपरा का शुद्ध पीलू धेनुका मेल का ही राग है। धेनुका मेल में उसके निषाद का संवादी कोई स्वर नहीं है।

कल्याण ठाठ के धैवत को उतारने से लतांगी (सा, रे, ग, मं, प, ध॒, नि, सां) की प्राप्ति होती है, जिसका उलटा रूप 'नाटकप्रिया' (सा, रे॒, ग॒, म, प, ध, नि॒, सां) है, जिसमें धैवत के संवादी स्वर का अभाव है।

कल्याण के धैवत और निषाद उतारने पर ऋषभप्रिया (सा, रे, ग, मं, प, ध॒, नि॒, सां) नामक स्वरावलि की सृष्टि होती है, 'कोकिलप्रिया' (सा, रे॒, ग॒, म, प, ध, नि, सां) उसका उलटा है। ऋषभप्रिया में 'ग' और 'कोकिलप्रिया' में 'ध' के संवादी स्वर का अभाव है।

कल्याण का गांधार उतारने पर 'धर्मवती' (सा, रे, ग॒, मं, प, ध, नि सां) की सृष्टि होती है, 'धर्मवती' का उलटा रूप 'बकुलाभरण' (सा, रे॒, ग, म, प, ध॒ नि॒ सा) है।

कल्याण ठाठ के गांधार-निषाद उतरे हों, तो 'हेमवती' (सा, रे ग॒ मं, प, ध, नि॒, सां) की सृष्टि होती है, 'मालवगौड' (सा, रे॒, ग, म, प, ध॒ नि, सां) हेमवती का उलटा है।

कल्याण ठाठ के गांधार और धैवत उतारने पर 'सिहेंद्र मध्यम' (सा, रे, ग॒, मं, प, ध॒, नि, सां) का जन्म होता है। 'चक्रवाक' (सा, रे॒, ग, म, प, ध, नि॒, सां) 'सिहेंद्र मध्यम' का उलटा रूप है।

कल्याण-ठाठ के गांधार, धैवत और निषाद उतारने पर 'षण्मुखप्रिय' (सा, रे, ग॒, मं, प ध॒ नि॒, सां) के दर्शन होते हैं। सूर्यकांत (सा, रे॒, ग, म, प, ध, नि, सां) षण्मुखप्रिय का उलटा रूप है।

कल्याण ठाठ का ऋषभ उतारने पर 'गमनप्रिय (मारवा) (सा, रे॒, ग, मं, प, ध, नि, सां) की सृष्टि होती है। नटभैरवी (आसावरी ठाठ) गमनप्रिय का उलटा है।

कल्याण ठाठ के ऋषभ-निषाद उतारने पर 'रामप्रिया' (सा, रे॒, ग, मं, प, ध, नि॒ सां) की सृष्टि होती है, 'गीर्वाणी' (सा, रे, ग॒, म, प, ध॒, नि सां) रामप्रिया का उलटा रूप है।

कल्याण ठाठ के ऋषभ-धैवत यदि उतारे जाएँ, तो 'कामवर्द्धनी' (पूर्वी ठाठ) (सा, रे॒, ग, मं, प, ध॒, नि, सां) का जन्म होता है, 'खरहरप्रिया' (काफी ठाठ) पूर्वी ठाठ का उलटा रूप है।

कल्याण ठाठ के ऋषभ, धैवत, निषाद, उतारने पर 'नामनारायणी' (सा, रे॒, ग, मं, प, ध॒, नि॒, सां) की सृष्टि होती हैं, 'गौरीमनोहारी' (सा, रे, ग॒, म, प, ध, नि, सां) नामनारायणी का विपरीत रूप है।

कल्याण ठाठ के ऋषभ-गांधार उतारने पर 'स्वर्णांगी' (सा, रे॒, ग॒, मं, प, ध, नि, सां) का जन्म होता है, चारुकेशी (सा, रे, ग, म, प, ध॒, नि॒, सां) स्वर्णांगी से विपरीत है।

कल्याण ठाठ के ऋषभ-गांधार, निषाद उतारने पर 'षड्विधमार्गणी' (सा, रे, ग, मं, प, ध, नि, सां) का जन्म होता है, 'सरसांगी' (सा, रे, ग, म, प, धु, नि, सां) इसका उलटा है।

कल्याण ठाठ के ऋषभ-गांधार-धैवत उतारने पर शुभपंतुवराली (तोड़ी ठाठ) की सृष्टि होती है, हरिकांभोजी (खमाज ठाठ) इसका उलटा है।

कल्याण ठाठ के ऋषभ-गांधार-धैवत-निषाद उतारने पर 'भावप्रिया' (सा, रे, ग, मं, प, ध, नि, सां) का जन्म होता है, शंकराभरण (बिलावल) इसका उलटा है।

कल्याण ठाठ के ऋषभ, गांधार, मध्यम, धैवत, निषाद उतारने पर उत्तर-भारतीय भैरवी ठाठ की सृष्टि होती है।

निम्नलिखित सारणी में यह स्थिति संक्षेप में यों है :—

कल्याण ठाठ में उतारे हुए स्वर	प्राप्त मेल	उतरा रूप
नि	वाचस्पति	धेनुका
ध	लतांगी	नाटकप्रिया
नि, ध	ऋषभप्रिया	कोकिलप्रिया
ग	धर्मवती	बकुलाभरण
नि, ग	हेमवती	मालवगौड़
ध, ग	सिहेंद्रमध्यम	चक्रवाक
नि, ध, ग	षण्मुखप्रिय	सूर्यकांत
रे	गमनप्रिय	नटभैरवी
नि, रे	रामप्रिया	गीर्वाणी
ध, रे	कामवर्द्धनी	खरहरप्रिया
नि, ध, रे	नामनारायणी	गौरीमनोहारी
ग, रे	स्वर्णांगी	चारुकेशी
नि, ग, रे	षड्विधमार्गणी	सरसांगी
ध, ग, रे	पंतुवराली	हरिकांभोजी
नि, ध, ग, रे	भावप्रिया	शंकराभरण
नि, ध, म, ग, रे	भैरवी (हिंदुस्तानी)	कल्याण

इस प्रक्रिया में कल्याण के स्वरों को एक विशिष्ट क्रम से उतारा गया है, फलतः ऐसी बत्तीस स्वरावलियों की प्राप्ति हुई है, जिनमें स्वर-संज्ञाएँ सर्वथा उत्तर-भारतीय हैं।

यद्यपि सदारंग-परंपरा ने स्थूल रूप में 'दस ठाठ' माने, तथापि धेनुका मेल का शुद्ध पीलू, चक्रवाक मेल का अहीर-भैरव, सूर्यकांत मेल का आनंद-भैरव जैसे राग उत्तर-भारत में प्रचार के अंतर्गत हैं।

अस्तु, सोचने का यह ढंग ग्राम-मूर्च्छना-पद्धति की चिंतन-परंपरा से सर्वथा पृथक् है।

स्वरों की प्रवृत्ति आरोह में चढ़ने की ओर होती है और अवरोह में उन्हें आसानी से उतारा जा सकता है। ऐसे रागों को किसी एक ठाठ के अंतर्गत नहीं रखा जा सकता। अनेक रागों के आरोह में गांधार और निषाद चढ़े होते हैं और अवरोह में उनका रूप उतरा होता है। ये राग एक 'स्थान' में बारह ध्वनियाँ मानने के परिणाम हैं। मूर्च्छना-पद्धति के साथ इनका कोई लेना-देना नहीं है।

'ऐमन' अरबी भाषा का पुलिंग शब्द है, जिसका अर्थ 'कल्याणमय' होता है। आरोह में एमन और अवरोह में वसंत मिलाकर (सदारंग-परंपरा के विश्वास के अनुसार) अमीर खुसरो ने 'एमनीवसंत' की सृष्टि की। इस राग के आरोह में कल्याण और अवरोह में वसंत के स्वर हैं, फलतः ऋषभ-धैवत आरोह में चढ़े और अवरोह में उतरे हैं।

बिलावल ठाठ के 'नि़ सा रे ग म' और कल्याण ठाठ के 'मं प ध नि सां' परस्पर संवादी स्वर-गुच्छ हैं। इन दो स्वर-गुच्छों के संयोग से 'एमनीबिलावल', 'गौडसारंग', 'छायानट', 'कामोद', 'केदार' और 'हमीर' जैसे राग बने हैं, जो विभिन्न रागों के स्वर-खंडों से बने हुए गुलदस्ते हैं।

भैरव के 'नि़ सा रे॒ ग म' और पूर्वी के 'मं प ध॒ नि सां' भी परस्पर संवादी स्वर-गुच्छ हैं। रामकली का एक रूप इन दोनों स्वर-गुच्छों के संयोग से ही बना है। 'नि़ सा रे॒ ग॒ रे॒ सा नि़ सा ग म मं ऽ म ग ऽ' का संवादी स्वर-गुच्छ 'मं प ध॒ नि ध॒ प मं प नि सां रे॒ं ऽ सा नि' इन दोनों स्वर-गुच्छों के संयोग से हमने 'प्रभातरंजनी' नामक एक अत्यंत रंजक राग की सृष्टि की है।

संस्थान-पद्धति, मुकाम-पद्धति, मेल-पद्धति अथवा ठाठ-पद्धति सर्वथा अभारतीय पद्धति है। इस पद्धति के अपने गुण हैं, अपनी विशेषताएँ हैं, हमें इससे कोई विरोध नहीं है, परंतु गड़बड़ तब होती है, जब लोग इसमें ग्राम-मूर्च्छनापद्धति की बात घुसेड़ने लगते हैं। 'आज कल केवल षड्ज-ग्राम प्रचलित है' जैसे वाक्य सर्वथा भ्रामक हैं।

शताब्दियों से पर्याप्त व्यक्तियों के मस्तिष्क में यह भ्रांति चली आ रही है कि शायद मध्य-षड्ज से तार-षड्ज तक क्रमशः ऐसी बाईस श्रुतियाँ विद्यमान हैं, जिनमें सभी प्रचलित रागों की प्राप्ति हो सकती है। जबकि सारणा-विधि से प्रत्यक्ष रूप में परिचित व्यक्ति यह बात जानते हैं कि भरत-बोधित सारणा-विधि में षड्ज के पश्चात् आधुनिक कोमल ऋषभ तक की प्राप्ति ब्रह्मा को भी न होगी।

ठाठ-पद्धति या मेल-पद्धति के लेखक यदि ग्राम, मूर्च्छना इत्यादि की चर्चा न करते, तो भारतीय प्रचलित रागों को कोई क्षति न होती।

बड़ी विलक्षण बात यह है कि किसी ग्रंथकार ने यह न लिखा कि 'बीन' पर सारिकाएँ रखने की विधि क्या है ? श्रीकंठ और वेंकटमखी-जैसे पंडितों ने यह काम चतुर शिल्पियों पर छोड़ दिया।

अत्यंत आश्चर्यजनक तथ्य यह है कि स्व० भातखंडे जी ने अपने गुरु बीनकार उस्ताद वजीर खाँ की 'बीन' की सारिकाओं पर न तो ध्यान दिया और न उस 'बीन' को अपने विचार का आधार बनाया। यदि वे इसे आधार मानकर विचार करते, तो सदारंग-परंपरा के अनेक गुप्त रहस्य उनके सम्मुख स्पष्ट हो जाते।

आज भी 'बीन' पर स्थापित सारिकाओं की ध्वनियों का सूक्ष्म अध्ययन विद्यार्थियों को कराया जाना चाहिए।

स्वामी हरिदास जी का संगीत-पक्ष

महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा है कि स्वर-जाति प्रमाणज्ञ, वीणा-वादन में तत्पर और तालज्ञ व्यक्ति अप्रयास मोक्ष प्राप्त कर लेता है। आचार्य शार्ङ्गदेव का कथन है कि 'गीत' धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष चारों का साधन है। उस गीत के महात्म्य की प्रशंसा भला कौन कर सकता है। यह उक्तियाँ सिद्ध करती हैं कि संगीत, साधक की रुचि के अनुसार विभिन्न लक्ष्यों की प्राप्ति कराता है। यदि विचार किया जाए तो लक्ष्यों की विभिन्नता साधकों के दृष्टि-भेद को प्रकट करती है। फलत: महत्त्व की दृष्टि से धर्मार्थी, कामार्थी, अर्थार्थी और मोक्षार्थी संगीत-साधकों की दृष्टि में संगीत का मूल्य एवं स्तर भिन्न-भिन्न कोटि का रहेगा, जहाँ धर्मार्थी व्यक्ति संगीत को पवित्रतम साधन समझते हुए उसकी पवित्रता को अक्षुण्ण रखने की चेष्टा करेगा, मोक्षार्थी व्यक्ति उसके द्वारा एकाग्रता प्राप्त करते हुए ब्रह्म में लीन होने का प्रयत्न करेगा, वहाँ कामार्थी व्यक्ति संगीत-साधना के द्वारा अपनी और अपने प्रेम-पात्र की वासनाओं को जगाने में जुट जाएगा तथा अर्थार्थी उसे उस रूप में ढालने का प्रयत्न करेगा, जिससे कि उसका दाम बाजार में अधिक-से-अधिक उठ सके। अंतर इतना है कि धर्मार्थी और मोक्षार्थी अपने संगीत को सात्विकता-प्रधान रखेगा और कामार्थी तथा अर्थार्थी व्यक्ति उसे रज-प्रधान रखेंगे। स्पष्ट है कि इन दोनों वर्गों के लक्ष्य भिन्न होने तथा इन दोनों की संगीत-साधना में अंतर होने के कारण इनके संगीत सर्वथा विभिन्न कोटियों के होंगे। पहला वर्ग नाद को साधन मात्र ही नहीं, साध्य भी मानता है, उसकी दृष्टि में नाद ही ब्रह्म है, जिसकी उपासना करने से समस्त देवताओं की उपासना स्वयं हो जाती है। परंतु दूसरे वर्ग की दृष्टि में संगीत क्षणिक सांसारिक कामनाओं को उपलब्ध करने का साधन-मात्र है। इस वर्ग का लक्ष्य कामिनी या कांचन है। पहला वर्ग अपना रूप अपने देवता नाद-ब्रह्म में तिरोहित कर देना चाहता है, शिव की उपासना के लिए स्वयं शिव हो जाना चाहता है और दूसरा वर्ग उसे सांसारिक कामनाओं की तृप्ति का उपकरण-मात्र मानता है और उसे जब जैसा चाहे रूप देने के लिए प्रस्तुत हो जाता है।

रसिकशिरोमणि स्वामी श्री हरिदास तथा अन्य संत गायक प्रथम वर्ग में आते हैं और तानसेन या अन्य दरबारी कलाकारों की गणना दूसरे वर्ग में होती है। लक्ष्य के भेद से इन दोनों वर्गों में जो स्वाभाविक अंतर है, वह स्पष्ट है। इसी लिए इन दो विभिन्न वर्गों से संबद्ध संगीतज्ञों की तुलना न तो उचित है और न संभव। हमारा यह तात्पर्य नहीं कि संगीत में नवीन रागों, तालों या शैलियों की उद्भावना अनुचित या असंभव है। परंतु यह उद्भावना साधक के हृदय से स्वयं होनी चाहिए। यदि ग्राहकों को प्रसन्न करने के लिए प्रयत्न-पूर्वक बनाए हुए, भाँति-भाँति के गोरख-धंधों को भी सहज-उद्भावना की कोटि में रखा जाएगा, तो आदि कवि वाल्मीकि और पद्माकर भट्ट में कोई अंतर न रहेगा। संगीत हो, काव्य हो, चित्रकला हो, मूर्तिकला हो या स्थापत्य कला सभी क्षेत्रों में यह तथ्य पूर्णतया चरितार्थ होता है।

एक वृक्ष में खिले हुए गुलाब के फूलों में एक विशिष्ट गंध है। उनकी आकृति में वैषम्य होते हुए भी गंध-विषयक और जाति-विषयक एक साम्य है। माली उस वृक्ष

को सींचता है। सिंचन के परिणामस्वरूप वृक्ष प्राकृतिक रूप में भूमि से अपना जीवन-रस ग्रहण करता है। वृक्ष प्रति-दिन हरा-भरा रहता है, नित्य नए-नए फूल खिलते हैं और वे सबके सब गुलाब के फूल होते हैं। एक दूसरा माली है; विभिन्न प्रकार के फलों को, पत्तियों को, विभिन्न वृक्षों से तोड़ता है; रंग-बिरंगा, चटकीला गुलदस्ता बनाता है, जो अगले दिन मुरझा जाता है; जिसकी शाखाएँ तरु से अलग हो चुकी हैं, फूल शाखाओं से टूट चुके हैं, उनके सिंचन में यदि समस्त समुद्र उँड़ेल दिया जाए, उनमें स्वाभाविक रूप से जीवन-रस का पुनः ढालना संभव नहीं। वे स्वाभाविक वृक्ष ऋषि-मुनियों के पुण्य तपोवन का वातावरण बनाते हैं और गुलदस्ते विलासपूर्ण राजमहलों का। हम समझते हैं कि यह स्थिति संत गायकों और दरबारी कलाकारों की कला में अंतर करने के लिए स्पष्ट है।

इतिहास हमें राजाओं, सामंतों, सेनापतियों और युद्धों का एक विशेष रंग में रँगा हुआ रूप देता है। लोक-जीवन के विस्तृत पक्षों का उद्घाटन उससे हो सकना असंभव है। इतिहास हमें बताता है कि उत्तर-भारत में राजनीतिक कारणों से महमूद गजनवी के आक्रमणों के परिणाम-स्वरूप एक अस्तव्यस्तता उत्पन्न हुई। अलाउद्दीन खिलजी के काल में दिल्ली-दरबार का ध्यान संगीत की ओर गया। अमीर खुसरो और गोपाल नायक से संबद्ध जन-श्रुति में यदि कुछ सत्य है, तो उससे यही सिद्ध होता है कि दिल्ली-दरबार अपने आतंक से भारतीय संगीत को जितना प्रभावित करना चाहता था, भारतीय संगीत के तत्त्वों से सुपरिचित होने के लिए उसका उतना आग्रह नहीं था। सूफी परंपरा में संगीत ग्राह्य अवश्य था, परंतु उसकी शैली पर एक विदेशी आवरण छाया हुआ था। इस काल में भारतीय एवं अभारतीय रागों का संकट हुआ और भावी पीढ़ियों के लिए यह प्रवृत्ति एक संक्रामक रोग बन गई। पंद्रहवीं शती ईसवी के उत्तरार्द्ध में जौनपुर के सुलतान हुसेन शाह शर्की के दरबार में यह रोग और उभरा तथा इस रोग का तीसरा आक्रमण अकबरी दरबार के संगीतज्ञों पर हुआ। प्रयत्नपूर्वक किए गए इन राग-संकटों का लक्ष्य अपने अन्नदाताओं को चमत्कृत करके उनसे पुरस्कार और पदवियाँ प्राप्त करना था। यह चमत्कार प्रयत्नजन्य थे। कलाकारों की आत्मा इनमें मुखरित नहीं हुई थी। फलतः इनमें से अनेक प्रयत्नपूर्वक पोषित किए जाने पर भी काल-कवलित हो गए। जो कुछ बचे भी हैं, उनके विषय में भी निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता है कि उनमें उनका आरंभिक रूप कहाँ तक अवशिष्ट है।

सुलतान हुसेन शाह शर्की की मृत्यु से आठ-दस ही वर्ष पश्चात् १४८६ ईसवी में मानसिंह तोमर जैसा प्रतापी नरेश गवालियर के राजसिंहासन पर बैठा। इसका प्रताप-सूर्य तीस वर्ष तक निरंतर दीप्त होता और संगीत-जगत् को प्रकाशित करता रहा। भारतीय कलाकारों के वंश में रागों के कुछ रूप सुरक्षित थे, परंतु राज-शासन के परिणाम-स्वरूप उन रागों में गाए जानेवाले गीतों का विषय पीरों-पैगंबरों या सूफियों की स्तुति हो गया था। प्रतापी-नरेश मानसिंह का आश्रय पाते ही कलाकारों की आजीविका का एक नवीन मार्ग खुल गया, उन्हें एक नया आश्रय प्राप्त हुआ, जहाँ वे अपने रागों में देवी-देवताओं की स्तुति कर सकते थे, उनकी स्वर-लहरी में वीर-विरुदावली गूँज सकती थी और भारतीय दाम्पत्य-जीवन के विभिन्न पक्षों का वर्णन हो

सकता था। मानसिंह के द्वारा कलाकारों की इस प्रवृत्ति को आश्रय मिला। यही नहीं, गान-वादन शैली में भी संगीत के प्राचीन रूप को उभारने की भी यथासंभव चेष्टा की गई। कुछ इतिहासकारों के अनुसार तो मानसिंह के निर्देशन में उसके कलाकारों ने एक नवीन गान-शैली को जन्म दिया और वर्ण्य-विषय के अनुसार मानसिंह तोमर ने ही कुछ पदों का नाम विष्णु-पद और कुछ का नाम ध्रुवपद रखा। कालांतर में विष्णु-पद वाली परंपरा वह परंपरा कहलाई, जिसमें सभी वैष्णव भक्तों के द्वारा रचित पद आते हैं और ध्रुवपद-परंपरा ने अकबरी दरबार को ही नहीं, उससे पूर्व बहादुरशाह गुजराती तक के दरबार को भी प्रभावित किया।

भरत के अनुसार वाक्य, वर्ण (गान-क्रिया), अलंकार, यति, पाणि और लय जहाँ ध्रुव रूप में परस्पर सम्बद्ध रहें उन गीतों को ध्रुवा कहा जाता था। ध्रुवा गीति में प्रयुक्त होनेवाले पद ध्रुवापद कहलाते थे। यह स्थिति प्रबंध-गान के आविष्कार से पूर्व की थी। प्रबंध-गान के आविष्कार के पश्चात् प्रबंध की चारों धातुओं में ध्रुव नामक एक अलोप्य धातु हुआ करती थी, जिसमें गाया जानेवाला पद ध्रुवपद कहलाता था। मानसिंह के द्वारा जिस पद को ध्रुवपद कहा गया वह प्रबंध के अवयव विशेष ध्रुवपद की धारणा से प्रभावित रहा होगा। अबुल्फज्ल ने ध्रुवपद का लक्षण करते हुए कहा है कि ध्रुवपद में तीन या चार लय-बद्ध चरण होते हैं, जिनकी लंबाई कुछ भी हो सकती है और उनका विषय ऐसे व्यक्तियों की प्रशंसा या स्तुति होता है, जो अपने शौर्य एवं गुण के लिए प्रसिद्ध रहे हैं। विष्णु-पद के विषय में अबुल्फ़ज़्ल का यह कहना है कि उसमें चार या छह पंक्तियाँ होती हैं और उनका विषय कृष्ण की स्तुति होता है। अबुल्फ़ज़्ल ने ध्रुवपद को आगरे और गवालियर में तथा विष्णु-पद को मथुरा में प्रचलित बताया है।

जहाँ संत गायकों की रचना को विषय की दृष्टि से विष्णु-पद कहा जाता है, वहाँ भक्तवर नागरीदास ने हरिदास जी द्वारा रचित गीत "ऐसी ऋतु सदा सर्वदा जो रहै बोलति मोरनि" को विष्णु-पद कहा है, परंतु ऐसा लगता है कि गान-शैली की दृष्टि से ही हरिदास जी की रचनाओं को 'ध्रुवपद' कहा गया है। विष्णु-पदों में ताल को छंद का अनुसरण करना पड़ता है, परंतु ध्रुवपद-शैली में छंदों-विषयक गति की अप्रधानता भी देखी जाती है और ध्रुवपद की शब्दावली को ताल के लय का अनुसरण करना पड़ता है। शब्दों में प्रयोज्य दीर्घ अक्षर ताल में सामंजस्य बिठाने की दृष्टि से कई-कई मात्राओं तक खींचे जा सकते हैं, जो संगीत की परिभाषा में 'कृष्य' कहलाते हैं। छंदःशास्त्र की दृष्टि से जो दीर्घ अक्षर केवल दो मात्राओं का होता है, गान-शैली में वह खिंचकर कई-कई मात्राओं के काल को अपने-आपमें समेट लेता है, इसी लिए यदि ध्रुवपद के शब्द केवल लिखित रूप में ही सामने आएँ तो उनमें छंद के मर्मज्ञों को छंद के अनुकूल गति और यति का दर्शन नहीं होता।

श्री हरिदास जी की विरत परंपरा में उनका जन्म संवत् १५३७ विक्रमाब्द तदनुसार १४८० ईसवी माना जाता है। यदि यह जन्म-संवत् ठीक है, तो श्री स्वामी जी की आयु मानसिंह तोमर के मृत्यु वर्ष १५१६ ई० में छत्तीस वर्ष की सिद्धि होती है, फलतः स्वामी जी के संगीत पर मानसिंह तोमर के दरबार की गान-शैली का प्रभाव

पड़ना अथवा मानसिंह तोमर के दरबारी कलाकारों का तथा श्री स्वामी जी का किसी एक ही स्रोत से प्रभावित होना सर्वथा संभव है। इसी लिए स्वामी जी को ध्रुवपद-गायक कहा जाता है।

नाभा जी ने श्री स्वामी जी को गान-कला-गंधर्व कहा है। स्वामी जी जन-श्रुतियों के अनुसार एक रससिद्ध गायक थे। तानसेन-जैसे प्रसिद्ध गायक को स्वामी जी का शिष्य कहा जाता है, परंतु तानसेन की रचनाओं के विषय एवं भाषा पर तथा तानसेन के चरित्र पर स्वामी जी का प्रभाव परिलक्षित नहीं होता। ऐसी बात नहीं कि तानसेन ने विष्णु-पदों की रचना की है, परंतु इन विष्णु-पदों के रचयिता तानसेन अकबरी दरबार के ही तानसेन थे, यह कहना कठिन है। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' के अनुसार एक तानसेन विट्ठलनाथ जी के समक्ष गोविंद स्वामी के शिष्य हुए और इनके जीवन का अंतिम भाग वृन्दावन में ही व्यतीत हुआ। इन तानसेन के पद वल्लभ-कुल संप्रदाय के समाजों में आज भी गाए जाते हैं। 'तुज़्के-जहाँगीरी' में जहाँ-गीर ने एक तानसेन कलावंत की चर्चा की है, जो अकबरी दरबार के तानसेन से सर्वथा भिन्न व्यक्ति था और अकबरी दरबार के तानसेन के मृत्यु-वर्ष १५८९ से २९ वर्ष पश्चात् सन् १६१८ ईसवी में जीवित था। संभव है कि 'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता' वर्णित तानसेन जिसे बादशाह का गवैया कहा गया है, यह तानसेन द्वितीय हो; क्योंकि वार्ता में गोविंद स्वामी के शिष्य तानसेन का अंतिमकाल वृंदावन में ही व्यतीत होना बताया गया है, जबकि अकबरी दरबार के तानसेन की निश्चित मृत्यु तिथि बताते हुए 'अकबर नामे' में तानसेन के वृन्दावन-वास की कोई चर्चा नहीं की गई है।

कुछ लोग बैजू को अकबरी युग का कलाकार मानते और उसे भी हरिदास जी का शिष्य कहते हैं, परंतु बैजू को अकबर-कालीन सिद्ध करनेवाली जनश्रुतियाँ उसी प्रवृत्ति का परिणाम हैं, जो सेर के लिए सवा-सेर देखना चाहती है। अब्दुल कादिर बदायूँनी ने अपने ग्रंथ में यह चर्चा की है कि जौनपुर के एक सूफी गायक के समक्ष तानसेन का गाना फीका पड़ गया था, परंतु उसने भी बैजू नामक किसी कलाकार से तानसेन के हारने की बात नहीं कही। मानसिंह तोमर के दरबार की रचना 'मानकुतूहल' का अनुवाद 'रागदर्पण' भी किसी बैजू की चर्चा नहीं करता। ऐसा प्रतीत होता है कि फ़ारसी लिपि में बख्शू या मंझू नामों के स्थान पर कहीं-कहीं बैजू हो गया है। शाहजहाँ के दरबारी ध्रुवपद-गायक जगन्नाथ ने तो नायक बैजू और नायक गोपाल को मानसिंह तोमर के दरबारी गायक बख्शू की अपेक्षा भी पूर्ववर्ती बताया है। मानसिंह तोमर के राज्यारोहण के समय श्री स्वामी हरिदास जी की आयु केवल ६ वर्ष की थी। फलतः बख्शू से पूर्ववर्ती बैजू तो स्वामी जी का शिष्य हो ही नहीं सकता।

तानसेन और बैजू यदि स्वामी जी के शिष्य न भी हों तो भी स्वामी जी की महत्ता में कोई अंतर नहीं पड़ता। व्यक्ति अपने गुणों के कारण महान् होते हैं। कहा जाता है कि अकबर तानसेन के साथ स्वामी जी के दर्शन के लिए आया था और स्वामी जी के संगीत पर मुग्ध हो गया था, परंतु तानसेन की मृत्यु पर अकबर के जो

उद्‌गार 'अकबर-नामे' में उद्धृत हैं उनके अनुसार तो अकबर की दृष्टि में तानसेन जैसा उत्कृष्ट गायक पिछले हजार वर्षों में नहीं हुआ। अकबर के ये उद्‌गार स्वामी जी के प्रति अकबर की तथाकथित निष्ठा के समक्ष प्रश्न-चिह्न बनकर आ जाते हैं।

ऐसे चित्र पाए जाते हैं, जिनमें तानसेन अकबर-सहित स्वामीजी की सेवा में उपस्थित है। इन चित्रों में अकबर की आयु सबसे अधिक, स्वामीजी की आयु अकबर से कम और तानसेन की आयु सबसे कम दिखाई गई है, जबकि स्वामी जी का जन्म-वर्ष सन् १४८० ई०, तानसेन का लगभग १४९३ ई० और अकबर का जन्म-वर्ष २३ नवंबर, १५४२ ई० है। अर्थात् वास्तविकता की दृष्टि से हरिदास जी की आयु इन तीनों में सबसे अधिक, तानसेन की आयु स्वामीजी से प्रायः १३ वर्ष कम और अकवर की आयु स्वामी जी की आयु की अपेक्षा ६५ वर्ष कम थी। चित्रों की अप्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिए इतना ही पर्याप्त है। परंतु इतना तो मानना ही पड़ेगा कि चित्र-निर्माता के समक्ष कोई किंवदंती अवश्य थी, जिसके आधार पर उसने चित्र-रचना की। इस किंवदंती का उल्लेख भक्तप्रवर नागरीदास ने किया है। संभव है तानसेन को अद्‌भुत गवैया कहते समय अकबर का आशय केवल संगीत-जीवियों के साथ तान-सेन की तुलना करना रहा हो। इस दृष्टि से रसिक-शिरोमणि हरिदास जी उस तुलना की परिधि से बाहर आ जाते हैं। हमें ऐसा लगता है कि १५१८ ई० में गवा-लियर का किला विक्रमाजीत के हाथ से निकल जाने के पश्चात् तानसेन वृन्दावन आकर कुछ दिनों के लिए श्री स्वामी जी के चरणों में बैठा हो, परंतु उसके दरबारी संस्कारों ने उसे वहाँ अधिक न टिकने दिया हो।

वृन्दावन में ऐसे वयोवृद्ध सज्जन विद्यमान हैं, जो कहते हैं, कि निधिवन की सीमा में ही तानसेन की समाधि थी। एक बँटवारे के परिणाम स्वरूप वह स्थल आज निधिवन की सीमा से बाहर है।

शेख मुहम्मद गौस और तानसेन के पारस्परिक संबंध की चर्चा कर देना भी यहाँ अप्रासंगिक न होगा। शेखसाहब का जन्म-वर्ष १४८३ ई० है और तानसेन का जन्म-वर्ष १४९३ ई०, अर्थात् शेखसाहब तानसेन से केवल दस वर्ष बड़े थे, फलतः शेख साहब के आशीर्वाद से तानसेन का जन्म होने और तानसेन के द्वारा शेख साहब का झूठा पान खाने की कथा तानसेन को मुसलमान सिद्ध करने का बालप्रयास मात्र है। शेख साहब ने फकीरी सन् १५५६ ई० के पश्चात् ली, जबकि तानसेन की आयु ६३ वर्ष की थी और वे देशव्यापी प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे एवं राजा रामचद्र के दरबार में थे। अतः तानसेन को शेख साहब का मुरीद कहना भी कोरी गप्प है। शेख साहब ने गुजरात के बादशाह बहादुरशाह के साथ एक गुप्त अभिसंधि की थी। जिसका पता चलने पर बैराम खाँ ने उन्हें गिरफ्तार करना चाहा था, जिसके परिणाम स्वरूप शेख साहब गवालियर भागे और फकीर हो गए थे। अकबर सन् १५९९ ई० में गवालियर गया था और उसने शेख साहब के प्रति उपेक्षा भाव ही प्रकट किया था। इन सब तथ्यों की चर्चा अबुल्फ़ज़्ल ने की है। ऐसी स्थिति में दरबारी राजनीति में कुशल तानसेन का कोई भी संबंध शेख साहब के साथ होना पूर्णतया असंभव है। इसके विरुद्ध जहाँगीर के लेख से यह स्पष्ट सिद्ध है कि तानसेन का गाना अकबर के पीर शेख

सलीम चिश्ती को बहुत पसंद था और उन्होंने अपने मृत्यु के दिन भी तानसेन का गाना सुना।

दरबारी कलाकार वृद्धावस्था में भक्तिमार्ग की ओर प्रवृत्त हुआ करते थे। फलतः यह संभव है कि वे स्वामी श्री हरिदास जी से संबंध रखते हों और उन्होंने १५७५ ई० में स्वामी जी का गोलोकवास होने के पश्चात् अपनी ये इच्छा प्रकट की हो कि उनकी समाधि भी निधिवन में ही बने। 'अकबरनामा' में यह स्पष्ट उल्लेख है कि तानसेन की शवयात्रा के साथ अकबरी दरबार के कलाकार गाते-बजाते और विवाह-जैसा उत्सव मानते गए थे। यह विशुद्ध हिंदू प्रथा है, जो तानसेन का आमरण हिंदू रहना निर्भ्रांत रूप में सिद्ध करती है और निधिवन में तानसेन की समाधि होने की संभावना भी व्यक्त करती है।

× × × ×

स्वामीजी की रचनाओं में उनकी संगीतज्ञता के जो अंतःसाक्ष्य मिलते हैं, उन पर विचार करने से पूर्व भारतीय संगीत की कुछ विशेषताओं पर संक्षेप में विचार कर लेना अच्छा होगा।

भारतीय संगीत का मूल 'सामवेद' है। उद्गम-स्थान एक होने पर भी संगीत की गंगा तीन धाराओं में विभक्त हो गई। पहली वैदिक परंपरा, जिसके आदि पुरुष ब्रह्मा कहे जाते हैं; दूसरी आगम-पुराण-परंपरा, जिसके आदि पुरुष भगवान् शंकर कहे जाते हैं और तीसरी भरत परंपरा, जिसके आदि पुरुष भरत मुनि कहे जाते हैं। इन तीनों परंपराओं को पृथक्-पृथक् पूर्ण परिचय देनेवाले ग्रंथ आज उपलब्ध नहीं हैं। 'नाट्यशास्त्र' का उपलब्ध रूप भी एक संग्रह-ग्रंथ है, जिसके संबंध में आज से एक सहस्र वर्ष पूर्व के एक आचार्य का यह कथन है कि इसका संकलन ब्रह्ममत, शिवमत और भरतमत के प्रतिपादक विभिन्न ग्रंथों के खंडों को एक स्थान पर प्रक्षिप्त करके किया गया है तथा इस संकलन का प्रयोजन तीनों मतों में ब्रह्ममत की श्रेष्ठता को सिद्ध करना है।

किसी समूह का वर्गीकरण कई दृष्टियों से किया जा सकता है। रागों के संबंध में भी यही हुआ है।

रागों के कुछ वर्गीकरण उनके ढाँचे की दृष्टि से हैं, तो कुछ उनकी आत्मा की दृष्टि से। अमूर्त एवं भावात्मक तथ्यों को भी साकार एवं सजीव रूप में प्रस्तुत करने के लिए उन्हें रूपक शैली से समझाना पौराणिक परंपरा की विशेषता है। अमूर्त रागों को साकार रूप देकर उनके ध्यानों का निर्माण करना और चित्रकारों के लिए एक ऐसा सुंदर आधार प्रस्तुत कर देना, जिससे कि उनके मनोरम चित्रों का निर्माण हो सके और सामान्य व्यक्ति के नेत्रों के समक्ष भी उनका रसात्मक विशिष्ट रूप आ सके, पुराण-परंपरा की सफलता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। रस-दृष्टि से गेय स्वर-सन्निवेशों अर्थात्-रागों का वर्गीकरण राग-रागिनी के रूप में किया गया है। वर्णमाला में प्रयुक्त वर्णों को स्थान और प्रयत्न की दृष्टि से अनेक समूहों में जिस प्रकार विभाजित किया गया है,

मनुष्यों के समूह को जाति, वर्ण, गुण, धर्म, स्वभाव, आकार इत्यादि की दृष्टि से जैसे विभिन्न समूहों में बाँटा जा सकता है, ठीक उसी प्रकार प्राचीन मनीषियों ने रागों का वर्गीकरण विशिष्ट दृष्टियों से किया है। मूर्च्छना-पद्धति रागों का ढाँचा प्रस्तुत करती है, तो ध्यान-पद्धति हमारे समक्ष उनका रसात्मक रूप मूर्त कर देती है।

रसिक-शिरोमणि स्वामी श्री हरिदास जी के समक्ष यही रसाधारित वर्गीकरण था। उनका कथन है :—

रुचि के प्रकाश परस्पर खेलन लागे।
राग-रागिनी अलौकिक उपजत, नृत्य संगीत अलग लाग लागे ॥
राग ही में रंग रह्यौ, रंग के समुद्र में ये दोऊ झागे ॥
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा, कुंजबिहारी पै रंग रह्यौ रस ही में पागे ॥

अर्थात्—कांति के दो प्रकाश श्यामा और कुंजबिहारी परस्पर खेलने लगे। एक पृथक् लगाव से युक्त नृत्य और संगीत प्रवर्तित हो गए। अलौकिक (लोकोत्तर आनंद-दायक) राग-रागिनियाँ उत्पन्न होने लगीं। राग ही में रंग (एक विशिष्ट मन:स्थिति अथवा वातावरण) विद्यमान था और ये दोनों उस रंग ही के समुद्र में ओतप्रोत हो गए। श्री हरिदास के स्वामी श्यामा और कुंजबिहारी पर रंग (श्रृंगार-संबंधी अनुभव) व्यक्त हो रहे थे, और ये दोनों रस ही में पगे हुए थे।

स्वामी जी की राधा सकल कलाओं की मर्मज्ञा हैं। उनके सामने गुण की एक बात भला कौन जान सकता है ? यदि कोई कुछ जानता है तो वह ज्ञान भी उन्हीं का प्रसाद मात्र है। राधिका में नृत्य, गीत और ताल के जितने भेद दिखाई दिए, उतने कोई नहीं जानता। संगीत के तत्त्व, शुद्ध और अच्छे रूप की रेखा में जो प्रमाण हैं और जो सुघर गुणी हैं, उन्होंने भी भारी परिश्रम किया। तुम्हारी प्रकृति के अंग-अंग के समक्ष और गुणी हार गए। स्वामी जी की वाणी में ये शब्द हैं :—

गुन की बात राधे तेरे आगें को जानें, जो जानें सो कछू उनहारि।
नृत्य गीत ताल भेदन के भेदन जाने काहू, जिते तिते देखे झारि ॥
तत्त्व सुध स्वरूप रेख परमान जे विज्ञ सुघर, ते सुर पचे भारि।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कुंजबिहारी नेंक तेरी प्रकृति के अंग-अंग और गुनी परे हारि ॥

और तो और 'बिहारी' भी 'राधा' की ही छाया से सुघर हुए हैं। सुघर रूप में स्वरज्ञता की जितनी ग्रंथियाँ या रहस्य हैं, उनका परिचय 'श्री विहारी जी' को भी श्यामा की भुजलता का आश्रय लेने से ही हुआ है। ये कुंजबिहारी वैसे तो सबकी ही अपेक्षा बड़े थे, तो इनका निबाह भला सकल-कला-मर्मज्ञा श्यामा से कैसे नहीं होता। श्री हरिदास के स्वामी श्यामा कुंजबिहारी हैं और प्रेम के कारण स्तंभित हो रहे हैं। स्वामी जी की वाणी में इसे इस प्रकार कहा गया है —

सुघर भए बिहारी याही छाँह ते।
जे जे गटी सुघर सुर जानपन्यौ की, ते ते याही बाँह ते॥
हुते तौ बड़े अधिक सबही तें, पै इनकी कस न खटात याह तें।
श्री हरिदास के स्वामी श्यामा कुंजबिहारी, जकि रहे चाह तें॥

लाड़िली नचा रही हैं और कुंजबिहारी नाच रहे हैं। श्यामा 'औघर' ताल दे रही हैं और प्रिय के संग मिलकर तत्ताथेई-तत्ताथेई गा रही हैं। हृदय से तांडव तथा लास्य के जो-जो अंगहार उपज रहे हैं, उनकी गणना भला कौन कर सकता है? श्यामा और कुंजबिहारी का मेल सरस हुआ है और उसके समक्ष अन्य गुणी फीके पड़ गए हैं। श्री स्वामी जी का कथन है :—

कुंजबिहारी नाचनीकें
लाड़िली नचावत नीकें।
औघर ताल धरें श्री श्यामा, ताताथेई मिलवति गावति संग पीके।
तांडव लास और अंग को गनें, जे जे रुचि उपजति जी के॥
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा को, मेरु सरस बन्यों और गुनी परे फीके॥

श्री स्वामी जी ने बाह्य प्रकृति में भी संगीत की मनोहारिणी छटा का दर्शन किया है। एक सखी कहती है—अरी राधे चल, हरि बुला रहे हैं, कोकिला आलाप कर रही है, बिहंग स्वर दे रहे हैं, राग बन गया है। वहाँ चल जहाँ मोर काँछ बाँधे नृत्य कर रहे हैं, मेघ पखावज बजा रहे हैं और बंधान गिना हुआ है, ये सब वस्तुएँ लौकिक नहीं हैं। फलतः ध्यान के बल पर मैंने इस स्थिति को जाना है और मैं आई हूँ। हरिदास के स्वामी श्यामा कुंजबिहारी की बात अटपटी है, कहना कुछ चाहा था और कह कुछ और दिया। स्वामी जी के शब्द हैं :—

राधे चलि री, हरि बोलत
कोकिला अलापत सुर देत पंछी राग बन्यौ।
जहाँ मोर काँछ बांधे निर्त करत, मेघ पखावज बजावत बँधान गन्यौ॥
प्रकृति की कोउ नाहीं यातें, सुरति उनमान गहि हौं आई मैं जन्यौ।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कुंजबिहारी, की अटपटी बानि और कहत कछू औरै भन्यौ॥

वस्तुतः निकुंजविहार अनिर्वचनीय है। बात कहे बिना रहा भी नहीं जाता और वह कहते बनती भी नहीं। मृदंगी मन नदित हो रहा है। रास-भूमि कांति-युक्त है और त्रिभंगी गति शुभ एवं अलौकिक है। राधा उत्सुकता के साथ नृत्य कर रही है, रसवती नागरी ललिता नाभि से उठनेवाली तुङ्ग तान का गान कर रही है। रस की वर्षा करनेवाले बिहारी वल्लभा राधिका का मुख जोहनेवाले हैं और दिन-रात उन्हीं का मुख जोहने में लगे हैं। श्यामा कुंजबिहारी संगीतसंगी हैं। श्री स्वामी जी ने इसे यों कहा है :—

नदित मन मृदंगी रास भूमि सुकांति सुभनभ गति त्रिभंगी।
चापि राधा नटति, ललिता रसवती नागरी गाइतेऽप्रनाभि तानतुंगी॥

रसद बिहारी बंदे बलभा राधिका, निसदिन रंग रंगी।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा—कुंजबिहारी संगीतसंगी ।।

एक स्थान पर कुंजबिहारी कहते हैं कि—प्रिय, तुम्हारे पास छवियों का कितना संग्रह है। प्रत्येक अंग में नाना भावों का दर्शन करा रही हो। हाथ में स्थित किन्नरी में सुख पाकर आलाप के योग्य राग-रागिनियों को तुम किन्नरी में मिलकर गा रही हो, मैं क्या कहूँ जिह्वा एक है और तुम्हारे गुण अनेक। मैं तो हार गया कुछ कहते नहीं बनता। श्री हरिदास के स्वामी श्यामा कुंजबिहारी हैं, कुंजबिहारी कहते हैं कि प्रिय, तुम जिन-जिन भावों की भावना कर रही हो वे अकथनीय हैं। स्वामी जी की वाणी में उपर्युक्त भाव इस प्रकार कहा गया है :—

प्यारी तो पै कितोक संग्रह छविन को, अंग-अंग प्रति नाना भाइ दिखावति।
हाथ-किन्नरी-मध्य सच पाइ सुलभ, राग रागिनीन सों तू मिलि गावति ।।
कहा कहौं एक जीभ गुन अगनित, हार पर्यौ कहत न आवति।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कुंजबिहारी कहत, प्यारी तू जे जे भाइ भावति ।।

× × × ×

श्री स्वामी जी के पदों में संगीत संबंधी अनेक शब्द आए हैं। तंत्री वाद्यों में उन्होंने बीन किन्नरी जैसे भारतीय वाद्यों की चर्चा की है, तो रबाब जैसा अभारतीय वाद्य भी उनकी चर्चा का विषय बना है। अधौटी नामक एक अन्य वाद्य की भी चर्चा है, जिसकी चर्चा संस्कृत शब्द 'अर्द्ध-वीणा' का अपभ्रंश प्रतीत होती है। अर्द्ध-वीणा में तूँबा नहीं होता था और न मंद्र तंत्री ही। अन्य विशेषताएँ तुंबरी वीणा के ही समान होती थीं। अर्द्ध-वीणा का प्रयोग विशेषतया गान की सहायता के लिए होता था। नारायणदेव ने अर्द्ध-वीणा का लक्षण दिया है।

अवनद्ध वाद्यों में मृदंग-जैसा भारतीय वाद्य है, तो 'दफ़' जैसा विदेशी वाद्य भी है, जिसके लिए स्वामी जी ने 'डफ़' शब्द का प्रयोग किया है और जो 'ढप' भी कहलाता है।

घन वाद्यों में ताल की चर्चा है, जो आजकल का मँजीरा या झाँझ है और सुषिर वाद्यों में वंशी की चर्चा है।

गान-संबंधी परिभाषाएँ 'सुर देना' और 'आलापना' इत्यादि हैं, तो वाद्यों से सम्बद्ध परिभाषाएँ लाग, डाट, तिरिप, चंद्रागति और घात जैसे पारिभाषिक शब्द भी हैं। राग-रागिनी के यूथों के उत्पन्न होने की बात कही गई है तथा केदारा, गौरी, मलार और वसंत जैसे नाम भी पदों के अंतर्गत आए हैं।

अवनद्ध वाद्य पर 'औघट' ताल देने की भी चर्चा है। औघट शब्द प्राचीन शब्द 'अवघट का विकृत रूप है। अवघट वह हस्त पाठ है जिसमें वाद्य की पुड़ी पर एक-एक हाथ क्रमशः लगता है। अभिलाषतार्थ चिंतामणि के रचयिता महाराज सोमेश्वर और संगीत-चिंतामणि के कर्त्ता वेदभूपाल ने अवघट का लक्षण किया है।

नृत्य-संबंधी परिभाषाओं में तांडव, लास्य, उनके भेद-विभेद और अंगहार जैसे शब्द आए हैं। आरभटी नृत्य की चर्चा भी हुई है, जो शृंगार का एक अंग है। संगीत की अन्य परिभाषाओं में 'प्रकृति' का प्रयोग भी हुआ है, जो शब्द संगीत में प्रस्तार के विन्यास क्रम का भी वाची है।

त्रिभंगी, गति, रास या रहस-जैसे-पारिभाषिक शब्दों और तत्ता थेई-जैसे नाच के बोलों का प्रयोग भी यत्र-तत्र है। गीत-भेदों के संबंध में 'धुर' और 'धुरपद' शब्दों का प्रयोग हुआ है।

श्री स्वामी जी की वाणी से तत्कालीन संगीत के विषय में ये सूचनाएँ मिलती हैं :—

(अ) ध्रुवा और ध्रुवपद का प्रचलन उस समय संत गायकों में था तथा गान-वादन का लक्ष्य रस-परिपाक था।

(आ) गाने के साथ वीणाओं का प्रयोग होता था, जिनमें किन्नरी प्रमुख थी। सारंगी का प्रचार उस युग में नहीं था। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि अबुल्-फ़ज़्ल ने भी सारंगी या सारंगी-वादक की कोई चर्चा नहीं की है।

(इ) मृदंग वाद्य का उपयोग गीत की उपरंजकता के लिए होता था तथा मार्दङ्गिक अपनी भड़-भड़ से रसभंग नहीं करता था।

(ई) गायक, वादक और नर्तक सामंजस्यपूर्वक श्रोताओं के हृदय में रसोद्रेक के लिए प्रयत्नशील होते थे। इन लोगों में परस्पर अवांछनीय प्रतिस्पर्धा नहीं थी।

(उ) ताल की ओर से गायक, वादक और नर्तक को सचेत रखने के लिए घनवाद्यों का प्रयोग होता था। एक-दूसरे को प्रयत्नपूर्वक बेताला कर देने की प्रवृत्ति नहीं थी। शार्ङ्गदेव ने कहा भी है कि ताल-संबंधी प्रमाद की निवृत्ति के लिए काँसे के ताल-वाद्य को धारण करनेवाला एक व्यक्ति गायक का सहायक होना चाहिए।

(ऊ) नए-नए रागों और अंगहारों की स्वाभाविक उत्पत्ति प्रशस्य मानी जाती थी।

(ए) प्रयोक्ताओं के समक्ष राग-रागिनी का एक सप्राण रूप रहता था।

स्वामी जी का संक्षिप्त साहित्य उनकी परम रसज्ञता और उनकी संगीत-संबंधी चतुरस्र अभिज्ञता और प्रतिभा का पूर्ण द्योतक है। यह तो निर्विवाद है कि ब्रजमंडल में रास का पुनरुद्धार उन्होंने ही किया था।

× × × ×

हरिदास-संप्रदाय में समाज की परंपरा विच्छिन्न हो गई थी, परंतु कहा जाता है कि वल्लभकुल संप्रदाय और राधावल्लभ संप्रदाय में समाज की परंपरा अविच्छिन्न

रही है। आवश्यकता इस बात की है कि मर्मज्ञ व्यक्ति इन समाजों में निष्ठापूर्वक सम्मिलित हों और रागों के उन रूपों को भी देखें, जो इन समाजों में प्रचलित हैं। हमने यह अनुभव किया है कि इन समाजों में प्रयोज्य रागों के रूपों में दरबारी परंपरा के रागों के रूपों से कुछ अंतर है।

आज हम जिस संगीत को उत्तर-भारतीय शास्त्रीय संगीत कहने लगे हैं, वह हमें संगीत-जीवियों की परंपरा से मिला है, जिनके पूर्वज अपने अन्नदाताओं की प्रसन्नता के लिए राग-रूपों में परिवर्तन करने को ही इति-कर्त्तव्यता मान बैठे थे। मुगल-काल के परिवर्तनों से अप्रभावित रागों की प्राप्ति यदि किसी सीमा तक संभव है, तो वैष्णव-संप्रदायों के समाजों में ही। आज वसंत राग के जो रूप प्रचलित हैं, वे वियोग-शृंगार का वातावरण उत्पन्न करते हैं। फलतः संयोग-शृंगार में प्रयोज्य वसंत प्रचलित वसंत से भिन्न होना चाहिए।

मुगल सम्राटों के युग में संगीत

संगीत की ओर मनुष्य का आकर्षण स्वाभाविक है। इस कला के जादू की कहानियाँ प्रसिद्ध हैं। उनमें से एक ऐतिहासिक तथ्य यह है कि हुमायूँ ने जब मांडों पर अधिकार किया, तब उस समय की परंपरा के अनुसार लाल वस्त्र धारण करके कत्लेआम की आज्ञा दी। उस युग के प्रमुख कलाकार नायक बैजू उस समय बहादुरशाह गुजराती के आश्रित थे, वह एक मुगल सैनिक के हाथ पड़ गए, जिसने उनका वध कर देना चाहा। बैजू ने कहा—"मुझे मार डालने से तेरा क्या लाभ होगा, मैं अपनी तौल भर सोना तुझे दे सकता हूँ, क्योंकि मैं बहादुरशाह का दरबारी हूँ।" मुगल ने यह सुनकर बैजू के हाथ पगड़ी से बाँध दिए।

हुमायूँ का संगीत-प्रेम

संयोगवश उधर हुमायूँ के पक्ष का एक राजा आ निकला, जो बैजू से परिचित था। वह बैजू को मुगल सैनिक से छुड़ाकर अपने साथ ले जाने लगा। मुगल सैनिक ने कोलाहल किया और तलवार खींचकर पीछा करना आरंभ कर दिया। अंततोगत्वा सभी सम्राट हुमायूँ की सेवा में पहुँच गए। हुमायूँ उस समय क्रोध में था। मुगल ने दुहाई दी कि बहादुरशाह का एक दरबारी जो मेरा कैदी है, मुझे इस हिंदू राजा से दिलाया जाए। खुशहाल बेग कुर्ची नामक एक सरदार ने हुमायूँ से निवेदन किया कि यह कलावंत गवैयों का बादशाह है। यह सुनकर हुमायूँ ने क्रोध से देखा। कुर्ची ने अपना निवेदन पुनः दुहराते हुए कहा कि इस युग में बैजू की कोटि का अन्य गायक नहीं है। हुमायूँ ने बैजू को गाने के लिए आदेश दिया। बैजू ने तत्काल गाना आरंभ किया और फारसी नज्म सुनाई, जिनके गाने पर बैजू का विलक्षण अधिकार था। हुमायूँ इस गाने से इतना प्रभावित हुआ कि उसका क्रोध दूर हो गया। करुणाविगलित होकर उसने लाल वस्त्र उतार दिए, कत्लेआम बंद करा दिया और बैजू को राजकीय वस्त्र पुरस्कार में देकर कहा कि और भी जो कुछ माँगेगा, वह मिलेगा। बैजू ने निवेदन किया—"मेरे अनेक बंधु-बांधव बंदी हुए हैं, उनको मुक्त करने का आदेश हो।" हुमायूँ ने बैजू की प्रार्थना स्वीकृत की। बैजू को राजकीय तूणीर और घोड़ा दिया गया, कुछ सरदार उनके साथ किए गए और उन्होंने अपने अनेक बंधु-बांधवों और परिचितों को मुक्त करा लिया।

हुमायूँ ने बैजू को अपने प्रमुख दरबारियों में स्थान दिया और उन्हें पुरस्कार इत्यादि से निरंतर अनुगृहीत करना आरंभ कर दिया। बैजू जो पुरस्कार पाते, उसी मुगल को दे देते, जिसने उन्हें प्राण-दान किया था।

अवसर मिलते ही बैजू भाग निकले और बहादुरशाह गुजराती के पास पहुँच गए। उन्हें देखकर बहादुरशाह ने कहा—"मैंने अपनी खोई हुई निधि पा ली।" हुमायूँ ने बैजू के भागने का समाचार पाकर खेदपूर्वक कहा—"भाग्यहीन था, जो भाग गया यदि हमारी सेवा में रहता तो इतना पाता कि सुलतान बहादुरशाह को भूल जाता।*

---

*मिराति सिकंदरी, पृ० २४६

यह घटना १५३५ ई० की है।

यही नायक बैजू ब्रजभाषा-ध्रुवपदों के आदि-कवि बैजू हैं। ब्रजभाषा-ध्रुवपदों के जन्मदाता मानसिंह तोमर (राज्यकाल १४८६-१५१६ ई०) ने नायक बैजू की प्रतिभा का भरपूर उपयोग ब्रजभाषा-ध्रुवपद-शैली के प्ररोहण, पोषण और संवर्द्धन में किया था।[1]

मानसिंह के एक अन्य दरबारी गायक बख्शू का शिक्षण-प्रशिक्षण बैजू ने ही किया था और तानसेन भी मानसिंह के आश्रय में रहकर समर्थ ध्रुवपदकार बन चुके थे।[2]

उस समय के गायक अनेक भाषाओं की रचनाओं को गाने में समर्थ होते थे। सूफियों, मुस्लिम दरबारों तथा हिंदू राजाओं इत्यादि को रिझाने के लिए उनके पास विविध सामग्री थी।

बैजू और हुमायूँ का साक्षात् मुग़ल-दरबार में ग्वालियरी कलाकारों के प्रवेश का श्रीगणेश था।

ग्वालियर के कलाकारों में बैजू और बख्शू ने बहादुरशाह गुजराती का आश्रय लिया। बहादुरशाह के पुत्र के महामंत्री दरिया खाँ के आश्रय में बख्शू का पुत्र हुसेनी तो रहा ही, रग खाँ और मल्ही भी रहे, जो नायक चतुर के पुत्र थे।[3]

ग्वालियर के गायकों में रामदास को शेरशाह के पुत्र इस्लामशाह के दरबार में आश्रय मिला। इस्लामशाह के पुत्र फीरोज खाँ की हत्या करके इस्लामशाह का साला मुबारिज खाँ मुहम्मद आदिलशाह या अदली के नाम से सिंहासनासीन हुआ। वह महान् संगीत-मर्मज्ञ था। तानसेन और बाजबहादुर तक ने उससे संगीत की शिक्षा ली थी।[4]

अकबर और तानसेन

बैराम खाँ के संरक्षण में जब अकबर गद्दी पर बैठा, तब रामदास ने बैराम खाँ का आश्रय लिया। बैराम खाँ उनके साथ मित्र-जैसा व्यवहार करता था।

बैराम खाँ सोलह वर्ष की वय से ही हुमायूँ की सेवा में थे। अतः हुमायूँ और बैजू के साक्षात् के प्रत्यक्षदर्शी बैराम खाँ का मोह बैजू की परंपरा के लिए स्वाभाविक था।

अकबर ने जब स्वतंत्र होकर शासन सँभाला, तब ग्वालियर-परंपरा के गुणियों की ओर उसका ध्यान दिलाया गया। जैन खाँ नामक एक गायक ने तानसेन की

---

१. मुसलमान और भारतीय संगीत, पृ० १००

२. वही, पृ० १००

३. वही, पृ० ६२–६३

४. वही, पृ० ६३

प्रशंसा अकबर के सम्मुख मुक्तकंठ से की। जैन खाँ पहले स्वयं भी रीवाँ-नरेश महाराजा रामचंद्र के आश्रय में था।[1]

अकबर ने तानसेन को बलात् आगरा लाने के लिए जलाल खाँ कुर्ची को सेना-सहित भेजा और तानसेन को अनिच्छापूर्वक अकबर की सेवा में उपस्थित होना पड़ा।[2] महाराज रामचंद्र ने तानसेन के साथ अन्य बहुमूल्य उपहार भी अकबर की सेवा में भेजे।[3]

राजा रामचंद्र ने एक बार प्रसन्न होकर तानसेन को एक करोड़ स्वर्ण मुद्राएँ पुरस्कार-स्वरूप दी थीं और अकबर ने पहली बार तानसेन का गाना सुनकर एक लाख रुपए दिए। ऐसी स्थिति में भला तानसेन रामचंद्र को कैसे भूलते।[4]

तानसेन ने अकबरी दरबार का आश्रय १५६२ ई० में लिया। अकबर उस समय केवल अठारह वर्ष का था। इस वय में राजहठ और बालहठ का प्राधान्य तो संभव है, मर्मज्ञता का प्रश्न ही नहीं उठता।

इसी वर्ष आमेर के राजा बिहारीमल की पुत्री का विवाह अकबर के साथ हुआ और कुँवर मानसिंह अकबरी दरबार में आ गए।[5]

इस समय अकबर कट्टर मुसलमान था और विलासी भी कम नहीं था। १५६४ ई० में उसने अवैध विवाह भी किए थे। १५६६ ई० में शेख सलीम चिश्ती के आशीर्वाद से जहाँगीर का जन्म हुआ। १५७१ ई० में अकबर ने सीकरी को राजधानी बनाया, यह सौभाग्य सीकरी को १५८५ ई० तक प्राप्त रहा। शेख सलीम चिश्ती का निवास-स्थान सीकरी था।

प्रसिद्ध इतिहासकार अबुलफज्ल और मुल्ला अब्दुल कादिर बदायूँनी ने १५७५-ई० में अकबरी दरबार का आश्रय लिया।

अकबरी दरबार के कलावंत

अकबर एक प्रतिभाशाली और बहुश्रुत व्यक्ति था। विद्वानों और गुणियों के सत्संग और विचार-विनिमय से उसने अत्यंत लाभ उठाया। सैकड़ों कलाकार उसके आश्रित थे, जिनमें प्रमुख कलाकारों की सूची अबुलफज्ल ने 'आईने अकबरी' में दी है। इन कलाकारों में तानसेन, रामदास, सुबहान खाँ, सुरज्ञान खाँ, मियाँ चाँद, विचित्र खाँ, वीरमंडल खाँ, सरोद खाँ, मियाँ लाल, चाँद खाँ और वीणावादक शहाब खाँ ग्वालियर के निवासी और मानसिंह तोमर अथवा बैजू की परंपरा के अनुवर्ती थे। यह परंपरा राग-रागिनी-वर्गीकरण को मानती थी, जिसका आधार 'मूर्च्छना-पद्धति' थी।

---

१. मुसलमान और भारतीय संगीत, पृ० १०२

२. वही, पृ० १०२

३. वही, पृ० १०२

४. वही पृ० १०२

अकबरी दरबार के गुणियों में अनेक व्यक्ति मशहद और हिरात-जैसे स्थानों के निवासी थे, जो पर्शियन संगीत के मर्मज्ञ थे।

अकबरी दरबार के सम्पर्क में आनेवाले तीसरे वर्ग में वे दाक्षिणात्य संगीत-ग्रंथकार थे, जिनकी परंपरा 'संगीत-रत्नाकर' के मर्म को समझने में असमर्थ थी और विजयनगर पर सूफियों और कव्वालों के प्रभाव के कारण उस मेल-सिद्धांत की अनुवर्तिनी हो गई थी, जिसका मूल 'ईरानी मुकाम-पद्धति' थी। इस वर्ग में पुंडरीक विट्ठल प्रमुख थे। गुजरात के श्रीकंठ पुंडरीक विट्ठल के शिष्य थे।

ग्वालियर-परंपरा 'संगीत-रत्नाकर' के तत्त्व को समझने के साथ-ही-साथ उसके रहस्य को गुप्त भी रखती थी। तानसेन अपने एक ध्रुवपद में किसी गायक से कह रहे हैं कि कल्लिनाथ, हनुमान और भरत के मत में कौन-कौन-सी ध्वनियाँ होती हैं ? यदि तुम प्रवीण गायक हो, तो गा कर सुनाओ और प्रमाणित करो कि वे श्रुतियाँ कौन-कौन-सी हैं ? किस स्वर में कितनी-कितनी हैं ? बारह विकृत तथा वादी, संवादी, अनुवादी और विवादी स्वर कौन-कौन-से हैं ? उनमें ग्रह, अंश, न्यास में प्रमुखता किस की है ? उन तीनों ग्रामों का विस्तार सरगम द्वारा करो। तिरसठ अलंकार, उनचास कूटतान तथा औडुव-षाडव करके दिखाओ, जिससे गुण प्रमाणित हो। यदि पूर्ण गुणी हो, तो गाकर सुनाओ। शाह अकबर के समक्ष विद्या की वास्तविक परख होती है।

यह स्थिति बताती है कि 'संगीत-रत्नाकर' के ज्ञान से शून्य सज्जनों की परख अकबरी दरबार में भली-भाँति होती थी। 'संगीत-रत्नाकर' की खिल्ली उड़ानेवाले तथा उसके टीकाकार कल्लिनाथ और केशव की उपेक्षा करनेवाले गोविंद दीक्षित-जैसे ग्रंथकार तंजोर में बैठकर जब मेल-सिद्धांत के आधार पर 'संगीत-सुधा' की रचना जिस युग में कर रहे थे, उसी युग में अकबर और उसके कलाकार श्रद्धापूर्वक 'रत्नाकर' और उसके टीकाकार कल्लिनाथ को प्रमाण मानकर 'रत्नाकर' का विवेचन कर रहे थे। एक ध्रुवपद में कहा गया है कि अकबर अद्‌भुत शैली में 'रत्नाकर' के रहस्यों की व्याख्या करता है, उसके सातों अध्याओं का विवेचन पृथक्-पृथक् करके दिखा देता है।

अकबर के दरबार में ग्वालियर-परंपरा के मर्मज्ञ कलाकार भी थे और फारसी परंपरा के विदेशी कलाकार भी। अकबर को गुणियों के संसर्ग से दोनों ही परंपराओं के रहस्यों का ज्ञान हुआ। 'आईने अकबरी' में अबुल्फज्ल ने इस तथ्य का प्रतिपादन किया है।

वह परिस्थिति नवीन प्रयोगों के लिए अनुकूल थी। राग के क्षेत्र में नवीन प्रयोग हुए। तानसेन ने मियाँ की मल्लार, रामदास ने रामदासी मल्लार, रामदास के पुत्र सूरदास ने 'सूरदासी मल्लार', घोंधू ने 'घोंधू की मल्लार', चरजू ने 'चरजू की मल्लार' इत्यादि नवीन राग 'संगीत-जगत्' को दिए, जो अकबर-प्रेरित प्रयत्नों का परिणाम थे।

अकबर ने 'रागसागर' नामक एक ग्रंथ का प्रणयन संस्कृत भाषा में कराया। जिसमें ईरानी मुकाम-सिद्धांत से प्रभावित मेल-पद्धति की भी चर्चा है और राग-रागिनियों के ध्यान भी हैं। 'हुसेनी' जैसे रागों के ध्यान भी लिखे गए हैं।

तानसेन और मूर्च्छना-पद्धति

अत्यंत मनोरंजक बात यह है कि तानसेन ने अपने ग्रंथ 'संगीत-सार' में मूर्च्छना-पद्धति का ही आश्रय लिया है। ग्वालियर-परंपरा के कलाकार सात स्वर 'गुप्त' और सात स्वर 'प्रकट' मानते थे। 'गुप्त' का संबंध मूर्च्छना तथा 'प्रकट' का संबंध 'मेल' के साथ है।

अनेक ध्रुवपदों में कहा गया है कि संगीत के तत्त्व को जिसने जाना, उसी ने छिपाया। मूर्च्छना-तत्त्व की गोपनीयता की ओर ये शब्द संकेत करते हैं। ग्वालियर-परंपरा के गुणियों ने ईरानी मुकाम-पद्धति को भी हृदयंगम किया और मूर्च्छना-तत्त्व पर भी उनका अधिकार रहा। फलतः उनकी दृष्टि व्यापक हो गई। जो गुणी केवल ईरानी पद्धति जानते थे, उनमें वैसी दृष्टि न थी, अतः उनके नाम इतिहास के पृष्ठों पर ही रह गए।

विभिन्न ठाठों अथवा मेलों से संबद्ध रागों का वैचित्र्यपूर्ण एवं जटिल संकर ईरानी दृष्टिकोण की देन था। खुसरो, हुसेनशाह शर्की इत्यादि विचारक इस दिशा में कार्य कर चुके थे, अकबरी युग में भी यह प्रवृत्ति थी। विभिन्न प्रकृति रागों के ये जटिल संकर लोकप्रिय कभी न हुए, क्योंकि ये मस्तिष्क का खेल थे, इनमें नैसर्गिकता न थी।

अकबर के युग में ऐसे गायक भी थे जो गेय वस्तुओं के अर्थ तक से अपरिचित थे, जिनका उच्चारण अशुद्ध था, राग की संगति में जो असमर्थ थे, गुरुहीन व्यक्तियों की रचनाएँ गाते थे, नव रसों के विषय में जिनका ज्ञान शून्य था, परंतु जो स्वयं को कवि तथा गायक मानते थे अकबर का मन ऐसे लोगों से ऊबता था। गुणियों की मुद्रा से अंकित एक ध्रुवपद में ऐसे जीवों की चर्चा उपहासपूर्वक की गई है।

जहाँगीर ने लिखा है कि अकबर की मुद्रा से अंकित ध्रुवपद तानसेन की कृति है।

अबुल्फज्ल ने 'आईने अकबरी' में संगीत पर अच्छी-खासी चर्चा की है, उसमें विषय-विभाजन 'रत्नाकर' के अनुसार है।

वैकार-शिक्षाकार-कलाकार

उस युग में ऐसी कृतियों के गानेवाले कलाकार 'वैकार' कहलाते थे, जो प्राचीन थीं और समस्त देश में सदृश प्रकार से गाई जाती थीं। ऐसी रचनाओं की शिक्षा देनेवाले कलाकार 'शिक्षाकार' कहलाते थे। प्रमुख रूप से ध्रुवपद गानेवाले कलाकार 'कलावंत' कहलाते थे। पंजाबी गीत गानेवाले 'ढारी' कहे जाते थे, जो संगीत के लिए ढोल रखते थे, इनके अधिकांश गीत वीररस प्रधान होते थे, जिनसे युद्धभूमि में सैनिकों को प्रोत्साहन मिलता था। कव्वालों के गीतों की भाषा फारसी अथवा दिल्ली में बोली जानेवाली भाषा होती थी, 'हुरकिया' वर्ग के पुरुष संगीत के लिए 'आवज' नामक वाद्य और नारियाँ मँजीरों का उपयोग करती थीं, पहले ये लोग कड़खा गाते थे, परंतु

अकबर के युग में इन्होंने ध्रुवपद तथा अन्य गीत गाना आरंभ कर दिया था। वे पंजाबी गायिकाएँ 'दफजन' कहलाती थीं, जो ढप और ढोल बजातीं तथा ध्रुवपद, सोहेला, विवाह और वर्षगाँठ के गीत गाती थीं। ये गायिकाएँ पहले जमाने में केवल महिलाओं के सम्मुख गाती थीं, परंतु अकबर के युग में इन्होंने सर्वसाधारण के समक्ष गाना-बजाना आरंभ कर दिया था। 'नटवा' लोग भावपूर्ण मुद्राओं के साथ नाचते थे, संगीत के लिए ये पखावज, झाँझ और रबाब का उपयोग करते थे। 'कीर्तनिया' लोग ब्राह्मण होते थे और संगीत के लिए, रबाब, पखावज और झाँझ का उपयोग करते थे। अष्टछाप के सूरदास, नंददास इत्यादि महापुरुष 'कीर्तनिया' वर्ग में ही आते हैं। अकबर के युग में मंदिरों में वीणा का स्थान रबाब-जैसे ईरानी वाद्य ने ले लिया था।*

अबुल्फज्ल ने अकबरी युग में प्रचलित गीतों के प्रकार भी बताए हैं।

ध्रुवपद में लोकजीवन

आगरा, ग्वालियर एवं आस-पास के प्रदेशों की भाषा में गाए जानेवाले गीत 'ध्रुवपद' कहलाते थे, जिनमें जनता के सभी वर्गों को रिझाने की सामर्थ्य थी। जीवन की विभिन्न झाँकियाँ उसमें थीं। तैलंग और कर्नाटक की भाषाओं में गाए जानेवाले गीत 'धारू' कहलाते थे, जिनका विषय प्रमुखतया शृंगार होता था। बंगला भाषा के गीत 'बंगला' कहलाते थे। जौनपुरी भाषा के गाने 'चाँतुकला' कहे जाते थे। दिल्ली के गीत 'कौल' और 'तराना' थे, जिनका आविष्कार भारतीय और फारसी शैली के मिश्रण से खुसरो ने किया था। मथुरा में गाए जानेवाले कृष्ण-भक्ति-संबंधी गीत विष्णुपद (वैष्णव पद ?) कहलाते थे। सिंध की ओर गाए जानेवाले प्रेम-गीत 'कामी' (!) कहलाते थे। विद्यापति-कृत रचनाएँ 'लाचारी' कहलाती थीं, जिनकी भाषा तिरहुती और विषय 'प्रेम' था। लाहौर के गीतों को 'छंद' और गुजरात के गीतों को 'छक्कड़ी' कहा जाता था। 'कड़रवा' और 'सादरा' विभिन्न तालों और भाषाओं में गाए जाते थे।

प्रस्तुत विवरण में ध्रुवपद को मर्दानी गायकी कहीं नहीं कहा गया और विभिन्न वर्गों की नारियों को 'ध्रुवपद-गायिका' बताया गया है। आजकल जो सज्जन ध्रुवपद को 'मर्दाना' और 'जोरदार गायकी' घोषित करते हैं, उन्हें वास्तविक स्थिति पर विचार करना चाहिए।

सीकरी और आगरा बृजभूमि में हैं। ये दोनों स्थान अकबर की राजधानी रहे। ध्रुवपदों में बृजभूमि की लोकभाषा का प्रयोग था और लोकजीवन के चित्र थे। दुरसा जी, होलराय, व्यास, चंद्रभान, राजा आसकरन, सूरदास मदनमोहन, मनोहर, टोडरमल, नरहरि, बीरबल, गंग, सूरदास, कुंभनदास और चतुर्भुजदास-जैसे कवि अकबर के संपर्क में आए थे। अकबर ने हिंदू राजकुमारियों का पाणिग्रहण किया, अतः अकबरी दरबार में ध्रुवपद का प्रमुख स्थान होना स्वाभाविक ही है।

---

*देखिये 'आईने अकबरी' का ब्लाकमैन कृत अनुवाद, द्वितीय खंड पृष्ठ ४४५–६८०, ग्लैडविन-कृत-अनुवाद, पृष्ठ १३०, ७३२–७३४।

दूसरी ओर अकबर शेख सलीम चिश्ती का भक्त था। चिश्तिया परंपरा ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती अजमेरी से भारत में बद्धमूल हुई और इसी परंपरा के अत्यंत प्रभावशाली पुरुष शेख निजामुद्दीन चिश्ती ने भारत-भर में अपने अनुयायी सूफियों का जाल बिछा दिया, जो अमीर खुसरो द्वारा प्रवर्तित 'इंद्रप्रस्थ-मत' के कव्वालों को अपने साथ देश-भर में ले गए। दरबार में मशहद और हिरात आदि के गुणियों की उपस्थिति भारतीय मुस्लिम दरबारों में शतियों से चली आनेवाली प्रथा का पालन है। ये गुणी अपने गीतों में अरबी, फारसी और तुर्की इत्यादि का प्रयोग करते थे, अतः भारतीय लोक-जीवन में इनका रमना असंभव रहा।

मानसिंह तोमर और बैजू की परंपरा को अकबरी दरबार में प्रमुख स्थान मिलने के कारण स्वाभाविक थे। इसी लिए मुगल राजवंश में यह परंपरा सम्मानित रही।

अकबर का पुत्र सलीम 'जहाँगीर' उपाधि धारण करके १६०५ ई० में सिंहासनारूढ़ हुआ। अकबर ने अपने इस पुत्र की रुचि को भली-भाँति परिष्कृत किया था और इसे उन सभी विषयों की शिक्षा मिली थी, जिनका ज्ञान भारत के सम्राट् के लिए आवश्यक था। राज्यारोहण के समय उसकी वय ३६ वर्ष थी।

शेख सलीम चिश्ती तानसेन इत्यादि गुणियों का गाना प्रायः सुनते थे। जिस दिन शेख का स्वर्गवास हुआ, उस दिन भी तानसेन का गाना शेख ने सुना था।[1]

सलीम का वाचन और चिश्ती की मौत

अकबर से शेख सलीम चिश्ती ने कहा था कि जिस दिन शाहजादा सलीम किसी पद्य का वाचन करे, उसी दिन तुम समझ लेना कि हमारा मृत्युकाल निकट है। अकबर ने अंतपुर में आदेश दे दिया कि कोई व्यक्ति बालक सलीम के सम्मुख कोई शेर न पढ़े। अकबर का विचार था कि शिशु सलीम न कोई शेर सुनेगा, न पढ़ेगा। भवितव्यता टलती नहीं। किसी बाँदी की कोई परदेसी नातेदार औरत हरम में आई और राजकुमार को गोद में खिलाते-खिलाते एक प्रसिद्ध शेर गुनगुनाने लगी। शिशु सलीम को वह शेर याद हो गया और वह उसे दुहराने लगा। परदेसिन को अकबर के उपयुक्त आदेश के विषय में ज्ञात न था। राजकुमार के मुँह से शेर सुनकर सभी व्यक्ति आश्चर्यचकित और त्रस्त हो गए। डरते-डरते अकबर को यह समाचार दिया गया। अकबर ने भावी के समक्ष नतमस्तक होकर यह सूचना शेख सलीम चिश्ती को भिजवा दी। उन्होंने तानसेन को बुलवाकर गाना सुना और देह छोड़ दी।

शेख निजामुद्दीन चिश्ती की शवयात्रा तक में गाना हुआ था[2] वह गाने को ईश्वर-प्राप्ति का साधन मानते थे। उसी परंपरा के संत शेख सलीम चिश्ती का संगीतानुराग स्वाभाविक था।

---

१. मुसलमान और भारतीय संगीत, पृ० १०२

२. निज़ामी बंसरी

जहाँगीर का युग

दिल्ली के कव्वालों का गान भी जहाँगीर को प्रिय था। कव्वाली के आनंद में मग्न होकर सैयदी शाह जहाँगीर के समक्ष नाचने लगते थे।

शौकी नामक एक वादक को जहाँगीर ने 'आनंद खाँ' उपाधि दी थी[1]। यह कलाकार फारसी एवं हिंदी कृतियों को अत्यंत प्रभावपूर्ण शैली में गाता था। एकबार जहाँगीर ने प्रसन्न होकर वे सब भेंटें 'आनंद खाँ' को दे दीं, जो उसकी सेवा में विभिन्न व्यक्तियों ने प्रस्तुत की थीं।

उस्ताद मुहम्मद नामक एक वादक को कई गोष्ठियों में जहाँगीर ने सुना था। साथ-ही-साथ उसके द्वारा विरचित वह गजल भी सुनी थी, जिसमें उसने जहाँगीर की 'मुद्रा' रखी थी। जहाँगीर ने इस कलाकार को रुपयों से तुलवाया, तिरसठ सौ रुपए हुए। उसे हौदे सहित एक हाथी भी दिया गया और आदेश दिया गया कि वह उसपर बैठकर और रुपयों को अपने चारों ओर रखकर अपने निवासस्थान को जाए।[2]

जहाँगीर के युग में इब्राहीम अली आदिलशाह (द्वितीय) बीजापुर का शासक था। उसकी पुत्री शाहजादा दानियाल को ब्याही थी। इब्राहीम अली आदिलशाह (द्वितीय) स्वयं कुशल वीणावादक और ध्रुवपदकार था। उसका गुरु बख्तर खाँ कलावंत था, जिसे उसने अपनी भतीजी ब्याह दी थी। तीन हजार से अधिक संगीतज्ञ बीजापुर-दरबार के आश्रित थे, जो देश-देशांतर से एकत्र हुए थे। विजयनगर साम्राज्य का ध्वंस तलकोटा के युद्ध में हो चुका था और वहाँ के गुणियों ने तंजोर तथा बीजापुर का आश्रय लिया था। इब्राहीम अली आदिलशाह (द्वितीय) ने 'नवरसपुर' नामक एक नवीन नगर बसाया था। 'किताबे नवरस' नामक ग्रंथ में उसके द्वारा विरचित ध्रुवपद संगृहीत हैं।

१६१२ ई० में इब्राहीम अली आदिलशाह (द्वितीय) ने अपने गुरु बख्तर खाँ को दूत बनाकर जहाँगीर की सेवा में भेजा। जहाँगीर उन दिनों अजमेर में था। बख्तर खाँ जहाँगीर के साथ रात्रिकालीन गोष्ठियों में सम्मिलित होता और उसे 'किताबे नवरस' के ध्रुवपद सुनाता था। बख्तर खाँ के आतिथ्य पर चार महीनें में एक लाख रुपए खर्च किए जाते थे।

एक और तानसेन

अकबरी दरबार के तानसेन की मृत्यु तो १५८९ ई० में हो चुकी थी। जहाँगीर के युग में भी एक तानसेन कलावंत थे, जिनकी प्रशंसा जहाँगीर के समक्ष एक सरदार ने की थी। (मुहम्मदशाह रंगीले के युग में भी एक तानसेन थे और इस वर्तमान युग में भी एक तानसेन हुए हैं।)

---

१. मुसलमान और भारतीय संगीत, पृष्ठ ७५-७६

२. वही, पृष्ठ ७६

गुणग्राही बादशाह

जहाँगीर ने अपने ग्रंथ 'जहाँगीरनामा' में प्रसंगवश संगीत से संबद्ध चर्चाएँ की हैं। उसका कथन है कि मिर्जा हैदर के युग में कश्मीर में अनेक गुणी थे। वे वंशी, चंग, ढप और सारंगी इत्यादि का वादन कुशलतापूर्वक करते थे। प्राचीन काल में इनके पूर्वज 'कमानूचा' नामक वाद्य के आकार का एक वाद्य बजाते थे, और कश्मीरी भाषा के गाने भारतीय स्वरशास्त्र के अनुसार गाते थे।

एक ध्रुवपद में कहा गया है कि जहाँगीर संगीत के अंग-अंग में प्रवीण हैं और भरत एवं मतंग के मतों में छानबीन करते हैं। वह गुणनिधान हैं, स्वरशास्त्र का उन्हें ज्ञान है और वह ज्ञानियों की दृष्टि में प्रमाण हैं।

तानसेन के पुत्र विलास खाँ तो जहाँगीर के आश्रय में रहे ही, छतरखाँ, खुर्रमदाद, परवेजदाद, हमजान और मक्खू भी उसके आश्रित थे।

जहाँगीर के युग में ही आन्ध्रदेशीय पंडित सोमनाथ ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'राग-विबोध' को रचना की। इस ग्रंथ का निर्माण संगीत के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना है।

सोमनाथ ने अपने इस ग्रंथ को स्वरचित टीका में राग-रागिनी-वर्गीकरण की चर्चा की है, मूल में रागों के गाने का समय भी निर्दिष्ट है और इक्यावन रागों के ध्यान भी दिए हैं, जिन्हें उनका 'देवमय रूप' कहा गया है, इन सभी बातों को उत्तर-भारतीय संगीत की विशेषता कहा जाता है।

ईरानी 'मुकाम' शब्द के तीनों पर्यायवाची शब्द 'मेल' 'संस्थान' और 'ठाठ की चर्चा भी सोमनाथ ने की है, स्वरों के 'तीव्र' और 'मृदु' जैसे उत्तर-भारतीय विशेषण प्रयुक्त किए हैं और बारह 'परद' (फारसी) रागों को चर्चा की है।

सोमनाथ ने यह भी कहा है कि एक 'श्रुति' कम या अधिक हो जाए तो कोई बुरी बात नहीं है। यों कहा जा सकता है कि सोमनाथ 'सुगमतावादी' थे और सुगमता के लिए 'सत्य' का थोड़ा-बहुत बलिदान कर देना उनकी दृष्टि में कोई बहुत बुरी बात नहीं थी।

जहाँगीर का दरबार जहाँ भरत और मतंग के मत की छानबीन में दत्तचित्त था, वहाँ उसी युग में सोमनाथ-जैसे दाक्षिणात्य वैणिक निस्संकोच श्रुतिसिद्धांत के तर्पण में संलग्न थे।

उत्तर-भारतीय 'भट्ट' जाति में महान् संगीतज्ञ एवं कवि होते रहे हैं। संगीत-संबंधी ग्रंथों के प्रसिद्ध प्रणेता भावभट्ट के पिता जनार्दन भट्ट शाहजहाँ के आश्रित थे। जनार्दन भट्ट के पिता तान भट्ट अकबर और जहाँगीर के समकालीन थे। इन पंक्तियों के विनम्र लेखक ने एक अन्य स्थान पर यह संभावना व्यक्त की है कि यह तान भट्ट अथवा तानसेन ही एक नवीन संप्रदाय के प्रवर्तक 'तानप्पा' हैं, जो प्रसिद्ध दाक्षिणात्य ग्रंथकार वेंकटमखी के दादागुरु थे।

इन सभी दृष्टियों से जहाँगीर का काल महत्त्वपूर्ण है।

गंग, रहीम और मनोहर-जैसे कवि जहाँगीर के संपर्क में आए थे और आचार्य केशवदास-जैसे समर्थ कवि और पंडित ने जहाँगीर के यश का वर्णन 'जहाँगीर-जस-चंद्रिका' में किया था।

शाहजहाँ का युग

१६२७ ई० में शाहजहाँ सिंहासन पर बैठा। यह भी अत्यंत रसिक एवं संगीत-मर्मज्ञ था। यह प्रति दिन अंतःपुर में साढ़े आठ बजे से दस बजे तक दिन में गायिकाओं के संगीत का आनंद लेता था।

तानसेन के पुत्र विलास खाँ के दामाद लाल खाँ को १६३० ई० में शाहजहाँ ने 'गुन समंदर खाँ' उपाधि दी। गुन समंदर खां का देहांत १६५२ ई० में हुआ। गुन समंदर खाँ के चार पुत्र खुशहाल खाँ, विसराम खाँ, रसबैन खाँ और एक अज्ञातनाम थे।*

शाहजहाँ के एक अन्य प्रिय कलाकार जगन्नाथ कविराय थे। इन्होंने अल्प वय में नट में बाँधकर एक ध्रुवपद तानसेन को सुनाया था। इसपर तानसेन ने कहा था—जगन्नाथ मेरे पश्चात् सर्वश्रेष्ठ ध्रुवपदकार होंगे।

किशन खाँ कलावंत भी एक कुशल गायक थे, शुजा ने इन्हें शाहजहाँ से माँग लिया था।

संगीत एवं राजनीति

कुशल गायकों का प्रयोग राजनीतिक स्वार्थों के लिए भी किया जाता था। शाहजहाँ के समय का एक उदाहरण इस प्रकार है :—

"एक दिन शाहजहाँ ने अमीर-उल्उमरा (महामंत्री) अलीमर्दान खाँ से पूछा कि तुम्हारे विचार में कौन-सा शाहजादा बादशाह बनेगा? अलीमर्दान खाँ अत्यंत बुद्धिमान था, दारा की ओर बादशाह के झुकाव से परिचित था, और दारा की अयोग्यता भी उससे छिपी न थी। सत्य कहना शिष्टाचार के विरुद्ध होता और मिथ्या-भाषण बेईमानी होता। समझ-बूझकर अलीमर्दान खाँ ने उत्तर दिया कि मुर्शिद कुली खाँ जिसके साथ होगा, वही शाहजादा बादशाह बनेगा। शाहजहाँ ने दारा को संकेत दिया कि वह मुर्शिद कुली खाँ का मन हाथ में ले। मुर्शिद कुली खाँ को दारा के साथ नियुक्त कर दिया गया। दारा मुर्शिद कुली खाँ को रिझा न सका। इन्हीं दिनों औरंगजेब ने अली मर्दान खाँ से कहा कि मुर्शिद कुली खाँ को मेरे साथ दक्षिण भेजने का आप प्रयत्न करें। अली मर्दान खाँ धर्म-संकट में पड़ गया। मुर्शिद कुली खाँ को दक्षिण भेजने का प्रस्ताव शाहजहाँ को न भाता और न भेजने से औरंगजेब अप्रसन्न होता। महामंत्री चिंतित रहने लगा। उसने अपनी चिंता का कारण अपने किसी मुसाहब से कह दिया, जो खुशहाल खाँ कलावंत का भी मित्र था। बात खुशहाल खाँ तक पहुँची। उसने कहा कि यदि महामंत्री मुझे एक लाख रुपए देने की कृपा करें, तो वांछित आदेशपत्र पर स्वीकृति में दिलवाए देता हूँ। शर्त यह है कि जब मैं संकेत करूँ, तब हस्ताक्षर के लिए शाहजहाँ की सेवा में मुर्शिद कुली खाँ की दक्षिण में नियुक्ति का आदेशपत्र प्रस्तुत किया जाए। बात

*मुसलमान और भारतीय संगीत, पृ० ७७

महामंत्री तक पहुँच गई और उन्होंने प्रस्ताव पर स्वीकृति दे दी। कुछ दिनों के पश्चात् जब नौरोज के उत्सव में खुशहाल खाँ और बिसराम खाँ तोड़ी गा रहे थे और शाहजहाँ रसमग्न था, तब खुशहाल खाँ ने महामंत्री को संकेत किया, उन्होंने पूर्वोक्त विषय का आदेशपत्र हस्ताक्षर के लिए शाहजहाँ की सेवा में प्रस्तुत किया और संगीत के आनंद में मग्न शाहजहाँ ने आदेशपत्र पढ़े बिना ही उस पर स्वीकृति दे दी। यह आदेशपत्र नियमानुसार खिलअतखाने के दारोगा के पास गया। यथासमय दारोगा ने वह आदेशपत्र सम्राट की सेवा में हस्ताक्षर के लिए प्रस्तुत किया, जिसके अनुसार मुर्शिद कुली खाँ को खिलअत दी जानी थी। यह आदेशपत्र पढ़कर शाहजहाँ चौंका और उसने नियुक्ति से संबद्ध आदेशपत्र देखने के लिए माँगा, उसपर अपने हस्ताक्षर देखकर शाहजहाँ ने मुर्शिद कुली खाँ को खिलअत देने की आज्ञा चुपचाप दे दी और वास्तविकता की जाँच कराई। सब-कुछ पता चलने पर शाहजहाँ ने खुशहाल खाँ और बिसराम खाँ को उनके आनुवंशिक पद से च्युत अर्थात् दरबार में तानसेन के स्थान पर खड़े होने से वंचित कर दिया।"[1]

'शाहजहाँ' की मुद्रा से अंकित ध्रुवपद खुशहाल खाँ की कृति है।

रंग खाँ कलावंत भी शाहजहाँ के दरबार का एक उत्कृष्ट और वयोवृद्ध गायक था। अकबरी-युग के कलाकारों को इसने देखा था।

शाहजहाँ ने बख्शू के एक सहस्र ध्रुवपदों का संग्रह कराया और उस संग्रह का नाम 'सहस रस' रखा।

वेंकटमखी का महत्त्व

शाहजहाँ के युग की अत्यंत महत्त्वपूर्ण घटना तंजोर के वेंकटमखी द्वारा 'चतुर्दंडिप्रकाशिका' का प्रणयन है। वेंकटमखी के परमगुरु तानप्पा ने एक नवीन संप्रदाय का प्रवर्तन किया और पचपन रागों में गीत, आलाप, ठाय एवं प्रबंधों की योजना की। तानप्पा द्वारा प्रवर्तित यह संप्रदाय वेंकटमखी के पिता गोविंद दीक्षित की परंपरा से भिन्न था। परमगुरु शब्द का अर्थ 'गुरु का गुरु' या 'दादागुरु' होता है। स्पष्ट है कि वेंकटमखी जिस नवीन सांगीतिक संप्रदाय में दीक्षित हुए, वह उनकी दृष्टि में उनके पिता गोविंद दीक्षित के संप्रदाय की अपेक्षा उत्कृष्ट-तर होगा।

वेंकटमखी ने कल्याणी और पंतुवराली-जैसे रागों को तुरुष्कप्रिय (मुसलमानों को प्रिय) कहते हुए इन्हें गीत और प्रबंध के लिए अयोग्य बताया है। उनके समक्ष भारत से बाहर के लोगों में प्रचलित अथवा उनसे प्रभावित लोगों के द्वारा आविष्कृत राग आ रहे थे। उन-सबकी व्याप्ति के लिए उन्होंने बहत्तर मेलों की योजना की। इस योजना को केवल बारह ध्वनियों का आधार प्राप्त था। ये बारह ध्वनियाँ सोलहवीं शती ई० में वीणाओं पर अचल रूप में स्थापित की गई थीं। इन ध्वनियों की आधार-भूत बारह अचल सारिकाओं का स्थापन अखिल-भारतीय था। इस सारिका-स्थापन

---

१. खुलासतुल्ऐश आलमशाही, मिराति आफ़ताबनुमा, पृ० ३९०

का आधार ईरानी मुकाम-पद्धति थी। ईरानी संगीत बारह स्वरोंपर आश्रित है। तंत्री वाद्यों में प्रत्येक स्थान के अंतर्गत बारह-बारह ध्वनियों की अभिव्यक्ति का अचल आधार बारह-बारह पर्दे (सारिकाएँ) मुसलमानों की ही देन है। श्रीकंठ ने इन सारिकाओं से उद्भूत ध्वनियों की संज्ञाओं के विषय में अपने गुरु की शिक्षा को प्रमाण कहा है। किसी ग्रंथ का आधार नहीं दिया है।

पुंडरीक, श्रीकंठ, रामामात्य और वेंकटमखी ने सारिका-स्थापन की कोई वैज्ञानिक विधि नहीं बताई है। पुंडरीक और वेंकटमखी ने तो 'निपुण शिल्पी' को ही सारिका-स्थापन में प्रमाण माना है।

स्वरों की 'शुद्धता' की कोई परिभाषा उस युग में न रही थी। षड्जग्राम और मध्यमग्राम के वास्तविक लक्षण से व्यवहार का कोई संबंध न रहा था।

इन लोगों की पद्धति यद्यपि पूर्णतया अर्वाचीन थी, तथापि इस पद्धति का संबंध बलात् प्राचीन परिभाषाओं के साथ करने का हास्यास्पद प्रयत्न जारी था।

शाहजहाँ के युग के सूफ़ी कलाकारों में एक सज्जन शेख बहाउद्दीन थे, इनका स्वर्गवास १६२८ ई० में हुआ। यह आयु-भर ब्रह्मचारी रहे और सदा हरे रंग के वस्त्र पहनते थे। इन्होंने अनेक कवित्त, खयाल, ध्रुवपद और तरानों की रचना की। रबाब, वीणा और इमरती खूब बजाते थे। इन्होंने एक तंत्रीवाद्य का आविष्कार भी किया था, जिसका नाम 'खयाल-ओ-तराना' रखा था।

शेख पीर मुहम्मद कव्वाल-शैली के प्रमुख गायक थे। शेख नसीरुद्दीन के संसर्ग से इन्होंने संगीत में अत्यंत उन्नति की। ध्रुवपदों और तरानों की रचना तो इन्होंने की ही, सरोद बजाने की शैली में नवीन प्रयोग भी किए।

सरस्वती, कवींद्र, चिंतामणि, सुंदरदास, शिरोमणि और वेदांग राय-जैसे कवि शाहजहाँ से सम्पृक्त रहे थे।

औरंगजेब के द्वारा बंदी किए जाने के पश्चात् भी शाहजहाँ का संगीत-प्रेम जैसा-का-तैसा रहा। गायिकाएँ एवं नर्तकियाँ इसके दुःख को भुलाती रहीं। कूटनीतिज्ञ औरंगजेब ने जब बंदी शाहजहाँ के साथ सद्व्यवहार का अभिनय किया, तब अन्य उपहारों के साथ कुछ गायक भी शाहजहाँ की सेवा में भेजे।

इटालियन इतिहासकार मनुक्कि ने प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर मुगल राजमहलों के जीवन का चित्रण करते हुए लिखा है कि मुगलों के राजमहलों में अनेक रखैलें रहती थीं, प्रत्येक रखैल के पास दस-दस दासियाँ होती थीं। रखैलों की देखभाल के लिए प्रौढ़ा स्त्रियाँ रहती थीं। ये प्रौढ़ाएँ साम्राज्य की सुंदर कुमारियों को बहला-फुसलाकर राजमहलों में ले आती थीं। संगीतज्ञ नारियों पर शासन रखने के लिए महिला-संगीत-निरीक्षिकाएँ होती थीं। कामसूत्र का पठन-पाठन भली-भाँति प्रचलित था। मुगल शाहजादों का जीवन प्रायः अठारह वर्ष की उम्र तक अंतःपुर के इस वातावरण में बीतता था।

बादशाहों के हरम का प्रतिरूप प्रत्येक मुगल सरदार के अंतःपुर में देखा जा

सकता था। मुमताजमहल का बहनोई मीर खलील बुरहानपुर में नियुक्त था। वह हीराबाई नामक सुंदरी गायिका पर अत्यंत अनुरक्त था। मीर खलील की पत्नी इस स्थिति से कुढ़ती रहती थी। एक बार मुगल शाहजादा अपनी मौसी अर्थात् मीर-खलील की पत्नी से मिलने आया। ताप्ती नदी के किनारे एक बाग में शाहजादा और उसकी मौसी बैठे थे। हीराबाई भी वहाँ आई और अठखेलियाँ करते हुए उसने उछल-कर पेड़ से एक आम तोड़ लिया। शाहजादा इस अदा पर जी-जान से मर-मिटा और उसने अपनी मौसी से हीराबाई को माँग लिया।

हीराबाई के नयनबाणों से विद्ध हो कर उसके संकेतों पर नाचनेवाला यह शाहजादा औरंगजेब था। औरंगजेब अपने हाथों से इस सुंदरी की सेवा में पान-पात्र प्रस्तुत करता था। हीराबाई अधिक दिनों जीवित न रही। औरंगाबाद के एक सरोवर के पास उसे दफनाया गया। दारा के यहाँ नाचने-गानेवाली औरतों को भी औरंगजेब ने शाहजहाँ से माँगा था।[1]

जार्जिया देश की एक दासी दारा की उपपत्नी थी। दारा की मृत्यु के पश्चात् यह औरंगजेब की अंकशायिनी बनी। यह बहुत शराब पीती थी। औरंगजेब अपनी वृद्धावस्था तक इसके संकेतों पर नाचता और इसके पुत्र के अक्षम्य अपराध क्षमा करता रहा।

१३ मई, १६५९ के दिन औरंगजेब गद्दी पर बैठा। इस अवसर पर कई दिन का उत्सव हुआ। खुशहाल खाँ के भाग्य फिर जागे, उसे अपनी आनुवंशिक जगह फिर मिली। हयात सरसनैन नामक गायक पर ओरंगजेब का असीम अनुग्रह हुआ। किरपा नामक मृदंगवादक को 'मृदंगराय' उपाधि दी गई।[2]

दस वर्ष तक संगीत का आनंद

बादशाह होने के दस वर्ष बाद तक औरंगजेब संगीत का आनंद लेता रहा। आलमगीर (औरंगजेब) की मुद्रा से अंकित अनेक ध्रुवपद प्राप्त होते हैं। सिंहासनारूढ़ औरंगजेब की शोभा, प्रताप, वर्षगाँठ, होली और नायिकाभेद इत्यादि उनके विषय हैं।

औरंगजेब के एक कर्मचारी मिर्जा रौशन जमीर ने 'संगीत-पारिजात' का अनुवाद किया। फकीरुल्लाह ने औरंगजेब को समर्पित करने के लिए 'रागदर्पण' नाम से 'मान कुतूहल' का अनुवाद किया। इबाद मुहम्मद कामिल खानी ने 'रिसालए कामिल-खानी', 'असामी सुर', 'रिसाला दर अमल-ए-बीन-ओ-ठाठ रागिनी' नामक पुस्तकें लिखीं।

दरबार में पाबंदी : अंतःपुर में रंगरली

स्वयं को परहेजगार मुसलमान सिद्ध करने के लिए १६६७-६८ ई० में औरंगजेब ने हुक्म दिया कि गवैए दरबार में उपस्थित तो हों, परंतु गाना न गाएँ। इस समय

१. औरंगजेब, पृष्ठ २०

२. मुसलमान और भारतीय संगीत, पृष्ठ ७७

औरंगजेब की उम्र पचास वर्ष थी। यद्यपि दरबार में गाना-बजाना बंद हो गया, तथापि अंत:पुर की रंगरलियों में कोई अंतर न पड़ा। बेगमों और शहजादियों के लिए गायिकाओं की नियुक्ति स्वयं औरंगजेब करता रहा।[1]

एक शुक्रवार को औरंगजेब नमाज पढ़ने के लिए जा रहा था। उसकी दृष्टि एक जलूस पर पड़ी, जिसमें प्रायः एक हजार गवैए रोते हुए जा रहे थे, उनके साथ बीस जनाजे थे। औरंगजेब के पूछने पर उसके दूतों ने बताया कि बादशाह ने संगीत-विद्या को मार डाला है, हम उसे कब्र में दफनाने के लिए जा रहे हैं। बादशाह ने कहा—"उसे अच्छी तरह और बहुत गहरा दफनाया जाए।"

२० फरवरी, १७०७ ई० के दिन औरंगजेब का देहांत शिविर में हुआ और २२ फरवरी को शाहजादा मुहम्मद आजम ने उसका अंतिम संस्कार किया।

कालिदास त्रिवेदी, किशन, अब्दुल जलील बिलग्रामी, ईश्वर, इंद्रजीत, काशी-राम, सामंत और वृंद कवि औरंगजेब से सम्पृक्त रहे थे।

आजम भी ध्रुवपदकारों और गायकों का आश्रयदाता था। 'आजम' की मुद्रा से अंकित ध्रुवपद प्राप्त होते हैं। २० जून, १७०७ ई० को उत्तराधिकार के लिए युद्ध करते-करते उसकी मृत्यु हुई। उसका पुत्र बेदारबख्त भी इसी के साथ मारा गया।[2]

औरंगजेब का दूसरा पुत्र 'मुअज्जम' बहादुरशाह (प्रथम) के नाम से २० जून, १७०७ ई० को गद्दी पर बैठा। इसकी प्रशंसा में अनेक ध्रुवपद मिलते हैं, जिनके विषय पारम्परिक हैं।

कलावंतों और नर्तकियों का अखाड़ा

१७१२ ई० में जहाँदारशाह गद्दी पर बैठा। लाल कुँवरि नामक एक नर्तकी पर यह अत्यंत आसक्त था। उसका दरबार कलावंतों और नर्तकियों का अखाड़ा था। उसके युग में कलावंतों को 'अमीरों' और 'सरदारों' के पद पर नियुक्त किया गया। यह रात-भर उन लोगों के साथ मदिरा-पान करता था। ध्रुवपदों में उसकी मुद्रा 'मौजदीन' (मुईजुद्दीन) मिलती है, क्योंकि उसका पूरा नाम 'मुईजुद्दीन जहाँदारशाह' था।[3]

१७१३ ई० में फर्रुखसियर गद्दी पर बैठा और १७१९ ई० में मारा गया। उसके पश्चात् मुहम्मदशाह रंगीला गद्दी पर बैठा। १७३९ ई० में नादिरशाह ने इस पर आक्रमण किया। मुहम्मदशाह की मृत्यु १७४८ ई० में हुई। मुगलसाम्राज्य के पतन के इस युग में भी ब्रजभाषा के कवियों का संबंध मुगल दरबार के साथ रहा था।

औरंगजेब : दो रूप—दरबार में पाबंदी, अंतःपुर में रंगरेली

मुहम्मद आजम के संपर्क में महाकवि देव और नेवाज, बहादुरशाह के संपर्क में अब्दुर्रहमान, मदन किशोर, आलम, वृंद और महाकवि देव तथा मुहम्मदशाह रंगीले

१. मुसलमान और भारतीय संगीत, पृष्ठ ७७

२. वही, पृष्ठ ७८

के संपर्क में आजम, घनानंद, गुमान मिश्र, सूरत मिश्र और जुलग किशोर नामक कवि आए थे।

संगीत और मुहम्मदशाह रंगीला

संगीत के क्षेत्र में मुहम्मदशाह रंगीले का नाम अमर है। सदारंग, अदारंग, इछाबरस इत्यादि ध्रुवपदकारों की रचनाएँ यद्यपि आज पर्याप्त सीमा तक विकृत हो गई हैं, तथापि उनके कारण संगीत-संसार का बच्चा-बच्चा रंगीले के नाम से परिचित है।

सितार का आविष्कार

रंगीले के युग की एक महत्त्वपूर्ण घटना 'सितार' का आविष्कार है। यद्यपि 'सितार' शब्द ईरानी संगीत के लिए है, तथापि किसी भारतीय राज-दरबार में किसी सितार-वादक की चर्चा मुहम्मदशाह के युग तक नहीं मिलती।

सदारंग के छोटे भाई खुसरो खाँ ने सितार भारतीय संगीत-जगत् को दिया। उस युग के एक लेखक दरगाह कुली खाँ ने कहा है कि सदारंग का छोटा भाई तीन तारवाले एक बाजे पर राग-रागिनियाँ प्रस्तुत करता है। इस बाजे में आवश्यकता के अनुसार समय-समय पर तंत्रियों की संख्या में वृद्धि होती रही। नामसाम्य के कारण लोग खुसरो खाँ को अलाउद्दीन-कालीन अमीर खुसरो समझ बैठे।

दिल्ली में नई स्थानीय परंपरा

जब तक मुगलों की राजधानी ब्रजभूमि (आगरा) रही, तब तक ध्रुवपद का प्राधान्य रहा। जब से दिल्ली राजधानी हुई, तब से स्थानीय परंपराओं ने दरबार को प्रभावित किया। 'खयाल' शब्द का अर्थ 'ध्यान' है। खयालों की 'छबें' (छवियाँ) या 'बानियाँ' बारह थीं। चिश्तिया परंपरा के प्रसिद्ध संत जहाँ-जहाँ रहे, वहाँ-वहाँ उनके आश्रित गायक भी रहे। स्थानीय प्रभाव प्रत्येक 'छब' या 'प्रकार' में आया। इसी प्रभाव के कारण खयाल के बारह घराने बन गए। दिल्ली का घराना कव्वाल-बच्चों का घराना कहलाया। दिल्ली में प्रसिद्ध सूफी-संतों की समाधियाँ हैं। चिश्तिया परंपरा से संबद्ध समाधि-स्थलों पर गाना सदैव होता रहा। गायकों के इस वर्ग का प्रभाव दरबार पर पड़ा। 'ध्रुवपद' हिंदू-परंपरा और 'खयाल' मुस्लिम-परंपरा पर आश्रित थे। विवश हो कर सदारंग को भी युग की माँग के कारण खयालों की रचना करनी पड़ी।

रीतिकालीन कवियों की कविता का चस्का मुगल-दरबार तथा अन्य हिंदू-मुसलमान रसिकों को पड़ चुका था, अतः अनेक गायक ध्रुवपद-शैली में कवित्त भी गाया करते थे। ध्रुवपद-गायक और खयालिए कवित्त भी गाते थे।

निर्मोल खाँ के पुत्र नेमत खाँ 'सदारंग' ने मुअज्जमशाह की सभा के गुणियों से तो शिक्षा ली ही, वह महाकवि देव के भी शिष्य थे, 'नटवा' जाति के एक बंगाली से भी उन्हें शिक्षा मिली और एक तातारदेशीय कव्वाल से भी। विभिन्न गुणियों से विभिन्न प्रकारों की शिक्षा लेने के कारण उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी हुई।

पन्नाबाई, कमालबाई, कासिम अली और अलीरजी इत्यादि कलाकार 'सदारंग' की रचनाएँ गाते थे।[1]

कुछ श्रेष्ठ कलाकार

रहीमखाँ जहानी, खवासी और अनूठा नक्काल, रहीमखाँ, ज्ञानखाँ, दौलतखाँ, हड्डू, अल्लाहबंदे कव्वालबच्चा और उमाबाई की गणना खयाल गानेवाले श्रेष्ठ कलाकारों में थी। रामजनी, गुलाब, पन्नाबाई, कमालबाई, उमाबाई, पन्ना और तन्नो संगीत के मर्म को समझती थीं। पन्नाबाई नए रागों का आविष्कार भी करती थी।

सारंगी, रबाब, बीन, पखावज, ढोलक, घमघमी, घड़ा और पेट तक बजानेवालों की चर्चा तो उस युग के प्रत्यक्षदर्शी लेखक दरगाह कुली खाँ ने की है, परंतु किसी तबलावादक की कोई चर्चा नहीं की, जिससे ज्ञात होता है कि तबले का आविष्कार 'रंगीले' के युग के पश्चात् हुआ है।

ताजखाँ, जानी, गुलाम रसूल, मुईनुद्दीन, बुरहानी और जट्टा उस युग के प्रसिद्ध कव्वाल थे। आजकल के कव्वालों को तो 'बिगड़ा गवैया' कहा जाता है। उस युग के कव्वाल और ही चीज थे।

तानसेन के दो विलक्षण वंशज

उस युग में अकबरी युग के तानसेन के दो वंशजों की चर्चा दरगाह कुली खाँ ने की है। उन दोनों में से भी एक का नाम 'तानसेन' था और दूसरे का 'रहीम'। ये दोनों सहोदर थे। उन्हें दरगाह कुली खाँ ने कवित्त गाने में विलक्षण और ध्रुवपद के क्षेत्र का सेनापति कहा है। 'सदारंग' का कोई भी संबंध तानसेन के साथ नहीं। सदारंग को तानसेन का वंशज सिद्ध करने की कहानी रंगीले के युग के पश्चात् गढ़ी गई है। फीरोजखाँ 'अदारंग' सदारंग के भतीजे, दामाद और शिष्य थे।

नूरबाई उस युग की प्रसिद्ध डोमनी थी। शिष्टता, सभ्यता, सौंदर्य और कला में यह आदर्श थी। ठुमरी या दादरे की चर्चा भी दरगाह कुली खाँ ने नहीं की है।

ख्वाजा मीर 'दर्द' उस युग के मूर्धन्य सूफी और भारतीय संगीत के माने हुए 'उस्ताद' थे। बड़े-बड़े गवैए और कलावंत उनको सेवा में अपनी रचनाएँ सुधार के लिए प्रस्तुत करते थे। उनके दौहित्र मीर मुहम्मदी 'रंग' भी माने हुए उस्ताद थे।

मुहम्मदशाह रंगीले की मृत्यु के बाद अहमदशाह गद्दी पर बैठा। 'सुरभावन' और 'आलम' उसके आश्रित ध्रुवपदकार थे। १७५४ ई० में अहमदशाह को सिंहासनच्युत कर दिया गया। जहाँदारशाह का पुत्र मुहम्मद अजीमुद्दौला आलमगीर (द्वितीय) के नाम से गद्दी पर बैठा। उसकी प्रशंसा में 'अदारंग' के कुछ ध्रुवपद मिलते हैं।

---

१. मुसलमान और भारतीय संगीत, पृष्ठ ७९–८०

शाहआलम १७५६ ई० में गद्दी पर बैठा। वह फारसी, ब्रजभाषा, संस्कृत, अरबी और तुर्की भाषाएँ जानता था। संगीत में उसकी गति थी और यह उस्ताद नजरअली का शिष्य था।

दो लिपियों में प्रस्तुतीकरण

फारसी और उर्दू की कविता में यह अपना नाम 'आफताब' और हिंदी कविता में शाहआलम रखता था। १७९७ ई० में 'नादिराति शाही' नामक गेय-काव्य-संग्रह की रचना उसने की। प्रत्येक पद के ऊपर राग और ताल का नाम है। प्रत्येक पद फारसी और देवनागरी, दोनों लिपियों में है। प्रत्येक रचना किसी उत्सव या पर्व से संबद्ध है। 'सुरभावन' की मुद्रा से अंकित कुछ ध्रुवपदों में शाहआलम की चर्चा है। अकबर द्वितीय का काल १८०६-१८२७ ई० तथा बहादुरशाह का काल १८२७-१८६२ ई० है।

वास्तविक बात तो यह है कि मुहम्मदशाह रंगीले के युग के बाद मुगल-दरबार के कलाकार इधर-उधर आश्रय के लिए चले गए।

वैष्णव संतों द्वारा मुस्लिम रागों का अवलंबन

मुगलों के पतन का आरंभ औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् से ही हो गया था। गुणी लोग आश्रय के लिए सुदूर-दक्षिण तक जाने लगे थे। तंजोर पर मरहठों के अधिकार का परिणाम यह भी हुआ कि उत्तर-भारतीय संगीत का 'तराना' वहाँ 'तिल्लाना' हो गया और अनेक मुस्लिम राग 'त्यागराज-'जैसे वैष्णव संत द्वारा अपनाए गए। समर्थ रामदास के राम-नाम-प्रचार का प्रभाव हुआ, जो गोस्वामी तुलसीदास से प्रभावित थे।

त्यागराज का जन्म १७५६ ई० में हुआ। इसी वर्ष शाहआलम गद्दी पर बैठा था। १८४७ ई० में त्यागराज का स्वर्गवास हुआ, जब बहादुरशाह जफर का राज्यकाल था। त्यागराज के द्वारा कल्याणी (तुरुष्कप्रिय राग), पंतुवराली (तुरुष्कप्रिय राग), दरबार, शहाना, काफी, हुसेनी, नायकी रागों में निर्माण मुगल दरबार के सुदूरवर्ती प्रभाव का परिणाम है।

उत्तर-भारतीय 'बीन' और दाक्षिणात्य वीणा में सारिका-स्थापन सदृश है। विजयनगर के रामामात्य, गुजरात के श्रीकंठ और तंजोर के वेंकटमखी सारिका-स्थापन के विषय में जो बात कहते हैं, वही बात आंध्रदेशीय सोमनाथ कहते हैं। अबुल-फज्ल ने स्पष्ट कहा है कि उस समय के कुछ गीत समस्त भारत में एक ही शैली से गाए जाते थे और कुछ स्थानीय विशेषताएँ थीं। 'हिंदुस्तानी संगीत' और 'कर्नाटक-संगीत' जैसा विभाजन उस समय नहीं था।

'राग' और 'रस' के संबंध की उपेक्षा, रागों के समय का विचार न किया जाना, मेल-सिद्धांत का ग्रहण इत्यादि बातें कर्नाटक-संगीत पर बाह्य प्रभाव सिद्ध करती हैं।

नादिरशाहीयुग में संगीत

संगीत-रसिक मुगल-सम्राट् मुहम्मदशाह रंगीले का राज्यकाल १७१९-१७४८ ई० है। रागरंग में सर्वांगमग्न रहनेवाले इस निरीह सम्राट पर नादिरशाह का आक्रमण १७३९ ई० में हुआ। नादिरशाही बर्बरता से मुगल-साम्राज्य की प्रतिष्ठा धूल में मिल गई और मुहम्मदशाह को संगीत से घोर विरक्ति हो गई।

नादिरशाही आक्रमण से केवल एक वर्ष पूर्व हैदराबाद के निजाम (प्रथम) के साथ एक सज्जन नवाब दरगाह कुली खाँ दिल्ली आए थे, जो उस दुर्भाग्यपूर्ण आक्रमण के पश्चात् भी दिल्ली में रहे। नवाब दरगाह कुली खाँ ने उस समय की दिल्ली का चित्र एक छोटी-सी फारसी-पुस्तिका में प्रस्तुत किया है। संगीत के इतिहास में रुचि रखनेवाले सज्जनों के लिए यह पुस्तिका बहुमूल्य है और इन पंक्तियों का आधार है।

संगीत का स्वर्ण-युग

सभी मुगल-सम्राटों का हृदय ब्रजभाषा के समर्थ कवियों ने जीता था। नायिका-भेद, ऋतु-वर्णन इत्यादि के गहरे रंग में मुगल-सम्राट और उनके सामंत भली-भाँति रँगे थे। मुहम्मदशाह के युग के उत्कृष्टतम गायक कवित्तों और सवैयों के मर्म को समझते और उन्हें अत्यंत भावपूर्ण शैली में गाते थे। गायकों की अपनी रचनाओं पर भी ब्रजभाषा-काव्य की प्रवृत्तियों का प्रभाव भली-भाँति पड़ा था।

मुहम्मदशाह रंगीले तथा उसके कलाकारों को देव-जैसे समर्थ आचार्य, महाकवि एवं संगीत-निष्णात के सुदीर्घ संपर्क का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। प्रसिद्ध वीणावादक, ध्रुवपद-गायक, ध्रुवपदकार और खयाल-प्रणेता नेमत खाँ 'सदारंग' को भी महाकवि देव के चरणों में बैठकर साहित्य एवं संगीत की साधना करने का सुअवसर मिला था। उस युग के कलाकार 'अक्षरशत्रु' नहीं थे।

उस युग की गायिकाओं से शिष्टाचार सीखा जा सकता था। उनके मुँह से फूल झड़ते थे। उनके साथ गोष्ठीसुख का अनुभव करने के लिए बड़े-बड़े लोग तरसते थे और उनकी भाषा प्रमाण मानी जाती थी।

अनेक गायिकाओं का संगीत पर इतना अधिकार था कि वे नवीन रागों का आविष्कार करती थीं।

इन सभी दृष्टियों से आज का युग पिछड़ा हुआ है, क्योंकि इस युग के कलाकारों के लिए वे परिस्थितियाँ स्वप्न हैं। स्व० भातखंडे ने यह ठीक ही कहा है कि पिछले दो सौ वर्षों में 'हिंदुस्तानी संगीत' की अवनति हुई है। स्वतंत्रता के पश्चात् भी संगीत का प्रचार बढ़ा है, परंतु स्तर शोचनीय रूप में गिरा है।

अस्तु, प्रस्तुत विषय की ओर चलें।

कलावंत और कव्वाल

उस युग में गायकों के दो प्रमुख वर्ग थे, 'कलावंत' और 'कव्वाल'। कलावंत लोग बैजू, बख्शू, तानसेन इत्यादि ध्रुवपद-गायकों के अनुयायी थे और कव्वालों की

परंपरा विषय और विधा की दृष्टि से अमीर खुसरो के साथ अपना संपर्क बताती थी। यद्यपि राग-वर्गीकरण की दृष्टि से कलावंत भी अमीर खुसरो की ईरानी मुकाम-पद्धति से अछूते नहीं थे, तथापि कव्वालों की गानशैली भी खुसरो से प्रभावित मानी जाती थी।

आजकल के कव्वालों को सुनकर उस युग के कव्वालों की कल्पना नहीं की जा सकती।

'कौल' अरबी भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ है 'सूक्ति'। सूक्तियों को खुसरो की गान-शैली में प्रस्तुत करनेवाले लोग 'कव्वाल' कहलाए और उनकी संतानें 'कव्वाल बच्चा' कहलाईं। निजामुद्दीन चिश्ती के शिष्यों ने विभिन्न प्रदेशों को अपना आवास बनाया। उसके आश्रित कव्वालों पर प्रदेश-विशेष का प्रभाव पड़ा। कालांतर में कव्वाल बच्चों की गान-शैली की बारह 'छबें' (छवियाँ) हो गईं।

वर्णनीय युग के कव्वाल सुशिक्षित और खुसरो-परंपरा के सिद्धांतों में दक्ष होते थे। इनकी गान-शैली में स्वर-वैचित्र्य का चमत्कार, भावमग्नता, प्रभाव एवं अर्थ की सुरक्षा की ओर पूर्ण अवधान था। भाषा की प्रांजलता और विषय की धार्मिकता के कारण सूफी संतों की समाधियाँ इन लोगों का प्रमुख आश्रय-स्थल थीं।

ये कव्वाल दरबारों में 'खयाल' गाते थे, जिसकी शैली खुसरो-परंपरा से संबद्ध कही जाती थी। कलावंतों और कव्वालों में स्पर्द्धा रहती थी। सुविधा के लिए खयाल-गायक राग-नियमों की उपेक्षा भी कर जाते थे। अनेक रागों के दो प्रकार 'कलावंती' और 'कव्वाली' (कव्वालों का) हो गए थे। कलावंतों की पद्धति 'हिंदू-शैली' और कव्वाल बच्चों की पद्धति 'मुस्लिम-शैली' कहलाने लगी थी।

'सदारंग' यद्यपि परंपरा से कलावंत और वीणावादक थे, परंतु वह तातार देशीय एक कव्वाल के भी शिष्य थे। उन्होंने कव्वाल बच्चों से अपना लोहा मनवाने के लिए अनेक बोलियों में सहस्रों खयालों की रचना की।

कवित्तों ने कलावंतों का मन भी मोहा था और कव्वाल बच्चों का भी, अतः कुछ कलावंत और कव्वाल कवित्त भी खूब गाते थे।

सूफी संतों की समाधियाँ और उर्स

ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती (बारहवीं शती ई०) ने गायकों को आश्रय दिया। इनकी परंपरा में कव्वालों का सम्मान खूब रहा। अतः इस परंपरा के सूफी संतों की समाधियों पर 'उर्स' होते रहे हैं, जहाँ गायकों-गायिकाओं का जमघट सदा से रहा है।

ख्वाजा कुतुबुद्दीन बख्तयार काकी, शेख निजामुद्दीन चिश्ती, हजरत नसीरुद्दीन चिरागे देहली, शाह अजीजुल्ला, बादशाह फर्रुखसियर और मीर मुशर्रफ की समाधियों पर उस समय कव्वाली की धूम मची रहती थी।

ख्वाजा बख्तयार काकी का उर्स रबी-उल अव्वल महीने में होता था। दिल्ली के प्रायः सभी विशिष्ट नागरिक दो दिन के लिए दरगाह में चले आते थे। कव्वाल इस अवसर पर दूर-दूर से आते और समाधि की ओर मुँह किए खड़े होकर या बैठकर गाते थे। लोग इनका गाना सुनकर भाव-समाधि में निमग्न हो जाते थे।

शेख निजामुद्दीन चिश्ती के 'उर्स' का महीना भी यही है। 'उर्स' के दिनों भक्तों के शिविर दरगाह के चारों ओर लग जाते थे और दिन-रात कव्वाल गाते-बजाते रहते थे।

हजरत नसीरुद्दीन 'चिरागे देहली' की समाधि का प्राचीर मुहम्मदशाह रंगीले ने बनवाया और उसमें एक प्रांगण भी रखा। चिरागे देहली के उर्स के दिनों में श्रद्धालुओं और भक्तों का एक मेला लग जाता था। लोग दिन-भर नाच-रंग और हँसी-खुशी में बिताते थे। पखावज, ढोलक तथा अन्य वाद्य गूँजते रहते थे।

आशिकों की आह और माशूकों की अदा

बादशाह फर्रुखसियर के 'उर्स' का प्रबंध उनकी बेगम मेहर परवर एक महीना पहले से ही कर देती थी। इस 'उर्स' के विषय में नवाब दरगाह कुली खाँ के शब्दों का भाषांतर यों हैं—"जिधर देखिए, दिल्ली के रसिक वृन्द जीवन का आनंद लेने में व्यस्त दृष्टिगोचर होते हैं। हर कूचे और बाजार में, हर वृक्ष के निकट, हर मैदान में और हर बाग में अत्यंत संकोचहीनता और स्वच्छन्दता के साथ आशिकों और माशूकों, प्रेमियों और प्रेमिकाओं, मदमाती सुन्दरियों, सुन्दर किशोरों और उनके दिलफेंक चाहनेवालों के झुण्ड के झुण्ड सैर करते मस्त और बेखुद नजर आते हैं।....नर्तक, वादक, कव्वाल और नक्काल मक्खियों की भाँति नाचते और गाते फिरते हैं। उनकी संख्या भी मक्खियों से कम नहीं होती....मनोरंजन और विलास के लिए यह 'उर्स' रसिक और विलासी लोगों के लिए स्वर्ग है, क्योंकि यहाँ शारीरिक सुख, ऐय्याशियों और रंग-रलियों की समस्त सामग्री उपलब्ध रहती है, परंतु एक सच्चरित्र व्यक्ति के लिए यह उचित नहीं कि वह इन दृश्यों को देखे अथवा इन कार्यों में सम्मिलित हो।"

मीर मुशर्रफ की समाधि के विषय में नवाब दरगाह कुली खाँ के शब्दों का भाषांतर यों है—"मनचले आवारा लोग प्रायः यहाँ डेरे डालकर रहते और विलास करते हैं....बरसात के मौसम में यह बाग सैर, मनोरंजन, नाच और रंग तथा हर तरह की रंगरलियों का केन्द्र बन जाता है। मीर मुहर्रफ का वंशज मीर कल्लू 'उर्स' का प्रबंध करता है।....वह एक स्वच्छन्द युवक है, वह अमीरजादों और नवाबों की रंगीन तबियतों से परिचित है, इसलिए वह उन लोगों के आतिथ्य, मनोरंजन इत्यादि के लिए रुचि के अनुकूल सामग्री प्रस्तुत करता है और भोगविलास की वस्तुओं में किसी प्रकार की कमी नहीं रखता।....बाग के अन्दर-बाहर हर जगह गाना-बजाना होता है, नाच-रंग की गोष्ठियाँ होती हैं।....उर्स की रात को अत्यंत स्वच्छन्द और बंधनमुक्त होकर कई-कई नर्तक नाचते हैं। हर तरफ कव्वाल भी निश्चिन्ततापूर्वक गाते हैं।....पराकाष्ठा की स्थिति में नर्तक, कव्वाल, नक्काल आपे से बाहर हो जाते हैं।....वासना की पूर्ति खुलकर की जाती है।"

मुहम्मद शाह रँगीले के युग के सूफी-संतों में मजनूँ नानकशाही, शाह कमाल, शाह गुलाम मुहम्मद और शाह रहमतुल्लाह थे।

मजनूँ नानकशाही एक अच्छे फकीर थे। कव्वाल इनकी सेवा में उपस्थित होकर इन्हें गाना सुनाते और प्रभूत पारितोषिक पाते थे।

शाह कमाल कव्वाली के शौकीन थे। उनकी अपनी आवाज भी अच्छी थी।

शाह गुलाम मुहम्मद की खानकाह (मठ) में प्रत्येक मंगलवार को कव्वाली की गोष्ठी होती थी। हर महीने की पाँचवीं मुसलमानी तिथि को शाह गुलाम मुहम्मद उस समय के प्रसिद्ध कव्वाल ताज खाँ के घर होनेवाली कव्वाली में जाते थे। वहाँ शाह साहब के असंख्य भक्त एकत्र होते थे।

शाह रहमतुल्लाह कव्वाली की मजलिसें करते थे।

उस युग में आजम खाँ और लतीफ खाँ दिल्ली के प्रसिद्ध विलासी और संगीत-रसिक थे।

आजम खाँ संगीत-मर्मज्ञ था। हिंदुस्तान के गायक और वादक उसका सम्मान करते थे।

लतीफ खाँ गुणग्राही और संगीत-रसिक था। 'सदारंग' लतीफ खाँ के द्वारा आयोजित गोष्ठियों में अपनी कला का प्रदर्शन करते थे। ये गोष्ठियाँ प्रायः सायंकाल से आरंभ होतीं और रात तक रहती थीं। गायिकाएँ, गायक, नर्त्तक एवं वादक इन गोष्ठियों में सम्मिलित होते थे।

उन दिनों वसंत का मेला एक सप्ताह चलता था।

वसंत के महीने की पहली तारीख को 'कदम शरीफ' पर मेला लगता था। कदम शरीफ के अन्दर और बाहर सारे दिन कव्वालों का गाना होता था। जगह-जगह हजारों कव्वाल दिखाई देते थे।

दूसरे दिन का मेला ख्वाजा बख्तयार काकी की समाधि पर होता था, जिसमें कव्वाली की धूम रहती थी।

तीसरे दिन का मेला शेख निजामुद्दीन चिश्ती की दरगाह पर लगता था। प्रसिद्ध कव्वाल आते थे और कव्वाली होती थी।

चौथे दिन का मेला शाह हसन रसूलनुमा की समाधि पर होता था।

पाँचवे दिन का मेला शाह तुर्कमान की समाधि पर लगता था। यहाँ भी कव्वाली खूब होती थी।

छठे दिन नगर के प्रतिष्ठित व्यक्ति सम्राट की सेवा में उपस्थित होकर वसंत की बधाई देते थे।

सातवीं तारीख की रात, रसिक और विलासी लोग, हजरत अजीजी की समाधि पर बिताते और खुल खेलते थे।

हर महीने की ग्यारहवीं तारीख को मीरन साहब नामक एक मशहूर रईसजादे

के घर एक गोष्ठी होती थी, जिसमें गायकों, गायिकाओं, वादकों और नर्तकों का जमाव रहता था।

रबीउल अव्वल की बारहवीं तारीख को खाँजमाँ बहादुर के द्वारा आयोजित महफिल शानदार होती थी और उसमें नामी कव्वाल और मधुरकंठ-गायक गाते थे।

हर महीने की बारहवीं तारीख को 'सदारंग' गोष्ठी का आयोजन करते थे, जिसमें नगर के प्रतिष्ठित नागरिक और कलाकार सम्मिलित होते थे।

मुहम्मदशाह रँगीले की दिल्ली में मर्सिया पढ़नेवाले प्रमुख व्यक्ति मिस्कीन, हजीन, गमगीन, मीर अब्दुल्ला, शेख सुलतान, मीर अबूतराव, मिर्जा इब्राहीम, मीर दरवेश हुसेन, जानी नाई और मुहम्मद नईम थे।

मिस्कीन, हजीन और गमगीन तीनों भाई थे और उर्दू में मर्सिया कहते थे। वे इस कला के माने हुए उस्ताद थे, इसी लिए इस कला को सीखनेवाले व्यक्ति इनसे शिक्षा लेते थे। ये लोग नगर की विशिष्ट मजलिसों में ही जाते थे। इनकी आय पर्याप्त थी। जब ये तीनों भाई किसी मजलिस में मर्सिया पढ़ते थे, तब श्रोताओं का हृदय करुणाविगलित हो जाता था।

मीर अब्दुल्ला हजीन और नदीम के मर्सियों को अत्यंत कुशलतापूर्वक पढ़ता था। दिल्ली के रसिक, शाइर और संगीतज्ञ इस बात पर सहमत थे कि मर्सिया पढ़ने पर इस जैसा अधिकार अन्य किसी व्यक्ति को नहीं हुआ। कव्वाल और गवैये भी इसे घेरे रहते थे। इसके पढ़ने की शैली में विषय इतना स्पष्ट रहता था कि पहले मिसरे से ही लोग आगे के शेरों का विषय समझ जाते थे। इसकी दर्दभरी आवाज श्रोताओं को तड़पा देती थी और रोते-रोते श्रोताओं की हिचकियाँ बँध जाती थीं, आँसुओं की नदी बहने लगती थी।

शेख सुलतान की आवाज में पत्थर को मोम कर देनेवाला प्रभाव था। इसके पढ़ने का ढंग सीधा-सादा था, इसी लिए लोगों पर सीधा प्रभाव पड़ता था। इसकी शैली में कलात्मक बारीकियाँ न थीं, इसकी सादगी में ही विलक्षण प्रभाव था, जिससे लोग तड़प उठते थे।

मीर अबूतराव का अधिकार संगीत-कला पर था। आवाज में दर्द था। हर मजलिस में इसे सिर-आँखों पर बिठाया जाता था।

मिर्जा इब्राहीम की आवाज में जोशीलापन भी था और दर्द भी। यह जब चाहता, श्रोताओं में जोश भर देता और जब चाहता उन्हें रुला देता था।

मीर दरवेश हुसेन का अधिकार अपनी कला पर था, मीर अब्दुर्रशीद-जैसा मर्मज्ञ और उस्ताद मीर दरवेश हुसेन की कला का प्रशंसक था। मीर दरवेश हुसेन जहाँ जाता था, लोगों को रुलाता और तड़पा देता था।

जानी नाई मर्सिया पढ़ने की कला में तो प्रवीण था ही, संगीत-कला पर भी इसका अधिकार था। संगीत की गोष्ठियों में नियमपूर्वक सम्मिलित होता और मजलिसों में मर्सिया पढ़कर श्रोताओं को बेचैन कर देता था।

मुहम्मद नईम उस युग में माना हुआ उस्ताद था। शोकपूर्ण उद्‌गार, करुणामय शब्द और अनूठी उपमाओं का प्रयोग उसकी विशेषता थे। भाषा और विषय पर अद्‌भुत अधिकार होने के कारण यह स्वयं भी मर्सियों की रचनाएँ करता था। पढ़ने की शैली विशिष्ट थी, आवाज में प्रभाव और दर्द था।

मुहम्मद शाह रंगीले के युग के कलाकारों में 'सदारंग' संगीतज्ञ-शिरोमणि थे। उनका वास्तविक नाम नेमत खाँ था और ये निर्मोल खाँ के पुत्र थे। परंपरा के अनुसार सदारंग के छोटे भाई का नाम खुसरो खाँ था, जो भारतीय संगीत में सितार के प्रवर्तक हैं। खुसरो खाँ के पुत्र फीरोज खाँ अदारंग को सदारंग की लड़की ब्याही थी।

सदाबहार सदारंग

सदारंग की शिक्षा-दीक्षा मुगल सम्राट् मुअज्जमशाह की सभा में हुई। सदारंग को महाकवि देव के चरणों में बैठकर संगीत और साहित्य की साधना करने का तो अवसर मिला ही, अन्य गुणियों से भी उन्होंने सीखा। कव्वाल-शैली की शिक्षा उन्होंने एक तातारी कव्वाल से ली। नटवा नामक संगीतजीवी जाति के एक बंगाली गुणी से भी उन्होंने बहुत-कुछ सीखा। इसी लिए उन्हें अपने युग में प्रचलित सभी शैलियों पर समानरूपेण अधिकार था। संगीत के अतिरिक्त अन्य विषयों पर भी उन्होंने रचनाएँ कीं।

मुगल-सम्राट् जहाँदारशाह के दरबार में सदारंग को आश्रय और सम्मान मिला। मुहम्मदशाह रंगीले ने सदारंग को सिर आँखों पर बिठाया और सदारंग ने मुहम्मदशाह के नाम से अंकित सहस्रों खयालों की रचना बृजभाषा, राजस्थानी, पूरबी हिन्दी इत्यादि में करके रंगीले सम्राट् को अमर कर दिया।

स्वरों के द्वारा भावों की अभिव्यक्ति पर सदारंग का अधिकार अद्‌भुत एवं विलक्षण था। उनका कंठ-स्वर असाधारण रूप में मधुर था और वीणावादन में वह अनुपम थे। उनकी स्वरलहरी से श्रोता आकुल हो उठते और वीणा-वादन से झूमने लगते। यही कारण था कि सुन्दरी गायिकाओं को उनके संग-साथ पर बड़ा गर्व था।

सदारंग सूफी सन्तों की समाधियों पर जाया करते। प्रतिमास उनके घर एक संगीत-गोष्ठी होती, जिसमें दिल्ली के सरदार, रईस, प्रमुख नागरिक और कलाकार आया करते। उन्होंने कासिम अली, पन्नाबाई, कमालबाई-जैसे कुशल कलाकार दिल्ली को दिए। दिल्ली-निवासियों को उनपर गर्व था। यद्यपि वह प्रमुखतया ध्रुवपद-गायक एवं वीणावादक थे, तथापि विरोधियों को शांत और रंगीले को संतुष्ट करने के लिए उन्होंने सहस्रों खयालों का प्रणयन किया।

सितार के आविष्कर्त्ता

सदारंग के भाई खुसरो खाँ संगीत के मर्मज्ञ थे। वह अनेक वाद्यों को बजाने में कुशल थे। उनमें आविष्कारिणी प्रतिभा थी। सितार का प्रवर्त्तन करनेवाले

यही हैं। उनके सितार में केवल तीन तार थे और उसका नामकरण तक उस युग में न हुआ था। कला के क्षेत्र में खुसरो खाँ का व्यक्तित्व विद्रोही था। अपनी साधना और प्रतिभा के बल पर खुसरो खाँ ने कला-जगत् में सितार की जड़ें जमा दीं। कालांतर में सितारवादकों ने सितार को पुराना सिद्ध करने के लिए सितार का आविष्कार अमीर-खुसरो के मत्थे मढ़ दिया। खुसरो खाँ से पूर्व किसी सितारवादक का उल्लेख किसी इतिहासकार अथवा संगीत-ग्रंथकार ने नहीं किया है। खुसरो खाँ से 'तीन तारोंवाले इस बाजे' का वादन सुनकर प्रत्यक्षदर्शी नवाब दरगाह कुली खाँ ने इस वाद्य को एक 'विचित्र वस्तु' कहा था।

सदारंग और खुसरो खाँ से तानसेन के वंश का कोई संबंध नहीं। उन लोगों के साथ तानसेन के वंश का संबंध जोड़ने की कहानियाँ दिल्ली से बाहर उन्नीसवीं शती ई० के उत्तरार्द्ध में गढ़ी गईं। स्व० भातखंडे-जैसे व्यक्ति भी फारसी और उर्दू से अ-परिचय के कारण इस भ्रामक प्रचार के शिकार हुए।

तानसेन के वंशज

नवाब दरगाह कुली खाँ ने तानसेन के वंशज केवल दो भाइयों की चर्चा की है। उन दोनों में से भी एक का नाम तानसेन था और दूसरे का रहीम। उन दोनों भाइयों की योग्यता और संगीत-कला पर उनका अधिकार इस तथ्य को प्रमाणित करता था कि वे तानसेन के वंशज थे। सभी गुणी और कलाकार उनका अत्यंत सम्मान करते। गाने पर उनका पूर्ण अधिकार था। उनके स्वरों का प्रभाव मन पर सीधा पड़ता और मन में उत्साह और शोक इत्यादि उमड़ने लगते। वे लोग ध्रुवपद के क्षेत्र में सर्वश्रेष्ठ थे और कवित्त अत्यंत विलक्षण और अनुपम शैली से गाते। नदी की तरंगों की भाँति उनकी आवाज में एक नैसर्गिक उतार-चढ़ाव था।

खयाल की गायकी और गायक

उस युग के खयाल-गायकों में नवाब दरगाह कुली खाँ ने शाह दानियाल, रहीम खाँ, ज्ञान खाँ, दौलत खाँ, हड्डू, अल्लाह बंदे और रजी की चर्चा की है।

शाह दानियाल किस्सा कहने, चुटकुला सुनाने में कुशल और कवित्त एवं खयाल गाने में निपुण था। वह अच्छे वंश में उत्पन्न हुआ और सूफी था। बड़ी रंगीनी के साथ जादुई आवाज में गाता। गायकी का पुराना ढंग भी उसे आता था। वह व्यक्ति रसिक और शिष्टाचार के नियमों से परिचित था और दिल्ली की सभी गोष्ठियों और संगीत-सभाओं में जाता।

रहीम खाँ, ज्ञान खाँ, दौलत खाँ और हड्डू सहोदर थे, चारों ही खयाल बहुत अच्छा गाते। जिस गोष्ठी में जाते, श्रोताओं की वाहवाही लूट लाते। दौलत खाँ की आवाज बारीक और सुरीली थी। रहीम खां अत्यंत सादगी से गाता तथा दोनों छोटे भाई ज्ञान और हड्डू श्रोताओं से विशेष प्रशंसा प्राप्त करते। उनके घर हर महीने संगीत-गोष्ठी होती, जिसमें प्रतिष्ठित व्यक्ति आते और कव्वालों, सूफियों और संगीत-मर्मज्ञों का अच्छा जमघट होता।

अल्लाह् बंदे एक नामी कव्वाल का लड़का था। वह खयाल बहुत ही अच्छा गाता। रजी सदारंग की रचनाएँ गाता। उसकी आवाज सुकुमार और करुण थी। उस युग के प्रमुख कव्वालों में ताज खाँ, उसके दो पुत्र जानी और गुलाम रसूल, मुईनुद्दीन, बुरहानी, अमीर खाँ और जट्टा थे।

कव्वालों का ताज

ताज खाँ उस समय के कव्वालों में सर्वश्रेष्ठ था। राग और लय पर उसका अच्छा अधिकार था। उसकी वाणी में प्रभाव और स्वर में आकर्षण था। श्रोताओं को तन्मय कर देता। वह सूफियों का सेवक और भक्त था। उसके घर हर महीने गोष्ठी होती, जिसमें सूफी संत भी पधारते। उस गोष्ठी में कव्वालों की प्रतिस्पर्द्धा होती। ताज खाँ के पुत्र और शिष्य जानी और गुलाम रसूल साथ-साथ मिलकर गाते। जहाँ गाते रंग जमा देते।

मुईनुद्दीन कव्वाल की आवाज विलक्षण रूप से अच्छी थी। वह अपने युग का माना हुआ उस्ताद था, उसके कंठ की मोहिनी श्रोताओं को स्तब्ध कर देती।

वयोवृद्ध बुरहानी कव्वाल संगीत का अच्छा मर्मज्ञ था। मौलाना शाह कमाल के साथ उसके घनिष्ठ संबंध थे। उसकी कव्वाली सुनने योग्य थी और वह श्रोताओं को रसमग्न कर देता। अमीर खाँ औसत दर्जे के कव्वालों में विख्यात था।

जट्टा कव्वाल शाह बासत का नौकर था। उनके मठ में प्रत्येक रविवार को गोष्ठी होती। कुरान शरीफ की उन आयतों को अत्यंत करुण एवं मधुर रूप में प्रस्तुत करता, जिनका विषय सर्वात्मवाद होता। पुराने सूफियों की असंख्य सूक्तियाँ उसे कंठस्थ थीं, उन्हें संगृहीत करने पर सूफी दर्शन और आचार का एक विशाल ग्रंथ बन सकता था। उसके गानों के विषय प्रायः वैराग्यपूर्ण एवं करुण होते। अपने अध्यात्म-परक और अमृतवर्षी गान से अवर्णनीय वातावरण की सृष्टि करने में समर्थ जट्टा कव्वाल को सिद्ध धर्मोपदेशक कहा जाता।

उस युग के अन्य गायक

नवाब दरगाह कुली खाँ ने अन्य गायकों की भी चर्चा की है, परंतु उससे यह ज्ञात नहीं होता कि उन गायकों की गान-शैली क्या थी। ऐसे गायकों में कासिम अली, शुजाअत खाँ, इब्राहीम खाँ, बोले खाँ-जैसे व्यक्ति थे।

कासिम अली सदारंग का शिष्य था। उस परगुरु की असीम कृपा थी। अपने यौवन के आरंभ में ही उसने अपने समवयस्कों में अपने लिए अच्छा स्थान बना लिया था। मुहम्मदशाह रंगीले का कृपापात्र था और सम्राट् के सामंत उसका सम्मान करते थे। उसकी गणना दिल्ली के संगीत-मर्मज्ञों में थी। उसे होनहार देखकर सदारंग ने उसे कला की बारीकियाँ समझाईं। परिपक्व वय के अनेक कलाकार भी उसका लोहा मानते।

शुजाअत खाँ को गीत और कवित्त पर अधिकार का दावा था। इब्राहीम खाँ भी बुरा नहीं गाता। बोले खाँ की शैली पुराने लोगों-जैसी थी। वह सम्राट् का वृत्तिभोगी था।

गवैयों की नकल करते-करते उस युग के नक्काल भी अच्छा गाने लगते थे। उनमें भी कुछ लोग संगीत की शिक्षा विधिवत ग्रहण करते। ऐसे लोगों में खवासी और अनूठा शाही दरबार से सम्पृक्त थे। वे दोनों खयाल और नृत्य के मर्मज्ञ थे। 'सब्जा' और 'मजा' उभरते हुए नक्काल नवयुवक थे, नृत्य पर भी उनका अधिकार था।

संगीत-निपुणा गायिकाएँ

नवाब दरगाह कुली खाँ ने गायिकाओं में नूरबाई, पन्नाबाई, कमालबाई, पन्ना, तन्नो, चमनी, सरस रूप, भनिया, रामजनी, चकमक, जीनत, भज्जी, गुलाब, रहमान-बाई, उमाबाई और कुँवर का उल्लेख किया है।

नूरबाई दिल्ली की प्रसिद्ध डोमनी थी। बड़े-बड़े अमीर उसे देखने के लिए उत्सुक रहते। इसका मकान एक आलीशान दरबार की तरह सजा हुआ था। उसमें विविध अलंकरण-सामग्रियाँ विद्यमान थीं। उसकी सवारी बड़ी शान से निकलती। वह प्रायः हाथी पर सवार होती। पीछे-पीछे वेत्रधारियों और रक्षकों की खास टुकड़ी होती। वह जहाँ जाती, उसकी अगवानी वहाँ रत्नों और आभूषणों की भेंट से की जाती और वह प्रचुर परिमाण में बहुमूल्य उपहार लेकर लौटती। अमीर लोग जब उसे निमंत्रण भेजते, तब अनेक अमूल्य उपहार पहले ही भेज देते और विदा के समय भी प्रभूत संपत्ति उसके साथ कर देते। जिसने भी नूरबाई से प्रेम किया, उसका सब-कुछ लुट गया।

नूरबाई में चंचलता और रूप की पराकाष्ठा थी। वह मेधाविनी, सहृदय एवं शिष्टाचार के नियमों से पूर्णतया परिचित थी। साहित्य और संगीत के मर्म को समझती। उसकी वाणी में जादू था। उस युग के अच्छे-अच्छे साहित्यकारों को भी भाषा की सहजता एवं प्रौढ़ता के संबंध में नूरबाई पाठ पढ़ा सकती थी। अपने गुणों के बल पर अनेक रईसों और अमीरों पर नूरबाई शासन करती रही।

पन्नाबाई सदारंग की प्रसिद्ध शिष्याओं में थी। उसका गाना क्या था; जादू था। उसका गान उदित होते हुए सूर्य की भाँति क्रमशः तेजस्वी होता जाता। वह अनुपम गायिका और संगीत-मर्मज्ञा तो थी ही, नए-नए रागों का आविष्कार भी करती। वह अत्यंत रूपवती, शिष्ट, सभ्य, संभाषण-कुशल, मेधाविनी और चतुर थी। दिल्ली की प्रत्येक संगीत-सभा में निमंत्रित होती।

कमालबाई मुहम्मदशाह रंगीले की सभा में अपने गुणों के कारण सम्मानित थी। सम्राट के हृदय पर उसका अधिकार था। उसके गान में करुणा थी। वह संगीत के नियमों का विधिवत पालन करती। सदारंग के खयाल अच्छे ढंग से गाती, जो

सम्राट की मुद्रा से अंकित होते। गाने से कभी वह थकती नहीं, निरंतर अभ्यास करती। अत्यंत शिष्ट और सुंदर तो वह थी ही, उसकी नृत्य-निपुणता भी मानी हुई थी।

पन्ना (द्वतीय) और तन्नो सम्राट् की मुँह लगी थीं। सम्राट् ने उनपर असीम अनुग्रह किए थे। अपनी कला-मर्मज्ञता, प्रतिष्ठा, संपत्ति, एवं जादूभरे सौन्दर्य और अंग-अंग की छवि के कारण वे दोनों सम्मानित थीं। तन्नो अत्यंत चंचल थी।

नादिरशाही आक्रमण के पश्चात् मुहम्मदशाह रंगीले को जब संगीत से घृणा हो गई और मर्मज्ञ गुणी भी राज-सभा से सेवामुक्त कर दिए गए, तब संगीत-रसिकों के लिए उनकी कला सुलभ हुई। नृत्य पर उन दोनों का विलक्षण अधिकार था। उनकी वाक्-पटुता, शिष्टता और रसिकता से मन प्रभावित हो जाता था। वे स्वयं भी सुन्दर रचनाएँ करतीं।

चमनी प्रौढ़ हो चुकी थी। सम्राट् उसका गाना दत्तचित्त होकर सुनते और उसकी कला का प्रायः आनंद लेते। वह संगीत-निपुण होने के साथ-ही-साथ अत्यंत शिष्ट, स्वच्छ और कुशल थी।

सरसरूप अत्यंत सुन्दर थी। गान और नृत्य में कुशल होने के कारण दिल्ली के संगीत-रसिक उसे चाहते बहुत थे।

भनिया गायिका होने के साथ-ही-साथ प्रसिद्ध नर्त्तकी भी थी। उसके पास अनेक नौकर और चोबदार थे। रईसों के साथ बराबरी के साथ मिलती। मुहम्मद-शाह के प्रधान मंत्री के साथ उसके विशिष्ट संबंध थे। प्रधान मंत्री ने एक बार तो उपहारस्वरूप सत्तर हजार रुपए की सामग्री उसके घर भेजी थी।

रामजनी भी प्रधानमंत्री की सेवा में थी। गाती खूब थी। संगीत के नियमों का ध्यान रखती। संगीत-मर्मज्ञ उसका सम्मान करते। लेकिन किसी अमीर की ओर वह आँख उठाकर भी नहीं देखती।

'चकमक' का वास्तविक नाम मानी था। रंगीले ने ही उसे 'चकमक' उपाधि दी। आवाज में प्रभावी करुणा थी।

जीनत और भज्जी अत्यंत कोमलांगी थीं। वे अत्यंत सुन्दर थीं और उनकी कला उत्तेजक।

गुलाब यथा नाम तथा गुण थी। अत्यंत रूपवती, सहृदय और मर्मज्ञ थी। नवाब दरगाह कुली खाँ ने उसे छलकते हुए चषक की उपमा दी थी।

रहमानबाई गायिका और कुशल नर्त्तकी थी। उसने अपना कौमार्य सुरक्षित रखा था।

उमाबाई खयाल और कवित्त गाने में अनुपम थी। प्रेम की क़द्र करती थी। अत्यंत सुन्दर, आकर्षक और चंचल थी।

कुँवर उमाबाई की नवयौवना पुत्री थी। मियाँ मुहम्मदशाह उसपर अनुरक्त थे। उनकी गोष्ठी में दोनों माँ-बेटियाँ जातीं।

उस युग में गायिकाओं और नर्त्तकियों के प्रति अनुराग रईस और रसिक होने का प्रमाणपत्र था।

वह युग वीणा और ध्रुवपद के ह्रास का था। सदारंग के अतिरिक्त अन्य किसी बीनकार और रहीम एवं तानसेन के अतिरिक्त अन्य किसी ध्रुवपद-गायक की चर्चा नवाब दर्गाहकुली खाँ के द्वारा न किया जाना इस तथ्य का प्रमाण है। बीन और ध्रुवपद चोली-दामन की भाँति परस्पर संबद्ध हैं, एक के पतन का प्रभाव दूसरे पर होना स्वाभाविक था।

रंगीले को खयाल भाता था। सदारंग तक को इसी लिए खयालों की रचना करनी पड़ी। बादशाह पर कोमलांगी और सुकंठी वारांगनाओं का जादू था, वह उनके सौन्दर्य का पिपासु था। बादशाह पर अपना प्रभाव अक्षुण्ण रखने के लिए सदारंग पन्नाबाई और कमालबाई को शिक्षण-प्रशिक्षण देने के लिए विवश हुए। वे बेचारियाँ बीन और ध्रुवपद का क्या करतीं। खयाल-रचना और वेश्याओं को शिक्षा देना खानदानी कलावंत पसंद नहीं करते थे। सदारंग का पतन बीन और ध्रुवपद के पतन का आरंभ था।

स्वर, भाषा और लय का युग

खयाल में ध्रुवपद की अनेक विशेषताएँ अक्षुण्ण थीं, वह 'बंडा' या 'लँगड़ा' ध्रुवपद कहलाता था। कव्वाल बच्चों के खयालों में तानें मोतियों की माला की भाँति गुँथी होतीं। सुकंठ खयालियों की तानें ऐसी प्रतीत होतीं, मानो आतिशबाजी के अनार छूट रहे हों, छोटी-छोटी हरकतें फुलझड़ियाँ प्रतीत होतीं। चाल की दृष्टि से खयाल बादशाह की सवारी जान पड़ता। उस युग में तानें खयाल के लिए थीं, खयाल तानों के लिए नहीं। खयालिए न तो भाषा के शत्रु थे और न अर्थ के बैरी। वे लय से खेलते, लेकिन ताल से कुश्ती न लड़ते। वे खटकों और जमजमों से अपनी कला में बारीक पच्चीकारी करते, अर्थ को सुरक्षित रखते और मनुष्य बने रहते। यह तत्त्व वे भलीभाँति जानते थे कि राग और ताल की अभिव्यक्ति तो वाद्य भी कर सकते हैं, परंतु राग और ताल के साथ भाषा के माध्यम से अर्थ की योजना करने में, मनुष्य होने के कारण, केवल गायक ही समर्थ है। इसी लिए 'उत्तम गाना, मध्यम बजाना और अधम नाचना' जैसी कहावत प्रचलित थी। गाना स्वर, भाषा और लय की त्रिवेणी होने के कारण 'उत्तम' कहलाता था, बीन या रबाव-जैसे वाद्यों में स्वर और लय की अभिव्यक्ति तो संभव है, परतु भाषा के संबंध में 'नाट्य' विवश है, इसलिए बजाना 'मध्यम' कहा गया, नाच बेचारे में न स्वर है न भाषा, इसी लिए नाच को 'अधम' कहा गया है।

खयाल में अनेक गुण थे, जिनके कारण वह लोकप्रिय हुआ। इस युग में खयाल के नाम से जो कुछ प्रस्तुत किया जा रहा है, उसमें खयाल के पूर्वोक्त गुण कहाँ तक हैं, यह देखना आज के सहृदयों का कार्य है।

उस युग के कलाकार

अस्तु, नवाब दरगाह कुली खाँ ने सारंगी, रबाब, तंबूरा, पखावज, ढोलक, धमधमी, घड़ा यहाँ तक कि पेट बजानेवाले की चर्चा भी की है। चंग एवम् मंजीरा भी इस चर्चा से नहीं बचे, परंतु तबले की कोई चर्चा नहीं।

गुलाम मुहम्मद दिल्ली का प्रमुख सारंगीवादक था, जिसकी प्रसिद्धि दूर-दूर तक थी। करुण रागों की अवतारणा करने में यह समस्त भारत में अद्वितीय था। गोष्ठी का मन वश में कर लेता। गुणियों और गुणज्ञों में उसका सम्मान था। सूफी संतों का सत्संग उसे प्रिय था।

हसन खाँ उस युग का सर्वश्रेष्ठ रबाबवादक था। वह वयोवृद्ध दिल्ली के प्रसिद्ध व्यक्तियों में था। सरोद का विकास रबाब से ही हुआ, अतः रंगीले के युग में सरोद की चर्चा नहीं है।

तंबूरा उस युग का एक प्रतिष्ठित तंत्री वाद्य था। यद्यपि यह केवल छेड़ने के काम आता है, तथापि उस युग में इसपर रागों की अवतारणा आज की विचित्रवीणा की शैली में की जाती थी। बाकर इस शैली के वादकों में उस्ताद था। वह वादन के समय स्वयं रसमग्न होता और श्रोताओं को भी सर्वांगमग्न कर देता था। मुहम्मदशाह की उसपर विशिष्ट कृपा थी।

उस युग में घासीराम पखावज-वादकों में श्रेष्ठ थे और उस्ताद माने जाते। उनकी अँगुलियों की गति अपने-आपमें संगीत थी।

ढोलक-वादक भारत-प्रसिद्ध हुसेन खाँ अपने युग की विलक्षण एवम् अद्वतीय निधि था। वह प्रति-दिन नवीन वादन करता, पुनरावृत्ति तो उसकी राशि में ही नहीं थी। उसके हाथ के बोल अमावस्या की रात्रि में तारों की भाँति चमकते रहते।

धमधमी (दमामा) बजाने पर शाहबाज का पूर्ण अधिकार था। दिल्ली में उसकी प्रसिद्धि थी। ढोलक और पखावज में उसके वादन की अभिव्यक्ति कठिन थी। शाहबाज का पिता आजमशाह की नौकरी में था।

शाह दरवेश मटका बजाकर बड़े-बड़े पखावजियों और ढोलकवादकों को चकित कर देता। उसमें आविष्कारिणी प्रतिभा थी। उसने एक ऐसे वाद्य का आविष्कार किया, जिसमें ढोलक, पखावज और तंबूरे की ध्वनियाँ साथ-साथ निकलतीं। नवाब जादे और अमीर उसकी सेवा में सवारियाँ भेजते। यह जन्मान्ध था, परंतु ईश्वर ने उसे अद्भुत अंतर्दृष्टि दी।

इस युग में एक अंधा पेट बजाने में सिद्धहस्त था। चोट पड़ते-पड़ते उसका पेट काला पड़ गया था। पखावज और ढोलक की पारस्परिक शैली में वह पेट बजाता और नर्तकियों की आदर्श संगति करता। नर्तकियाँ उससे प्रसन्न थीं।

दिल्ली में तकी भगत बजानेवालों (स्वाँग करनेवालों) में अग्रणी था। उस सम्राट् के कृपापात्र का अमीर लोग भी सम्मान करते। विभिन्न जातियों एवं संप्रदायों के स्वाँग करने में समर्थ उस कलाकार के पास अभिनय की समस्त सामग्री थी। वह अत्यंत रसिक था।

ढोलक-वादकों में घन्ना का नाम सम्मान के साथ लिया जाता। वह हुसेन खाँ का प्रमुख शिष्य और उत्तराधिकारी था।

नर्तकों में काले कंका और हींगा प्रमुख थे। नृत्य के सभी अंगों पर काले कंका का अधिकार था। उसे झंझावात के समान तीव्र और मंद होना आता। शरीर के अंग-अंग पर उसका वश था।

हींगा का रंग अत्यंत गोरा था। वह सफेद रंग के वस्त्र पहनता। किले के सामनेवाले चौक में जब वह नाचता, तब बड़े-बड़े लोग उसका नाच देखने आते।

नवाब दरगाह कुली खाँ ने एक नर्तकी की अत्यंत प्रशंसा की है, जो गायिका भी बहुत अच्छी थी। उसके नाम का उल्लेख नहीं। उसे किसी अबुलहसन की प्रेयसी कहा गया है। लोग उसके गोष्ठी-सुख के लिए तरसते। वह मर्यादापूर्वक रहती। नृत्य पर तो उसका विलक्षण अधिकार था ही, कवित्त और खयाल गाने में भी वह अत्यंत निपुण थी।

साहित्य और संगीत का समन्वय

नवाब दरगाह कुली खाँ की पुस्तिका के अध्ययन से कुछ निष्कर्ष हमारे समक्ष आते हैं :—

१. उस युग का रसिक-समाज कवित्त, खयाल और कव्वाली पसंद करता। उस युग की कव्वाली आज के युग की कव्वाली से सर्वथा भिन्न थी। कवित्त गाना प्रचलित था, लोग कवित्तों को समझते और उनका गाया जाना पसंद करते। आज इस तथ्य की कल्पना भी कठिन है।

२. ठुमरी या दादरे की चर्चा तक पूर्वोक्त पुस्तिका में नहीं है। अर्थात् उस समय ठुमरी और दादरे का प्रवेश तक अभिजात संगीत में नहीं हुआ था।

३. सितार का नामकरण तक उस युग में नहीं हुआ था, तबला भविष्य के गर्भ में था और तब तक रबाब से सरोद का विकास भी नहीं हुआ था।

४. आविष्कारिणी प्रतिभाओं का सम्मान उस युग में होता था। गायिकाएँ तक नवीन रागों का आविष्कार करने के कारण सम्माननीय होती थीं। आज के युग की भाँति नवीन रागों का आविष्कार दुस्साहस नहीं माना जाता था।

५. अनेक स्थानों पर प्रतिसप्ताह अथवा प्रतिमास गोष्ठियों में कलाकारों को कला-प्रदर्शन का अवसर मिलता था।

६. उस युग के कलाकार बहुमूल्य पुरस्कारों एवं उपहारों से सम्मानित किए जाते। केवल प्रशंसा से कलाकारों को सम्मानित करना उस युग में प्रचलित न था।

७. केवल स्वर और मात्रा की कवायद को उस युग में कला नहीं समझा जाता था। कलाकारों, रसिकों और आलोचकों की दृष्टि भाव और प्रभाव की ओर थी।

८. नई रचनाओं का आदर था। 'सदारंग' की कृतियाँ सीखने और गाने के प्रति उत्कृष्ट कलाकारों का उत्साह था। रसिक-समाज में नवीन कृतियों के प्रति अनुरक्ति थी। आज के युग की भाँति लोग अर्थहीन भग्नावशेषों से चिपटे हुए न थे।

सदारंग की कृतियों की साहित्यिक महत्ता से परिचित होने के लिए उनकी दो रचनाएँ पर्याप्त है, जिनमें छंद का बंधन नहीं है :—

कोउ तो मोय बताओ री पिय सों मान करिबो को ढब।
पै ऐसो कीजे जा मैं नेंक मलीन न होय आपुन बात रहै सब॥
देखि रहे अनेक जोखिनि की फरकनि तिनि सों छिपि सुके कब।
यह भूल मो मन आई गई, तातें 'सदारंग' पिय सों रिस हूँ मैं
रूसिए कबहुँ अब जब तब॥

सदारंग की यह नायिका नवेली है। मान की रीति नहीं जानती, परंतु मान करना चाहती है। वह अपनी भी बात रखना चाहती है, परंतु यह नहीं चाहती कि मन मैला हो। प्रियतम की भूलें उसके मन आई-गई हो जाती है। सखियों से मान करने के ढब पूछ रही है, उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा में है।

सदारंग की विरहिणी का एक चित्र यों है :—

अब तौ कोकिल धूम मचाई।
पिय विदेस मोहि पाय अकेली विरहिन जान सताई।
इक तौ हुती मैं बैरन उनकी करत चवाउन आई।
बोलि-बोलि जब बान से मारत तन-मन बेधत जाई।
कुकि-कुकि डरपाई री जिय में अति ही हूक बढ़ाई।
बीतौ बलम, जब आयौ फागुन, कहा करौं मोरी माई!
ऐसे समैं सुधि लीजो 'सदारंग' सुखदाई-दुखदाई।

यह रचना पदशैली में है। इसमें छंद का निर्वाह है। उद्दीपन के रूप में बाह्य प्रकृति का पारस्परिक चित्रण यहाँ है।

जो लोग केवल गले की तैयारी को ही शास्त्रीय (!) संगीत की पराकाष्ठा समझते हैं, उनकी आँखें खोलने के लिए ये रचनाएँ पर्याप्त हैं।

उस युग में गायिकाएँ और नर्तकियाँ विद्वानों से विधिवत अलंकारशास्त्र का अध्ययन करतीं। इसी लिए रस, भाव, अभिनय, नायिकाभेद इत्यादि से उनका प्रगाढ़ परिचय होता। महाकवि देव-जैसे मर्मज्ञ आचार्य, समर्थ कवि और रंगीन मिजाज संगीतज्ञ की सुवास से उस समय की गायिकाएँ और नर्तकियाँ सुवासित थीं।

निम्नलिखित में सद्यःस्नाता का चित्रण है, जिसके लहराते हुए केशों में घटा उमड़ रही है। लाल-पीले वस्त्रों में लगी हुई हरी गोट ने इंद्रधनुष प्रस्तुत कर दिया है। कुच-युगल की श्यामता गिरितुंगों पर आई हुई घुमरी बदली है। पुष्पों की माला बगुलों की पंक्ति है। ऐसी 'नूर' का आलिंगन 'शाह' ने अकस्मात् आ कर करलिया और 'नूर' ने 'शाह' को अंक में भर लिया। अतः रंगमहल में रंगमूर्ति (रँगीला ?) उमंग-उमंग कर, दिन-दिन नई-नई, रसिकता की बूंदें बरसा रहे हैं। रचना यों है :—

> करि मंजन प्यारी ठाढ़ी चिहुँर पवन लेत, लागत जैसे जलधर की घटा उनै आई।
> लाल जरद बस्तर सोहत अंबर तामैं हरी कोर धनक कैसी दामिनि चौका चमक भाई।
> जैसी कुच स्यामता तैसी देखी नाहिन मानो बिबि गिरिवर पर घुमरी धाई।
> पुहुप माल अरु बगला सी बरवट लीनें साहि अचानक 'नूर' साहि कौं अंकों भरि लई।
> या तें रंगमहल रंगमूरत उमगि काम की चौंप बरसे बड़ी-बड़ी बूंदिनि दिन-दिन नई-नई।

'गुलाब' (गुलाबबाई) की निम्नलिखित रचना में नेत्रों की पुतली पर पातुर का आरोप किया गया है, नेत्रों के लाल डोरे उस पातुर के वस्त्र हैं, हाव-भाव के सांगोपांग अभिनय में दक्षता प्रस्तुत और अप्रस्तुत में सामान्य धर्म है। त्रिविध कटाक्ष संगीत के तीन अंग गीत, वाद्य और नृत्य हैं। नेत्रों के तारे ही तार (ताल, मँजीरे) हैं, जो नृत्य के 'सम' पर बज रहे हैं, पलक थाप दे रहे हैं, नेत्र मृदंग हैं।

रचना यों है :—

> आली री तेरी पुतरी पातुर नीकौ नित करत है, डोरे वस्तर पहरे सुरंग।
> हाउ-भाउ जैसो सुध अंग बतावत निपट चतुर अंग-अंग।
> त्रिविध कटाक्ष संगीत भेद सों सोभा अधिक सुध अंग।
> तारे ही तार गुलाब बाजत सम पलक थाप नैना मृदंग।

यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए, तो यह रचना अलंकार-ध्वनि का उत्कृष्ट उदाहरण है और यहाँ व्यतिरेक अलंकार व्यंग्य है। उपमान की अपेक्षा उपमेय की उत्कृष्टता ही व्यतिरेक है। यहाँ पुतली 'उपमेय' है और पातुर 'उपमान'। पुतली एक 'उपांग' है, पातुर 'अंगी' होती है। अंगी का काम 'उपांग' कर दे, तो यह उपांग की वरीयता है। त्रिविध कटाक्षों को संगीत (गीत, वाद्य, नृत्य) बताया गया है। गीत का कार्य आकृष्ट करना, वाद्य का कार्य श्रोताओं में चंचलता उत्पन्न करना और नृत्य का कार्य उपरंजन के द्वारा गीत और वाद्य के कार्य को अभिवृद्ध करना है। आकृष्ट करना, तड़पा देना और मोह लेना त्रिविध कटाक्षों का कार्य है। मंजीरों का आधार नर्तकी होती है, परंतु पुतली नयन-तारों को स्वयं धारण किए है, यह व्यतिरेक है। मँजीरे और नयन-तारे दोनों वृत्ताकार हैं, यही दोनों में साम्य है। नेत्र पुतली को धारण करते हैं और मृदंग के ताल में नर्तकी प्रतिष्ठित होती है। यही प्रतिष्ठा उभय पक्ष में सामान्य धर्म है।

रँगीले के युग के पश्चात् साहित्य और संगीत के समन्वय का यह स्तर दरबारों में न रहा।

रामपुर का राजवंश और उसकी संगीत-परंपरा

संगीत के वास्तविक इतिहास से परिचित व्यक्तियों को यह तथ्य सुविदित है कि रविशंकर और निखिल बनर्जी के सितार और अली अकबर खाँ के सरोद की विश्वव्यापिनी झंकार का मूल उत्तर-प्रदेश की भूतपूर्व रियासत रामपुर के गुणग्राहक नरेशों और संगीत-गुरुओं की उदारता में है। इन लोगों के सम्मान्य गुरु उस्ताद अलाउद्दीन खाँ (रामपुरवालों की भाषा में बाबू अलाउद्दीन) ने वर्षों तक रामपुरीय गुणियों के चरणों में बैठकर संगीत-साधना की और रामपुर से उपलब्ध ज्ञान का उदार वितरण अपने योग्य शिष्यों में किया।

इसी प्रकार संगीत के सैद्धांतिक पक्ष को पुष्ट करने का श्रेय भी रामपुर को है। स्व० भातखंडे रामपुर-परंपरा के गुणियों के संपर्क में बाल्य-काल से ही आ चुके थे और अपनी प्रौढ़ अवस्था में वह रामपुर के स्व० नवाब हादिमअली खाँ (राज्यकाल १८८९-१९३० ई०) के विधिवत शिष्य हुए। भातखंडे-परंपरा को पुष्ट करने का श्रेय रामपुर के नरेशों और गुणियों को है।

इन पंक्तियों के लेखक के प्रपितामह महापंडित दत्तराम रामपुर के नवाब यूसुफ अली खाँ (राज्यकाल १८५५-१८६५ ई०) एवं नवाब कल्बेअली खाँ (राज्यकाल १८६५-१८८७ ई०) की सभा में अत्यंत सम्मानपूर्वक रहे। महापंडित दत्तराम का 'शिवालय-रामपुर में प्रसिद्ध है, जिसकी आधारशिला अत्यंत भक्तिपूर्वक नवाब यूसुफअली खाँ ने रखी थी। दत्तराम जी के पुत्र श्री अयोध्याप्रसाद जी नवाब मुश्ताकअली खाँ (राज्यकाल १८८७-८९ ई०) के पंडित रहे। उनके पुत्र पं० गोविंदराम जी हामिद अली खाँ के आश्रय में रहे। स्व० गोविंदराम जी इस विनम्र लेखक के पूज्य पिता थे।

लेखक को नवाब रजा अली खाँ (राज्यकाल १९३०-१९६६ ई०) का स्नेह और अनुग्रह प्राप्त रहा। अतः उसका कृतित्व भी रामपुर-परंपरा के ही अंतर्गत है।

विद्वानों, गुणियों एवं कवियों को ससम्मान आश्रय देनेवाले राजवंश का संक्षिप्त इतिहास जान लेना अप्रासंगिक न होगा।

रुहेला राजवंश की स्थापना

काबुल की पहाड़ियों में स्थित 'रोह' नामक स्थान के निवासी पठान 'रुहेले' कहलाते थे। दाऊद खाँ नामक रुहेला पठान भारत आया, इसने कुछ उत्साही व्यक्तियों की एक सेना बना ली, और जिला बरेली की तहसील बहेड़ी में बाकोली गाँव पर अधिकार कर लिया। यह गाँव जाटों का था। इसके कुछ लोग भाग गए, कुछ मारे गए। उस गाँव में दाऊद खाँ को एक स्वस्थ और सुंदर बालक मिला। दाऊद खाँ ने उसे अपना पोष्य पुत्र बनाकर उसका नाम अली मुहम्मद खाँ रखा।

यह घटना औरंगजेब के पुत्र बहादुरशाह प्रथम के युग १७०७-१७१२ ई० की है।

जब दाऊद खाँ की मृत्यु हुई, तब अली मुहम्मद खाँ की वय १४ वर्ष थी। अली मुहम्मद खाँ ने मुगल सम्राट् जहाँदार शाह और फर्रुखसियर के युग को ढंग से निभाया और मुहम्मद शाह रंगीले के युग में मुगल-दरबार के साथ उनके संबंध अत्यंत मधुर हो गए। वह पाँच हजारी मनसबदार हो गए। लोगों की दुष्टता के कारण दिल्ली दरबार के साथ अलीमुहम्मद खाँ का मनमुटाव हुआ। मुहम्मद शाह रंगीले ने स्वयं अलीमुहम्मद खाँ पर चढ़ाई की, परंतु महामंत्री कमरुद्दीन खाँ के प्रयत्नों से संधि हुई और मुहम्मद शाह रंगीले के साथ अली मुहम्मद खाँ दिल्ली आए।

मुहम्मदशाह रंगीले के दरबार में महाकवि देव-जैसे साहित्य-संगीत-निष्णात, सदारंग-जैसे सर्वतोमुख कलाकार, तानसेन तृतीय और रहीमसेन-जैसे कलावंत, शाह दानियाल, रहीम खाँ, ज्ञान खाँ, दौलत खाँ, हड्डू, अल्लाहबंदे और रजी-जैसे खयाल-गायक तथा ताज खाँ, जानी, गुलाम रसूल, मुईनुद्दीन, बुरहानी, अमीर खाँ और जट्टा-जैसे कव्वाल, नूरबाई, पन्नाबाई, कमालबाई, पन्ना, तन्नो, चमनी, सरस रूप, भनिया, रामजनी, चकमक, जीनत, भज्जी, गुलाब, रहमानबाई, उमाबाई और कुँवर जैसी अप्सराएँ तथा घासीराम और भवानीदीन-जैसे पखावजी थे।

दिल्ली-दरबार की इस स्थिति ने अलीमुहम्मद खाँ को प्रभावित किया और उनमें वे सभी गुण उत्पन्न हो गए, जो उस युग के अनुसार एक नवाब में होने चाहिए।

अलीमुहम्मद खाँ सम्राट् की ओर से जब सरहिंद की ओर युद्ध करने गए तब अपने पुत्र मुहम्मद अब्दुल्लाह खाँ और फैजुल्लाह खाँ को साथ ले गए। उनके तीसरे पुत्र अपने और तीन भाइयों के साथ आँवला नामक स्थान में रहे। अली-मुहम्मद खाँ ने अपने उस प्रयाण में विजय प्राप्त की।

१७५० ई० में अलीमुहम्मद खाँ का स्वर्गवास हो गया।

अहमद शाह अब्दाली को जब मुगल-सेना ने भगाया, तब उसने सरहिंद पर छापा मारा और वह अलीमुहम्मद खाँ बालक पुत्रों (मुहम्मद अब्दुल्ला खाँ और मुहम्मद फैजुल्लाह) को अपने साथ बलात् ले गया।

अलीमुहम्मद खाँ के तीसरे पुत्र सादुल्ला खाँ नवाब शुजाउद्दौला के पगड़ी-बदल भाई थे। फीरोज खाँ 'अदारंग', मेहँदीसेन और करीमसेन-जैसे कलाकार इनके आश्रित थे।

अहमद शाह अब्दाली के पास से जब मुहम्मद अब्दुल्लाह खाँ और फैजुल्लाह खाँ लौटे, तब पैतृक राज्य का बँटवारा हो गया। सादुल्ला खाँ की मृत्यु १७६१ ई० में हुई।

सर्वप्रथम रामपुर-नरेश

फैजुल्लाह खाँ के हिस्से में रामपुर का क्षेत्र आया था। उनका अधिकांश समय युद्धों में बीता। १७ जुलाई, १७९४ को उनका स्वर्गवास हुआ।

फैजुल्लाह खाँ के ज्येष्ठ पुत्र चौबीस दिन राज्य करके मारे गए और कनिष्ठ पुत्र गुलाम मुहम्मद खाँ गद्दी पर बैठा। आसफुद्दौला और अँग्रेजों की सम्मिलित सेना के साथ दुजोड़ा नामक स्थान पर नवाब गुलाम मुहम्मद खाँ का लोमहर्षक युद्ध हुआ था।

१८२२ ई० में गुलाम मुहम्मद खाँ का स्वर्गवास हुआ, उस समय दिल्ली पर अकबर द्वितीय का शासन था।

नवाब गुलाम मुहम्मद खाँ के भतीजे नवाब अहमद अली खाँ को शिकार और संगीत से प्रेम था। उनकी संगीत-रुचि की चर्चा मुहम्मद करम इमाम ने की है। उनका स्वर्गवास १८४० ई० में हुआ।

अँग्रेजों की सहायता से गुलाम मुहम्मद खाँ के पुत्र नवाब मुहम्मद सईद खाँ गद्दी पर बैठे। वह कुशल प्रबन्धक थे। उन्होंने दीवानी और फौजदारी महकमों की स्थापना की। १ अप्रैल, १८५४ ई० को उनका स्वर्गवास हुआ और उनके पुत्र नवाब यूसुफ अली खाँ सिंहासनासीन हुए।

मुगल-साम्राज्य के पतन के कारण १८-वीं शती के उत्तरार्द्ध और उन्नीसवीं शती के पूर्वार्द्ध में अवध के नवाबों ने गुणियों को शरण दी थी। अवध की नवाबी के पतन के पश्चात् पंडितों, गुणियों, विद्वानों और कलाकारों की दृष्टि रामपुर-दरबार पर पड़ी।

रामपुर के नवाब यूसुफ अली खाँ कुशल योद्धा, योग्य प्रबंधक, गुणग्राहक, संगीत-प्रेमी और विद्या-व्यसनी नरेश थे। उर्दू के महाकवि 'मोमिन' के शिष्य थे, उनके स्वर्गवास के पश्चात् 'गालिब' को अपनी रचनाएँ दिखाते थे। उनका उपनाम 'ताजिम' था। जब लखनऊ के रंग में लिखा, तब 'असीर' को अपनी रचनाएँ दिखाने लगे। उन्होंने महाकवि 'ग्वाल' को निमंत्रित करके सात महीने तक उनका आतिथ्य किया।

वाजिद अलीशाह के दरबारी कलाकार बहादुर हुसेन खाँ, तथा उमराव खाँ बीनकार के पुत्र अमीर खाँ और रहीम खाँ ने नवाब यूसुफ अली खाँ का आश्रय लिया। २१ अप्रैल, १८६५ ई० को नवाब यूसुफ अली खाँ स्वर्गवास हुआ।

यूसुफ अली खाँ के दो पुत्र कल्बे अली खाँ और हैदर अली खाँ थे। हैदर अली खाँ 'तूती' नामक गायिका के गर्भ से उत्पन्न हुए थे।

१ अप्रैल, १८६४ ई० में कल्बे अली खाँ गद्दी पर बैठे। विद्या और कला की दृष्टि से उनका शासन-काल रामपुर का स्वर्णयुग कहलाता है। उन्होंने जामा मस्जिद, सराय अस्तबल, हाथीखाना, गावखाना, फर्राशखाना, खुसरोबाग की कोठी, दीवानी फौजदारी कचहरी, कोठी बेनजीर इत्यादि का निर्माण कराया। बेनजीर का मेला भी आरंभ किया, जिसमें अद्भुत प्रदर्शनी होती थी।

उनके विद्या-प्रेम से संतुष्ट होकर महाकवि 'ग्वाल' ने उनका आश्रय लिया। महापंडित दत्तराम और विधिचंद्र उनकी सभा के दिग्गज पंडित थे। 'दाग' और 'अमीर' उनके आश्रित थे। उन्हीं के अनुरोध से अमीर मीनाई ने १८७३ ई० में 'इंतखाबे यादगार' की रचना की, यही पुस्तक पूर्वोक्त इतिहास का आधार है।

ग्वालियर, टिहरी, लोहारू, जावरा, इंदौर, पटियाला, भोपाल, बनारस, विजयानगरम इत्यादि रियासतों के साथ नवाब कल्बेअली खाँ के संबंध बड़े अच्छे थे।

बहादुर हुसेन खाँ सुरसिंगार-वादक, अमीर खाँ बीनकार, रहीम खाँ ध्रुवपद-गायक के अतिरिक्त बाकरअली खाँ, काजमअली खाँ, मियाँ शोरी के शिष्य मियाँ सुलेमान, रोशन खाँ डागर, अलीमुहम्मद खाँ, मुहम्मद खाँ, अलहदाद खाँ, कुतुबअली खाँ, फैजुल्लाह और रजबअली खाँ-जैसे विख्यात गुणियों ने कल्बेअली खाँ का आश्रय लिया था। कुदऊसिंह पखावजी भी उनके आश्रय में रहे थे। प्रायः ये सभी गुणी अवध की नवाबी के पतन के कारण आए थे।

संगीत के उद्धारक हैदरअली खाँ

हैदरअली खाँ ने अत्यंत दृढ़ संकल्प के साथ परिश्रम करके उन लोगों के पेट से विद्या निकाली, जिन्होंने अपने वंशजों के अतिरिक्त किसी अन्य को विद्या देना सीखा ही न था।

नवाब हैदरअली खाँ के गुरु बहादुर हुसेन खाँ, सादिकअली खाँ और बासत खाँ थे। नवाब कल्बेअली खाँ के आश्रित अन्य गुणी भी हैदरअली खाँ के दरबार में उपस्थित रहते थे। हैदरअली खाँ को सुरसिंगार और बीन पर अपने गुरुओं-जैसा ही अधिकार था। वह आख्यायिका-लेखक और शायर भी थे, वाणी और लेखनी पर उनका अधिकार था।

हैदरअली खाँ ने संगीत पर एक विराट् ग्रंथ लिखना आरंभ किया था, जो अपूर्ण रहा।

कल्बेअली खाँ का स्वर्गवास १८८७ ई० में हुआ। उनके पश्चात् अहमदअली खाँ ने दो वर्ष राज्य किया। १८८९ ई० में अहमदअली खाँ का स्वर्गवास हो गया।

भातखंडे के गुरु हामिदअली खाँ

नवाब हामिदअली खाँ १८८९ ई० में गद्दी पर बैठे और उनका स्वर्गवास १९३० ई० में हुआ।

प्रसिद्ध बैराम खाँ के पौत्र इनायत खाँ नवाब हामिदअली खाँ के गुरु थे। नवाब हैदरअली खाँ की प्रेरणा पर उन्नीसवीं शती के अंत में उन्होंने बहादुर हुसेन खाँ के दौहित्र और अमीर खाँ के पुत्र वजीर खाँ से गंडा बँधवा लिया। वजीर खाँ को अपने पूर्वजों की शिक्षा नवाब हैदरअली खाँ से ही मिली थी।

हामिदअली खाँ की गति ध्रुवपद, पखावज, तबले और नाच में थी। स्व० मुश्ताक हुसेन खाँ, स्व० अच्छन महाराज, तबला-वादक अजीम खाँ, स्व० भातखंडे इत्यादि गुणी श्रद्धापूर्वक नवाब हामिदअली खाँ के शिष्य हुए।

१९१८ ई० में दिल्ली की अखिल-भारतीय संगीत-परिषद की अध्यक्षता नवाब हामिदअली खाँ ने की। लखनऊ के मैरेस कालेज की स्थापना में उनका योग महत्त्वपूर्ण था।

ईद एवं वर्षगाँठ के उत्सवों में भारतवर्ष के विख्यात गुणी रामपुर आते ही थे, परंतु वीणा-वादक वजीर खाँ, सितार-वादक करीम खाँ और वहीद खाँ, सरोद-वादक फिदाहुसेन खाँ, सारंगी-वादक बुन्दा खाँ, सहसवान के इनायत हुसेन खाँ, हैदर खाँ, लखनऊ-निवासी रजाहुसेन, काले नजीर खाँ, गफूर खाँ, बासत खाँ के पुत्र मुहम्मदअली खाँ, गयाप्रसाद पखावजी, नासिर खाँ पखावजी, अयोध्याप्रसाद पखावजी, तबला-वादक नत्थू खाँ दिल्लीवाले, तबला-वादक अजीम खाँ, तबला-वादक मोदू खाँ दतिया-वाले मुहम्मदहुसेन, जगन्नाथ प्रसाद कत्थक (अच्छन महाराज), बैजनाथ प्रसाद (लुच्चू महाराज), नवाब मिर्जा-जैसे गुणी हामिदअली खाँ के आश्रय में रहे।

हैदरअली खाँ के पुत्र नवाब छम्मन साहब और नवाब जानी साहब को अपने पिता से संगीत की पूर्ण शिक्षा मिली थी। वे लोग भी रामपुर में सम्मानपूर्वक रहते थे।

भैया गनपतराव वर्षों तक नवाब हामिदअली खाँ के अतिथि रहे। ठाकुर नवाब अली खाँ नवाब छम्मन साहब के मित्र और शिष्य थे। उनपर भी नवाब हामिदअली खाँ का अनुग्रह था।

१९३० ई० में नवाब रजाअली खाँ गद्दी पर बैठे।

हामिदअली खाँ के युग के गुणियों में से अनेक गुणी नवाब रजाअली खाँ के आश्रय में भी रहे। स्व० सादिकअली खाँ बीनकार, अहमदजान खाँ थिरकुआ ने भी नवाब रजाअली खाँ का आश्रय लिया। सलामत हुसैन खाँ, नजीर हुसेन खाँ, शब्बन खाँ इत्यादि भी उनके आश्रित रहे।

७-३-१९६६ ई० को नवाब रजाअली खाँ का स्वर्गवास हो गया।

नवाब हैदरअली खाँ के पुत्र नवाब छम्मन साहब की सेवाओं का मूल्यांकन यहाँ उचित होगा।

छम्मन साहब का वास्तविक नाम सआदतअली खाँ था। उनकी जननी 'लाली' और भैया गनपतराव की जननी 'चंद्रभागा' परस्पर सगी बहनें थीं। छम्मन साहब को संगीत की शिक्षा अपने पिता नवाब हैदरअली खाँ से मिली। छम्मन साहब अत्यंत निपुण सुरसिंगार-वादक थे, बहादुर हुसेन खाँ के पश्चात् छम्मन साहब-जैसा सुरसिंगार-वादक कोई न हुआ। बीन और रबाब बजाने की शिक्षा तो उन्हें थी ही, वह गायक भी अच्छे थे और उन्हें सत्रहसौ होरी-ध्रुवपद याद थे।

छम्मन साहब 'फलसफए-मूसिकी' नामक ग्रंथ लिख रहे थे, जिसका केवल स्वराध्याय प्रकाशित हुआ है।

दिल्ली अखिल-भारतीय संगीत-परिषद् में छम्मन साहब ने 'मल्लारों के प्रकारों' पर एक निबंध पढ़ते हुए कहा था—"बीन और रबाब की जो शिक्षा मुझे अपने पूर्वजों से मिली है, मैं किसी भी सत्पात्र को उसका दान करने के लिए प्रस्तुत हूँ।"

स्व० भातखंडे जी को छम्मन साहब की ही कृपा से उत्तर भारत के रागों के तत्त्व का ज्ञान हुआ।

१९२२ ई० में छम्मन साहब का स्वर्गवास हुआ। उस समय उनकी आयु ४४ वर्ष की थी।

छम्मन साहब के छोटे भाई जानी साहब का वास्तविक नाम अशफाकअली खाँ था। उन्होंने दस वर्ष की आयु से सितार सीखना आरंभ किया था। २६ वर्ष की वय होते-होते उन्होंने सितार पर समस्त राग तैयार कर लिए, इसी काल में ध्रुवपद और होरियों की शिक्षा ली। तत्पश्चात् सुरसिंगार, बीन, रबाब पर अभ्यास किया। वह छम्मन साहब और मुहम्मदअली खाँ के शिष्य थे।

अपने दत्तक पुत्र शब्बीरअली खाँ की अकाल मृत्यु से जानी साहब मर्माहत हो गए, उन्होंने उसके शव को मक्का-मदीना ले जाने का विचार किया। उसी स्थिति में उन्होंने अपनी संगीत-संबंधी कुछ टिप्पणियाँ प्रेस में दे दीं, जो 'नगमातुल-हिंद' (प्रथम भाग) के नाम से प्रकाशित हुईं।

मक्का की यात्रा से लौटने पर उन्हें सुनाई देना बंद हो गया। १९४० ई० के आसपास उनका स्वर्गवास हो गया।

वर्तमान युग पर रामपुर-परंपरा का महत्त्वपूर्ण प्रभाव जानने के लिए स्व० भातखंडे और रामपुर के संबंधों पर विचार उचित होगा।

भातखंडे जी का जन्म १० अगस्त, १८६० ई० को हुआ। उस समय रामपुर में नबाब यूसुफअली खाँ का राज्य था तथा हैदरअली खाँ की वय तेरह-चौदह वर्ष थी।

१८५८ ई० में दिल्ली के सादिकअली खाँ भातखंडे जी के जन्म से प्रायः ढाई वर्ष पूर्व, 'सरमायः इशरत' नामक उर्दू ग्रंथ प्रकाशित कर चुके थे, जिसमें हिंदुस्तानी रागों का वर्गीकरण दस ठाठों में किया गया था। भातखंडे जी को यद्यपि उर्दू नहीं आती थी, तथापि उन्होंने अपने मुंशी से यह ग्रंथ पढ़वाकर सुना था (भातखंडे-संगीतशास्त्र, भाग ३, पृ० १३३)।

सन् १८७५ ई० में भातखंडे जी ने अलीहुसेन खाँ बीनकार के भाई मुहम्मदहुसेन खाँ से बीन की शिक्षा प्राप्त की (भा० सं० शा०, भाग ४, पृ० २२४)। मुहम्मदहुसेन खाँ के भाई अलीहुसेन खाँ बीनकार रामपुरवाले सुरसिंगार-वादक बहादुरहुसेन खाँ के शिष्य थे।

इस प्रकार स्व० भातखंडे जी १४-१५ वर्ष की वय में ही रामपुर-परंपरा के गुणियों के शिष्य हो चुके थे और बहादुर हुसेन खाँ की परंपरा का यंश उन तक आ गया था।

भातखंडे-संप्रदाय पर रामपुर-परंपरा का ऋण

रामपुर के नवाब हामिदअली खाँ प्रायः बंबई जाते रहते थे। उनके साथ उनके आश्रित गुणी और पंडित भी महीनों बंबई रहते थे। उन गुणियों के साथ भातखंडे जी का संपर्क निरंतर आता था।

'मियाँ के सारंग' की शिक्षा भातखंडे जी को रामपुर के राजगुरु वजीर खाँ से मिली थी। (भा० सं० शा०, भाग ४, पृ० २६६)। भातखंडे जी के ग्रंथ 'लक्ष्य-संगीत' (रचनाकाल १९१० ई०) में मियाँ का सारंग विद्यमान है।

१९०८ ई० में रामपुर-दरबार के काले नजीर खाँ भातखंडे जी के घनिष्ठ संपर्क में आ चुके थे। रामपुर-परंपरा 'कल्याण' को मूल ठाठ मानती है। भातखडे जी ने रामपुर-परंपरा में दीक्षित होने के कारण 'प्रथम कल्यान ठाठ....' लक्षणगीत की रचना की। राग-वर्गीकरण में कल्याण को मूल ठाठ मानकर भातखंडे जी ने अपने दृष्टिकोण की 'रामपुरयिता' का ही परिचय दिया है।

बहादुरहुसेन खाँ की परंपरा कल्याण, बिलावल, खमाज, काफी, आसावरी, भैरवी, मारवा, पूरवी, भैरव और तोड़ी ठाठ का आधार मानकर ही 'ठाठ-भेद' और 'स्वर-भेद' नामक सिद्धांतों का प्रतिपादन करती है। भातखंडे जी ने स्वयं लिखा है कि उनके गुरु ने कहा था कि गले की तैयारी के लिए हम शिष्य का गला पहले दसों ठाठों में फिरवा देते हैं (भा० सं० शा०, भाग २, पृ० ३४७)। अतः सिद्ध है कि दस ठाठों में प्रचलित रागों को वर्गीकृत करने की शिक्षा भातखंडे जी को रामपुर-परंपरा से ही मिली थी।

१९१० ई० से ठाकुर नवाब अली खाँ के साथ भातखंडे जी का पत्र-व्यवहार प्रारंभ हुआ। १९१३ ई० में ठाकुर साहब के साथ बंबई में भातखंडे जी का प्रत्यक्ष परिचय हुआ। इस समय श्री पं० कृष्णनारायण रातंनजनकर भी थे, उस समय उनकी वय तेरह-चौदह की थी।

१९१० ई० से १९१३ ई० तक ठा० नवाबअली खाँ और भातखंडे जी में लंबा पत्र-व्यवहार हुआ। हिंदुस्तानी संगीत-पद्धति के तीनों भाग इसी अवधि में भातखंडे जी ने प्रकाशित किए। 'नगमाते-आसफी', तुहफतुल् हिंद-जैसे फारसी-ग्रंथों और 'सरमायः इशरत'-जैसे उर्दू-ग्रंथों की सामग्री का उपयोग भातखडे जी ने ठाकुर साहब की सहायता से किया।

ठाठ-भेद को समझनेवाले गुणी पूर्वांगप्रधान एवं उत्तरांग-प्रधान रागों के समय का निर्णय अपन्यास-स्वरों के आधार पर करते थे। यह रहस्य भातखंडे जी को छम्मन साहब और ठाकुर साहब से ही मिला था।

भातखंडे जी का कथन है कि रामपुर के साहबजादा छम्मन साहब को मैं गुरु-स्थान पर मानता हूँ (भा० सं० शा०, भाग ४, पृ० ६०५)।

'भातखंडे-संगीत-पद्धति' चतुर्थ भाग में पीलू, सूहा, सुघराई, नायकी, शाहाना, मियाँ का सारंग, लंकदहन, शुद्ध मलार, सूर मलार, रामदासी मलार, नट मलार, धूलिया मलार, चरजू की मलार, चंचल सस मलार, रूपमंजरी मलार, मीरा की मलार, मेघ मलार, मियाँ की मलार, आसावरी, जौनपुरी, गांधारी, देसी, खट, लक्ष्मी तोड़ी, प्रदीपकी, बड़हंस, सोरठी कानड़ा, खमाजी कानड़ा, उत्तरी देसी, दरबारी, अड़ाना, जीलफ, उत्तरी बसंत इत्यादि रागों के विषय में नवाब हामिद अली खाँ, छम्मन साहब, वजीर खाँ, मुहम्मद अली खाँ इत्यादि के साथ हुए विचार-विनिमय की चर्चा श्री भातखंडे जी ने खुलकर की है।

स्व० भातखंडे जी जब किसी से भी कोई रचना सीखते, तब उसकी स्वरलिपि तत्काल लिख लेते थे। उसी की सहायता से पूरी बंदिश उस्ताद को सुनाते थे, कोई सुधार करना हो, तो करते थे, कई बार गाते थे। उस्ताद के संतुष्ट होने पर ही उस बंदिश को 'फाइल' में रखते थे। वह अपनी डायरी भी लिखते थे। जिन लोगों ने वे डायरियाँ देखी हैं, उनका कथन है कि उन डायरियों के प्रकाशित होने से अनेक बातों पर प्रकाश पड़ सकता है।

क्रमिक-पुस्तक-मालिका के छह भागों में जो बंदिशें संगृहीत हैं, उनके साथ यदि यह भी होता कि भातखंडे जी ने अमुक बंदिश अमुक गुणी से अमुक तिथि को सीखी, तो संगीत-जगत् को यह ज्ञान होता कि कितने गुणियों ने भातखंडे जी को अनुगृहीत किया। उस दशा में यह भी सर्वविदित होता कि भातखंडे-संप्रदाय पर रामपुर-परंपरा का कितना ऋण है।

पुरानी बंदिशों में नए लक्षण-गीत

सौभाग्यवश भातखंडे जी को नवाब हामिदअली खाँ, छम्मन साहब और ठाकुर नवाबअली खाँ के रूप में तीन गुणी, सुशिक्षित और उदार रईस मिले, जो कई भाषाओं से परिचित, अच्छे चिंतक और विषय-विवेचन में पूर्णतया समर्थ थे। इस त्रिमूर्ति का वास्तविक परिचय संगीत-जगत् को पर्याप्त रूप में नहीं है।

भातखंडे जी सूझ-बूझ के आदमी थे। उन्होंने जिन 'लक्षण-गीतों' की सृष्टि की थी, उनका भाषा-पक्ष केवल भातखंडे जी का था, जिसे पुरानी बंदिशों के ढाँचे में कुशलतापूर्वक बिठा दिया गया था। ठाकुर नवाबअली खाँ को यह आशंका थी कि संभव है किसी को उन लक्षण-गीतों में सौंदर्य के दर्शन न हों।

रामपुर-दरबार में पंडित, ज्योतिर्विद, कवि इत्यादि भी सदैव रहे। उन लोगों के सत्संग से रायपुर-नरेश तथा उनके दरबारी कलाकार भी बृजभाषा में रचना करते रहे।

क्रमिक-पुस्तक-मालिका में 'सादत' की मुद्रा से अंकित रचनाएँ छम्मन साहब की ही हैं। नवाब छम्मन साहब की निम्नलिखित कृतियाँ क्रमिक-पुस्तक-मालिका में संगृहीत हैं:—

जौ लौं मारतंड-चंद्र सोहै आसमान माँहि जौ लौं सेस-सीस ध्रुव अचल बनी है।
जौ लौं गंग-जमुन की धार धरामंडल में जौ लौं कयलास में कुबेर सो धनी रहै।
जौ लौं छीरसागर उजागर जहान बीच, जौ लौं विष्नु-चक्र असुरन पर गनी रहै।
'सादत' के प्रभु नवाब रसिक बहादुर जू, तौ लौं जग रावरी सुकीरति बनी रहै॥

यह ध्रुवपद-शैली में विहाग की एक बंदिश है। यद्यपि काव्य की दृष्टि से इसका कोई विशिष्ट महत्त्व नहीं है, तथापि परंपराओं के प्रति रामपुर-दरबार की श्रद्धा इससे व्यक्त होती है।

छम्मन साहब की एक अन्य कृति के बोल हैं :—

कायम रहे राज और उमर दराज रहे लाज-साज हुकम मुबारक होय आलीसान।
ग्राह, बाजि, मृगराज जल, थल नभ बली तैसे ही नव्वाब हामिद अलीखान बलवान॥
मचो सोर चहुँ ओर जमीं और आसमान बड़े ही कदरदान सखी गुनमान अति ही मेहरबान।
कहत 'सादत' आज को आन है जहान जैसे रामपुर के सुजान मान सुलतान॥

बंदिशों को स्वरलिपि-बद्ध करने का कार्य रामपुर में उन्नीसवीं शती के पूर्वार्द्ध से ही आरंभ हो गया था। बहादुरहुसेन खाँ की प्रसिद्ध सरगमों और तरानों पर सार्थक बोल रखने का कार्य बरेली-निवासी तवक्कुल हुसेन खाँ 'सनद पिया' कर चुके थे।

रामपुर-बैंड और अलाउद्दीन खाँ

बीसवीं शती के आरंभ में ही रामपुर बैंड की स्थापना हो चुकी थी। हामिद-अली खाँ और उनके गुरु उस्ताद वजीर खाँ शिया मुसलमान थे। मुहर्रम के अवसर पर ताजिए के साथ बैंड में सोज और मर्सिए बजते थे। बैंड के लोगों का शिक्षण-प्रशिक्षण वजीर खाँ साहब की निगरानी में होता था।

बाबू अलाउद्दीन (उस्ताद अलाउद्दीन खाँ) रामपुर-बैंड में वायलिन बजाने पर नौकर थे और राजद्वारेवाले उस्ताद अहमदअली खाँ से सरोद सीखते थे। उन दिनों श्री अलाउद्दीन 'सादेकारों की मस्जिद' के पासवाले एक मकान में रहते थे। उस्ताद अहमदअली खाँ उन्हें अनुग्रहपूर्वक बंगाल से अपने साथ लाए थे। रामपुर-बैंड में काम करने और अपने विनम्र स्वभाव के कारण श्री अलाउद्दीन ने रामपुर के गुणियों का हृदय जीत लिया था।

संगीत-विद्या का प्रचार करने की प्रेरणा श्री बाबू अलाउद्दीन को रामपुर की उदार परंपरा से मिली और मैहरबैंड की स्थापना का बीज रामपुर-बैंड की नौकरी का अनुभव था।

स्व० भातखंडे और उस्ताद अलाउद्दीन खाँ-जैसे व्यक्तियों के निर्माण का श्रेय रामपुर के उदार रईसों की परंपरा को है, जिसके मूल में हैदरअली खाँ का सत्संकल्प है। इसका संक्षिप्त इतिहास जान लेना अप्रासंगिक न होगा।

हैदरअली खाँ को उस्ताद बहादुरहुसेन खाँ का सुरसिंगार-वादन अत्यंत प्रिय था, वह बहादुरहुसेन खाँ से संगीत-शिक्षा लेना चाहते थे, परंतु बहादुरहुसेन खाँ अपनी आनुवंशिक विद्या किसी भी शर्त पर देने के लिए प्रस्तुत न थे।

एक लाख रुपए में ३६० कायदे

हैदरअली खाँ के भाई नवाब कल्बेअली खाँ उस समय रामपुर-नरेश थे। उन्होंने जब हैदरअली खाँ को शिक्षा देने के लिए बहादुरहुसेन खाँ से अनुरोध किया, तब उन्होंने अत्यंत कड़ी शर्तें इस दृष्टि से रखीं कि न उन शर्तों का पालन हैदरअली खाँ से होगा न सीखने-सिखाने की स्थिति आएगी, परंतु हठी हैदरअली खाँ ने बहादुरहुसेन खाँ की वे सभी शर्तें मान लीं। एक ओर तो गुरु-दक्षिणा में बहादुरहुसेन खाँ को लाखों रुपए दिए गए और दूसरी ओर हैदरअली खाँ ने शाहजादों के ठाट-बाट छोड़कर आदर्श और विनम्र शिष्य के रूप में युगों तक बहादुरहुसेन खाँ की सेवा-सुश्रूषा की। हैदरअली खाँ की तपस्या, लगन, श्रद्धा और प्रतिभा से प्रसन्न होकर बहादुरहुसेन खाँ ने मुक्त हस्त होकर उन्हें विद्या दी और अपना प्रतिरूप बना दिया।

बहादुरहुसेन खाँ की मृत्यु के समय उनके दौहित्र वज़ीर खाँ अबोध थे। वज़ीर खाँ का शिक्षण-प्रशिक्षण नवाब हैदरअली खाँ ने ही किया और गुरु के ऋण से मुक्ति पाई।

बीन की मिज़राबों के तीन सौ साठ क़ायदे बहादुरहुसेन खाँ ने एक लाख रुपए लेकर हैदरअली खाँ को बताए थे।

खास तालीम और आम तालीम

'सेनिया' कहलानेवाली परंपरा के गुणी उन सांप्रदायिक रहस्यों को 'खासुलखास' (अतिविशिष्ट) तालीम कहते थे, जो केवल संतानों को बताए जाते थे। वे बातें 'खास' तालीम कहलाती थीं, जो केवल रिश्तेदारों को बताई जाती थीं। वह तालीम 'आम' तालीम कहलाती थी, जो शिष्यों के लिए थी।

हैदरअली खाँ ने इस परंपरा की 'खासुलखास' तालीम को बहादुरहुसेन खाँ के पेट से निकाला और लिपिबद्ध किया।

श्रद्धापूर्वक सेवा और परिश्रम करनेवाले प्रतिभाशाली शिष्यों का होना संभव है, परंतु यह कठिन है कि वे हैदरअली खाँ के समान पैसा भी खर्च कर सकें। हैदरअली खाँ इस स्थिति को समझते थे, इसी लिए वह विद्यादान में उदारता के पक्षपाती थे।

'सदारंग' ने अपने युग की वेश्याओं तक को राग-निर्माण के सिद्धांत समझाए थे। 'सदारंग' की शिष्या पन्नाबाई नवीन रागों के निर्माण में कुशल थी।

'सदारंग' के रामपुरीय वंशज इन सिद्धांतों से परिचित थे। राग-निर्माण के इन नियमों की आंशिक शिक्षा उस्ताद अलाउद्दीन खाँ को मिली। परिणामतः उनकी परंपरा ने रागों के कुछ नए संकर संगीत-जगत् को दिए।

उस्ताद वजीर खाँ के पौत्र उस्ताद दबीर खाँ बहुत दिनों से कलकत्ता में बस गए। उन्हें एकेडमी-पुरस्कार से सम्मानित किया गया। उनके पास उनकी परंपरा के आनुवंशिक रहस्य लिपिबद्ध रूप में थे।

छम्मन साहब के छोटे भाई जानी साहब ने भी राग-निर्माण के नियम लिपि-बद्ध किए हैं।

'बीन' की शिक्षा रामपुर के बाहर न गई, बीसवीं शती में कोई उसे धारण करनेवाला छम्मन साहब को न मिला।

एमनी विहाग, एमनी वसंत—जैसे रागों के नाम तक लोग भूल गए हैं। रामा तोड़ी का केवल नाम ही रामपुर से बाहर अवशिष्ट रह गया है। कहा जाता है कि 'एमनी वसंत' के स्रष्टा अमीर खुसरो हैं। रामा तोड़ी सुलतानहुसेन शाह शर्की की सृष्टि है।

बंगाल में रामपुर-परंपरा अत्यंत सम्मानित रही है। कलकत्ता की कई निजी गोष्ठियों में 'एमनी वसंत' और 'रामा तोड़ी', रामपुर-परंपरा की गायिका श्रीमती सुलोचना यजुर्वेदी ने विस्तारपूर्वक प्रस्तुत किए। कलकत्ता के कई ख्यातनामा कलाकारों ने इन रागों के तत्व को पूछ-पूछकर समझा। इसी गायिका ने कलकत्ते की प्रसिद्ध सदारंग-कान्फ्रेन्स में 'एमनी विहाग' प्रस्तुत करके श्रोताओं को मंत्रमुग्ध कर दिया। पूरबी, पूरिया धनाश्री, वसंत और गुप्त पीलू के संकर से उत्पन्न 'अनंगरंजनी' प्रायः सवा घंटे तक गुणियों की सेवा में प्रस्तुत करके इस गायिका ने उस्ताद दबीर खाँ से उपहारस्वरूप एक तानपूरी प्राप्त की।

राग-तत्त्व के मर्मज्ञ एवं अधिकारी व्यक्तियों के द्वारा नवीन रागों के निर्माण को रामपुर-परंपरा ने सदैव सम्मान दिया है। बंगाल में इस प्रवृत्ति का सम्मान विशुद्ध रामपुरीय प्रभाव है।

एक विहंगावलोकन

भारतीय मनीषियों का लक्ष्य मोक्ष

भारतीय मनीषियों की दृष्टि में प्रत्येक विद्या का लक्ष्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति है। यहाँ तक कि वात्स्यायन ने कामशास्त्र को भी इस पवित्र लक्ष्य की पूर्ति का साधन माना है। हम एक विशेष लक्ष्य की पूर्ति के लिए जीवित रहते और निरंतर प्रयत्न करते थे, फलतः हमारी समस्त विद्याएँ चतुर्वर्ग की प्राप्ति का साधन-मात्र थीं और उन्हें सर्वथा पृथक्-पृथक् करके नहीं देखा जाता था।

संगीत हमारे देश में यज्ञों का एक अनिवार्य अंग था। यज्ञों के द्वारा जिन आधिदैविक विभूतियों को प्रसन्न करने का अनुष्ठान किया जाता था, उनकी संगीत-प्रियता हमारी दृष्टि में एक सर्वसम्मत सत्य थी। हमारे ब्रह्मा गाते हैं, विष्णु मृदंग बजाते हैं, शंकर डमरू-वादक तथा नर्तक हैं, सरस्वती वीणावादिनी हैं और पार्वती नृत्य-विशारदा हैं।

नाद के दो रूपों साहित्य और संगीत को हम मनुष्यता का लक्षण मानते आए हैं। इनसे अपरिचित व्यक्ति को हमारी परंपराओं में पशु संज्ञा दी गई है। इनमें से एक से अपरिचित व्यक्ति को हमारे सूक्तिकारों द्वारा एकाक्ष और दोनों के ज्ञान से शून्य व्यक्ति को अंधा तक कहा गया है।

संगीत का उद्गम-स्थान वेद है। जो संगीत वेदों में मार्गण अथवा अन्वेषण का परिणाम है, उसे मार्ग कहा गया है। यह मार्ग-संगीत अपरिवर्तनीय है, शाश्वत नियमों से बद्ध है, इसका प्रयोग सर्वत्र और सर्वदा एक जैसा है, इसमें परिवर्तन का अधिकार लोकरुचि को नहीं है, क्योंकि इसका लक्ष्य केवल मनोरंजन न होकर मोक्षप्राप्ति है।

चिंतन का परिणाम

लोकरुचि के अनुसार परिवर्तित होनेवाला संगीत देशी है। शास्त्र पूर्णतया इस संगीत का नियामक नहीं है। शास्त्रकारों ने कला और उससे उत्पन्न होनेवाले आनंद में कार्यकारण-संबंध ढूँढ़ने की चेष्टा की है—उन्होंने आनंदजनक नियमों का निर्माण नहीं, अन्वेषण किया है। नादसौंदर्यजनित आनंद अनंत है। नादसौंदर्य की अभिव्यक्ति के साधन भी अनंत हैं। फलतः शास्त्रकारों ने निरंतर चिंतन और अनुसंधान के परिणामस्वरूप जिन नियमों का निर्देश किया है, वे हमारे लिए सीमारेखा या बंधन नहीं, अपितु सौंदर्य की नवीन अभिव्यक्तियों और उससे उत्पन्न आनंद में कार्यकारण-संबंध खोजने के लिए प्रेरक-मात्र हैं। हमारे लिए ज्ञान-दीपक हैं। नवीन चिंतन के स्नेह से इनके प्रकाश में वृद्धि करना हमारा कर्तव्य है और ऋषि-ऋण से मुक्त होने का उपाय है।

जहाँ तक इस ज्ञान में वृद्धि करना हमारा पवित्र कर्तव्य है, वहाँ पूर्वजों के ज्ञान-भांडार से परिचित होना भी हमारे लिए अनिवार्य है। अन्यथा जिन बातों का अनु-संधान हो चुका है, जो सर्वसम्मत सत्य का रूप धारण कर चुकी हैं, उनसे अपरिचय

हमारी प्रगति में पूर्णतया बाधक होगा। किसी वस्तु में वृद्धि हम उसी अवस्था में कर सकते हैं, जब उसका पूर्वार्जित भाग हमारे पास सुरक्षित हो। पूर्वजों के संचित धन को असावधानता से गँवाते रहना और फिर कौड़ियाँ जमा करना न तो बुद्धिमत्ता है और न प्रगति। इसी दृष्टि से मार्ग और प्राचीन देशी संगीत के रूप और प्रकारों को जानने का प्रयत्न करना हमारा पुनीत कर्तव्य है। संगीत-जीवी वर्ग अथवा जनसाधारण लक्ष्य-संगीत के द्वारा केवल अर्थोपार्जन अथवा मनोरंजन भले ही कर ले, परंतु संगीत के इतिहास का जिज्ञासु विद्यार्थी केवल इतने से ही संतुष्ट नहीं हो सकता।

विदेशी शासकों के दरबार में कला का रूप

एक सहस्र वर्ष पूर्व विदेशी शासक जाति अपने साथ कलाओं का जो रूप लाई, उसे भारत में राज्याश्रय मिला और उनके विशेषज्ञ सम्मानित हुए; फलतः कलाओं के भारतीय रूप में विकृति आई और उनमें अवांछनीय संकर हुआ। लोकरुचि के अनुसार कलाओं में स्वाभाविक विकास उसकी प्रगति कहलाता है, परंतु पिछले एक सहस्र वर्षों में भारतीय कलाओं, विशेषतया संगीत के साथ जो कुछ हुआ, उसका कारण लोकरुचि नहीं, अपितु आक्रांता जाति का आग्रह-मात्र था।

अनुसंधान की आवश्यकता

ऐसी स्थिति में अनुसंधान की आवश्यकता और भी बढ़ जाती है। शास्त्र में वर्णित मार्ग तथा देशी संगीत जब तक हमारे सम्मुख न आए, तब तक लक्ष्य संगीत से उसकी तुलना असंभव है। यदि तुलना की बात जाने भी दी जाए तो भी प्राचीन संगीत से परिचय प्राप्त करने का विचार क्या शोभनीय नहीं है?

लक्ष्य-संगीत का ग्रथन करना एक बात है और प्राचीन संगीत का अन्वेषण करना दूसरी बात। दोनों का अपना-अपना महत्त्व है। जिस व्यक्ति का प्रधान लक्ष्य प्राचीन संगीत का अनुसंधान-मात्र हो, उससे इस दिशा में जितने प्रयत्न की आशा की जा सकती है, उतनी लक्ष्य-संगीत के उस उपासक से नहीं, जो चलते-चलते प्राचीन संगीत की चर्चा कर देना चाहता है।

भारतीय संगीत के लौकिक लक्ष्य और उसकी प्राप्ति के साधन

अभी भारतीय संगीत के लौकिक लक्ष्य एवं उसके साधनों पर विचार करना उचित है। हम क्रमशः विभिन्न वाद्यों के प्रयोजन तथा कुछ अन्य वस्तुओं पर विचार करेंगे, जिससे भारतीय संगीत के विभिन्न मानदंडों का निश्चय किया जा सके। भारतीय वाद्यों के चार प्रकार हैं।

वाद्य को रंजक, विभिन्न, मधुर, शुद्ध, सूक्ष्म, घन, व्यक्तध्वनि, रागयुक्त तथा गंभीर होना चाहिए। गीत के अक्षरों, ग्रह, मोक्ष इत्यादि अंगों, पाणियों, ताल, यति, लय, न्यास और अपन्यास के समय साथ रहना वाद्य का कर्तव्य है।

तत एवं सुषिर-वाद्यों में गीत उत्पन्न होता है, अवनद्ध वाद्य उसका उपरंजन करते हैं और घन-वाद्यों का कार्य गीत को लय के अनुसार नियंत्रित रखना या नापना है। इस प्रकार चारों तरह के वाद्य गीत के उपकारक हैं।

वीणा-वादक को संगीत-मर्मज्ञ होने के अतिरिक्त निर्भय, अविकलबुद्धि, सुरीला, सावधान, जितेन्द्रिय, अभ्यासी और गीत-वादन में कुशल होना चाहिए। राग के अनुसार गायक की इच्छा को पहचानकर उसके द्वारा गाए जानेवाली स्वरमालिका को पहले से ही प्रदर्शित कर देना, गायकों के दोषों को छिपाना, सुरीलापन, रागों के शुद्ध स्वरूप का वेगपूर्वक प्रयोग इत्यादि गुण वांशिक में अनिवार्य रूप से होने चाहिए। वांशिकों के वृंद में एक मुख्य वांशिक तथा चार इसके अनुयायी होते हैं। वादन के द्वारा गीतों के सम-विषम कठिन-कोमल वर्णों, मंद्र-मध्य-तार नादों के प्रौढ़ अथवा मधुर रूपों का सम्यक् अनुकरण इत्यादि गुण मार्दलिक में होने चाहिए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वाद्यों का प्रयोजन गीत का अनुकरण और वादक का प्रधान कर्तव्य गायक के दोष को छिपाना और पूर्णतया साथ देकर गीत के प्रभाव में वृद्धि करना है।

गीत और नृत्य का अनुकरण करने के अतिरिक्त वाद्य का स्वतंत्र प्रयोग भी हो सकता है। गीत और नृत्य से पृथक् वाद्यों का स्वतंत्र-वादन शुष्क वादन कहलाता है, जिसे गोष्ठी भी कहा जाता है।

शार्ङ्गदेव ने वाद्यों से निर्माण तथा वादन पर विस्तारपूर्वक विचार किया है।

रस-परिपाक

प्राचीन संगीताचार्यों से लेकर शार्ङ्गदेव तक हम देखते हैं कि संगीत का प्रयोजन रस-परिपाक रहा है। बड़ी खोज के पश्चात् हमारे पूर्वज यह निश्चित कर पाए थे कि किस रस के अभिव्यंजक के लिए किस स्वर का प्रयोग आधार स्वर के रूप में करना चाहिए। भरत से लेकर शार्ङ्गदेव तक सभी आचार्यों ने अपनी जातियों और रागों में उससे संबद्ध रस की चर्चा की है और अंशस्वर को प्रधानतया रस का अभिव्यंजक बताया है।

संगीत एक सामूहिक प्रयत्न

संगीत का लक्ष्य रस-परिपाक होने के कारण ही गीत-वाद्य के पारस्परिक एवं सामंजस्यबद्ध एवं आनुकूल्य पर बल दिया गया है, इसी लिए वादकों का कार्य गायक के दोषों का आच्छादन और गुणों का संवर्द्धन है। गायक और वादक मिलकर एक रसमय वातावरण की सृष्टि करते हैं, उनमें व्यष्टि की नहीं समष्टि की प्रधानता है। सबकी सफलता में प्रत्येक की सफलता है, किसी एक की सफलता न तो उसमें लक्ष्य है न महत्त्वपूर्ण है। सबका सामूहिक प्रयत्न है, जिसकी सफलता का श्रेय सबको समान है।

जिसमें चार मुख्य गायक, आठ सम गायक, बारह गायिकाएँ, चार वांशिक तथा चार मार्दंगिक हों, वह शार्ङ्गदेव की दृष्टि में उत्तम वृंद है।

मुख्य गायकों की अनुवृत्ति, मिलकर गाना, ताल और लय का अनुवर्तन, खंडित होते हुए अंश को जोड़ देना, मंद्र, मध्य और तार-स्थानों की व्याप्ति में सामर्थ्य और शब्द का सादृश्य वृंद के गुण हैं।

भरतमुनि ने कुतप नामक तत वृंद, अवनद्ध वृंद तथा नाट्य वृंद का वर्णन किया है। उनके ततवृंद में गायक विभिन्न ततवाद्यों, सुषिर वाद्यों एवं घन वाद्यों के वादक हैं। सामूहिक रस-परिपाक में प्रत्येक का अपना-अपना अलग महत्त्व है। कुछ वाद्य प्रधान हैं और कुछ वाद्य प्रधान वाद्यों के उपरंजक हैं।

रस-परिपाक में गायकों तथा वादकों के आनुकूल्य के साथ गीत को भी रस और लय के अनुकूल होना चाहिए। जिस प्रकार श्रुतियों के द्वारा स्वरग्राम की उत्पत्ति हुई है, उसी प्रकार काव्यबंध भी वृत्तियों के परिणाम होते हैं। शृंगार में कैशिकी, वीर तथा रौद्र रस में आरभटी वृत्ति का आश्रय लेना चाहिए। भारती वृत्ति सर्वत्र होती है।

उत्तम वाग्गेयकार द्वारा रचित पद रसयुक्त होने के साथ-ही-साथ नियत अक्षरों से बद्ध, छंद और यति से युक्त तथा ऐसा होना चाहिए, जिसके अक्षरों पर ताल पड़ता हो। इसकी विपरीत दशा में शब्दों के उच्चारण और उनके पारस्परिक संबंध में वैकल्य होने से अर्थ-बोध में बाधा पड़ेगी और रस-भंग होगा। ताल और छंद का समन्वय प्रत्येक दशा में वांछनीय है।

रस-परिपाक में राग और वाणी के अतिरिक्त लय भी एक प्रमुख तत्त्व है। प्रत्येक रस में प्रत्येक लय का प्रयोग नहीं किया जा सकता। शोक की अवस्था में मनुष्य के चलने-फिरने, कार्य करने तथा बोलने की गति मंद हो जाती है, अतः करुण रस के परिपाक के लिए अनुकूल लय विलंबित है। हास और रति में मंदता एवं उद्वेग का अभाव होता है, फलतः हास्य और शृंगार के लिए मध्यलय उपयुक्त है। उत्साह, क्रोध, विस्मय तथा जुगुप्सा के अवसरों पर मनुष्य के कार्यों की गति तीव्र हो जाती है, इसलिए द्रुतलय को वीर, रौद्र, अद्भुत तथा बीभत्स रसों के लिए उपयुक्त माना गया है।

इस प्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि प्राचीन आचार्यों ने अनुभव और बुद्धि के आधार पर संगीत का लक्ष्य रस-परिपाक माना था। गीत की रसमयता, छंद और ताल का सामंजस्य, गायकों और वादकों का परस्पर आनुकूल्य, राग और लय की रसानुवर्तिता इत्यादि विशेषताएँ मिलकर रस-परिपाक में कारण मानी गई थीं। उत्तम संगीत की सृष्टि के लिए वाग्गेयकार की साहित्यसंगीतमर्मज्ञता और आदर्श संगीत के प्रयोग के लिए गायक-वादक और नर्तक का सहृदय, विद्वान्, जितेन्द्रिय और सुलक्षणयुक्त होना आवश्यक समझा गया था।

साहित्य का लक्ष्य भी रस-परिपाक होने के कारण साहित्य और संगीत परस्पर पूरक थे। दोनों का योग स्वर्ण में गंध की सृष्टि करता था। फलतः हमारे संगीत-शास्त्री

उच्च कोटि के साहित्य-मर्मज्ञ एवं विचारक हुए हैं। भरत, दत्तिल और नंदिकेश्वर से लेकर अभिनवगुप्त जैसे व्याख्याकारों तथा चिंतकों तक हम साक्षात् रस-मूर्तियों के रूप में देखते हैं। मतंग, भोज, शारदातनय और शार्ङ्गदेव-जैसे संग्रहग्रंथकर्ताओं में भी हम ऐसी विशेषताएँ पाते हैं।

भारतीय रंगमंच का विनाश, कारण और परिणाम

भारतीय रंगमंच के विनाश ने भारतीय संगीत के तत्त्वों को बिखरा दिया। वे परिस्थितियाँ न रहीं, जो ऐसे मर्मज्ञ विद्वानों को जन्म देती थीं। साहित्य और संगीत का संबंध विच्छिन्न हो गया। वे वाग्गेयकार उत्पन्न होना बंद हो गए, जिनके प्रबंध गायकों को आदर्श गायक बनाते थे। परिणाम अपनी-अपनी ढपली, अपना-अपना राग हो गया। जिसका जिधर मुँह उठा, भाग चला।

उत्तर-भारत में भारतीय रंगमंच का विनाश प्रतिकूल राजनीतिक परिस्थितियों का परिणाम था। अभिनवगुप्त ने भरत के 'नाट्यशास्त्र' की टीका १००० ई० में लिखी थी। इसी के पश्चात् मानो उत्तर-भारत के पश्चिमोत्तर-प्रदेश तथा समीपवर्ती भागों में रंगमंच और संगीत-कला का पटाक्षेप हो गया। इस समय से पश्चात् के हिंदुस्तानी संगीत की नवीन प्रवृत्तियों तथा उनके कारण जानने के लिए हमें कुछ विस्तारपूर्वक विचार करना होगा। ध्यान रहे, जिस समय अभिनवगुप्त काश्मीर में भरत के नाट्यशास्त्र की 'अभिनव भारती' नामक प्रसिद्ध टीका लिख रहे थे, उसी समय अर्थात् ९९७ ई० में वायव्य सीमा की ओर से महमूद गजनवी ने भारत पर प्रथम आक्रमण किया था।

महमूद गजनवी का समसामयिक इतिहासकार अलबरूनी कहता है कि महमूद ने भारत की संपत्ति का पूर्णतया विनाश कर दिया और ऐसे आश्चर्यजनक कृत्य किए कि हिंदू प्रत्येक दिशा में बिखरे हुए धूलिकणों की भाँति हो गए और बड़े-बूढ़ों द्वारा कही जानेवाली दंतकथाओं का विषयमात्र रह गए। अवशिष्ट हिंदुओं ने समस्त मुसलमानों के प्रति अपने हृदय में प्रगाढ़ वैर बद्धमूल कर लिया। इस कारण से भी हिंदू-विद्याएँ मुस्लिम-विजित क्षेत्रों से बहुत दूर काश्मीर, बनारस तथा अन्य ऐसे स्थानों पर चली गईं, जहाँ मुसलमानों का हाथ नहीं पहुँच सकता था।

१०१३ ई० में काश्मीर की ओर भी महमूद का ध्यान गया और १०१५ ई० में उसने काश्मीर का पूर्णतया विनाश किया। पंडित हो चाहे मूर्ख, गुणी हो या गँवार, सबको इस्लाम और मृत्यु में से एक को अपने लिए चुनना था। फलतः हिंदू-विद्याएँ काश्मीर से भी लुप्तप्राय हो गईं। इस समय की राजनीतिक स्थिति को जो व्यक्ति जानना चाहें, उन्हें फिरिश्ता और बदायूँनी के इतिहास पढ़ने चाहिए।

भावी शताब्दियों में मुसलमान दक्षिण की ओर जितने-जितने बढ़ते और महमूद गजनवी के कृत्यों की पुनरावृत्ति करते गए, हिंदू-विद्याएँ यथापूर्व उन-उन स्थानों को छोड़ती गईं। उन क्षेत्रों के हिंदू विद्वान् आश्रय के लिए दक्षिण की ओर आगे बढ़ते रहे।

विजय-गर्व से उन्मत्त आक्रांता लोग शासित जाति की अपेक्षा अपने-आपको प्रत्येक दशा में श्रेष्ठ समझते थे, फलतः हिंदू-विद्याएँ उनकी दृष्टि में नगण्य थीं और

उन्हें जानने की इच्छा सर्वसाधारण मुसलमानों में न थी। अलबरूनी-जैसा अपवाद मुसलमान जो हिंदू-विद्याओं को जानना चाहता था, उसका लक्ष्य भी हिंदू-विद्याओं को जानकर उनकी अपेक्षा अपने ज्ञान को श्रेष्ठ सिद्ध करना था। उसके भारत-विषयक ग्रंथ में उसका सांप्रदायिक दृष्टिकोण तथा उसके द्वारा हिंदुओं को हीन समझा जाना, अगणित स्थानों पर प्रत्यक्ष है। यह बात विशेषतया ध्यान देने योग्य है कि अलबरूनी ने हिंदुओं के तत्कालीन धर्म, दर्शन, साहित्य, इतिहास, भूगोल, खगोल फलित ज्योतिष तथा रीति-नीति का वर्णन ही अपने ज्ञान के अनुसार किया है।

भारतीय संगीत-शास्त्री मुसलमानों को संगीत-जैसी साधनाप्रधान, वेदमूलक पवित्र विद्या सिखाने के लिए प्रस्तुत भी न हो सकते थे और न सर्वसाधारण मुसलमान उसे सीखना ही चाहते थे, क्योंकि यह कला उनके लिए हराम थी।

काश्मीर पर मुस्लिम अधिकार का परिणाम वहाँ से विद्वानों का पलायन था, इसी लिए अभिनवगुप्त-जैसे संगीत-शास्त्रियों की परंपरा समाप्त हो गई। निराश्रित विद्वान् आश्रय की खोज में इधर-उधर दूर-दूर तक बिखर गए। संस्कृत के प्रसिद्ध कवि बिल्हण ने ग्यारहवीं शताब्दी में काश्मीर छोड़कर चालुक्य राजाओं का आश्रय लिया और शार्ङ्गदेव के दादा सोढल बारहवीं शताब्दी में दक्षिण जा बसे। शार्ङ्गदेव ने 'संगीत-रत्नाकर' का प्रणयन तेरहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में किया।

अमीर खुसरो

जिस समय (प्राय: १२३० ई० में) शार्ङ्गदेव 'रत्नाकर' का प्रणयन कर रहे थे, उस समय दिल्ली पर सुल्तान शम्सुद्दीन इल्तुतमिश का शासन था, ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती अजमेरी और उनके मुरीद कुतुबुद्दीन बख्तयार काफी जीवित थे और कव्वा-लियाँ गाई जा रही थीं। उसके चौबीस वर्ष पश्चात् अर्थात् १२५४ ई० में खुसरो का जन्म हुआ। इस समय पंजाब और दिल्ली इत्यादि से भारतीय संगीत-शास्त्रियों की परंपरा के उच्छेदन को हुए प्राय: २५२ वर्ष बीत चुके थे, क्योंकि उच्छेदन का प्रधान कारण अर्थात् महमूद का प्रथम आक्रमण ९९७ ई० में हुआ था। काश्मीर से संगीत-परंपरा का उच्छेदन हुए भी खुसरो के जन्मकाल तक प्राय: २३९ वर्ष बीत चुके थे, क्योंकि काश्मीर १०१५ ई० में महमूद का ग्रास बना था।

खुसरो के यौवनकाल तक अभिनवगुप्त को हुए २५० वर्षों से अधिक बीत चुके थे, अर्थात् मुस्लिम-अधिकृत प्रदेशों के संगीतजीवी वर्ग को तेरह-चौदह पीढ़ियों से अधिकारी वाग्गेयकारों अथवा संगीत-शास्त्रियों का मार्ग-निर्देश नहीं मिला था। सिद्धांत-ज्ञान से शून्य रहकर वहाँ के संगीत-जीवी अपने आनुवंशिक गानों का शुद्धाशुद्ध रूप रट रहे थे; खुसरो ने इन्हीं सिद्धांत-ज्ञान-शून्य संगीत-जीवियों से उस प्रदेश के श्रेष्ठतम देशी संगीत का ज्ञान प्राप्त किया था, और उसी संगीत को उसने भारतीय संगीत समझा। खुसरो ईरानी संगीत का मर्मज्ञ था। तथापि खुसरो की दृष्टि में भारतीय संगीत संसार-भर में सर्वश्रेष्ठ है।

खुसरो ईरानी और भारतीय संगीत-जीवियों में वाद-विवाद कराता था। ग्यारहवीं, बारहवीं और तेरहवीं शताब्दी में पंजाब, उत्तर-प्रदेश, राजपूताना और

दिल्ली के संगीत-शास्त्री, गायक, वादक, नर्तक अथवा वाग्गेयकार के विषय में इतिहास मौन है। तेरहवीं शताब्दी में हम दिल्ली में अमीर ख़ुसरो को पाते हैं, परंतु अपने संपर्क में आए हुए किसी संगीत-शास्त्री का नाम न तो ख़ुसरो ने किसी अपने ग्रंथ में लिया है, न ख़ुसरो के किसी समसामयिक लेखक ने। अकबर का इतिहासकार अबुल्फ़ज़्ल कौल और तराना के आविष्कारक के रूप में ख़ुसरो का स्मरण करता हुआ कहता है कि उसने समित और तातार की सहायता से इन दोनों वस्तुओं का आविष्कार किया। ख़ुसरो के साथ संगीत से संबद्ध इतनी ही चर्चा अबुल्फ़ज़्ल ने की है।

दक्षिण में अलाउद्दीन का आक्रमण १२९४ ई० में हुआ था। उस समय ख़ुसरो अलाउद्दीन के दरबार में था और उसकी आयु चालीस वर्ष की थी। कहा जाता है कि अलाउद्दीन का सेनापति मलिक काफ़ूर देवगिरि के राजा को पराजित करके वहाँ से अनेक युद्ध-बंदियों को लाया था, परंतु उन बंदियों में किसी संगीतशास्त्री की चर्चा इतिहास नहीं करता।

गोपाल नायक और ख़ुसरो

अलाउद्दीन की मृत्यु से ३४६ वर्ष पश्चात् औरंगजेबकालीन फ़क़ीरुल्लाह ख़ुसरो और गोपाल नायक के पारस्परिक साक्षात् की चर्चा एक जनश्रुति के रूप में करता है और कहता है कि ख़ुसरो ने छिपकर अलाउद्दीन के दरबार में निमंत्रित गोपाल नायक का संगीत सुना, फिर उन्हीं रागों की नकल करके गोपाल नायक को चकित कर दिया और कहा कि मैं पहले ही इन रागों का आविष्कार स्वयं कर चुका हूँ।

यदि इस जनश्रुति को थोड़ी देर के लिए सत्य भी मान लिया जाए, तो दो निष्कर्ष निकलते हैं। प्रथम तो यह कि गोपाल नायक ने जो कुछ अलाउद्दीन के दरबार में गाया, उसका प्रचार उस ओर न था और न उसकी शिक्षा ख़ुसरो को थी, क्योंकि ख़ुसरो स्वयं को गोपाल नायक के द्वारा गाए हुए रागों का स्वतंत्र आविष्कार कहता है। आविष्कार का अर्थ ही अपूर्व वस्तु का प्रवर्तन है। दूसरी बात यह कि ख़ुसरो में गोपाल नायक से कुछ सीखने की भावना न थी, अपितु अपने-आपको गोपाल नायक से श्रेष्ठ सिद्ध करने की उत्कट इच्छा थी।

गोपाल नायक की योग्यता पर भी थोड़ा विचार किया जाए। 'संगीत-रत्नाकर' के टीकाकार कल्लिनाथ ने गोपाल नायक के द्वारा विरचित एक द्विधातु-प्रबंध की चर्चा की है, जो राग-कदंब नामक प्रबंध का उदाहरण है और जिसमें पद, ताल का उल्लेख उद्ग्राह और ध्रुव दो अंगों में किया गया था। कल्लिनाथ के अनुसार यह प्रबंध मालवश्री राग और प्रथम सिंहनंदन ताल में निबद्ध था। तालाध्याय में कल्लिनाथ पुनः गोपाल नायक का स्मरण करता हुआ कहता है कि उनके राग-कदंब प्रबंध में लघु का परिमाण चार लघु अक्षरों के उच्चारण-काल के समान है। अतः वहाँ द्रुत का परिमाण दो लघु अक्षरों का उच्चारण-काल है। तात्पर्य यह है कि कल्लिनाथ ने गोपाल नायक का मत अत्यंत आदरपूर्वक प्रमाणरूप में उद्धृत किया है। अलाउद्दीन के प्रताप का वर्णन गोपाल नायक ने अपनी एक रचना में किया है।

प्रत्यक्ष है कि गोपाल नायक कोई निरक्षर गायक-मात्र न थे; संगीत-शास्त्र के मर्मज्ञ पंडित, प्रामाणिक वाग्गेयकार और कला के व्यावहारिक रूप के साक्षात् अवतार थे। जिस कल्लिनाथ ने अपने-आपको 'संगीत-रत्नाकर' का एकमात्र मर्मज्ञ, अभिनव भरत और प्रत्यक्ष भरताचार्य कहा है, वह भी गोपाल नायक के मत को प्रमाणरूप में उद्धृत करता है।

ऐसा एक 'पद' भी मिलता है, जिसमें गोपाल नायक तेरहवीं शताब्दी के अलाउद्दीन खिलजी को संबोधित कर रहे हैं।

अमीर खुसरो के कार्यों का मूल्यांकन

हजरत अमीर खुसरो के आविष्कारों की शास्त्रीय परीक्षा कर लेना भी इस अवसर पर अनुचित न होगा। कोई भी शास्त्रज्ञ व्यक्ति नवीन रागों, तालों अथवा छंदों के निर्माण का विरोधी नहीं हो सकता, क्योंकि इन वस्तुओं को शास्त्रकारों ने भी अनंत कहा है और देशी संगीत में वे भी लोकरुचि को प्रमाण मानते हैं। यदि सचमुच के लक्ष्य रस-परिपाक को सम्मुख रखते हुए कोई भी व्यक्ति नवीन, रंजक उद्‌भावनाएँ करे, तो वह आदर एवं साधुवाद का पात्र है।

खुसरो की ज्ञान-परिधि में ईरानी संगीत के बारह पर्दे अर्थात् स्वर थे। बाईस श्रुतियाँ एवं तदाधारित ग्रामों से उनका परिचय न था। खुसरो के पश्चात्कालीन मुस्लिम ग्रंथकारों ने श्रुतियों और तज्जन्य ग्रामों तथा मूर्च्छनाओं के संबंध में घोर अज्ञान का परिचय दिया है। मुहम्मद करमइमाम, ठाकुर नवाबअलीखाँ, नवाब छम्मन साहब-जैसे संगीतस्तंभ कहे जानेवाले मुस्लिम लेखकों ने भी इस संबंध में दयनीय अज्ञान का परिचय दिया है। अस्तु, जहाँ तक खुसरो के संगीत का संबंध है, उसमें बारह स्वर हैं। मुहम्मद करम इमाम ने, जो वाजिदअली शाह का समकालीन है, इन बारह स्वरों के विचित्र नाम दिए हैं, जिन्हें पढ़कर हँसी आती है। वह कहता है—'सब संगीतज्ञ कुल स्वर सात मानते हैं, परंतु मेरी दृष्टि में यह ठीक नहीं है। इस तीव्र और कोमल का क्या लक्ष्य है। जब ऋषभ, गांधार, मध्यम, धैवत और निषाद दो-दो हैं तब खरज और पंचम एक-एक क्यों रहे? इनका भी दो-दो होना उचित था। यह एक अनर्गल बात जनसाधारण में प्रचलित हो गई है। इन बारह स्वरों का कायदा एक रहस्य के रूप में चला आता है, लिखित रूप में कम आया है। बारह स्वरों के जब तक नाम पृथक् न हों, उनकी संख्या बारह नहीं हो सकती। स्वरों के बारह नामों से संगीतज्ञ अपरिचित हैं। बारह स्वरों के वास्तविक नाम हैं—खरज, जरज, रिखब, चंधार, गंधार, तद्धम, मद्धम, पंचम, हैवत, धैवत, लिखाद, निखाद। ये बारह स्वर ईरानी संगीत के बारह नगमे हैं।

श्रुति, ग्राम, मूर्च्छना, जाति इत्यादि का दर्शन खुसरो की पद्धति में नहीं होता। उसमें केवल बारह स्वर हैं, जो आज भी हिंदुस्तानी कहे जानेवाले संगीत का आधार हैं; कोमल और तीव्र के रूप में इनका नामकरण उत्तरीय भारत के पंडितों ने खुसरो के पश्चात् किया है। इसी लिए इन बारह स्वरों में विकृत स्वरों के वर्तमान नामों की चर्चा खुसरो के पूर्ववर्ती किसी ग्रंथ में नहीं है।

फकीरुल्लाह ने खुसरो को मुजीर, साजगिरि, ऐमन, जीलफ, फरगाना, बारवज, फिरोदस्त, गुनइम, कौल, तराना, निगार, बसीत, शहाना और सुहेला का आविष्कारक कहा है। इनमें कुछ राग हैं, कुछ गीत हैं और कुछ ताल हैं।

खुसरो को पश्चाद्वर्ती मुस्लिम लेखकों ने आवश्यकता से अधिक श्रेय दिया है। मुहम्मदकरम इमाम ने खुसरो के आविष्कारों के परिमाण में पर्याप्त वृद्धि कर दी है। उसने खुसरो के आविष्कृत रागों में कव्वाली, सोहनी, प्रथम रामकली, रात की पूरिया, बरारी टोड़ी, आसावरी टोड़ी, पूरबी तथा प्रदीपकी इत्यादि अनेक राग गिना डाले हैं। मुहम्मदकरम इमाम की पुस्तक 'मअदनुल्-मूसिकी' किंवदंतियों, भ्रांत-धारणाओं तथा सांप्रदायिक संकीर्णता का मिश्रित भांडार है। अनेक दृष्टियों से उसकी सभी बातों को प्रामाणिक मानकर चल सकना कठिन है।

करमइमाम के अनुसार खुसरो ने पश्तो, जावेद, कव्वाली, जत, जलद तिताला, सवारी, सूलफाख्ता, आड़ा चौताला, झूमरा, जनानी सवारी, दास्तान, खमस, फिरोदस्त, कैद, पहलवान, पटताल और चपक नामक सत्रह तालों का आविष्कार किया। पश्तो में नक्श-गुल और रुबाई वगैरह गाए जाते थे; कव्वाली गजल का ठेका है; सूल सूफियों द्वारा उच्चस्वर में जपे जानेवाले कुछ शब्दों की लय का अनुसरण है; जत में गजल, नक्श और गुल गाए जाते थे तथा दास्तान नक्कारे में बजनेवाला ताल था।

करमइमाम का कथन है कि धुरू, दोहा, माठा, छंद, प्रबंध और कवित्त के स्थान पर खयाल, कौल, कलवानः, नक्श, गुल और तराना का आविष्कार किया गया। निगार, बसीत, तिल्लानः और सोहिला भी खुसरो के आविष्कार हैं। तिल्लानः में तिल्ली और ताना जैसे निरर्थक शब्द होते थे, सोहिले में किसी विवाह इत्यादि का वर्णन होता था। खुसरो के खयाल में चार मिसरे होते थे। कौल और कलवानः की भाषा अरबी, नक्श-गुल और तराने की भाषा फारसी तथा खयाल की भाषा हिंदी थी।

सितार और तबले के आविष्कार का श्रेय भी खुसरो को दिया जाता है। एक आधुनिक लेखक मुहम्मद वहीद के अनुसार खुसरो के ग्रंथों में सितार की चर्चा तक नहीं है, जबकि ईरानी संगीत में इस शब्द का प्रयोग खुसरो के बहुत पूर्व से है। अबुल्फ़ज़्ल ने अपने समय के प्रचलित वाद्यों में सितार और तबले का उल्लेख तक नहीं किया है और न कोई सितारिया या तबला-वादक अकबरी दरबार के संगीतज्ञों में है। गायकों के भेदों में अबुल्फ़ज़्ल ने कव्वालों की चर्चा की है। खुसरो पर वर्ग-विशेष की श्रद्धा ने खुसरो के पश्चात्कालीन आविष्कार भी खुसरो के ही खाते में जमा कर दिए हैं। सितार का आविष्कार नेमत खाँ सदारंग के अनुज खुसरो खाँ ने किया है।

वाजिदअली शाह का मत है कि खुसरो ने अपने आविष्कारों से उन नियमों और वाद्यों का विनाश कर दिया जो सहस्रों वर्षों से चले आते थे और उसके शिष्यों ने अपनी धृष्टता में आकर उन कलावंतों से झगड़ा किया, जो महादेव के समय से चली आनेवाली प्राचीन परंपराओं के प्रतिनिधि थे।

खुसरो के समय की राजनीतिक स्थिति

खुसरो के कार्य का महत्त्व आँकने के लिए हमें उस युग की राजनीतिक स्थिति पर विचार करना होगा।

मुस्लिम आक्रमणों के पूर्व से भारत में इस्लाम के प्रचारक फकीर आ चुके थे। खुसरो के समय तक भारत में सूफी खानकाहों की संख्या पर्याप्त हो चुकी थी और वे यहाँ की जनता में अपने सिद्धांतों के प्रचार के लिए यहाँ की भाषा को अपना चुके थे। इन सूफियों का प्रभाव खुसरो के काल में मुसलमान सुल्तानों, दरबारियों, सैनिकों, पहरेदारों तथा अन्य राजपुरुषों पर भलीभाँति था। अलाउद्दीन ने प्रजा को अपने पक्ष में करने के लिए अपने समय के प्रसिद्ध सूफी निजामुद्दीन औलिया को खुसरो के द्वारा अपने पक्ष में किया था। शेख मुहम्मद गौस ग्वालियरी को ग्वालियर पर बाबर का अधिकार कराता पाते हैं और सारंगपुर का विनाश करने के बाद अकबर हमें मलिक-मझन नामक सूफी को वहाँ का खानक़ाहदार नियुक्त करता दिखाई देता है।

अस्तु, खुसरो स्वयं सूफी था और हजरत निजामुद्दीन उसके पीर थे। अला-उद्दीन जैसे शासकों, निजामुद्दीन जैसे सूफियों और खुसरो जैसे मुसलमान पंडितों और कलाकारों का लक्ष्य समान था और वह था इस्लाम धर्म, मुस्लिम विद्याओं, कलाओं, रीति-नीतियों और परंपराओं को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करना। खुसरो के आश्रयदाता अलाउद्दीन ने हिंदू-प्रजा का जैसा दमन किया था और उन्हें जिस स्थिति में ला दिया था, वह इतिहासज्ञों से छिपा नहीं है।

कव्वालों को मुस्लिम-नरेशों और भारत-भर में फैली हुई सूफी खानकाहों और दरगाहों का आश्रय मिला। खुसरो की विद्या ही संगीत-जीवियों के लिए अर्थ-कारी रही और मुस्लिम अधिकृत प्रदेशों के संगीत-जीवियों के लिए कौल, कव्वाली, गजल इत्यादि सीखना और सूफियों का मुरीद होना आवश्यक हो गया। इसी आर्थिक विवशता ने अनेक संगीत-जीवी हिंदुओं को इस्लाम अंगीकृत करने के लिए बाध्य कर दिया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि खुसरो की पद्धति शासक वर्ग की ओर से कलाकारों पर थोपी गई थी, तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध और चौदहवीं शताब्दी में खुसरो की पद्धति को भारत-भर में फैलाया गया।

खुसरो का दूरवर्ती प्रमाण

औरंगजेबकालीन लेखक फकीरुल्लाह ने खुसरो के इल्म को एक सर्वथा पृथक् पद्धति बताया है और उसने अपने समय के जिन ५१ कलाकारों का परिचय दिया है, उनमें केवल २ कलाकारों—दौलत अफजूँ और सैयद खाँ नौहार को खुसरो के इल्म के जाननेवाला कहा है।

सोलहवीं शताब्दी के आरंभ में ही हमें विजयनगर के प्रसिद्ध राजा कृष्ण-देवराय का आश्रित पंडित लक्ष्मीनारायण अपने 'संगीत-सूर्योदय' नामक ग्रंथ में गजल और कौल की परिभाषा करता हुआ मिलता है। लक्ष्मीनारायण कहता है कि जो व्यक्ति खर की भाँति अशन करता है, अर्थात् गधे के समान खाता है, वह

खराशन है। ऐसे व्यक्तियों के देश अर्थात् खराशन-देश (खुरासान) में उत्पन्न गीत 'गजल' कहलाता है।

पंद्रहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में जौनपुर के सुलतान-हुसेनशाह शर्की ने खयाल का आविष्कार करके प्रचार के लिए अपने समस्त साधनों का उपयोग किया और अनेक नवीन रागों की उद्भावनाएँ कीं। इसने 'चौतुकला' नामक एक गीत का आविष्कार किया, जिसका गाना गीत के प्रसिद्ध प्रकारों में सबसे अधिक कठिन कहा जाता था। शर्की की पद्धति को भी फकीरुल्लाह ने एक पृथक् संज्ञा 'शर्की का इल्म' दी है। शाहजहाँ और औरंगजेब के समय तक शर्की की पद्धति मृत हो चुकी थी, जिसे पुनः औरंगजेब-कालीन पीरमुहम्मद ने पुनर्जीवित किया। फकीरुल्लाह द्वारा वर्णित ५१ कलाकारों में शर्की के इल्म से परिचित भी केवल दो हैं। इससे यह प्रमाणित है कि अनेक प्रयत्नों के होने पर भी खुसरो और शर्की की पद्धतियाँ जनता की वस्तु कभी नहीं बनीं।

ग्वालियर-नरेश मानसिंह तोमर का राज्यकाल होता है। १४८६ से १५१६ ई०। इस प्रतापी, वीर और कलाप्रिय नरेश ने अपने ३० वर्ष के राज्यकाल में संगीत को एक नव-जीवन दिया।

जैसा कि कहा जा चुका है, खुसरो की संगीत-पद्धति लादी हुई थी और लोकप्रिय न थी; मुस्लिम शासकों और सूफियों से उसे जीवन मिला था, जन-साधारण से नहीं। कौल, कलवानः कव्वाली, गजल इत्यादि के गेय विषय इस्लाम धर्म अथवा सूफी विचारों से ओत-प्रोत थे। मानसिंह पर इस स्थिति की प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक था। फलतः उसने प्रसिद्ध ध्रुवपद-पद्धति को जन्म दिया।

ब्रजभाषा-ध्रुवपद का जन्म

बख्शू इत्यादि उसके दरबारी गायक उसी वर्ग के व्यक्ति थे, जिसे आर्थिक विवशता के कारण मुस्लिम प्रभाव में आना पड़ा था। यह वर्ग अपनी भारतीय परंपरा की यथासंभव रक्षा करता चला आ रहा था। यह ठीक है कि उस परंपरा में अज्ञान के कारण अनेक विकार आ चुके थे, तथापि रागों की एक छाया उस वर्ग के मस्तिष्क में थी। उन्हीं रागों को मानसिंह ने ध्रुवपद और होरी-जैसे प्रबंध दिए। ध्रुवपदों में देवताओं और महापुरुषों की स्तुतियाँ थीं, नायिकाभेद के आधार पर कुछ शृंगारमय चित्र थे, जिनमें जनता को वास्तविक जीवन की झाँकियाँ भी मिल सकती थीं। ये प्रबंध लोकभाषा में थे और इनमें खयालियों की भाँति अलंकार-प्रधानता न होने के कारण जटिलता का अभाव था। होरियाँ मधुर थीं और इनका विषय कृष्णलीला था। ध्रुवपद और होरी ने कई शताब्दियों की प्यासी जनता को शांति दी और मानसिंह की ये कृतियाँ देखते-देखते फैल गईं। अबुल्फ़ज़्ल ने ध्रुवपद-पद्धति को उस समय की ऐसी गान-पद्धति कहा है, जो जनता के प्रत्येक वर्ग को रुचती थी।

मानकुतूहल

मानसिंह ने दाक्षिणात्य पंडित लोहंग और पांड्व की सहायता से 'मानकुतूहल' ग्रंथ लिखाया। उस समय राग और रस का संबंध विच्छिन्न हो चुका था और बहुत

पूर्व से संगीत-संबंधी निरक्षर वर्ग को रस-सिद्धांत समझाना कठिन था। फलतः रागों के रूप और ध्यान की कल्पना की गई। रागों के चित्र बनाए गए। रागों के गाने से पूर्व उनका ध्यान आवश्यक बताया गया। निरक्षर गायकों के संगीत में भाव की प्रतिष्ठा करने के लिए पंडितों ने यही एक मार्ग समझा और कुछ समय तक इसका परिणाम भी हुआ।

मानसिंह तोमर के समय की राजनीतिक स्थिति

मानसिंह के कार्य का महत्त्व जानने के लिए हम उस समय की भारत की राजनीतिक परिस्थिति पर कुछ विचार करें। बाबू वृंदावनलाल वर्मा ने लिखा है— "पंद्रहवीं शताब्दी के अंत तथा सोलहवीं शताब्दी के प्रारंभ को राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से भारतीय इतिहास का कराल, कठोर और काला युग कहें तो अतिशयोक्ति न होगी। उत्तर में सिकंदर लोदी और उनके सहयोगियों का परस्पर युद्ध तथा दोनों द्वारा घोर जन-पीड़न, राजस्थान में राणा कुंभा का अपने बेटे के ही हाथ से विष द्वारा वध और उसके उपरांत वहाँ की अराजकता, गुजरात में महमूद बघर्रा के अगणित आक्रमण और रक्तपात, मालवा में गयासुद्दीन खिलजी और उसके उत्तराधिकारी नसीरुद्दीन की अत्याचारप्रियता और ऐयाशी, दक्षिण में बहमनी सल्तनत और विजयनगर राज्य के युद्ध, बहमनी सल्तनत का पाँच सल्तनतों में बिखर जाना, जौनपुर, बिहार और बंगाल में पठान सरदारों की निरंतर नोच-खसोट और इन-सबके बीच में ग्वालियर। ग्वालियर में सिकदर लोदी के पिता बहलोल ने आक्रमण किए, फिर सिकंदर ने ग्वालियर का कचूमर निकालने में कसर नहीं लगाई। सिकंदर ग्वालियर पर पाँच बार वेग के साथ आया। पाँचों बार उसे मानसिंह के पास से लौट जाना पड़ा।....अंत में सिकंदर को १५०४ ई० में आगरे का निर्माण इसी मानसिंह तोमर को पराजित करने के लिए करना पड़ा........तो भी सिकंदर सफल न हुआ। (उसने) ग्वालियर पर घेरा डालकर नरवर पर चढ़ाई कर दी। नरवर ग्वालियर राज्य में था।...... नरवरवाले ग्यारह महीने तक लगातार युद्ध में छाती अड़ाए रहे। जब खाने को घास और पेड़ों पर छाल भी अलभ्य हो गई, तब उन लोगों ने आत्म-समर्पण किया। फिर सिकंदर ने मन की जलन को नरवर-स्थित मदिरों और मूर्तियों पर निकाला। वह छह महीने इसी उद्देश्य से नरवर में रहा।

ऐसे युग में इतने संकटों में भी मानसिंह हुआ।"

उत्तर-भारत के इस भाग में मानसिंह तोमर के संगीत-संबंधी कार्य का महत्त्व बहुत अधिक है, तथापि ध्रुवपद-गीति का आधार बाईस श्रुतियाँ नहीं थीं। जाति-राग, ग्रामरागों पर विचार किया जाना उस समय संभव न था; जीवन-भर युद्धों में उलझे रहने के कारण मानसिंह के पास इतना अवकाश न था कि रंगमंच और नाटक के लिए कुछ कर सकता, फलतः प्रबंध-गान और अभिनय-गान के संबंध में वह कुछ न कर सका।

मानसिंह तोमर के प्रयत्नों के परिणाम

बख्शू के ध्रुवपद हमारे समक्ष नहीं हैं, परंतु अबुलफज्ल ने ध्रुवपद का जो लक्षण किया है, उससे यह ज्ञात होता है कि ताल और छंद का सामंजस्य भी ध्रुवपद-पद्धति में

न था। कवित्त और सवैया-जैसे छंद बारह मात्रा के तालों में बँधे हुए मिलते हैं, जिनका चौताले से कोई सामंजस्य नहीं है। अनेक ध्रुवपद न गद्य हैं न पद्य। उनमें अंत्यानुप्रास है, चार चरण हैं, परंतु पद्य के प्रधान लक्षण विराम, गति तथा परिमाण का अभाव है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि भाषा और विचारों की दृष्टि से ध्रुवपदों को जन-साधारण में मान मिला। इस मान का कारण ध्रुवपदों में व्यवहृत भारतीय राग तथा उनमें अलंकार संबंधी जटिलता का अभाव भी है।

मानसिंह तौमर की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र विक्रमाजीत ग्वालियर के राज-सिंहासन पर बैठा। जब उसके हाथ से ग्वालियर का राज्य निकल गया, तब ग्वालियर के बख्शू तथा उसके साथी मन्नू और मंभू गुजरात के सुलतान बहादुरशाह के दरबार में चले गए, जहाँ उन्होंने ध्रुवपद-गीति का प्रचार किया।

कहा जा चुका है कि इस समय भारतीय संगीत की बाईस श्रुतियाँ उत्तर-भारत में केवल चर्चा का विषय थीं, उनके आधार पर राग-व्यवहार न था। मुसलमान लोग बाईस श्रुतियोंवाले सिद्धांत का मजाक भी उड़ाते थे, क्योंकि व्यवहार में बारह स्वर थे, जिनका आधार खुसरो के समय से ईरानी संगीत रहा था, परंतु दक्षिण-भारत में इन बाईस श्रुतियों को प्रत्यक्ष दिखानेवाले हिंदू पंडित विद्यमान थे।

'संगीत-रत्नाकर' का तेलगू टीकाकार विट्ठल लिखता है कि जब मांडौ के सुलतान गयासुद्दीन खिलजी ने भरी सभा में भारतीय श्रुति-सिद्धांत पर आक्षेप किया, तब मेरे पिता ने बाईस श्रुतियों एवं उनके दस प्राणों का प्रदर्शन किया। फलतः उसी सुलतान ने उन्हें पुरस्कार-स्वरूप स्वर्ण-मुद्राएँ दीं। यह गयासुद्दीन मानसिंह तौमर का समकालीन था।

मानसिंह तौमर की मृत्यु से १९ वर्ष पश्चात् १५२५ ई० में हुमायूँ ने मांडौ जीता और बख्शू को अपने गायकों में स्थान दिया।

इस घटना के दस वर्ष पश्चात् दिल्ली के सुलतान होनेवाले इस्लामशाह अदली के दरबार में मियाँ तौसीन, रामदास कलावंत और मालवानरेश बाजबहादुर दिखाई देते हैं। अदली ने भगत नामक किसी कलाकार को दस हजारी मनसबदार बना दिया था। बदायूँनी ने मियाँ तौसीन और बाजबहादुर का संगीतगुरु अदली को बताया है।

अदली की मृत्यु से केवल तीन वर्ष पश्चात् अकबर दिल्ली के राज-सिंहासन पर बैठा। पूर्वोक्त रामदास और बाजबहादुर हमें अकबर के दरबारी गायकों में भी दिखाई देते हैं।

मुगल-दरबारों में ध्रुवपद-गायक

अकबर के प्रमुख दरबारी कलाकारों की जो सूची अबुल्फज्ल ने दी है, उसमें ग्वालियरी कलावंतों को मूर्धन्य स्थान मिला है। इन छत्तीस कलाकारों में पंद्रह कलाकार ग्वालियर के हैं, जिनमें एक स्वरमंडल-वादक, दो वीणावादक तथा ग्यारह ध्रुवपद-गायक हैं। अन्य भारतीय गायकों में एक आगरा-निवासी, एक मालवा-निवासी और कुछ ढारी हैं, कुछ कलाकार, मशहद, हिरात, सब्जवार, किपचाक तथा खुरासान के रहनेवाले हैं।

तानसेन की प्रसिद्धि ने अकबर-युगीन सभी कलाकारों की प्रसिद्धि को ढक लिया है।

तानसेन और अकबर

तानसेन का जन्म १५०० ई० के आस-पास मानसिंह तोमर के राज्यकाल में हुआ था। हमारे मत में वे किसी संगीत-जीवी जाति में उत्पन्न हुए थे। उनके आदिम गुरु मकरंद थे, जिन्हें तानसेन का पिता भी कहा जाता है। संगीत में ये कई व्यक्तियों के शिष्य थे। अकबर से पूर्व इब्राहीम सूर इन्हें इनकी प्रसिद्धि के कारण आगरा लाना चाहता था, परंतु असफल रहा। इनके प्रसिद्ध आश्रयदाता राजा रामचंद्र ने इन्हें एक बार एक करोड़ स्वर्ण-मुद्राएँ पुरस्कार-स्वरूप दीं। अकबर की आज्ञा से विवश होकर ये अकबरी दरबार में आए। उस समय इनकी आयु प्रायः ६२ या पाँच-सात वर्ष अधिक थी।

तानसेन को अकबर से भरपूर पुरस्कार तथा दरबारी कलाकारों में सर्वोच्च पद मिला।

फकीरुल्लाह ने इन्हें अताई और अशास्त्रज्ञ कलाकार लिखा है। फकीरुल्लाह तानसेन के समसामयिक कई कलाकारों से परिचित है, तानसेन के परपोते सुधीनसेन का आश्रयदाता है, संस्कृत-फारसी आदि भाषाओं का पंडित है, 'मान-कुतूहल' का अनुवादक है, शाहजहाँ एवं औरंगजेब के काल में काश्मीर का गवर्नर रहा है, अपने मेय में प्रचलित संगीत-शैलियों का मर्मज्ञ, कलाकारों का आश्रयदाता तथा समालोचक है। अकबरी दरबार के कलाकारों में वह तानसेन को ही नहीं, सुबहान खाँ नौहार, सिरज्ञान खाँ, फतहपुरी चाँद खाँ, सूरज खाँ, तानसेन के शिष्य मियाँ चंद, तानसेन के पुत्र तानतरंग खाँ तथा विलास खाँ, रामदास मूँडिया, दाऊद खाँ ढारी, मुहम्मद खाँ ढारी, मदनराय ढारी, मुल्ला इसहाक ढारी, नवात खाँ और हसन खाँ अफगान को भी अताई कहता है। 'अताई' का अर्थ फकीरुल्लाह उस युग की मान्यताओं के अनुसार 'अशास्त्रज्ञ कलाकार' बताता है।

अस्तु, मियाँ तानसेन ने सहस्रों ध्रुवपदों की सृष्टि की, जिनमें से अनेक में अकबर का नाम डाल दिया।

अकबर की प्रशंसा में तानसेन ने अनेक ध्रुवपदों की रचना की है, जिनमें उसे संगीत-कला का मर्मज्ञ, 'संगीत-रत्नाकर' के भेदों को पढ़नेवाला, गुणियों को विद्यादान देनेवाला, नर-नारायण का रूप कहा है। तानसेन के अनुसार बुजुर्गों और मुर्शिदों को अकबर में अल्लाह के दर्शन होते हैं।

अबुल्फ़ज्ल ने लिखा है कि अपने अनुकूल स्वभाव के कारण तानसेन को लंबे समय तक अकबर के समीप आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। तानसेन के अकबर-संबंधी ध्रुवपद बताते हैं कि उन्होंने अकबर की वैसी ही प्रशंसा की है, जैसी अकबर चाहता था। फलतः तानसेन को अकबर ने अपने कलाकारों में सर्वोच्च पद दिया।

तानसेन की मृत्यु पर अकबर ने तानसेन के द्वारा की गई अपनी समस्त प्रशंसाओं का बदला चुकाते हुए कहा कि पिछले एक सहस्र वर्षों से तानसेन-जैसा गायक नहीं हुआ। तानसेन के विषय में अकबर का यह कृतज्ञता-पूर्ण अथवा भावनामय उद्गार अबुल्फज्ल की लेखनी के द्वारा तानसेन के लिए प्रमाणपत्र बन गया और आज एक ऐतिहासिक सत्य समझा जाता है।

अकबर के द्वारा प्रवर्तित दीन-इलाही का मुख्य प्रेरक तथा प्रधान पुरोहित अबुल्फज्ल जहाँ तानसेन के संबंध में अकबर के तानसेन-विषयक पूर्वोक्त वाक्य को उद्धृत किए बिना नहीं रहता, वहाँ अबुल्फज्ल का बाप शेख मुबारक तानसेन के संगीत की उपमा पशुओं के कोलाहल से देता है और कहता है कि तानसेन को दूसरे कलाकारों से श्रेष्ठ समझे जाने का कोई कारण नहीं।

तानसेन मुसलमान नहीं हुए थे। परंतु अन्य संगीत-जीवियों की भाँति सूफी फकीरों के संपर्क में आए थे। संभवतः हिंदू पत्नी के साथ-ही-साथ उनके कोई मुसलमान उपपत्नी भी थी। तानसेन के पुत्र सुरतसेन हिंदू पत्नी की संतान थे। तानसेन के पुत्र सूरतसेन, पौत्र सौहिलसेन तथा प्रपौत्र सुधीनसेन की चर्चा फकीरुल्लाह ने की है। तानतरंग खाँ और विलास खाँ तानसेन की मुस्लिम उपपत्नी के पुत्र थे। विलास खाँ की लड़की लाल खाँ कलावंत को ब्याही थी।

तानसेन ने अकबर की सम्मिश्रणप्रिय रुचि के अनुसार कुछ संकीर्ण रागों की भी सृष्टि की थी, जिन पर तानसेन के साथी विदेशी कलाकारों का प्रभाव भी संभव है।

निष्कर्ष यह है कि अकबरी दरबार पर मानसिंह तोमर की केवल छाप ही न रही, ध्रुवपद-पद्धति का प्रचार भी हुआ। अबुल्फज्ल के द्वारा ध्रुवपद को जनता के प्रत्येक वर्ग की प्रिय पद्धति कहा जाना तथा अकबरी दरबार के प्रधान कलाकारों की सूची में एक भी कव्वाल का न होना यह प्रमाणित करता है कि खुसरो की पद्धति के लिए उस समय कोई सम्माननीय स्थान न रहा था।

अकबर ने अपने कलाकारों की सहायता से 'राग-सागर' नामक किसी ग्रंथ की भी रचना कराई थी। फकीरुल्लाह इस 'राग-सागर' और मानसिंह तोमर द्वारा लिखाए हुए 'मानकुतूहल' में पर्याप्त अंतर बताता है। फकीरुल्लाह की दृष्टि में इस अंतर का कारण अकबरी दरबार के कलाकारों का अताई होना है। वह स्पष्ट कहता है कि अकबरी युग के कलाकार, मानसिंह के कलाकारों की अपेक्षा निकृष्ट कोटि के थे और उन्हें सैद्धांतिक शिक्षा देनेवाला कोई व्यक्ति उस समय न था।

जहाँगीर और शाहजहाँ के युग में ध्रुवपद

अकबर के पश्चात् से जहाँगीर और शाहजहाँ के युग में भी कलावंतों को सम्मान मिला। शाहजहाँ ने तानसेन के पुत्र विलास खाँ के दामाद लाल खाँ कलावंत और जगन्नाथ कविराय नामक ध्रुवपद-रचनाकार और गायक को चाँदी से तुलवाया था। रंग खाँ कलावंत भी इस समय एक अच्छा दरबारी गायक था।

औरंगजेब और ध्रुवपद

औरंगजेब को प्रारंभिक काल में संगीत से चिढ़ न थी। जिस प्रकार जहाँगीर और शाहजहाँ की प्रशंसा में ध्रुवपदों की रचना हुई, उसी प्रकार औरंगजेब-विषयक ध्रुवपद भी मिलते हैं। राज-सिंहासन पर शोभित औरंगजेब, उसकी वर्षगाँठ, उसके गुणों की प्रशंसा इत्यादि विषयों पर ये ध्रुवपद आधारित हैं। कुल ध्रुवपदों का विषय नायिका-भेद है, जिनमें औरंगजेब नायक है। एक ध्रुवपद की रचना मंगलामुखियों द्वारा हुई है अथवा उनके किसी उस्ताद द्वारा। वसंत के अवसर पर वह गाया गया है। इसमें मंगलामुखियाँ कहती हैं—"शाह औरंगजेब, तुम हमारे साथ असंख्य वर्षों तक धमारी खेलते रहो।"

तानसेन के पुत्र विलास खाँ के दमाद लाल खाँ की चर्चा की जा चुकी है। लाल खाँ के पुत्र खुशहाल खाँ कलावंत पर औरंगजेब की विशेष कृपा थी। लाल खाँ की भाँति खुशहाल खाँ की भी उपाधि 'गुन समंदर खाँ' थी। हयात सरस नैन और सुखीसेन कलावंत पर भी औरंगजेब की कृपा थी। सुखीसेन कलावंत उस युग में रबाब का अद्वितीय वादक था। 'कृपा' नामक एक वादक पर भी औरंगजेब कृपालु था, जिसकी उपाधि 'मृदंगराय' थी।

मुहम्मदशाह रँगीला और संगीत

वैसे तो प्रत्येक मुगल बादशाह ध्रुवपदों में चर्चित और कलावंतों का आश्रय-दाता रहा, परंतु मुहम्मद शाह रँगीले के दरबार में शर्की की खयाल-पद्धति का पुन-रुत्थान हुआ। सदारंग नामक ध्रुवपद-गायक मुहम्मदशाह को अपने ध्रुवपदों और खयालों में अमर कर गए हैं। खयाल का पुनरुत्थान मुहम्मद शाह की व्यक्तिगत रुचि का परिणाम था, लोक-रुचि का नहीं। ताज खाँ कव्वाल के पुत्र गुलाम रसूल कव्वाल के समक्ष खयाल-निर्माण में अपनी क्षमता का प्रदर्शन करने के लिए सदारंग ने खयालों का निर्माण किया और शिष्यों को सिखाया।

यह सब होने पर भी बहादुरशाह के समय तक दिल्ली दरबार में ध्रुवपदों की रचना हो रही थी। बहादुरशाह की प्रशंसा में भी अनेक ध्रुवपद मिलते हैं।

दिल्ली के निस्तेज होने पर अवध के नवाब भी संगीत-जीवियों के आश्रयदाता थे। आसफुद्दौला के दरबार में मुहम्मद पनाह का पुत्र मुहम्मद रजा था, जिसने स्वयं को आसफुद्दौला सैयद ख्वाजा हसन और अपने पिता का शिष्य कहा है। आसफुद्दौला के दरबार में पूर्वोक्त गुलाम रसूल नामक एक प्रसिद्ध कव्वाल था, जिसके पुत्र गुलाम-नबी को टप्पे का आविष्कारक कहा जाता है। 'मियाँ शोरी' गुलाम नबी का ही उपनाम था।

वाजिदअली शाह का युग

वाजिदअली शाह के युग के कलाकारों का वर्णन मुहम्मदकरम इमाम ने अपनी पुस्तक 'मअदन्-उल्-मूसिकी' में विस्तारपूर्वक किया है। मुहम्मदकरम इमाम

की पुरातन किंवदंतियाँ अनेक कारणों से प्रमाण नहीं हैं, परंतु प्रत्यक्षदर्शी होने के कारण अपने युग के विषय में उसका वर्णन मूल्यवान् है।

वह कहता है—"मुहम्मद शाह रंगीले का दरबार राजकीय शिष्टताओं से रहित था, तथापि उसकी दशा इस समय से फिर भी अच्छी थी। इस समय खयाल, ध्रुवपद, होली और सरगम गाना किसी सीमा तक अवशिष्ट रह गया है। वह भी कहीं-कहीं और जैसा कि होना चाहिए, वह मेरी दृष्टि में स्वप्नमात्र है। उस गाने को पसंद करनेवाले कम मिलते हैं, अतएव वह गाना अलभ्य है। इस युग में रईस और अमीर लोग हिंदी ग़ज़ल, ठुमरी और दादरे नकटे को बहुत चाहते हैं।

"ठुमरी बादशाह नासिरुद्दीन हैदर के पोते वजीर मिर्जा साहब कदर की निरर्थक कृति है। खेद की बात है कि अब सुलतानों की मनोवृत्ति ऐसी हो गई।"

मुहम्मदकरम इमाम ने कदर की एक ठुमरी और उसकी अश्लीलतापूर्ण तकरार की चर्चा करते हुए कहा है—"इसी बेहूदगी की मार है दादरे और नकटे पर शैतान की फटकार है।" खेद है—'आदमियाने गुम शुदंद मुल्के खुदा खर गिरफ़्त' अर्थात् मनुष्य तो लुप्त हो गए और ईश्वर की सृष्टि पर गधों का अधिकार हो गया।"

मुहम्मदकरम इमाम के मुख से उस युग के कलाकारों की आलोचना देखिए—"कुछ गानेवाले सुर-व्यौरे के नाम से परिचित नहीं, परंतु व्यर्थ चिल्लाने और गला हिलाने पर मरते हैं। अपनी दुर्बलता अथवा असमर्थता के कारण यदि कोई अपने संकल्प तक न पहुँचा तो स्वर लुप्त हो गया। इस युग के कुछ गानेवाले ऐसी सनक में फँसे हैं कि अकार और गमक का तत्त्वहीन अनुकरण करते हैं, शब्दों की शुद्धता का ध्यान नहीं रखते हैं तथा दम उस्तादी का भरते हैं।

"इस युग के कुछ व्यक्ति सिर को ऐसा हिलाते हैं कि शेख सद्दू और कल्लू अबीर को लज्जित करते हैं। यहाँ तक कि कभी-कभी मूर्छित हो जाते हैं।

"रही लय, तो कर्कशकंठता या और कारण से वह भी लुप्त हुई। सीधी ताल भी हाथ से गई। उस दशा में यदि कुछ लज्जा आई तो संगत करनेवालों पर बिगड़ते हैं। ऐसे व्यक्ति भी देखने में आए, जो गाने के समय लय का ऐसा बर्ताव करते हैं, जिसकी गणना बेतालेपन में है और व्यर्थ ही पखावजी पर दोष रखकर बिगड़ते हैं।"

अब तक के विचारों के निष्कर्ष निम्नलिखित हैं :—

१. महमूद के आक्रमणों के फलस्वरूप उत्तर-भारत में कला के पनपने की स्थिति न रही। संगीत और साहित्य-जैसी अन्योन्याश्रित विद्याओं के मर्मज्ञ मुस्लिम-प्रभावित क्षेत्रों को छोड़कर चले गए। श्रुति-सिद्धांत, जातिगान, ग्रामराग, नृत्य, रंगमंच, प्रबंध तथा तालों का वैज्ञानिक प्रयोग इस भाग से लुप्त हो गए।

२. खुसरो के पास भारतीय संगीत के वैज्ञानिक स्वरूप को समझने के साधन न थे। अपनी पद्धति को उसने उत्तर-भारत के भ्रष्ट भारतीय संगीत का स्थान देने के लिए खड़ा किया। इस पद्धति में श्रुति-सिद्धांत का अभाव था और तत्कालीन ईरानी

संगीत के केवल बारह स्वर थे। ईरानी संगीत के आधार पर खुसरो के द्वारा आविष्कृत गीत तथा ताल थे।

३. अपनी सांस्कृतिक श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए उस समय के शासक वर्ग तथा प्रभावशाली सूफियों ने खुसरो-पद्धति को प्रश्रय दिया। हिंदू संगीत-जीवी भी अपनी आर्थिक विवशता के कारण इस पद्धति को अपनाने के लिए बाध्य हुए, परंतु परंपरागत गान की कुछ रटंत भी उनके पास सुरक्षित रही। शास्त्रीय ज्ञान इस वर्ग से लुप्त हो चुका था।

४. खुसरो के समय से पंद्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक खुसरो-पद्धति को फैलाने का भरपूर प्रयत्न किया गया, परंतु वह लोकप्रिय न हुई।

५. पंद्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और सोलहवीं शताब्दी के आरंभ में ध्रुवपद-पद्धति का जन्म हुआ। अपने विषय तथा सारल्य के कारण यह पद्धति लोकप्रिय हुई। इससे पूर्व रस और भाव के स्थान पर रागों के रूप और ध्यान की उद्भावना हो चुकी थी।

६. अकबर के दरबार में ध्रुवपद का बोल-बाला रहा और खुसरो-पद्धति चर्चा का विषय रह गई। इस समय के दरबारी कलाकार भी प्रायः अशास्त्रज्ञ थे।

७. जहाँगीर, शाहजहाँ तथा औरंगजेब ने भी ध्रुवपद-पद्धति को सम्मान दिया।

८. मुहम्मदशाह रँगीले ने शर्की द्वारा आविष्कृत खयाल का पुनरुत्थान किया।

९. अवध के नवाब आसफुद्दौला के समय टप्पे को संगीत में स्थान मिला, उससे पूर्व यह पंजाब का लोकगीत समझा जाता था।

१०. वाजिदअली शाह के समय ठुमरी, दादरा और ग़ज़ल की क़द्र थी।

वाजिदअली शाह के दरबार की शिष्टता का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसकी रचना 'बन्नी' और 'नाजो' का अध्ययन करना चाहिए। केवल चमत्कार-प्रदर्शन के लिए किन्हीं भी दो या अधिक रागों को मिलाकर नवीन रागों का निर्माण करने की प्रवृत्ति खुसरो, शर्की, मानसिंह, अकबर इत्यादि के युग की भाँति वाजिदअली शाह के युग में भी थी और ऐसे रागों का निर्माण उस युग में भी हो रहा था। इन रागों का निर्माण प्रायः किसी सिद्धांत की भित्ति पर न होता था। निर्माता स्वच्छंदतापूर्वक परस्पर प्रतिकूल प्रवृत्तिवाले राग को भी अज्ञान के कारण निस्संकोच मिलाकर एक गोरख-धंधा तैयार कर देता था। ऐसे रागों से उसी प्रकार के चमत्कारों की सृष्टि होती थी, काव्य के क्षेत्र में जिस प्रकार के चमत्कार का जनक चित्र-काव्य है।

मुसलमान और कला

सजीव वस्तुओं का चित्रण इस्लाम धर्म के विरुद्ध है। फलतः मानव का स्वाभाविक चित्रण-प्रेम मुसलमानों के साधनों से बेलबूटे, पच्चीकारी, कसीदाकारी इत्यादि

के रूप में फूटा। यह प्रवृत्ति उनकी स्थापत्य कला में भी प्रत्यक्ष दिखाई देती है। उनकी इमारतों के कोने-कोने में बारीक-से-बारीक घिचपिच काम दिखाई देता है। काव्य और संगीत के क्षेत्र में भी उनकी इस अलंकार-प्रियता ने कला को 'हृदय' पर नहीं, 'मस्तिष्क' पर प्रभाव डालनेवाली वस्तु बना दिया। बाहरी तड़क-भड़क इन कलाओं में खूब थी, परंतु वे तत्त्व अलंकारों के ढेर में दबकर रह गए थे, जो श्रोता में तन्मयता या रस-मग्नता उत्पन्न करते हैं। कलाकार 'सट्टे', 'ज़मज़मे' और 'बल' में उलझकर रह गए। अलंकारों का बाहुल्य ही उस समय के कलाकारों का लक्ष्य था। यदि हम इस समय की संगीत-कला की उपमा किसी कामिनी से दें, तो वह कामिनी ऐसी होगी, जिसे उसके विलक्षण प्रेमियों ने सिर से पैर तक कई मन सोने और जवाहरात से लाद दिया हो और वह बेचारी इस असह्य भार से दबकर कसमसा रही हो, मुँह बिगाड़ रही हो और अपने उन विचित्र प्रेमियों से जान बचाने के लिए हाथ-पैर पटक रही हो, परंतु विवशता के कारण अलंकारों की समाधि में दब जाने के अतिरिक्त जिसके पास और कोई चारा न हो—उस कामिनी के कानों में आप नूपुर देखेंगे और पैरों में कुंडल, उसकी कमर में आपको हार दिखाई देगा और गले में करधनी। अँगूठियाँ बालों में पिरोई हुई मिलेंगी और चूडामणि हाथ की अँगुलियों में कसकर बाँधी गई होगी। तात्पर्य यह है कि राग की प्रवृत्ति इत्यादि का ध्यान किए बिना किसी भी अलंकार का प्रयोग किसी भी राग में कर डालना इस समय की रुचि हो गई थी।

कंठ की तैयारी इन लोगों का लक्ष्य हो गया था। राग का स्वभाव भले ही गंभीर हो, परंतु उसे मार-मारकर द्रुत लय तक पहुँचा देना शान की बात थी। मंद गति से चलनेवाली अनेक हंसिनियाँ इन कलाकारों के शासन से कबूतरियाँ बनकर उड़ने लगी थीं। गवैए गले से कोल्हू, रहँट, चक्की और पनचक्की चलाने लगे थे। तान की गरज से छत का चूना झड़ने लगा और घोड़े पिछाड़ी तुड़ाकर भागने लगे थे। इन शब्दों का प्रयोग हम व्यंग्य के रूप में नहीं कर रहे हैं। ऐसी हरकतों को कला की कसौटी माननेवाले कलाकार अब भी हैं, जिन्हें संगीत का स्तंभ कहा जाता है।

रस और भाव की व्याख्या न समझ सकनेवाले कलाकारों की सुविधा के लिए राग के रूप और ध्यान की उद्भावना मध्य-युग में की गई थी, परंतु उन ध्यानों में लोगों को धर्मविशेष की गंध आई। फलतः वे ध्यान भी स्वप्न हो गए।

पूर्वोक्त युग में ध्रुवपद-गायक घुट-घुटकर जी रहे थे। युक्तियुक्त रूप में अपनी बात कहने की क्षमता इनमें न थी। लोगों में चमत्कारप्रियता बढ़ गई थी, वे कलाकारों की परस्पर नोंक-झोंक देखने के अभ्यस्त हो गए थे। गायकों और वादकों का पारस्परिक सामंजस्य स्वप्न हो गया था। गायक को गाने न देना वादक की श्रेष्ठता थी और वादक को न बजाने देना गायक का कमाल।

अपनी कला को सात्त्विक रूप में न तो समझनेवाले थे और न समझानेवाले। ऐसे ही कलाकार अपनी अगली पीढ़ियों को जन्म देते आ रहे थे। किसी प्रश्न का उत्तर न था। प्रश्नकर्त्ता को ये अश्रद्धालु समझते थे।

तत्त्वज्ञानहीन रटंत में भूल होती ही है। अपनी भूल को अनेक कलाकार अपने

वंश की विशेषता बताकर छुटकारा पा जाते थे और प्रश्नकर्त्ता मुँह ताकता रह जाता था।

ध्रुवपद-गायकों के पास मध्य-युग की कला के कुछ ध्वंसावशेष थे। शब्दों का रूप भ्रष्ट हो चुका था, गेय वस्तु अनेक स्थानों पर अर्थहीन थी। तथापि इनके पास कुछ बंदिशें थीं, आनुवंशिक तानें थीं, रागों का अपेक्षाकृत शुद्ध रूप था, खयालियों के दोषों से ये बहुत अंशों में मुक्त थे। उस समय जैसा भी था, जो कुछ था, संगीत इसी विशिष्ट वर्ग के पास था।

लक्ष्य-संगीत को लिपिबद्ध करना जिन आधुनिक पंडितों का लक्ष्य था, उनका पाला इसी वर्ग के व्यक्तियों से पड़ा था।

अब तक हम जो कुछ विचार कर चुके हैं, उसका निष्कर्ष यह है कि सैकड़ों वर्षों से संगीत-कला जनता की सहचरी न रहकर व्यक्तियों के हाथ की कठपुतली हो गई। जहाँ राज-सभा का आश्रय इसे मिला, वहाँ यह स्वयं भी सामंतों और नरेशों के भ्रू-विलास पर नाचनेवाली हो गई। उन्होंने जो भी अच्छा-बुरा परिवर्तन इसमें किया, उनके आश्रित कलाकारों ने उसकी दाद दी। खुसरो, शर्की, मुहम्मदशाह, वाजिदअली शाह—सभी इस कला को मनमाना नाच नचानेवाली प्रवृत्ति में लिप्त दिखाई देते हैं। वे केवल गुणी ही नहीं हैं, गुणियों के 'उस्ताद' भी हैं। गुणी बेचारे आजीविका के लिए हुजूर लोगों की शागिर्दी भी करते रहे हैं। इस शताब्दी के कुछ नरेशों को भी गुणियों के गंडा बाँधने की सनक रही है और है। गुणी लोग भी गंडा बँधवाते हैं, इनाम लेते हैं और पीठ-पीछे अपने इन 'उस्तादों' की सनक पर हँसते हैं, शताब्दियों से यही हुआ है। सामने प्रशंसाओं के पुल बाँधे गए हैं और पीछे खिल्ली उड़ाई गई है। गुणियों ने आश्रयदाता नरेशों की जिन सूझों को आजीविका के लिए अपने अभ्यास में स्थान दिया, वे उनकी संतति के गले का हार बन गईं और उनसे पीछा छुड़ाना कठिन हो गया।

बीसवीं शती ई० में संगीत

सामंत-युग के बंधनों से आज 'काव्य-कला' मुक्त हो गई है। उसे फलने-फूलने के लिए अवसर मिला है, क्योंकि समालोचना का जन्म फिर हुआ है। भारत में पिछले एक सहस्र वर्षों से उच्चकोटि के मौलिक चिंतकों का भी अभाव रहा। यह अभाव दर्शन, साहित्य, विज्ञान—सभी क्षेत्रों में पाया जाता है, परंतु देश की स्वतंत्रता के कारण इन दिशाओं में जीवन के लक्षण दिखाई दे रहे हैं। संगीत की ओर जब हम देखते हैं, तब बेचारी यह कला उसी परतंत्र अवस्था में कसमसा रही है। इसके अधिकांश प्रेमियों में प्राय: स्वस्थ दृष्टिकोण का अभाव है। कारण यह है कि काव्य-कला के लक्ष्य को सम्मुख रखकर उसकी श्रेष्ठता के मानदंडों या कसौटियों को निश्चित करनेवाले तथा उन पर काव्य को कसकर उसके गुण-दोषों का विवेचन करनेवाले जैसे समालोचक साहित्य-क्षेत्र में उत्पन्न हुए, वैसे समालोचकों का संगीत-क्षेत्र में प्राय: अभाव है।

आए दिन समाचार-पत्रों में संगीत-गोष्ठियों की जो समालोचनाएँ पढ़ने में आती हैं, उनका स्तर संतोषजनक नहीं है। वे स्तुतियाँ होती हैं या निंदाएँ। प्रायः दलबंदियाँ ऐसी समालोचनाओं में कारण होती हैं। यदि कोई निष्पक्ष व्यक्ति कुछ लिखता भी है, तो न तो उसमें वैज्ञानिक दृष्टिकोण होता है, न विवेचन की शक्ति। बहुत हुआ, तो राग का नाम, तानों की प्रशंसा, गवैए और साजिंदों की धर-पटक या निकल-बैठ की चर्चा हो गई। मानो, यही संगीत का साध्य हो। संगीत के वास्तविक लक्ष्य 'आनंद' की सृष्टि करने में कौन कलाकार, किस कारण, किस सीमा तक समर्थ हुआ, यह समझाने की आशा इन समालोचनाओं से करना व्यर्थ है।

कारण यह है कि किसी वस्तु के वैज्ञानिक विवेचन के लिए तदनुकूल शिक्षा की आवश्यकता होती है। संगीत के वर्तमान पाठ्यक्रम में ऐसा कोई तत्त्व नहीं है, जो संगीत और उसके लक्ष्य 'आनंद' के संबंध में विवेचन करता हो। दूसरा कारण यह भी है कि संगीत के विद्यार्थियों के लिए शिक्षित होना अनिवार्य नहीं। जो किसी भी लिपि से थोड़ा-बहुत परिचित हो, वह हमारे संगीत-विद्यालयों का विद्यार्थी हो सकता है। मानो, अशिक्षित होना संगीतज्ञ बनने का प्रधान लक्षण हो।

स्वर, राग, ताल इत्यादि तत्त्व संगीत के शरीर हैं, आत्मा नहीं। जो पाठ्य-क्रम प्रायः आज विद्यार्थियों के सम्मुख है, वह संगीत के समस्त तत्त्वों का परिचय भी नहीं कराता।

संगीत का विद्यार्थी आज 'रस' के विषय में प्रायः कुछ नहीं जानता। फिर 'रस' के साथ राग, छंद और ताल के सामंजस्य की आशा उससे कैसे की जा सकती है?

यह एक बड़े आश्चर्य की बात है कि संगीत के वर्तमान उन्नायकों का ध्यान इतनी गंभीर वस्तु की ओर नहीं गया। आज के अनेक मोटे-मोटे ग्रंथों में पूर्वोक्त विषयों की न तो चर्चा है और न उनकी आवश्यकता ही आज समझी जाती है। गीत-निर्माण की शिक्षा से भी ये 'महाग्रंथ' शून्य हैं।

उन शास्त्रीय पुस्तकों की तो चर्चा करना ही व्यर्थ है, जो केवल पाठ्यक्रम में नियुक्त कराने के लिए शीघ्रतापूर्वक लिखी गई हैं, जिनमें शास्त्रीय परिभाषाओं की अनर्गल व्याख्याएँ हैं, (भरत और दत्तिल का समय ईसा की पाँचवीं शताब्दी माना गया है) जिनके लेखकों को नवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक संगीत का कोई ग्रंथकार ही नहीं मिलता (जबकि मतंग, संगीत-कल्पतरुकार भोज, अभिनवगुप्त, नान्यदेव, नंदी, सोमेश्वर, जगदेकमल्ल, शारदातनय, जगन्नाथ भट्ट प्रथम, हरिपाल तथा सोमराज देव इत्यादि ग्रंथकार नवीं से बारहवीं ही शताब्दी तक हुए हैं।) और जिनके लेखकों की ऐतिहासिक प्रतिभा ग्वालियर-नरेश मानसिंह तोमर को अकबर के राज्य-काल में ला रखती है, जो अकबर के दादा बाबर के राज्य-काल से भी दस वर्ष पूर्व मर चुका था।

इन पुस्तकों को आज संगीत-शास्त्र कहा जाता है, जो आज के विद्यार्थियों को घोर अशास्त्रीयता की शिक्षा देकर प्रकाश के स्थान पर अंधकार की वृद्धि कर रही हैं और प्रतिष्ठित संगीत-संस्थाओं के पाठ्य-क्रम में नियुक्त हैं।

संस्कृत के प्रामाणिक ग्रंथों का अनुवाद अब तक नहीं हुआ है, संस्कृतज्ञ व्यक्तियों का संबंध संगीत से प्रायः रहा नहीं है, संगीत-जीवी वर्ग के लिए संस्कृत लैटिन और ग्रीक है। इस सब के साथ यह प्रचार और भी अत्याचार कर रहा है कि पिछली शताब्दियों में संगीत का चरम विकास हुआ है।

माना कि कुछ नवीन रागों, तालों और वाद्यों की सृष्टि हुई है तथा अलंकार-प्रियता बढ़ी है, परंतु संगीत का लक्ष्य लुप्त हो गया है। गीत, वाद्य और नृत्य—सभी पक्ष बहुत-कुछ अंशों में भाव-शून्य हो गए हैं; श्रुतियाँ और तदाधारित ग्राम चर्चा का विषय रह गए हैं; प्रबंध-रचना का कार्य निरक्षर वाग्गेयकारों के हाथ में रहने के कारण सामंतयुगीन प्रबंध प्रबंधत्व से शून्य हैं; गति, विराम और पद्यत्व के प्रायः वे शत्रु हैं।

श्रुतियाँ लुप्त कही जाती हैं, परंतु स्वरों की शुद्धावस्था उनकी अंतिम श्रुति से सरककर आदिम श्रुति पर आ गई है। बाईस श्रुतियों का स्थान जाने बिना ही यह व्यवस्था दे दी गई है।

यदि प्राप्ति और क्षय का अनुपात निकाला जाए, तो जिसे विकास कहा जाता रहा है, वह विनाश और ह्रास सिद्ध होगा।

कुछ लोगों का कहना है कि संगीत ध्वनि-मात्र है, वाणी से उसका कोई संबंध नहीं है। यदि थोड़ी देर के लिए यह मान भी लिया जाए, तो संगीत के प्रयोक्ता को तो यह धारणा होनी चाहिए कि वह ध्वनि-मात्र से किस भाव को व्यक्त कर रहा है, परंतु आज प्रयोक्ता ही भाव की दृष्टि से प्रायः भ्रष्ट-लक्ष्य हैं।

पक्का गाना आज श्रोताओं के लिए रंजन की नहीं, भय की वस्तु बन गया है। रागों के द्वारा पत्थर पिघलानेवाले, पानी बरसानेवाले और कोल्हू चलानेवाले कलाकारों के नामलेवा आज मनुष्यों को रिझाने में भी समर्थ नहीं हैं। क्या आज के श्रोता पत्थरों और कोल्हुओं से भी गए-बीते हैं? हमारी कला में क्षय के जो कीटाणु घुस गए हैं, उन्हें न देखकर श्रोताओं को दोष देना आज कलाकारों के लिए साधारण-सी बात हो गई है। कहा जाता है कि श्रोता संगीत को समझते नहीं। समालोचकों और शास्त्रज्ञों के लिए संगीत सुनने, आनंद लेने, समझने और आलोचना करने की वस्तु है, परंतु जन-साधारण के लिए केवल सुनने और आनंद लेने की वस्तु ही है। जब बादलों, पत्थरों, कोल्हुओं और हिरनों को प्रभावित करने के लिए उन्हें संगीत-शास्त्र का विद्यार्थी बनाना आवश्यक नहीं था, तब आज के श्रोता से संगीत-शास्त्री होने की अपेक्षा क्यों की जाती है?

बड़ी मनोरंजक बात यह है कि आज के पक्के गाने-बजाने का वकील जब शास्त्र के विद्यार्थियों से बातचीत करता है, तब तो विकासवादी बन जाता है और फिल्म-संगीत के प्रेमियों के सम्मुख आता है, तो शास्त्रों की तथा अपनी कला के शास्त्रीय होने की दुहाई देने लगता है।

फिल्म-संगीत के प्रेमियों ने संगीत-शास्त्र नहीं पढ़ा है। यदि पढ़ा होता, तो वे हम लोगों से कहते—"महाशय, श्रुत्याधारित व्यावहारिक ज्ञान से आप और हम, दोनों

शून्य हैं। आपके वर्तमान ठाठों में (स्व० श्री भातखंडेजी के अनुसार) कोमल ऋषभ और धैवत तथा तीव्र गांधार, मध्यम एवं निषाद को शास्त्रीय आधार प्राप्त नहीं है। हमारी भी यही दशा है। आपके अनेक रागों के साथ पिछली शताब्दियों में स्वैराचार हुआ है और उनके वर्तमान रूपों को प्रायः शास्त्रीय आधार प्राप्त नहीं है, हम भी रागों के साथ विनोद करते हैं। देशी संगीत में लोकरुचि के अनुसार परिवर्तन करने का अधिकार यदि शास्त्र आपको देता है, तो हमें भी। भरत के अनुसार 'लोक में जो भी गाया जाए, वह शास्त्रों में स्थित है।'—यह वचन यदि आपको मनमानी करने का 'लाइसेंस' देता है और आपकी प्रत्येक कृति को शास्त्रीयता का प्रमाण-पत्र समर्पित कर देता है, तो इससे हम क्यों वंचित हैं? रंजन के लिए विवादी या वर्जित स्वरों का प्रयोग आप भी करते हैं, हम भी। आपने भारतीय संगीत में ईरानी संगीत मिलाया है, हम योरोपीय संगीत मिलाते हैं। आपके अनेक गीत धुनों में बँधे हुए हैं, हम भी धुनें बनाते हैं। रागों का प्रयोग आप भी करते हैं और हमें भी उनके प्रयोग में आपत्ति नहीं है। फिर भला आपका संगीत क्यों शास्त्रीय है और हमारा क्यों अशास्त्रीय?

"भाव, वाणी और स्वर के अनुपात, गीत एवं लय के सामंजस्य में हम शास्त्रीय मर्यादाओं का आपसे अधिक पालन करते हैं, व्यर्थ की तानों और अलंकारों के बोझ से हम भाव की हत्या नहीं करते, हमारे कलाकार मुद्रा-दोषों से रहित हैं, उनका उच्चारण शुद्ध है और हम किसी पचहत्तर (७५) वर्ष के बूढ़े से 'पिया बिन नाहीं आवत चैन' या 'चौंकि परी मैं तो पिया के जगाए' नहीं गवाते। संगीत के लक्ष्य लोक-रंजन में हम आपसे अधिक समर्थ हैं। अतः हम आपकी अपेक्षा अधिक शास्त्रीय हैं।"

फिल्म-संगीत की ओर से ये तर्क हम विनोद के रूप में नहीं दे रहे हैं, अपितु यह वास्तविक स्थिति है। फिल्म-संगीत को गालियाँ देने से काम नहीं चलेगा, हमें उसकी लोक-प्रियता के नैसर्गिक कारणों को ढूँढ़ना पड़ेगा, और सचमुच उसमें अनेक शास्त्रीय आधार दिखाई देंगे। केवल स्वर, राग और ताल ही संपूर्ण संगीत-शास्त्र नहीं है, उसके चार अध्याय और भी हैं।

फिल्म-संगीत की बुराइयाँ अपनाना जितना बुरा है, अपनी बुराइयों को दूर न करना भी उससे कम बुरा नहीं है।

स्वतंत्र भारत की सरकार आज ललित कलाओं की उन्नति में बद्ध-परिकर है। अनेक रूप में इस पवित्र कार्य के लिए विशाल धन-राशि का व्यय किया जा रहा है। यदि हमने गंभीरतापूर्वक विचार करके अपने संगीत को नवजीवन देने का प्रयत्न नहीं किया, तो केवल बाह्य उपचार और प्रचार से शास्त्रीय संगीत लोक-प्रिय नहीं बन सकेगा।

संगीत के उत्कर्ष के लिए यह परमावश्यक है कि हम शास्त्रीय अर्थात् तर्क-शुद्ध एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण का आश्रय लेकर अपने संगीत में पुनः प्राण-प्रतिष्ठा करें।

संगीत, साहित्य और रस

स्थायी भाव

इंद्रियों से हम जो कुछ अनुभव करते हैं, उसका प्रभाव हमारे मन पर पड़ता रहता है। अनुभव क्षणिक होता है, परंतु उसका प्रभाव या संस्कार हमारे मन पर सर्वदा के लिए अंकित हो जाता है। रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, घृणा, विस्मय और विरक्ति ऐसे ही संस्कार हैं, जो मानव के मानस-पटल पर अनुभव-परंपरा के प्रभावरूप में अंकित हैं।

भारतीय दार्शनिकों का कथन है कि संस्कार जन्म-जन्मांतर तक जीव के साथ रहते हैं और जीव के मन में बस जाते हैं, इसलिए इन संस्कारों या भावों को 'स्थायी भाव' कहा जाता है।

राग-द्वेष के पींजरे में बंद स्थायी भाव

लोक-जीवन में ये भाव स्वतंत्र रूप से प्रकट नहीं हो पाते और हमारे व्यक्तिगत राग-द्वेष के कारण पिंजरे में बंद पक्षी की भाँति फड़फड़ाते हैं।

विवाह एक मंगलकृत्य है, जिसका परिणाम 'प्रसन्नता' होना चाहिए। अपने या अपने पुत्र के विवाह पर हम प्रसन्न होते हैं, परंतु शत्रु के लड़के का विवाह यदि ठाठ-बाट से हो, तो हमें प्रसन्नता नहीं, ईर्ष्या होती है। यदि हम किसी आवश्यक कार्य से जा रहे हैं, हमें कहीं जल्दी पहुँचना है और रास्ते में यदि कोई लंबी बरात मिल जाए, जिसने रास्ता रोक दिया हो, तो हमें 'झुँझलाहट' होती है।

'मृत्यु' एक दुःखद घटना है। यदि कोई रेल-दुर्घटना हो जाए और हमारा कोई सगा-संबंधी उसका शिकार हो जाए, तो हमें अपार 'शोक' होता है, यदि मृतकों की सूची में हमारा कोई परिचित तक नहीं है, तो हम उस दुर्घटना को कुछ बहुत महत्त्व नहीं देते, और यदि वह दुर्घटना हमारे किसी शत्रुदेश में हुई हो, तो हम कहें या न कहें, हमें कुछ प्रसन्नता-सी होती है।

हत्यारा 'घृणा' का पात्र है। यदि हत्यारा हमारा शत्रु या उसका समर्थक है, तो हम उसके प्रति दूसरों को भी 'घृणा' उभारने की चेष्टा करते हैं, उसे दंड दिलाने के प्रयत्न में कोई कसर नहीं छोड़ते, परंतु यदि वह हमारा कोई मित्र, संबंधी या सुहृद् है, तो हमें उससे सहानुभूति होती है और हम उसे अदालत से बेदाग छुड़ाने के लिए एड़ी-चोटी का पसीना एक कर देते हैं।

तात्पर्य यह है कि प्रसन्नता, शोक, घृणा इत्यादि मनोभाव लौकिक जीवन में स्वच्छंदतापूर्वक प्रकट नहीं होते। हमारे 'राग-द्वेष' उन्हें बलपूर्वक जिधर चाहे, हाँकते रहते हैं। अपनी सुविधा और सुख हमें वांछनीय होते हैं और शत्रु का सुख हमें नहीं सुहाता। मित्रों का हम समर्थन करते हैं और शत्रु का विरोध। शत्रु से सहानुभूति रखनेवाले व्यक्ति भी हमें सह्य नहीं होते। यही 'राग-द्वेष' हमारे मन पर निरंतर भार बने रहते हैं, हमसे 'न्याय' नहीं होने देते।

भावों को अभिव्यक्त होने का स्वतंत्र अवसर मिलता है, स्वच्छंद पक्षी की भाँति उड़ते हैं, वे 'राग-द्वेष' के पिंजरे में बंदी नहीं होते। हृदय में सदा रहनेवाले भावों की यह उन्मुक्त अवस्था ही दर्शक को आनंदानुभव कराती है।

मान लीजिए कि आप कोई अत्यंत करुणापूर्ण नाटक देखकर आए हैं, जिसे देखते समय आपके नेत्रों से निरंतर अश्रुप्रवाह होता रहा है, आप कहते हैं कि बहुत अच्छा नाटक था, कल फिर देखेंगे। इस तथ्य से यह सिद्ध है कि नाटक में जो आपका अश्रुपात हो रहा था, उसका कारण करुणा थी, जिसे नाटक ने जगा दिया था। करुणा की उस अभिव्यक्ति से आपको एक 'आनंद' मिला और आप उस आनंद को पुनः प्राप्त करने के लिए अगले दिन फिर नाटक देखने जाना चाहते हैं। पैसे खर्च करके फिर रोना चाहते हैं, क्योंकि उस रोने में 'आनंद' है। यदि पड़ोस में कोई जवान और होनहार लड़का विवाह के दूसरे दिन ही मर जाए, नव-वधू की चूड़ियाँ तोड़ी जा रही हों, लड़के की माँ छाती पीट-पीटकर रो रही हो, बूढ़े बाप की दशा देखी न जाती हो, तब भी आप रोएँगे, परंतु उस रोने के कारण की तथा उस दुःखद घटना की पुनरावृत्ति कभी न चाहेंगे, क्योंकि उस स्थिति में आपके आँसुओं का कारण लौकिक दुःख है। मनुष्य दुःख की पुनरावृत्ति नहीं चाहता। यही दृश्य यदि नाटक में आया हो, तब भी आप रोएँगे और यदि अभिनेताओं ने इस दृश्य को सफल रूप में प्रस्तुत किया है, तो आप उसे बारंबार देखना चाहेंगे।

श्रव्य-काव्य से रसानुभूति

रामचरितमानस के अयोध्या कांड में 'राम-वन-गमन' एवं 'दशरथ-मरण' के अवसर को लोग निरंतर सुनते हैं, भावमग्न होते हैं, रोते हैं, फिर सुनते हैं, फिर रोते हैं। यह रोना सम्मुख घटित होनेवाली करुण स्थितियों से उत्पन्न रोदन से भिन्न है।

संगीत से राग-द्वेष का नाश

कल्पना कीजिए, कोई सफल साधक आपके सम्मुख किसी ऐसे राग की अवतारणा कर रहा है, जिससे करुणा फूटी पड़ती है, कलाकार केवल 'आलाप' कर रहा है, 'भाषा' का आश्रय उसने नहीं लिया है, वह अपने स्वर-प्रयोग से ऐसी स्थिति ले आता है कि आप अपनी सुध-बुध खो देते हैं, स्वरों के द्वारा अभिव्यक्त करुणा का 'संवाद' आपके हृदय में स्थित 'करुणा' से होता है, वह जागती है। आपके नेत्रों से अविरल अश्रुधारा बहने लगती है, ऐसी मानसिक स्थिति का निर्माण होता है, जिसमें चारों ओर से करुणा का समुद्र उमड़ता हुआ प्रतीत होता है, तब भी आपके हृदय में स्थित व्यक्तिगत राग-द्वेष की ग्रंथियाँ घुल जाती हैं।

आनंद की अलौकिकता

कलाओं द्वारा प्राप्त इस आनंद को 'अलौकिक' कहा गया है, इसकी अनुभूति के समय मनुष्य अपनी व्यक्तिगत सीमाओं के बंधन से छूट जाता है, उसका हृदय 'अपरिमित' हो जाता है और वह 'व्यक्ति' न रहकर 'मानव' बन जाता है।

संगीत और निगीत

'संगीत' एक व्यापक शब्द है। गीत, वाद्य और नृत्य, तीनों मिलकर संगीत कहलाते हैं, जिसमें गीत की प्रधानता है, वाद्य उसका अनुकारक है और नृत्य उपरंजक है, अर्थात् वाद्य गीत का अनुसरण करता है और नृत्य-वाद्य का। यदि इनमें से गीत को निकाल दिया जाए और वाद्य एवं नृत्य-मात्र अवशिष्ट रह जाए, तो इन दोनों की संज्ञा संगीत न होकर 'निगीत' रह जाएगी। संगीत और 'निगीत' दोनों प्राचीन हैं। यह सत्य है कि उत्पत्ति-क्रम से 'निगीत' जिसका नाम बहिर्गीत भी है, बाद का है। गीत-हीनता के कारण जहाँ वह 'निगीत' कहलाता है, वहाँ रंगभूमि में खेले जानेवाले नाटक की वस्तु से बाहर होने के कारण इसे बहिर्गीत कहा जाता है। बहिर्गीत का प्रयोग रंगभूमि के अतिरिक्त सभाओं में भी प्राचीनकाल से किया जाता रहा है। 'संगीत' शब्द का प्राचीन पर्य्याय 'तौर्य्यत्रिक' है।

आज, साधारणतया 'निगीत', बहिर्गीत या संगीत में कोई अंतर नहीं समझा जाता और संगीत शब्द का प्रयोग अर्थहीन गान और वादन के लिए भी होने लगा है। इस स्थिति में जब हम प्राचीन आचार्य्यों की संगीत-विषयक उक्तियों का सामंजस्य संगीत के अपने माने हुए अर्थ के साथ बिठाने लगते हैं, तब असामंजस्य की सृष्टि होती है। कश्यप ने राग और गीत का अंतर प्रकट करते हुए कहा है कि ग्रह अंश इत्यादि दश लक्षणों से युक्त स्वर-समूह 'राग' होता है। गीत में इस स्वर-समूह की योजना करनी चाहिए। यह स्वर-समूह या राग गीत के चार अंगों में से एक अनिवार्य अंग है। गीत के अन्य तीन अंग पद, ताल और गति हैं। इसका अर्थ यह है कि केवल राग, ताल और गति, गीत के अंगमात्र हैं तथा अर्थबोध और रस-परिपाक में पद के सहायक-भर हैं।

साहित्य की अपनी स्वतंत्र सत्ता है। गद्य भी श्रेष्ठ साहित्य हो सकता है, परंतु यदि भावानुकूल छंद भी भाषा को मिल जाए, तो उसमें एक कसाव आ जाता है। कालिदास ने 'मेघदूत' के लिए संभवतः मंदाक्रांता छंद इसी लिए चुना है, क्योंकि वह भावानुकूल है। 'मेघदूत' की उक्तियाँ न गाए जाने पर भी सत्साहित्य हैं।

विचारणीय बात यह है कि संगीत और साहित्य के प्रयोजन रस के साथ वाणी, स्वर, ताल और नृत्य का कैसा और कितना संबंध है? व्यक्त और अव्यक्त, दोनों प्रकार की ध्वनियाँ नाद की विभिन्न उपाधियाँ हैं। शब्द और स्वर का मूल एक है, इनमें जन्मजात संबंध है। दोनों का लक्ष्य भाव का प्रकाशन है। इसी लिए शब्द, स्वर, ताल, लय, वाद्य और नृत्य भाव-प्रधान रहे हैं।

रस का इन वस्तुओं से वास्तविक संबंध जानने के लिए हमें सर्वप्रथम भाव पर विचार करना होगा और फिर देखना होगा कि उसकी अभिव्यक्ति में और उसे परिपक्व करके रसानुभूति की दशा तक हमें पहुँचाने में इन सभी तत्त्वों का कितना हाथ है। यहाँ भाव, उसके अभिव्यक्ति के साधनों और प्रकारों पर थोड़ा विचार करना अप्रासंगिक न होगा।

ज्ञान, भाव और क्रिया

इंद्रियों के द्वारा किसी भी विषय का ज्ञान होने पर उस विषय के प्रति कोई विशेष भाव सहृदयों के हृदयों में उठता है या जागता है। उस विषय से संबद्ध हमारा यह भाव, हमसे अपने अनुकूल क्रिया कराता है। हमने एक सुन्दर वस्तु देखी, अर्थात् नेत्रों के द्वारा उस वस्तु का बोध या ज्ञान हमें हुआ। इस ज्ञान के पश्चात् उस वस्तु के प्रति एक अनुकूल भाव, एक प्रकार का अनुराग, हमारे मन में उमड़ा और उस अनुराग के फलस्वरूप हम उस सुन्दर वस्तु की ओर बारंबार देखने लगे, उसकी समीपता चाहने लगे और हो सके, तो उसको प्राप्त करने की भी इच्छा करने लगे।

ज्ञान, भाव और क्रिया का यह क्रम ही हमारे समस्त व्यवहारों का कारण है। सुन्दर फूल के रंग, रूप, गंध से उसकी ओर हम आकृष्ट होते हैं, उसे शाखा से तोड़ लेते हैं, सूँघते हैं और कोट में लगा लेते हैं, गुलदस्ते में सजा लेते हैं। कुरूप, विरूप और जुगुप्सित वस्तुओं को देखने से हमारे मन में एक प्रकार का विराग उत्पन्न होता है, हम उनके पास जाना तो दूर उन्हें देखना तक नहीं चाहते। स्वादिष्ट वस्तुएँ खाना चाहते हैं, मुँह में आया हुआ बादाम यदि कड़वा निकल जाए, तो तुरंत उसे थूक देते हैं, मुँह बिगाड़ते हैं, झटपट कुल्ला कर डालते हैं। कोयल की कूक हमारे कानों में मधु घोल देती है और गधे का कर्कश रव हमें चिढ़ा देता है। उपवन की महक हमें अपनी ओर खींचती है तथा तंग, गंदी गलियों की दुर्गंध नाक पर रूमाल रखने के लिए विवश कर देती है। कोमल शय्या का स्पर्श हमें निद्रादेवी के अंक में विश्राम करा देता है, उसी शय्या पर पड़ा हुआ कोई कंकड़ करवट लेने पर यदि हमारे चुभ जाए, तो हम सपनों के सुनहले स्वर्ग से अकस्मात् ययाति की भाँति भ्रष्ट हो जाते हैं और बिस्तर झाड़ डालना चाहते हैं।

इतना ही नहीं, कुछ वस्तुओं, चेष्टाओं या स्थितियों का बोध हमारे विनोद का कारण होता है, हम हँस देते हैं। किसी नव-वधू को तुरंत विधवा होते देखकर हम शोक से विह्वल हो जाते हैं। किसी उद्धत-प्रकृति के मनुष्य द्वारा किसी निरपराध निर्बल पर अत्याचार होते देखकर हम क्रोध से उबल पड़ते हैं। किसी के त्याग, धैर्य्य, शौर्य्य इत्यादि को देखकर हमारे मन में उत्साह लहरें लेता है। समुद्र की पर्वताकार उत्ताल तरंगें हमें भयभीत कर देती हैं। गर्हित दृश्यों के देखने और ऐसे ही वचनों के सुनने पर हमारे मन में घृणा जागती है और असामान्य परंतु अभिप्रेत विषयों के साक्षात् से हम आश्चर्य-निमग्न हो जाते हैं।

कवि अपनी सूक्ष्म दृष्टि से वर्णनीय विषयों एवं उनके कारण मानव-हृदय में होनेवाले परिवर्तनों को भलीभाँति पहचानता है, इसी लिए वह विभिन्न घटनाओं और स्थितियों का यथावत् चित्रण करके पात्रों में उन घटनाओं और स्थितियों की प्रतिक्रियाओं का वर्णन करता है। ये प्रतिक्रियाएँ उक्तियों एवं चेष्टाओं के रूप में होती हैं।

मानव-चरित्र की विचित्रता

मानव-हृदय बड़ा जटिल है। एक ही स्थिति में विभिन्न चरित्रवाले व्यक्तियों की विभिन्न प्रतिक्रियाएँ होती हैं। कहीं यदि आग लग जाए और मकान के ऊपरी खंडों

में कुछ स्त्रियाँ और बच्चे असहाय अवस्था में हों, नीचे आने का मार्ग अग्नि की भयानक लपटों का क्रीड़ास्थल हो गया हो, तो अधिकांश व्यक्ति तमाशा देखेंगे, कुछ सीधे निकले चले जाएँगे, मानों कुछ हुआ ही न हो, कुछ एक-दूसरे का मुँह ताकेंगे और कोई माई का लाल अपनी जान पर खेलकर उन औरतों और बच्चों को बचा लाने का प्रयत्न करेगा ।

कवि मानव-चरित्रों के अंतर को जानता है और अपने पात्रों के चरित्र के अनुकूल ही उनसे आचरण कराता है । कवि मानव-हृदय का पारखी होता है । उसके द्वारा कल्पित पात्र और घटनाएँ, ऐतिहासिक न होने पर भी सत्य प्रतीत होती हैं, क्योंकि कवि के द्वारा कल्पित घटनाएँ तथा उन घटनाओं से कल्पित पात्रों पर होने-वाली प्रतिक्रियाएँ स्वाभाविक होती हैं, इसी लिए वे पाठकों को पढ़ते समय सत्य ही प्रतीत होती हैं ।

कवि मानव-हृदय के जिन भावों का विश्लेषण अपने पात्रों के कथन या आचरण के द्वारा पाठकों के समक्ष करता है, वे भाव सनातन हैं, त्रिकालाबाधित हैं । जिस भाव के वशीभूत होकर प्रस्तरयुग का मानव अपने विपक्षी का सिर पत्थर के हथौड़े से कुचल डालता था, उसी भाव से प्रेरित होकर आज का मानव अपने विपक्षी पर भयानक बम का प्रयोग करता है । अपनी पतिव्रता पत्नी के चुरा लिए जाने पर राम रोए थे, यदि आज भी किसी की सीता-जैसी पत्नी चोरी चली जाए, तो वह हँसेगा नहीं ।

तात्पर्य्य यह है कि भाव अनादिकाल से वही हैं, उनकी अभिव्यक्ति के कुछ साधनों में परिवर्तन भले ही हो गया है । भावों की उसी सनातनता के कारण 'शकुन्तला' और 'मेघदूत' कभी पुराने नहीं पड़ेंगे ।

संगीत और साहित्य का योग

अब यह देखने की बात है कि साहित्य के साथ संगीत का योग किस प्रकार हुआ । जब हम अपने भावों को व्यक्त करते हैं, तब केवल वाणी से ही काम नहीं लेते, हमारी अंगभंगिमाएँ भी विविध होती हैं । इतना ही नहीं, हमारी वाणी का उतार-चढ़ाव भी हमारे भावों के व्यक्तीकरण में सहायक होता है । वाणी का यह उतार-चढ़ाव यदि असंगत हो, तो इष्ट-अर्थ का बोध कभी नहीं होगा । वाणी के इस उतार-चढ़ाव को 'काकु' कहते हैं । यदि हम रोनी-सी सूरत बनाकर मरे हुए स्वर में किसी का यों स्वागत करें—'आइए, पधारिए, बड़े दिनों में दर्शन हुए ! कहिए, सकुशल तो हैं ? तो वह पधारेगा नहीं, सिधार जाएगा ।

दूरस्थ व्यक्ति को बुलाने में अथवा दूर से बात करने में हमारा स्वर ऊँचा हो-जाता है और इससे भी अधिक ऊँचा उस समय होता है, जब हम चिल्लाकर क्रोध की पराकाष्ठा प्रकट करते हैं, यह स्वर 'दीप्त' कहलाता है । निर्वेद, ग्लानि, दीनता इत्यादि प्रकट करते समय अथवा शस्त्र के कारण उत्पन्न घाव से कराहते समय हमारा स्वर 'मंद्र' हो जाता है । मंद्रतर स्वर तब होता है, जब हम स्वगत-भाषण करते, रोगग्रस्त

या अत्यंत थके होते हैं, यह स्वर 'नीच' कहलाता है। स्वर की उच्च, दीप्त, मंद्र और नीच इत्यादि अवस्थाओं को पाठ का अलंकार कहा गया है।

वाणी के इसी भावानुकूल प्राकृतिक उतार-चढ़ाव के परिणाम-स्वरूप संगीत के सात स्वरों और तीनों सप्तकों का विकास हुआ है।

विभिन्न भावों के प्रकट करते समय हमारी वाणी में उतार-चढ़ाव के साथ-ही-साथ हमारी चेष्टाओं और प्रयुक्त शब्दों की गति में भी विविधता आती है।

शीघ्रता का भय प्रकट करते समय हमारे शब्दों की गति 'द्रुत' हो जाती है। विचार, वितर्क इत्यादि अवस्थाओं में हमारे शब्दों की गति 'विलंबित' होती है। सामान्य उच्चारण में हमारे उच्चारण की गति 'मध्य' रहा करती है। इसी लिए प्राचीन आचार्य्यों ने पात्रों की बातचीत के समय यथास्थान विलंबित, मध्य और द्रुत लय का प्रयोग बतलाया है और पाठ के अलंकारों में द्रुत और विलंबित की भी गणना की है। बाह्य आंगिक चेष्टाओं और गतियों ने ही नृत्य को जन्म दिया है।

यह ठीक है कि जब शब्दों का उच्चारण भावानुकूल उतार-चढ़ाव एवं अनुकूल भंगिमाओं के साथ किया जाए, तभी अभिप्रेत अर्थ का बोध होता है, तथापि वाक्यों के उच्चारण के समय होनेवाला उतार-चढ़ाव संगीत में होनेवाले उतार-चढ़ाव का कारण होने पर भी उससे भिन्न है, इसी लिए बोलना और गाना दो भिन्न क्रियाएँ हैं। संगीत में ध्वनि के उतार-चढ़ाव पर विशेष ध्यान दिया जाता है, जिसे 'अवधान' कहा गया है।

कवि द्वारा रचित नाटक स्वयं नहीं बोल सकता, न उसके पात्र हमारे समक्ष मूर्तरूप में आकर चेष्टाएँ, अथवा अंग-भंगिमाएँ प्रकट करते हैं। शब्दों से सहृदय पाठकों के मनःपटल पर वर्णित परिस्थिति का चित्र-सा खिंच जाता है, परंतु वह स्थिर नहीं होता। इसी कमी को पूरा करने और कवि के द्वारा अभिप्रेत अर्थ को पूर्णतया मूर्तरूप में व्यक्त करने के लिए दृश्य-काव्य या रूपक का जन्म हुआ, जिसे काव्यों में सुन्दरतम कहा गया है। इसमें अभिनय के समय पात्र कवि-निर्मित वाक्यों को स्वाभाविक उतार-चढ़ाव एवं गति के साथ बोलते हैं और उनके अर्थ का स्वाभाविक रूप से बोध कराने के लिए भावानुकूल आंगिक चेष्टाएँ करते हैं, रोते हैं, सुबकते हैं, उन्हें रोमांच हो आता है, उनका गला भर आता है, वे मुसकराते, हँसते, खिलखिलाते हैं।

जब अभिनेता अपने कार्य को अत्यंत सफलतापूर्वक करते हैं, तब हम थोड़ी देर के लिए भूल जाते हैं कि हम अभिनय देख रहे हैं और जो कुछ हम देख रहे हैं, वह कल्पित या विगत घटनाओं का अनुकरण-मात्र है।

वास्तविक देश और काल को भूलकर जब हम अभिनय द्वारा प्रदर्शित देश और काल में खो जाते हैं, तब हमें एक अनिर्वचनीय आनंद आता है। यही आनंद 'रस' कहलाता है। हम उस समय चेतन तो होते हैं, परंतु हमारी यह चेतना लौकिक चेतना से भिन्न होती है। हमारी यह अवस्था ही रसानुभूति की अवस्था है।

अभिनय में हम मिलन देखें या वियोग, अत्याचार देखें या धर्म की विजय,

शोक-प्रधान स्थिति देखें या विवाह, सभी अवस्थाओं में हम उसमें डूब जाते हैं, उन सभी स्थितियों से हमें रसास्वाद होता है।

इसी लिए मम्मट ने कहा है कि कवि की सृष्टि में सुख-ही-सुख है, दुःख नहीं है।

लोक में वास्तविक घटनाओं को देखकर हमारे हृदय में जो भाव जागते हैं, वे भाव जब कवि-प्रणीत वाणी एवं तदनुकूल अभिनय के कारण हमारे मन में तरंगित होकर हमारे अंग-प्रत्यंग में व्याप्त हो जाते हैं, तब हमारी वह स्थिति रसानुभूति की अवस्था कहलाती है। स्थायी भावों को हमारे हृदय में जगा देना ही कवि और अभिनेता का तात्पर्य होता है और हमारा समस्त शरीर उस भाव से इस प्रकार व्याप्त हो जाता है, जिस प्रकार अग्नि से शुष्क काष्ठ।

राग में भाव-प्रकाशन की शक्ति

राग में भाव-प्रकाशन की शक्ति सीमित है, परंतु है अवश्य। केवल राग से हम भाव-विशेष की सृष्टि तो कर सकते हैं, परंतु भाव का उतना परिपाक केवल इससे संभव नहीं, जिससे हम रसानुभूति की अवस्था तक पहुँच सकें। केवल ध्वनियाँ अथवा मुद्राएँ एक संकेतमात्र है। मैं आज कलकत्ता जा रहा हूँ, इस अर्थ का बोध उच्चरित अथवा लिखित भाषा की सहायता के बिना केवल संकेतों से नहीं हो सकता। इसी लिए अर्थबोध के द्वारा रस-परिपाक में भाषा प्रधान कारण है, काकु और गति इत्यादि उसके अनिवार्य सहायक तत्त्व हैं। जब हम राग की सहायता के बिना ही रसानुभूति करते हैं, तब सिद्ध हो जाता है कि संगीत की जननी 'काकु' का तो हम परित्याग नहीं कर सकते, परंतु 'सारेगमपधनि' के बिना हमारा काम चल जाता है।

भाव-बोधन की शक्ति सीमित होने के कारण ही रसों में रागों का विनियोग बताया गया है। स्वरों अथवा रागों को रसों का अभिव्यंजक नहीं कहा गया, राग के अंश स्वर का सामंजस्य रस-विशेष के साथ स्थापित किया गया है। भाव-बोधन में भाषा का संयोग राग की सीमित शक्ति को अपना अंग बनाकर अपने बल में वृद्धि करता है और राग गीत का अनिवार्य अंग बनकर रस-परिपाक में एक सुन्दर उपकरण बन जाता है।

निगीत

जैसा कि कहा जा चुका है, सार्थक शब्द-समूह का परित्याग कर देने पर केवल वाद्यों के द्वारा जब राग, गति और ताल की अभिव्यक्ति की जाती है, तो उसका नाम निगीत या बहिर्गीत होता है। इसका प्रयोजन रस-परिपाक नहीं होता। यह भावमात्र की सृष्टि करता है।

वाद्य-प्रयोग के लिए वर्जित अवसर

जहाँ गीत के भाव का अभिनय करना हो, वहाँ गीत के साथ-साथ वाद्य के प्रयोग का निषेध है, क्योंकि ऐसी स्थिति में वाद्य अभिनय में बाधक होते हैं। नाटक में गीत, वाद्य और नृत्य के अधिक प्रयोग से प्रयोक्ता और प्रेक्षक ऊब और थक जाते हैं, और ऐसी स्थिति में रस और भाव में अस्पष्टता आ जाती है।

शुष्क गेय पद

जब गायक लोग आसन पर बैठे हुए गीत गा रहे हों और उनके साथ वाद्यों का वादन हो रहा हो, तब गाया जानेवाला गीत गेय पद कहलाता है। अभिनयहीन होने के कारण इसे 'शुष्क' कहा गया।

यह सब-कुछ होते हुए भी यदि कोई कलाकार राग के द्वारा भाव-विशेष को इतनी प्रगाढ़ता प्रदान कर दे कि श्रोता उसमें पूर्णतया निमग्न हो जाएँ तो उन श्रोताओं की वह विशिष्ट चेतना रसानुभूति ही कहलाएगी, क्योंकि 'रस' सत्त्व के उद्रेक के कारण उत्पन्न विशेष संवित् या चेतना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

संगीत और आलोचना

विज्ञान ने जहाँ रेडियो एवं सिनेमा के द्वारा संगीत को सुलभ बना दिया है, कलाकारों को यश एवं अर्थ दिया है, वहाँ इस क्षेत्र में आलोचक भी उत्पन्न किए हैं। यह एक अच्छा शकुन है। अच्छी आलोचना सदा कला की उन्नति में योग देती है।

हमारे वयोवृद्ध एवं निरक्षर कलाकार भी आजकल यह जानने के लिए उत्सुक रहते हैं कि उनके 'प्रोग्राम' के विषय में 'अखबार' क्या कहते हैं। फलतः कलाकारों में एक प्रकार की सतर्कता बढ़ी है और उनके कान खड़े रहते हैं।

ऐसी स्थिति में यह भी आवश्यक है कि संगीत-संबद्ध आलोचना के लिए आलोचकों के पास कोई निश्चित 'कसौटी' हो, जिसपर कसकर वह कलाकार की कला के दोष-गुण का निर्णय कर सकें।

किसी भी कलाकार को सुनकर केवल यह कह देना कि वह अच्छा है, या बुरा है, पर्याप्त नहीं है। आलोचक का कार्य है उस अच्छाई या बुराई को तर्कशुद्ध शैली में प्रमाणित करना, अन्यथा उसकी आलोचना का कोई मूल्य नहीं होगा।

संगीत का प्रयोजन श्रोताओं को आनंद देना है। सहृदय श्रोता के लिए संगीत-मर्मज्ञ होना सर्वथा अनावश्यक है, क्योंकि संगीत से जिस ज्ञान का संबंध है, वह अनुभव करने की वस्तु है, 'समझने' की नहीं, परंतु आलोचक के लिए संगीत-मर्मज्ञता अनिवार्य है, क्योंकि उसका कार्य कलाकार की विशेषताओं का विश्लेषण एवं उसके गुण-दोषों का उद्घाटन है।

किसी भी स्वादिष्ट व्यंजन का स्वाद लेते समय हमारे लिए यह आवश्यक नहीं कि हम पाकशास्त्र के मर्मज्ञ भी हों, परंतु यदि हम व्यंजन के स्वादिष्ट होने के कारणों का विवेचन भी करना चाहते हैं, तो पाकशास्त्र की मर्मज्ञता हमारे लिए अनिवार्य है।

कोई भी राग श्रोताओं में एक विशिष्ट मानसिक स्थिति का निर्माण करता है। यदि गायक कोई भी ऐसा कारण उत्पन्न करे, जिससे श्रोताओं की उस मानसिक स्थिति में व्याघात हो, तो उस कारण की उत्पत्ति 'दोष' है और यदि गायक अपने राग में उन विविधताओं की सृष्टि करता जाए, जिससे श्रोताओं की रागजन्य विशिष्ट मानसिक स्थिति में प्रगाढ़ता निरंतर बढ़ती जाए, तो ऐसी विविधताओं की सृष्टि गायक का 'गुण' है।

अच्छे आलोचक के लिए यह आवश्यक है कि वह इन गुणों और दोषों को समझे।

आह का गाना

एक गायक अथवा वादक के द्वारा की हुई राग की अवतारणा हमें तन्मय कर देती है। हम भूल जाते हैं कि हम कौन हैं, कहाँ बैठे हैं, हमारे हाथ का सिगरेट जलते-जलते समाप्त होने पर आ जाता है, हमें कश लगाने का ध्यान नहीं रहता। एक दूसरा गायक गाता है, तो हम जमुहाई लेते हैं, सिगरेट पर सिगरेट सुलगाते हैं, हाथ में बँधी

हुई घड़ी के डायल पर हमारी दृष्टि बार-बार जाती है। यह नहीं कि हम जान-बूझकर ऐसा करते हैं, अपितु गायक हमें तन्मय करने में समर्थ नहीं होता।

कलाकार दोनों ही 'प्रसिद्ध' हैं, परंतु क्या कारण है कि एक हमारी सुध-बुध भुला देता है और दूसरा नहीं। आलोचक का कार्य इस कारण का विवेचन है।

यदि श्रोताओं का अवधान दोनों कलाकारों की ओर पूर्णतया है, दोनों ही कलाकार पूर्णतया स्वस्थ एवं निश्चित हैं, तो उनकी कला के अंतर का कोई और कारण होना चाहिए। यदि आलोचक इस अंतर को नहीं पकड़ पाता, तो वह अपने कर्तव्य-पालन के योग्य नहीं।

वाह का गाना

एक गायक का गान हमें चकित कर देता है, हम बराबर बैठे हुए अपने मित्र से कहते हैं—"वाह ! क्या मुश्किल 'बल' निकलकर गए हैं, सारंगीवाला चकरा गया। अहा ! क्या 'मुँह' निकला है, तबलिया टापता रह गया।" और मूँगफलियाँ भी छीलकर खाते जा रहे हैं। प्रतीक्षा में हैं कि अगला 'बल' कैसा होगा और तबलिए पर भी दृष्टि है कि देखें इस बार इसका क्या हाल होता है; तो इस गायक की 'कला' का स्तर उस गायक से सर्वथा भिन्न है, जो हमारी सुध-बुध भुला देता है। 'चकित' करना एक बात है और अपनी कला में श्रोताओं को सर्वांगमग्न कर लेना दूसरी बात है। इस दृष्टि से 'कला' के दोनों रूपों की कोटियों का निर्धारण, अर्थात् उन दोनों में अपेक्षाकृत उत्कृष्टता का सकारण निरूपण करना भी आलोचक का कार्य है।

आनंद की अनुभूति

भारतीय मनीषियों ने कहा है कि 'गीत' (सार्थक वाक्य नहीं, नियमानुसार स्वरों के प्रयोग-मात्र) के द्वारा श्रोताओं के हृदय में स्थित उनके व्यक्तिगत राग, द्वेष इत्यादि का शमन करके उन्हें आनंदमात्र की अनुभूति कराई जा सकती है। उस समय श्रोताओं के मन में स्थित रजोगुण एवं तमोगुण सर्वथा दब जाते हैं और उनके अंतःकरण में 'सत्त्व' का उदय होता है; अंतःकरण की वह स्थिति स्वच्छ दर्पण के समान होती है। व्यक्तिगत राग-द्वेष, चिंता, हर्ष, उत्सुकता इत्यादि के भार से मुक्त होने के कारण उस समय श्रोताओं की चेतना 'आनंदस्वरूप' होती है। वह आनंद अनिर्वचनीय है, यही 'रस' है।

श्रोताओं को इस आनंद का अनुभव कराने की एक नैसर्गिक प्रक्रिया है। यदि कलाकार इस प्रक्रिया से अवगत नहीं, तो वह संकल्पपूर्वक श्रोताओं को तन्मय नहीं कर सकता. और यदि आलोचक इस प्रक्रिया से परिचित नहीं है, तो वह अपनी आलोचना में न्याय नहीं कर सकता।

जब कोई रससिद्ध गायक कोई करुणाव्यंजक राग गाकर हमें रुला देता है, तो हमारे अंतःकरण में स्थित करुणा के तार छिड़ जाते हैं, वह करुणा स्वाभाविक रूप में व्यक्त होती है, गायक के स्वरों द्वारा व्यक्त करुणा से हमारी स्वाभाविक करुणा का 'संवाद' होता है। हम रोते हैं, उस रोने में हमें आनंद का अनुभव होता है। सांसारिक

जीवन में जिन अवसरों पर हमारा अश्रुपात होता है, यह अवसर उन अवसरों से सर्वथा भिन्न होता है, इस अवसर पर हमें कोई शारीरिक या मानसिक पीड़ा नहीं होती, जो लौकिक जीवन में हमारे अश्रुपात का कारण हुआ करती है।

अस्तु, हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि संगीत का प्रयोजन श्रोताओं के मन को उनके व्यक्तिगत राग-द्वेष के भार से मुक्त करना है, इसी क्रिया का परिणाम श्रोताओं का तन्मय या आनंदित होना है।

तन्मय कर देनेवाले संगीत का परिणाम सदा अश्रुपात ही नहीं होता, उस तन्मयता में कभी हमारी स्थिति उत्साह, विनोद, मादकता इत्यादि से पूर्ण भी होती है। श्रोताओं के हृदय में सदा स्थित, परंतु सोए हुए से किसी भाव को पूर्णतया जगाकर उन्हें उसमें डुबा देना 'गीत' का प्रयोजन है। इन विभिन्न भावों को जगाने की प्रक्रियाएँ भी विभिन्न हैं, जिनका ज्ञान कलाकार एवं आलोचक, दोनों के लिए सर्वथा आवश्यक है।

यही 'आनंद' गीत की आत्मा है। यदि कोई गायक अपने गीत के द्वारा इस 'आनंद' की सृष्टि नहीं कर सकता, तो उसकी कला निष्प्राण है। साड़ी बेचनेवालों की दूकान के बाहर शीशे की अलमारी में स्थित मृत्तिका-निर्मित देवी साड़ी विभूषित हो सकती हैं, 'नारी' भी प्रतीत हो सकती हैं, परंतु वे 'नारी' हैं नहीं।

'गीत' में प्राणों की प्रतिष्ठा के लिए जिन ग्रंथों में निश्चित विधान दिए हैं, उनका रचना-काल तेरहवीं शती ई० या उससे पूर्व है। यदि किसी को उन विधानों से परिचय प्राप्त करना है तो उसे उन ग्रंथों से परिचय प्राप्त करना होगा।

प्रचलित शिक्षा-पद्धति में रस की उपेक्षा

यह एक दुःखद तथ्य है कि संगीत की प्रचलित शिक्षा-पद्धतियाँ इस दृष्टि से शून्य हैं, यही कारण है कि संगीत के क्षेत्र में अभी तक श्रेष्ठ आलोचना का विकास नहीं हुआ है।

जिन कवियों का प्रयोजन अपने द्वारा अनुभूत 'भाव' का जैसा-का-तैसा अभिव्यंजन करके सहृदयों को उसका अनुभव वैसा ही करा देना होता है, उनमें वाल्मीकि, कालिदास, तुलसी और सूर आते हैं; गायक का प्रयोजन भी ठीक यही होना चाहिए।

जो कवि 'भाव' की चिंता न करके अनुप्रास या उपमा-रूपक को ही अपना लक्ष्य मान बैठते हैं, उनकी गणना महाकवियों में कदापि नहीं होती, वे लोक-हृदय के प्रतिनिधि कभी नहीं होते। इसी प्रकार जो गायक तानों, पलटों, अलंकारों या लयकारी के फेर में पड़े रहते हैं, वे अपने परिश्रम से श्रोताओं को चक्कर में भले ही डाल दें, उनको तन्मय नहीं कर सकते।

चिंता की बात यह है कि कुछ 'अपवादों' को छोड़कर अधिकांश गायकों की रुचि 'वैचित्र्य' की ओर है और जिन हाथों में आज 'कला' की न जाने कौन-सी तुला है, वे भी इस वैचित्र्य के शिकार हैं।

भारत के प्राचीनतम विचारकों ने भी कहा है कि वर्ण-विरोधी अलंकारों का प्रयोग राग में वर्जित है। राग-विशेष में क्रम-विशेष एवं अनुपात-विशेष के अनुसार किया जानेवाला स्वर-प्रयोग उस राग का 'वर्ण' कहलाता है। यदि कोई अलंकार उस 'वर्ण' का विनाशक है, तो वह राग-विशेष के द्वारा उत्पन्न मानसिक स्थिति में विघात उत्पन्न करेगा, परंतु आज ऐसे अनेक 'उस्तादों' में भी इस दृष्टि की कमी है, जो बड़े से बड़ा सम्मान प्राप्त कर चुके हैं और जिन्हें 'आदर्श' रूप में प्रतिष्ठित करने की चेष्टा बलपूर्वक की जाती है। ऐसे उस्तादों को 'सट्टे' मारने में सुविधा चाहिए, इसके अतिरिक्त इनका लक्ष्य और कुछ नहीं।

किसी भी प्रकार का अनौचित्य 'रस' में विघातक होता है। स्वादिष्ट भोजन का स्वाद लेते समय यदि एक भी कंकड़ी आ जाए, तो सारा मजा किरकिरा हो जाता है। इसी प्रकार गीतजन्य रसास्वाद के समय यदि गायक द्वारा कोई भी अनुचित स्वर प्रयोग हो जाए, तो रसधारा में भंग हो जाता है। जो कलाकार रसानुभव कराने की प्रक्रिया में निपुण होगा, वह विपरीत आचरण नहीं करेगा। उस प्रक्रिया का मार्मिक विवेचन आज की पद्धति में नहीं है।

तेरहवी शती ई० एवं उससे पूर्व के संगीत-ग्रंथों की ओर ऊपर संकेत किया जा चुका है, जिनमें स्वरों के द्वारा भावप्रकाशन की विधि नियत ही नहीं, अपितु उनकी स्वरविधि का आधार ही 'गीत' की भावाधारित पद्धति है। चिर अतीत से संगीत का विकास हुआ है, असंख्य नए-नए राग बने, परंतु संगीतशास्त्र के सभी विचारकों की दृष्टि संगीत के भाव-संबंधी पक्ष पर रही।

रागों के ध्यान

राग के भावाधारित अमूर्त व्यक्तित्व को मूर्त करने के लिए संगीत के कुछ संप्रदायों में 'रागों' के ध्यानों की रचना हुई और यह स्पष्ट घोषित किया गया कि जो गायक 'राग' का ध्यान किए बिना उसका गान करता है, उसे अभीष्ट फल की प्राप्ति नहीं होती। स्पष्ट है कि जो गायक 'राग' के भावसंबंधी विशिष्ट व्यक्तित्व से परिचित नहीं होगा, यथायथ रूप में भला उसकी अवतारणा कैसे करेगा और ऐसी स्थिति में श्रोताओं को रसास्वाद कैसे होगा ?

तेरहवीं शती ई० तक ऐसे गायक विद्यमान थे, जिन्हें संगीत की भावसंबद्ध प्रक्रिया पर अधिकार था और जिन्होंने अलाउद्दीन खिलजी-जैसे पाषाणों को पिघला दिया था, उस समय के संगीतज्ञों का आधार सुप्रसिद्ध मूर्च्छना-पद्धति थी, जिसका संबंध 'राग' के शरीर को जन्म देने के साथ-ही-साथ उसकी 'आत्मा' से है।

मेल-पद्धति राग का ढाँचा

मेल-पद्धति या ठाठ-पद्धति 'राग' के शरीर पर विचार करती है, वह हमें यह नहीं बताती कि किस राग में किन-किन स्वरों का किस-किस मात्रा या किस-किस परिमाण में प्रयोग किस-किस भाव की अभिव्यक्ति में सहायक होकर कौनसे प्रधान भाव का परिपोष करता है, इसी लिए आज का गायक 'वैचित्र्य' के पीछे पड़ा हुआ है,

तैयारी उसका लक्ष्य है और वह अपनी तैयारी से श्रोताओं को आतंकित या चकित कर देना चाहता है। यही कारण है कि जनता का अधिकांश, शास्त्रीय कहे जानेवाले संगीत से दूर भागता है। गायक लोग कहते हैं कि लोग संगीत समझते नहीं, इसलिए भागते हैं, परंतु यह कथन अपने दोष को छिपाने का एक उपायमात्र है। यदि 'तानसेन' के संगीत का आनंद लेने के लिए श्रोता को भी 'तानसेन' होना पड़े तो संगीत-कला 'वर्ग-विशेष' के लिए हुई, उससे लोकरंजन तो असंभव हो जाएगा, परंतु जैसा कहा जा चुका है कि संगीत का आनंद लेने के लिए 'सहृदयता' अनिवार्य है, मर्मज्ञता नहीं।

इस शताब्दी में जिन्होंने संगीत की सेवा में अपना संपूर्ण जीवन दिया, वे दक्षिण के वैणिक ग्रंथकारों से अत्यंत प्रभावित थे। दक्षिण के ये वैणिक ग्रंथकार रागों पर भाव-दृष्टि से विचार करने में सर्वथा असमर्थ रहे हैं, क्योंकि मेल-पद्धति का विकास वैणिकों के लिए वादन में 'सुविधा' प्रस्तुत करना रहा है, भावव्यंजना नहीं। यही कारण है कि मेल-पद्धति से जिन रागों का बोध कराने का प्रयत्न दाक्षिणात्य ग्रंथकारों ने किया है, उनकी भावव्यंजकता की ओर उन ग्रंथों में कोई संकेत नहीं है।

मूर्च्छना-पद्धति रसानुसारिणी

मूर्च्छना-पद्धति की दुर्बोधता के संबंध में शताब्दियों से इतना अपप्रचार हुआ है कि आज लोग इस पद्धति का समझा जाना असंभव समझकर इसकी चर्चा तक को व्यर्थ मानने लगे हैं। 'रत्नाकर' जैसे ग्रंथों की व्याख्या 'ताँबे से सोना बनाना' समझा जाने लगा है, फलतः इसकी ओर ध्यान दिलाए जाने पर भी वे लोग उदासीन रहते हैं, जो इस संबंध में बहुत-कुछ कर सकते हैं।

प्रत्येक कला का प्रयोजन भावाभिव्यक्ति है। संगीत का प्राण भी 'भाव' है। जब तक संगीत के भावपक्ष का विश्लेषण न होगा, तब तक इस दिशा में अच्छी समालोचना का विकास संभव नहीं और अच्छी समालोचना-पद्धति के अभाव में कलाकार मनमानी करते रहेंगे, उनकी कला निष्प्राण होती जाएगी। संगीत के भावपक्ष को उद्घाटित करने के लिए 'मूर्च्छना-पद्धति' के ग्रंथों का समझा जाना अत्यंत आवश्यक है।

संगीत और साहित्य में समन्वय

संगीत शब्द में यद्यपि गीत, वाद्य और नृत्य तीनों का समावेश है, तथापि आज गाने अथवा बजाने के लिए भी 'संगीत' शब्द प्रयुक्त होने लगा है। अत्यंत मनोरंजक बात यह है कि 'शास्त्रीय' शब्द विशेषण के रूप में 'संगीत' के पहले, न जाने कैसे जुड़ गया है। किसी मनीषी (!) ने 'क्लासिकल म्यूजिक' शब्द का अनुवाद 'शास्त्रीय संगीत' के रूप में कर डाला और यह अनर्गल अनुवाद एक पारिभाषिक शब्द बनकर रह गया।

शब्दार्थभक्षी दृष्टिकोण

गाने की एक विशिष्ट शैली 'खयाल' है, जिसके विलंबित रूप की वर्त्तमान शैली प्रायः भाषानिरपेक्ष हो गई है। इस शैली के वकीलों का कथन है—"संगीत के उभरने के साथ शब्दार्थ पीछे छोड़ दिया जाता है, छोड़ दिया जाना चाहिए। संगीत को चाहिए कि वह शब्दार्थ को खा जाए और शब्दार्थ को चाहिए कि वह संगीत के द्वारा खाया जाए, तभी संगीत अपने वास्तविक रूप में विकसित होगा।"

इस शब्दार्थभक्षी दृष्टिकोण ने रसज्ञों और रसिकों के उस वर्ग को शास्त्रीय संगीत (!) की ओर से आतंकित कर दिया है, जो अर्थ का सार्वजनिक वध अपनी आँखों से नहीं देखना चाहता। वह सोचता है कि 'शास्त्रीय काव्य' अथवा 'शास्त्रीय चित्रकला' जैसे शब्द जब समाज के लिए अपरिचित हैं और ऐसे शब्दों के अभाव में भी जब काव्य-जगत् और चित्र-जगत् का काम सुचारु रूपेण चल रहा है, तब अर्थभक्षिणी शास्त्रीयता (!) को प्रणाम कर लेने से संगीत का काम क्यों नहीं चल सकता।

'खयाल' के प्रमुख उन्नायक नेमत खाँ 'सदारंग' शब्दार्थभक्षी नहीं थे, उन्होंने महाकवि देव-जैसे समर्थ आचार्य और रसिक शिरोमणि के चरणों में बैठकर साहित्य एवं संगीत की साधना की थी। यह अलग बात है कि इस युग में 'सदारंग' पर श्रद्धा रखनेवाले अनेक गायकों को भी उनकी अक्षर-शत्रुता ने शब्दार्थभक्षी बना दिया हो।

अस्तु, संगीत और साहित्य को निकट लाने की बात इसी शब्दार्थभक्षिणी प्रवृत्ति से घबराकर की जाती है।

चित्र का एक दूसरा पक्ष भी है।

वीणापुस्तकधारिणी के उपासक

वीणापुस्तकधारिणी के उपासकों में एक वर्ग का संबंध 'वीणा' से नहीं रहा है। इस वर्ग की दृष्टि में यदि सरस्वती 'वीणा' को विश्राम दे दे, तब भी कोई अंतर नहीं पड़ता। सरस्वती बेचारी का भार ही कुछ कम होगा। यह वर्ग अपना काम 'पुस्तकधारिणी' के ध्यान से ही चला रहा है। आंगिक अभिनय एवं वीणा अथवा वेणु के स्वरों में 'अवगमन शक्ति' भले ही ध्वनिवादी आचार्य आनंदवर्धन को दिखाई देती हो, आचार्य अभिनवगुप्त-जैसे युगप्रवर्त्तक महामनीषी भले ही वीणा-तुम्बों का

आश्रय लेकर नाद-सागर में उन्मुक्त विहार करते रहे हों, परंतु पुस्तकधारिणी का उपासक यह वर्ग संगीत-जगत् से उतना ही दूर है, जितना दूर वैष्णववर्ग अवैष्णव सम्प्रदाय से है।

अर्थात् एक वर्ग सरस्वती की वीणा की ओर से तटस्थ है, तो दूसरा अर्थात् अक्षरशत्रु अथवा शब्दार्थभक्षी संगीतज्ञ-वर्ग सरस्वती की पुस्तक को 'व्यर्थ पोथी' समझता है। यह वर्ग 'हरसुत विनायक लंबोदर चतुर' को 'हर विन नायक लंबूधरो छत्र' कहता है और उच्चतम राजकीय सम्मान पाता है।

साहित्यकार जब संगीत की ओर से तटस्थ है और संगीतज्ञ जब रस-तत्त्व से अनभिज्ञ है, तब संगीत और साहित्य को निकट कैसे लाया जाए।

संस्कृत अथवा हिंदी में एम० ए० करनेवाला प्रत्येक विद्यार्थी भरत मुनि के नाम से परिचित होता है, यह भी जानता है, नाट्य के चार उपादानों में 'गीत' (आधुनिक लीरिक नहीं) भी है, परंतु वह यह नहीं जानता कि 'गीत' के चार अंग स्वर, पद, लय और मार्ग भी हैं। रस-प्रकरण का अध्ययन करते समय वह शंकुक, भट्टलोल्लट, भट्टनायक और अभिनवगुप्त के नाम से परिचित हो जाता है, परंतु उसके पास इस तथ्य को जानने का कोई साधन नहीं कि वे चारों आचार्य संगीत के महान् मर्मज्ञ और साधक थे, उन्होंने संपूर्ण 'नाट्य-शास्त्र' की व्याख्या की है, जिसके कई अध्यायों का विषय संगीत है।

इस युग में 'रस' पर बहुत-कुछ लिखा गया है, परंतु इस तथ्य का प्रतिपादन शायद ही कहीं किया गया हो कि नाद के रूप 'स्वरवान्' और 'अभिधानवान्' हैं। स्वरवान् रूप वीणा, वेणु, गायक के कंठ में गुंजित होता है और भाषा-निरपेक्ष होकर भी 'व्यंजक' होता है तथा अभिधानवान् रूप साहित्य में प्रस्फुटित होता है और व्यंजना ही इसका भी प्राण है।

सरस्वती की 'वीणा' नाद के स्वरवान् रूप का प्रतीक है और 'पुस्तक' अभिधानवान् रूप की ओर संकेत करती है। जब तक साहित्यकार की ओर से 'वीणा' और संगीतज्ञ की ओर से 'पुस्तक' की उपेक्षा होती रहेगी; तबतक संगीत और साहित्य परस्पर कैसे आएँगे।

भरत ने स्थायी भाव, अनुभाव, संचारी भाव-जैसे पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है, तो स्थायी स्वर, अनुवादी स्वर और संचारी स्वर भी 'नाट्यशास्त्र' में ही प्रयुक्त शब्द हैं। यह स्थिति विचारणीय है।

नाद और स्वरवान् रूप

संगीत से अपरिचय कोई अपराध नहीं है, परंतु जो सज्जन रस-संबंधी भारतीय दृष्टिकोण से पूर्णतया परिचित होना चाहते हैं, उनका काम नाद के स्वरवान् रूप की उपेक्षा करने से नहीं चलेगा।

हिंदी-जगत् आज 'गीतकार' के जिस रूप से परिचित है, उसके लिए संगीत-संबंधी ज्ञान अनावश्यक माना जाता है। आधुनिक गीतकार की अपनी एक विशिष्ट

'टेर' या 'धुन' होती है, उसी 'टेर' में वह अपने गीत गुनगुनाता अथवा गोष्ठियों या कवि-सम्मेलनों में पढ़ता है। गीत जब स्वरयोजना के लिए 'लाइट म्यूजिक' या 'सुगम-संगीत' के सृष्टाओं के पल्ले पड़ते हैं, तब वे अलग झुँझलाते हैं और गीतकार अलग भौंह सिकोड़ता है।

भरत ने कुछ विशिष्ट छंद चुन लिए थे, जिन्हें 'गेय पद' कहा जाता है। जयदेव, विद्यापति, सूर और तुलसी की 'पद' कहलाने वाली रचनाएँ गेय छंदों में होने के कारण ही 'पद' कहलाती हैं। जो छंद केवल पाठ के लिए उपयोगी हैं, वे 'पाठ्य' कहलाते हैं, महाकाव्यों में प्रधानतया पाठ्य छंदों का उपयोग हुआ है।

आज का गीतकार छंद की गेयता पर कितना विचार करता है, स्वरयोजना की आवश्यकता पर कितना सोचता है, यह वही जाने।

आदर्श वाग्गेयकार

वास्तव में गीत तो एक शिशु है, जिसके वाक्-पक्ष और गेय-पक्ष, दोनों का उद्गम एक ही होना चाहिए। गीत के आदर्श स्रष्टा को एक व्यक्ति होना चाहिए। 'वाक्' और 'गेय' दोनों पक्षों के कर्ता को 'वाग्गेयकार' कहा गया है। गीत में प्रयुक्त 'वाणी' या भाषा को संगीत-शास्त्र में 'मातु' और 'गेय' पक्ष को 'धातु' कहा जाता है। मातु और धातु की रचना में पूर्णतया समर्थ व्यक्ति ही आदर्श 'वाग्गेयकार' कहलाता है। जयदेव, विद्यापति और सूर-जैसे मनीषी उत्तम वाग्गेयकार थे।

मातुकार और धातुकार

गीत के केवल वाक्-पक्ष की रचना करनेवाला व्यक्ति 'मातुकार' कहलाता है, यदि जयदेव, विद्यापति अथवा सूर की शैली में कोई व्यक्ति पद-रचना करे, तो वह व्यक्ति मातुकार कहलाएगा। उन पदों को गेय रूप देनेवाला व्यक्ति 'धातुकार' कहा जाएगा। फिल्म या रेडियो के लिए गीत, गजल इत्यादि लिखनेवाले लोग मातुकारों की श्रेणी में आते हैं और इन चीजों को 'धुन' या 'तर्ज' देनेवाले व्यक्ति धातुकारों के वर्ग में। स्पष्ट है कि धातुकार और मातुकार का स्थान वाग्गेयकार की अपेक्षा नीचा है। बनी-बनाई धुन या तर्ज पर शब्द-योजना करनेवाला व्यक्ति 'कुट्टिकार' कहलाता है, जिसे 'अधम' कहा गया है।

गेय वस्तुओं के लिए छंदोबद्ध होना अनिवार्य नहीं हैं, राग और ताल के समक्ष छंद को आत्मसमर्पण भी करना पड़ता है, क्योंकि आवश्यकता के अनुसार स्वरों के लुप्त रूप का उच्चारण भी गान में होता है, यह उच्चारण ताल की परिधि में तो समा सकता है, छंद में इसके लिए अवकाश नहीं। स्वामी हरिदास-जैसे रसिक-शिरोमणि वाग्गेयकार की रचनाएँ छंदोहीन होने के कारण ही आचार्य रामचंद्र शुक्ल को 'ऊबड़-खाबड़' दिखाई दी हैं।

गद्य भी गाया जा सकता है, परंतु संगीत की परिभाषा में वह 'चूर्ण पद' कहलाएगा।

गेय पद्य

अष्टछाप के पदों में भाषा और छंद की प्रधानता है, राग और ताल उनके उपकारक हैं। ध्रुवपद, खयाल इत्यादि में राग और ताल की प्रधानता है, भाषा इनकी सहायिका है। शब्दों के 'चर्वण' अथवा अर्थ के 'ग्रास' का अधिकार गायक को कदापि नहीं है।

दरबारों में जीवन व्यतीत करनेवाले गायकों के लिए पंडितों और कवियों का संपर्क सहज और सुलभ था। हमारा तात्पर्य उस मुगल-दरबार-जैसे दरबारों से है, जहाँ अच्छे विद्वानों और कलाकारों को भरपूर सम्मान भी मिलता था। उस युग के गायक, वादक और नर्तक गेय वस्तुओं के साहित्य-पक्ष को भलीभाँति समझते थे। अक्षर-शत्रुता अथवा शब्दार्थभक्षण पश्चात्कालीन अज्ञान का परिणाम है, जो आजतक विद्यमान है।

जिस प्रकार साहित्यमर्मज्ञ-रसज्ञों की गोष्ठी में प्रस्तुत की जानेवाली कविताएँ कवि-सम्मेलन में दुहाई मचवा देनेवाली कविताओं से भिन्न कोटि की होती हैं, उसी प्रकार संगीत-मर्मज्ञों की गोष्ठी में प्रस्तुत किए जानेवाले संगीत की विधा से संगीत की वह विधा सर्वथा पृथक् है, जो असंगीतज्ञ रसिकों को आकृष्ट करती है। असंगीतज्ञ रसिकों को गजलें और कव्वालियाँ उच्चारण की शुद्धता के कारण आकृष्ट करती हैं। स्वर और लय से सजे हुए गीत और भजन भी जनसाधारण में अपनी व्यक्तता के कारण ही पसंद किए जाते हैं।

सभाचतुरता गायक के लिए परमावश्यक है। जिस सभा में संगीतज्ञ और असंगीतज्ञ, दोनों ही प्रकार के श्रोता विद्यमान हों, वहाँ गायक की सभाचतुरता कसौटी पर होती है। उस अवसर पर संगीत की साख बनाए रखना आसान नहीं है। कुशल गायक राग और ताल की शुद्धता बनाए रखे और सर्वसामान्य को प्रसन्न कर सके, यह संभव है।

संगीत की भाषानिरपेक्ष स्थिति

शरीरवाची 'गात्र' शब्द का एक अर्थ है—'गाने का साधन' इसी लिए मानव-शरीर को 'गात्र वीणा' भी कहा जाता है। इस गात्र-वीणा में स्वरों को व्यक्त करने का सामर्थ्य है। मानवनिर्मित वीणा 'गात्र वीणा' का प्रतिबिंबमात्र है। गात्रवीणा में स्वर और भाषा, दोनों को साथ-साथ व्यक्त करने का सामर्थ्य है, परंतु मानवनिर्मित वीणा भाषा को व्यक्त करने में असमर्थ है। इसी लिए गान को वादन की अपेक्षा उत्कृष्टतर कहा गया है।

गात्रवीणा, दारू या लकड़ी की वीणा की तंत्रियों पर कोण या मिजराब के आघात से उत्पन्न 'डगरड़', 'दिरदिर' इत्यादि ध्वनियों अथवा मृदंग या तबले पर हाथ के आघात से उत्पन्न 'पाटों' (ध्वनियों या बोलों) को, व्यक्त करने में भी समर्थ है, इसी लिए वह वाद्यों की अपेक्षा श्रेष्ठ है।

गात्रवीणा का एक स्वतंत्र भाषानिरपेक्ष संसार भी है।

भाषा से सहायता न लेकर, कुछ लयव्यंजक अक्षरों की सहायता से गात्रवीणा गान में लय-वैचित्र्य और विविध गीतभंगिमाओं की सृष्टि करती है, ये अक्षर 'शुष्काक्षर', 'स्तोभाक्षर' अथवा 'वाक्करण' कहलाते हैं। स्वरों और लयव्यंजक, व्यंजन-समूहों की सहायता से जिस गान की सृष्टि की जाती है, उसकी संज्ञा 'गोष्ठी-गान' है, जो विशेषज्ञों की गोष्ठी में ही प्रस्तुत किया जाना चाहिए। ये 'शुष्काक्षर' व्याकरण अथवा साहित्य की परिधि में नहीं आते। गायकों के 'तराना' नामक गान में शुष्काक्षरों का ही प्रस्तार होता है।

विशिष्ट क्रम एवं विशिष्ट अनुपात में प्रयुक्त स्वरों का विशिष्ट प्रयोग 'राग' कहलाता है। सफल गायक अथवा वादक विशिष्ट राग की अवतारणा से श्रोताओं में विशिष्ट मनःस्थिति, चेतना या संवित् के निर्माण में समर्थ होता है, श्रोताओं के मन को विशिष्ट रंग में रँगने का साधन होने के कारण ही राग को 'राग' कहा जाता है। राग स्वरों का विलास है, जिस तंत्री-नाद अथवा सरस राग में मग्न न होनेवाले व्यक्ति को महाकवि बिहारी ने भाग्यहीन कहा है, वह वेणु अथवा वीणा में उमड़ता है, भाषा का मुँह नहीं जोहता।

कृष्ण के वेणुगीत से चराचर के मुग्ध होने की चर्चा करते समय महर्षि वेद-व्यास की वाणी झूम उठी है। तंत्रीनाद से मुग्ध होकर बधिक को प्राण अर्पण करने-वाले हरिणों की सहृदयता अमीर खुसरो के अनुसार भारतीय राग की ही विशेषता है, विषयों के आस्वाद से सर्वथा अपरिचित बालक गीतामृत का पान करके रोना छोड़ देता है।

तंत्रीनाद में व्यथा उँडेलकर श्रोताओं की आँखों से रूमाल लगवा देनेवाले कलाकारों का अभाव नहीं है, भले ही वे सुलभ न हों। स्वर-लहरियों में झुला-झुलाकर सुला देनेवाले साधक अभी भारत में हैं, भले ही धैर्यवान् श्रोता आज दुर्लभ हों।

संगीत-संसार और प्रतियोगिता

(पार्श्वदेव के युग में और आज)

स्वयं को दूसरे की अपेक्षा श्रेष्ठ सिद्ध करने की प्रवृत्ति मानव-मात्र में सहज और स्वाभाविक है। पंडितों के पारस्परिक शास्त्रार्थ, कवियों की गर्वोक्तियाँ, रणक्षेत्र में प्रतिपक्ष के योद्धाओं को ललकारना, गवैयों के दंगल, कन्याओं के स्वयंवर इत्यादि सभी क्षेत्रों में यही पारस्परिक स्पर्धा दिखाई देती है।

आज के युग में भी सौंदर्य्य-प्रतियोगिता, खिलाड़ियों के मैच, पहलवानों के दंगल तथा संगीत-प्रतियोगिताएँ इत्यादि मानव की पूर्वोक्त सहज प्रवृत्ति का परिणाम हैं।

प्रतियोगिता के लिए एक पुराना शब्द 'वाद' है। ललकार की पहल करनेवाला 'वादी', उत्तर देनेवाला 'प्रतिवादी', निर्णय करनेवाला 'सभापति' और निर्णय में सहायता देनेवाले 'सभ्य' हैं।

प्रसिद्ध जैन आचार्य्य पार्श्वदेव ने तेरहवीं शती ईसवी में लिखित अपने ग्रंथ, 'संगीतसमयसार' में 'वादनिर्णय' नामक एक स्वतंत्र अध्याय लिखा है। उनके शब्दों से पता चलता है कि मतंग ने भी संभवतः इस विषय में विस्तृत विचार किया था। मतंग का ग्रंथ 'बृहद्देशी' खंडित रूप में मिलता है, अतः उसका वादनिर्णय प्राप्त नहीं है। पार्श्वदेव के शब्द हैं—'मतंग इत्यादि ने 'सभापति', 'वादी', 'प्रतिवादी' और 'सभ्य' वाद के ये चार अंग बताए हैं।[1]

वाद के कारण[2]

पार्श्वदेव के अनुसार वाद के कारण १. 'निर्वाहाधिक्यवाञ्छा' (गुज़ारे के लिए अधिक धन प्राप्त करने की इच्छा), २. 'मत्सर', ३. 'स्वामिकौतुक' (अन्नदाता का मनोरंजन), ४. 'स्वैरगोष्ठिपरीभाव (प्राईवेट गोष्ठी में हुई हार), ५. 'कारणांतरवैरिता' (किसी अन्य कारण से वैर), ६. 'प्रतिपत्तिः' (विशिष्ट दृष्टिकोण का प्रतिपादन), ७. 'स्पृहा' (स्पर्धा), ८. 'असूया' (ईर्ष्या), ९. 'कीर्तिव्यसनिता' (दूसरों को जीतकर यश अर्जित करने की चाट) और १०. 'विद्यामद' हैं।

अन्नदाता की प्रसन्नता, मनोरंजन या कौतुक के लिए किया जानेवाला वाद तो मिलीभगत होता होगा। वस्तुतः विद्यामद, कीर्तिलिप्सा और अर्थ-प्राप्ति ही व्यापक रूप में वाद के कारण हैं, इन्हीं में अन्य कारणों का भी अंतर्भाव हो जाता है।

---

१. सभापतिश्च सभ्याश्च तौ वादि प्रतिवादिनौ।
इति प्रोक्तं मतंगाद्यैर्वादस्याङ्ग चतुष्टयम्॥

२. निर्वाहाधिक्यवाञ्छा च मत्सरः स्वामिकौतुकम्।
स्वैरगोष्ठिपरीभावः कारणांतरवैरिता॥
प्रतिपत्तिः स्पृहासूया कीर्तिव्यसनिता तथा।
विद्यामदश्च निर्दिष्टारत्तज्ज्ञैर्वादस्य हेतवः॥

जीतनेवाले को कुछ पुरस्कार भी मिलना चाहिए, भले ही वह हारनेवाले की जमा-पूँजी छीन ले, जीतनेवाले के प्रशंसक उस पर पुरस्कारों की वर्षा करने लगें, या अन्नदाता अपना अनुग्रह करें। यह भी संभव है कि वादी-प्रतिवादी में परस्पर कुछ शर्त तय हो जाए। अस्तु, सामने कोई मूल्यवान् वस्तु ऐसी होना चाहिए, जिसकी प्राप्ति के लिए वादी-प्रतिवादी अपना खून-पसीना एक कर दें।

पार्श्वदेव भी वाद में 'पण' (बाज़ी, शर्त) आवश्यक बताते हैं, परंतु कहते हैं कि वाद के समय दुर्वचनों का प्रयोग नहीं होना चाहिए, न हारनेवाले का सर्वस्वहरण करना चाहिए और न उसका अंगच्छेद होना चाहिए।[१]

सभापति की योग्यता

सभापति को दानशील, गुणग्राही, कीर्तिप्रिय, संगीत के गुणों और दोषों का मर्मज्ञ, समस्त भाषाओं (गेय प्रबंधों में प्रयोज्य भाषाओं) का मर्मज्ञ, मधुरभाषी, सत्यवादी, मार्ग और देशी के भेदों का मर्मज्ञ, सत्यवादी, शृंगारी तथा पारितोषिक-दायक होना चाहिए।[२]

ये विशेषताएँ सभापति के पांडित्य, स्वभाव और चरित्र से संबंध रखती हैं। यदि मूर्ख होगा, तो निर्णय कैसे करेगा, मधुरभाषी न होगा, तो वादी-प्रतिवादी को प्रोत्साहन कैसे दे सकेगा, झूठा होगा, तो उससे न्याय कौन कराएगा और उसकी कीर्ति कैसे होगी और यदि दानशील और पारितोषिकदायक न होगा, तो उसके सामने बेकार अपना सिर फोड़ने कौन गुणी जाएगा।

सभ्यों की योग्यता卐

पार्श्वदेव का कथन है कि सभापति को निर्णय से पूर्व मान्य सभ्यों की सम्मति भी लेना चाहिए।[३] सभा में रस एवं भाव के मर्मज्ञ, छंद और अलंकार में निष्णात, प्रतिभाशाली, तीव्र बुद्धि रीति के निर्वाह में कुशल 'कवि', काव्य एवं नाटक से व्यक्त रस के आस्वाद के लोलुप, सूक्ष्मभाव और अर्थ का आनंद लेनेवाले 'रसिक' और संगीत के शास्त्र और लक्ष्य में निष्णात ऐसे सभ्य भी राजा के दाहिनी ओर होने चाहिए, जो वाद में मध्यस्थ हों।[४]

---

१. "मतेन पणबंधेन वादिनोर्वादकल्पना। पणबंधस्तुकर्तव्यो वादिनोस्तु विशेषतः।
अत्युक्ति देहदंडञ्च सर्वस्वहरणं तथा। दुर्वाक्यं वारयेदेव वादकाले सभापतिः॥"

२. "श्रीमान् दाता गुणग्राही भावज्ञः कीर्ति लंपटः। संगीतगुणदोषज्ञः सर्वभाषाविचक्षणः।
प्रियवाग्वादमध्यस्थः पारितोषिकदायकः। सत्यवादी च शृंगारी मार्गदेशिप्रभेदवित्।
धीमान् सर्वकलाध्यक्षः तदध्यासितभूपतिः।"

३. "तत्तद्विद्यावशादेवं मान्यानपि परीक्ष्य च। तारतम्यं तयोर्ज्ञात्वा दद्याज्जयपराजयौ।"

४. सभ्यास्संगीतशास्त्रज्ञास्तल्लक्ष्यज्ञा अनुद्धताः। मध्यस्था नाद समये गुणदोषनिरूपकाः।
कवयो रसभावज्ञाश्छंदोऽलंकारवेदिनः। अमंदा प्रतिभायुक्ता रीतिनिर्वाहकोविदाः।
काव्य नाटक संजातरसास्वादन लंपटाः। रसिका स्सूक्ष्मभावार्थज्ञानानंदित चेतसः।
एते सर्वे यथायोग्यं भवेयुस्तस्यदक्षिणे।

卐 टिप्पणी : आजकल जो लोग प्रायः अनेक क्षेत्रों में गुणियों के भाग्य का निर्णय करते हैं, यदि पार्श्वदेव को उनके दर्शन का सौभाग्य प्राप्त होता, तो उनकी क्या दशा होती!

कालिदास के प्रसिद्ध नाटक 'मालविकाग्निमित्र' में नाट्याचार्य्य गणदास और हरदत्त के बाद के समय पंडिता कौशिकी की उक्ति है—"यदि निर्णायक सर्वज्ञ भी है, तब भी उस अकेले का निर्णय भ्रमपूर्ण हो सकता है।"[१] फलतः वह वाद भरी सभा में हुआ। महारानी धारिणी चाहती थीं कि मालविका-जैसी अनिन्द्य सुन्दरी महाराज के सामने न पड़े और पंडिता कौशिकी ही दोनों आचार्य्यों की शिष्याओं को एकान्त में सुनकर निर्णय दे दें।

अस्तु, भ्रम तथा राग-द्वेष से निर्णय को मुक्त रखने के लिए मध्यस्थ आवश्यक हैं, जो वादी-प्रतिवादी के गुण-दोषों का निरूपण तर्कशुद्ध शैली में करके उनकी श्रेष्ठता में सापेक्ष तारतम्य निश्चित कर सकें, जिससे सभापति राजा का निर्णय सर्वसंतोषप्रद हो।

तारतम्य का निश्चय करने के लिए गुणियों के गुण-दोषों का निरूपण तो पार्श्वदेव ने किया ही है, परंतु वाद का अवसर उपस्थित होने पर भी कुछ विशिष्ट व्यक्तियों में परस्पर वाद का निषेध किया है।

वर्जित वाद

नारी और पुरुष में, बूढ़े और जवान में, दरिद्र और श्रीमान् में, विनीत और उद्धत में, खिन्न और संतुष्ट में, शिष्य और गुरु में, परस्पर भिन्न विद्याओं के विद्वानों में, भीरु और शूर में, वाद का कारण उत्पन्न होने पर भी वाद उचित नहीं है।[२]

शंकराचार्य्य नैष्ठिक ब्रह्मचारी थे और मंडन मिश्र की पत्नी भारती महा-विदुषी। इनमें जब शास्त्रार्थ होने की नौबत आई, तब भारती ने काम-कला के संबंध में प्रश्नों की बौछार कर दी, बेचारे शंकराचार्य्य को कुछ समय के लिए अवकाश माँगकर परकाय-प्रवेश करना पड़ा। पुरुष में शारीरिक शक्ति अवश्य अधिक है, परंतु नारी की कोकिलकंठता और अंग-सौष्ठव कहाँ? अतः यह स्थिति वाद को अनुपयुक्त ठहराती है। यदि पुरुष निर्लज्ज है, तो नारी को झेंपा देना उसके एक संकेत का काम है, अतः नारी-पुरुष में परस्पर वाद अनुचित है।

जवान के मुकाबिले में बूढ़ा ज़ल्दी थक जाएगा, फिर वयोवृद्धता भी सम्मान-नीय है। अतः बूढ़े और जवान में वाद अनुचित है।

दरिद्र और श्रीमान् में भला क्या स्पर्धा। श्रीमान् व्यक्ति 'सभ्यों' को अनेक बार 'पार्टियाँ' दे चुका होगा, वह भी किसी बड़े होटल में। और संस्कृत की एक उक्ति है—'मृदंगो मुखलेपेन करोति मधुर ध्वनिम्।' —"अर्थात् मृदंग का मुँह भर दो (उस पर आटा लगा दो) वह भी मीठा बोलेगा।"

---

१. "देवि, नैतन्न्याय्यम्। सर्वज्ञस्याप्येकाकिनो निर्णयाभ्युपगमो दोषाय।"

—मालविकाग्निमित्रम्

२. स्त्रीपुंसयोर्वृद्धयूनोः दरिद्रश्रीमतोस्तथा। विनीतोद्धतयोः खिन्न तुष्टमानसयोरपि।
शिष्योपाध्याययोर्भिन्नविद्ययोर्भीरुशूरयोः। न वादो विहितः सद्भिः वादहेतुषु सत्स्वपि॥

विनीत व्यक्ति मनुष्यता छोड़ नहीं सकता और उजड्ड व्यक्ति इंसान बन नहीं सकता; इनका आमना-सामना कैसा ?

जो व्यक्ति खिन्न है, वह मनोयोगपूर्वक कला का प्रदर्शन ही कैसे कर सकेगा, पेटभरे के साथ उसका वाद ही क्या ?

यदि शिष्य को गुरु हरा भी दे, तो सम्मान की क्या बात है। हार जाए, तो आत्म-हत्या करना पड़ेगी। शिष्य-गुरु के वाद में मर्य्यादा का भंग भी है, अतः इन दोनों का वाद निषिद्ध है।

एक-दूसरे के विषय से अनभिज्ञ कलाकार परस्पर प्रतियोगिता ही कैसे करेंगे। गवैए और नचकैये का क्या मुकाबिला।

भीरु भविष्य में पिटने के डर से वाद में अपनी सारी कला भूल जाएगा, वाद के समय उसे पसीना छूटेगा।

वादी और प्रतिवादी की योग्यता

वादी को प्रतिपक्षी के खंडन में निपुण, बुद्धिमान् और गुरुमुख से अध्ययन करने के कारण शास्त्र में निपुण होना चाहिए। प्रतिवादी को भी शास्त्रवेत्ता, बुद्धिमान्, बहुश्रुत और वादी के पक्ष का खंडन करने में निपुण होना चाहिए।[1]

आजकल की बात जाने दीजिए, क्योंकि अब तो अँगूठाछाप होना खान्दानी होने की निशानी है।

औचित्य एवं अनौचित्य कला पर नैसर्गिक रूप से प्रभाव डालते हैं। औचित्य रस-परिपाक का साधक है एवं अनौचित्य बाधक। 'शास्त्र' मनीषी पूर्वजों के अनुभव का निचोड़ हैं और हमारी चिंतन-शक्ति को उद्बुद्ध करते हैं। ग्रंथ के अर्थ का परिज्ञान, ग्रंथ के तात्पर्य्यार्थ का निरूपण शास्त्र के पूर्वभाग, मध्य भाग एवं उत्तर भाग की व्याख्या करने का सामर्थ्य शास्त्रज्ञ के गुण हैं।[2]

सद्गुरु से अध्ययन करने पर ही शास्त्र के मर्म का ज्ञान होता है, तत्वज्ञ गुरु अनेक प्रकार से, अनेक उदाहरण दे-देकर शास्त्र के हृदय को स्पष्ट करता है, यही शैली सम्प्रदाय बन जाती है। केवल शब्दार्थ के बोध से यदि शास्त्रों की मर्मपूर्ण उक्तियाँ समझ में आनेवाली होतीं, तो केवल शब्द-कोष की सहायता से व्यक्ति किसी भी शास्त्र में निष्णात हो जाता, अतः शास्त्रज्ञ में पूर्वोक्त योग्यताएँ आवश्यक हैं।

शास्त्रज्ञ के दोष

पूर्वापर विरोधों और उनके परिहार के संबंध में अज्ञान, असहृदयता, प्रश्नों

---

१. अनुवादहृढ़प्रज्ञः स्वशास्त्रश्रवणान्वितः। परोक्तदूषणोद्धर्ता वादी स्यात्पक्षसाधकः॥
वक्तारं शास्त्रवेत्तारं बुद्धिमन्तं बहुश्रुतम्। वादिपक्षनिहन्तारं तं विद्यात्प्रतिवादिनम्॥

२. ग्रंथार्थस्य परिज्ञानं तात्पर्य्यार्थनिरूपणम्। आद्यन्त मध्य व्याख्यानशक्तिः शास्त्रविदो गुणाः।

के समय चुप्पी और संप्रदायविहीनता (गुरुमुख से शास्त्र न पढ़ा हुआ होना) ये शास्त्रज्ञ के दोष हैं।[1]

वाग्गेयकार के गुण

'बंदिश' के लिए पुराना शब्द 'प्रबंध' है। 'बंदिश' की उपमा यदि एक शिशु से दें, तो बंदिश का वाक्पक्ष (भाषा) उस शिशु की हड्डियाँ हैं और गेयपक्ष 'मांस'। इसी लिए 'सामविधान ब्राह्मण' में 'ऋचा' को 'साम' की हड्डी और स्वरों को मांस कहा गया है।[2] जिस प्रकार शिशु माता के गर्भ में विकसित होता और जन्म लेता है, उसी प्रबंधरूपी शिशु का विकास वाग्गेयकार के हृदय में होता है। 'वाक्' (प्रबंध का काव्य-पक्ष) और 'गेय' (गेय-पक्ष) इन दोनों का कर्त्ता वाग्गेयकार कहलाता है।

शब्द-शास्त्र (व्याकरण), छंदः शास्त्र, कोष-ज्ञान, कलाओं में कुशलता, सातों प्रकार के गीतों में प्रवीणता, रस-भाव-संबंधी चातुर्य्य, अलंकारों में नैपुण्य, तालज्ञता, रागमर्मज्ञता, सुरीलापन, सुगेयता, देशी रागों की मर्मज्ञता, देश की भाषाओं का जानना, स्वामी के चित्त का अनुवर्तन, नृत्त और वाद्य में प्रवीणता, सभा में शूरता, प्रतिभा, वाणी पर अधिकार, सभ्यों के चित्त का अनुरंजन, अनिबद्ध स्वरों (आलाप और आलप्ति) का ज्ञान, चारों धातुओं (उद्ग्राह, मेलापक, ध्रुव और आभोग) में पटुता, समस्त प्रकार के प्रबंधों का ज्ञान, न्यास-संबंधी निपुणता, मंद्र, मध्य और तारस्थान व्याप्ति में सुन्दर-प्रयोग, कोप-हीनता, दिए हुए विषय का निर्वाह, आश्चर्य्य-मय काव्य, यथोचित शब्दों का विन्यास, प्रगल्भता, वर्णों पर अधिकार, सावधानता, एक अंग में प्रौढ़ता और मुख पर प्रसन्नता ये 'वाग्गेयकार' के गुण हैं।[3]

वाग्गेयकार 'प्रबंधों' का स्रष्टा होता है। उसके द्वारा विरचित प्रबंधों का गाना गायकों का कार्य्य है। वाग्गेयकारों के गुणों से हीन गायकों के द्वारा की हुई बंदिशें सदैव दोषपूर्ण होंगी। आज क्या हो रहा है, यह जाने दीजिए।

---

१. पूर्वापरविरोधानामज्ञत्वमविदग्धता। निरुत्तरत्वं प्रश्नेषु सम्प्रदायविहीनता।
इत्यादयस्तु शास्त्रज्ञदोषास्सद्भिरुदाहृताः।

२. 'तस्य ह वा एतस्य साम्न ऋगेवास्थीनि स्वरो मांसानि.....' सामविधान-ब्राह्मण, १-१-४

३. शब्दशास्त्रपरिज्ञानं छंदोविचितिनैपुणम्। अभिधानेषु दक्षत्वं कलास्वपि च कौशलम्॥
सप्तगीतप्रवीणत्वं चातुर्यं रसभावयोः। अलंकारेषु चातुर्यं सुतालत्वं सुरागता॥
सुस्वरत्वं सुगेयत्वं देशिरागेष्वभिज्ञता। देशभाषा परिज्ञानं प्रभुचित्तानुवर्तनम्॥
नृत्ते वाद्ये प्रवीणत्वं तथैवास्थानशूरता। प्रतिभानं वचस्वित्वं सभ्यचित्तानुरंजनम्॥
अनिबद्धस्वरज्ञानं चतुर्धातुषु पाटवम्। सर्वप्रबंधबोधश्च मुक्तिकाले प्रदक्षता॥
त्रिस्थानव्याप्ति सुभगः प्रयोगः कोपवर्जनम्। आदिष्टार्थस्य निर्वाहः साश्चर्यकविता तथा॥
यथोचितपदन्यासः प्रागल्भ्यं वश्य वर्णता। सावधानत्वमेकांग प्रौढिर्वक्त्रे प्रसन्नता॥
एते वाग्गेयकारस्य गुणास्सद्भिरुदाहृताः।

वाग्गेयकार के दोष

ग्राम्योक्ति (शिष्टताहीन उक्ति), अपशब्द (अशुद्ध शब्द), अप्रस्तुत वर्णन, गमक और पद में जड़ता, प्रबंधज्ञानहीनता, रसानुरूप रागों के संबंध में अज्ञान, असहृदयता, क्रिया-निर्वाह से अपरिचय, मंदशारीरता, मान में न्यूनता या अधिकता, रीतिभंग, राग के शुद्ध रूप की भ्रष्टता, असमयगान, अश्राव्यता, लक्षणविरोधी 'मातु' (काव्य-पक्ष) 'धातु' (गेय-पक्ष) की रचना वाग्गेयकार के दोष हैं।[1]

क्रमिक-पुस्तक-मालिका में संगृहीत बंदिशों में प्रायः ये दोष देखे जा सकते हैं, 'उस्तादों', 'खान्दानी उस्तादों' की बंदिशों में इन दोषों का भंडार मिलेगा। अपवाद तो सर्वत्र होते हैं।

गायकों के भेद (अनिन्द्य और निन्द्य)

पार्श्वदेव ने गायकों का वर्गीकरण किया है। उनके अनुसार क्रियापर, क्रमस्थ, गतिस्थ, सुघट, सुसंच, शिक्षक, रसिक, भावुक, रंजक, परीतिज्ञ, सुगंध, अनियम, आलप्तिगायन, गीतगायन, चौपट, रीताल, विबंध और मिश्र प्रकार के गायक अनिन्द्य हैं।[2]

वह गायक 'क्रियापर' है, जो निर्दोष रूप में शास्त्र के अनुसार मार्गगान और देशीगान करता है।[3] जो क्रमपूर्व उत्तमोत्तम सूड प्रबंधों को क्रमपूर्वक गाता है, वह 'क्रमस्थ' है।[4] कंठ के अधीन होने के कारण जो लक्षणयुक्त गमकभेद प्रयुक्त करता है, वह 'गतिस्थ' है।[5] सुन्दर ध्वनिपूर्वक जो स्वर, वर्ण और ताल को व्यक्त रूप में घटित करता है, वह 'सुघट' (सुघड़, सुघर) है।[6] सुन्दर कंठस्वर होने के कारण जो अनायास रागों की आलप्ति करने में समर्थ है, वह 'सुसंच' है।[7] जो शुद्ध एवं छायालग

---

१. ग्राम्योक्तिरपशब्द तवदप्रस्तुतस्तुतिः। गमके च पदे जाड्यं प्रबंधज्ञानहीनता ॥
रसानुरूपरागाणामज्ञत्वमविदग्धता। क्रियानिर्वहणाज्ञत्वं मंदशारीरता तथा ॥
माने न्यूनाधिकाज्ञत्वं रीतिभंगस्तथा पुनः। छायापरिच्युतिस्तद्वद् गानं चासमये तथा ॥
अश्राव्यं लक्षणं त्यक्त्वा धातुमातू करोतियः। दोषैरेतैरुपेतो यो निन्द्यवाग्गेयकारकः ॥

२. अनिन्द्याश्चैव निन्द्याश्च द्विविधागायका मताः। क्रमेण वक्ष्यते तेषां लक्ष्मोद्देशपुरःसरम्।
क्रियापरः क्रिमस्थश्च गतस्थः सुघटस्तथा। सुसंचः शिक्षकश्चैव रसिको भावुकस्तथा ॥
रंजकः परीतिज्ञः सुगंधोऽनियमस्तथा। आलप्तिगायनो गीतगायनश्चौपटस्तथा ॥
रीतालश्च विबन्धश्च मिश्रश्चानिन्द्यगायकाः।

३. यथाशास्त्रप्रयोगेण मार्गं देशीयमेव च। यो गायति विना दोषान् कथ्यते स क्रियापरः ॥

४. उत्तमोत्तमसूडादिसूडान् गायतियः क्रमात्। प्रतिरूपक पर्य्यन्तं क्रमस्थः स उदाहृतः।

५. वश्यकंठतया सम्यक् गमकान् यः पृथक्-पृथक्। गमयेल्लक्षणोपेतं गतिस्थः स तु कीर्तितः ॥

६. स्वरं वर्णं च तालं च व्यक्तं घटयति त्रयम्। शोभनध्वनिसंयुक्तं सुघटं तं प्रचक्षते ॥

७. सुशारीरवशात्तत्रागालप्तिकृतिक्षमः। अनायासेन गीतज्ञस्सुसंचः परिकीर्तितः ॥

राग में विषम और प्रांजल गीत शीघ्र ही सीख लेता है, वह 'शिक्षाकार' है,[१] मधुर गीत सुनकर जो पुलकित हो जाता है तथा जिसके नेत्रों में आनंदाश्रु भर आते हैं, वह 'रसिक' है,[२] जो नीरस को सरस और भावहीन को भी भावयुक्त बनाकर गाता है, वह 'भावुक' है,[३] जो रंगस्थल में मनोरम गीत के द्वारा श्रोता का आशय समझकर गान करता है, वह 'रंजक' है,[४] जो आलप्ति में गीत के शरीर और चेष्टाओं का अनुकरण करता है और गीत के उत्तम गुणों से युक्त है, वह 'पररीतिज्ञ' है,[५] चिरकाल तक विषम और प्रांजल गीत गाने के पश्चात् भी जिसके कंठ में माधुर्य्य बना रहता है, वह 'सुगंध' है,[६] जो गीत की अपेक्षा भी सुखदतर आलप्ति करता है, वह 'आलप्ति-गायन है,[७] जो आलप्ति की अपेक्षा गीत मनोरमतर गाता है, वह 'रूपकगायन' है,[८] जो शुद्ध एवं छायालग राग में आलप्ति सहित गीत गाता है, वह 'चौपट' (चौमुखा) है,[९] जिसकी कंठध्वनि और शरीर में विभिन्न देशीय रीतियों का लगाव होता है, वह 'रीताल' है,[१०] जो अपनी ध्वनि में विभिन्न और विभक्त गतियों का चिंतन करता है, वह 'विबंध' है,[११] और जो एक राग में प्रवीणतापूर्वक अन्य राग की छाया का मिश्रण करता है, वह 'मिश्र' है।[१२]

उपर्युक्त गुणों में से कुछ का संबंध अच्छे प्रशिक्षण से है, तो कुछ का संबंध गायक की जन्मजात प्रतिभा, बुद्धिमत्ता और सहृदयता से है। अस्तु, इस विवरण से ज्ञात होता है कि 'बंदिशें' बनाने की अपेक्षा गायक से नहीं की जाती, वह 'वाग्गेयकार' का काम है। गायक का कार्य्य उन बंदिशों को सीखना और उन्हें ढग से प्रस्तुत करना है।

गायकों के दोष

संदष्ट, कंपित, भीत, शंकित, सानुनासिक, उद्घृष्ट, काकी, सूत्कारी, अव्यवस्थित, कराली, झोम्बक, वक्री, प्रसारी, निमीलक, निरवधान, विताल, उष्ट्रकी, उद्धड और मिश्रक ये निन्द्य गायक हैं।[१३]

---

१. द्रुतं यः शिक्षते गीतं विषमं प्रांजलं तथा। शुद्धे छायालगे सम्यक् शिक्षाकारः स उच्यते ॥
२. सुश्रवं गीतमाकर्ण्य भवेद्यः पुलकान्वितः। आनंदाश्रुकणाकीर्णः सोऽयं रसिकगायकः ॥
३. नीरसं सरसं कुर्वन् निर्भावं भावसंयुतम्। श्रोतुश्चित्तं परिज्ञाय यो गायेत् सतु भावुकः ॥
४. चेतोहरेण गीतेन विदित्वा श्रोतुराशयम्। रङ्गे गाने विधत्ते यो रंजकस्सोऽभिधीयते ॥
५. गीतशारीर चेष्टानामालप्तौ चानुकारकृत्। गीतोत्तमगुणैर्युक्तः पररीतिज्ञ इष्यते ॥
६. विषमं प्रांजलं वापि सुचिरं यस्यगायतः। कंठे न याति माधुर्य्यं सुगंधस्सतु कीर्तितः ॥
७. गीतादपि य आलप्तिं कुर्य्यात् सौख्यविधायिनीम्। आलप्तिगायनस्सोऽयं निर्दिष्टो गीतवेदिभिः ॥
८. आलप्तेरपि यद्गीतं भवेदतिमनोहरम्। उक्तो गायक भेदज्ञैः सोऽयं रूपकगायनः ॥
९. शुद्धे छायालगे चैव गीतमालप्तिसंयुतम्। यो गायति स विज्ञेयश्चौपटो गीतवेदिभिः ॥
१०. ध्वनिशारीरयोर्यस्य नानादेशीयरीतयः। विलगंति स विज्ञेयो रीतालो गीतवेदिभिः ॥
११. नानाविधां विभक्तांच ध्वनौ यश्चिन्तयेद्गतिम्। विबंधस्स परिज्ञेयो गीततत्त्वविचक्षणैः ॥
१२. रागे रागांतरच्छायां मिश्रयन् दोषवर्जिताम्। प्रवीणत्वेन यो गायेत्सोऽयं मिश्र उदाहृतः ॥
१३. संदष्टः कंपितो भीतः शंकितः सानुनासिकः। उद्घुष्टश्च तथा काकीसूत्कारी चाव्यवस्थितः ॥
कराली झोम्बकी वक्री प्रसारी च निमीलकः। तथा निरवधानश्च वितालश्चोष्ट्रकी तथा ॥
उद्घडो मिश्रकश्चेति निन्द्या एकोनविंशतिः।

दाँतों को पीसकर गानेवाला 'संदष्ट', न्यूनाधिक स्वर लगानेवाला 'कपिल', भयभीत होकर गानेवाला 'भीत', शंकायुक्त गायक 'शंकित', 'मिनमिना' अर्थात् नाक से गानेवाला 'सानुनासिक', क्षुब्ध होकर गानेवाला 'उद्घुष्ट', कौए-जैसे स्वरवाला 'काकी', सू-सू करके गानेवाला 'सूत्कारी', स्थानों में व्यवस्था न रखनेवाला 'अव्यवस्थित', मुँह फाड़कर गानेवाला 'कराली', गले, नाक और मुँह को फुलाकर गानेवाला 'झोम्बक', गाते समय गर्दन टेढ़ी करके गानेवाला 'वक्री', आँखें बंद करके गानेवाला 'निमीलक', गीत को अधिक फैलाकर गानेवाला 'प्रसारी', गीत की ओर एकाग्र न रहनेवाला 'निरवधान', बेताला गानेवाला 'विताल', ऊँट की भाँति बैठकर गानेवाला 'उष्ट्रकी', बकरे की भाँति ठोडी चला-चलाकर गानेवाला उपहासास्पद गायक 'उद्‌घड' शुद्ध राग में छायालग या छायालग में शुद्ध राग का मिश्रण करनेवाला 'मिश्रक' कहलाता है।[1]

औचित्य एवं औचित्यहीनता का ज्ञान सुशिक्षित एवं विचारशील गुरुओं को ही होता है, ऐसे गुरुओं के शिष्यों में ये दोष नहीं होते। उच्चारण के स्थान और आभ्यंतर एवं बाह्य प्रयत्न के ज्ञान के अभाव से, बल एवं शक्ति के अनुचित प्रयोग से तथा दोषयुक्त गुरुओं के अंधानुकरण से गायकों में मुद्रा-दोष उत्पन्न होते हैं। जिन दोषों का संबंध राग या ताल पर अनधिकार से है, वह कुशिक्षा एवं अज्ञान का परिणाम हैं, जिन दोषों का संबंध आत्मविश्वासहीनता से है, उनके मूल में उपयुक्त एवं पर्य्याप्त परिश्रम का अभाव है।

पार्श्वदेव ने गायकों के गुण और दोष बताकर पारखियों को कसौटी दे दी है।

गीत के स्वर-पक्ष की संगति वैणिक या वांशिक (वंशी-वादक) का कार्य्य है और पद-पक्ष की संगति करना अवनद्ध वाद्यों के वादक का कर्तव्य। अतः वादकों के गुण-दोष भी पार्श्वदेव ने बताए हैं।

वैणिक के गुण

जितेन्द्रियता, प्रगल्भता, आसन और परिग्रह (सहायकों) की स्थिरता, शारीरिक

१. दंतसंदंशतो ज्ञाता संदष्टः परिकीर्तितः। न्यूनाधिकस्वरैर्गीता कपिलस्समुदाहृतः ॥
यो गायति भयाविष्टस्तं भीतं गायनं जगुः। शंकाकुलस्तु योगायेत् सशंकित उदाहृतः ॥
गीतं नासिकया गायेत् विज्ञेयः सोऽनुनासिकः। उद्‌घुष्टस्सर्वतः क्षुब्धो गायन् गायन इष्यते ॥
काकस्येव स्वरोयस्य स काकी परिकीर्तितः। सूत्कारी सूत्कृतिप्रायो गायकः कथितो बुधैः ॥
अव्यवस्थित इत्युक्तः स्थानकेष्व व्यवस्थितः। उद्‌घाट्य वदनं गायन् करालीति निगद्यते ॥
उत्फुल्लगल्लनयन नासिको झोम्बकः स्मृतः। गानवक्रीकृतग्रीवो नाम्ना वक्री प्रकीर्तितः ॥
गीतस्यातिप्रसारेण प्रसारीति निगद्यते। निमील्य नयने गायन् कथितोऽसौ निमीलकः ॥
गीतावधानरहितः स स्यान्निरवधानकः। वितालो गायकः प्रोक्तो वितालं यस्तु गायति ॥
गायन्नुष्ट्रवदासीनः उष्ट्रकी सम्प्रकीर्तितः। हनुसंचलनाद् गायन् छागवद् गमकान्वितम् ॥
उद्‌घडस्सोपहासार्हो कीर्तितो गीतवेदिभिः। करोति शुद्ध रागे च छायालगविमिश्रणम् ॥
छायालगेऽथवा कुर्य्याच्छुद्धरागविमिश्रम्। मिश्रकस्स परिज्ञेयो गीततत्वार्थ दर्शिभिः ॥

सौष्ठव, हाथों का न थकना, सावधानता, निर्भयता, राग और रागांग के तत्व का ज्ञान, गीत-वादन में दक्षता श्रेष्ठ वैणिक के गुण हैं।[1]

वैणिक के दोष

तीनों वृत्तियों से अपरिचय, व्यग्रता, अलंकार-स्वरों का अज्ञान, विकलांगता, राग एवं गीत के स्वरों के बजाने में असमर्थ इत्यादि वैणिकों के दोष हैं।[2]

वांशिक के गुण

वंश के छिद्र के आधा खोलने, न खोलने और पूरा खोलने से वंश में स्वर-सारणा होती है, इसमें तथा सातों गमकों में निपुणता, स्थानों पर अधिकार, सुरागता, गीत-वादन में दक्षता, क्रियांग, भाषांग तथा विभाषा रागों तथा रागांगों में निपुणता, स्वस्थान तथा अवस्थान (बेजगह) में भी रागनिर्माण का नैपुण्य, गवैयों को जगह दिखाना तथा उनके दोषों को ढकना इत्यादि गुणों से युक्त श्रेष्ठ वांशिक माना गया है।[3]

वांशिक के दोष

फूँक में फिसलना, कम फूँक होना, एक फूँक में दो-दो स्वर निकालना, सिर हिलाना, काँपना, तारस्थान की अप्राप्ति, मिथ्या प्रयोग (संकल्प का पूरा न होना) की बहुलता, गीतवादन में अज्ञान ये वांशिक के दोष हैं।[4]

वैणिक हो या वांशिक इन दोनों का कार्य्य शुष्क वादन (स्वतंत्र-वादन या सोलो-वादन) ही नहीं, गायक की संगति करना भी है। यदि आज किसी बीनकार से या वंशीवादक से संगति करने के लिए कहा जाए, तो वह इसे गाली समझेगा। अशिक्षा, कुशिक्षा, अनभ्यास और अयोग्यता को अपनी हेकड़ी से छिपानेवाले जन्मजात 'उस्तादों' की कमी आज नहीं है।

---

१. जितेन्द्रियः प्रगल्भश्च स्थिरासन परिग्रहः। शरीरसौष्ठवोपेतः करयोर्विजितश्रमः॥
सावधानो भयत्यक्तो रागरागांगतत्त्ववित्। गीतवादनदक्षश्च वैणिकः कथितो वरः॥

२. वृत्तित्रयानभिज्ञतिरवधानविहीनता। अलंकारस्वरातम् विकलांगत्वमेव च॥
रागगीतस्वराणां च वादनेष्वसमर्थता। इत्याद्यस्समुद्दिष्टा दोषा वैणिकसंश्रयाः॥

३. अर्धमुक्तिरमुक्तिश्च मुक्तिश्चेत्यंगुलीवहाः। अंगुलीसारणास्तासु गमकेषु च सप्तसु॥
सुस्थानता सुरागत्वं दक्षता गीतवादने। क्रियाभाषाविभाषासु रागरागांगयो रपि॥
स्वस्थाने चाप्यवस्थाने रागनिर्माणनैपुणम्। गातॄणां स्थानदातृत्वं तद्दोषाच्छादनं तथा॥
एवमादिगुणैर्युक्तो वांशिकः प्रवरो मतः।

४. फूत्कारस्खलितः स्तोकयमलस्फूत्कृतस्तथा। निन्दनीया इमेप्रोक्ता वंशविद्याविशारदैः॥
बहुणिः कंपितो मूर्धस्वस्थानाप्राप्तिरेव च। मिथ्याप्रयोग प्राचुर्यमज्ञत्वं गीतवादने॥
एते दोषा विशेषेण वांशिकस्य प्रकीर्तिताः।

कविताकार के गुण-दोष

अवनद्ध वाद्यों में बजनेवाली तथा नृत्त के लिए उपयुक्त 'बंदिशों' की रचना करनेवाले पार्श्वदेव के शब्दों में 'कविताकार' हैं।

विद्वान्, कुलीन,卐 बुद्धिमान्, नीरोग, रूपवान्, शुद्ध, मार्ग और काल के भेदों को समझनेवाला, यति और ग्रह में निपुण, आवाप इत्यादि क्रियाओं तथा ध्रुवक इत्यादि मात्राओं को जाननेवाला, वाद्याक्षरों के पढ़ने में निपुण, कुलक वाद्यों का निर्माता, ताल वाद्य के विधान का वेत्ता, अक्षरों के अनुसार रचना में निपुण, विराम का पूरक, चतुरस्र इत्यादि तालों में बंध वाद्य की रचना में कुशल, वाद्याक्षरों के संबंध में अर्थोत्पादन में निपुण (वाद्याक्षरों के आधार पर सार्थक बोलों की रचना में कुशल) व्यक्ति प्रशंसनीय 'कविताकार' है। इन गुणों का अभाव ही दोष है।[1]

नर्तक के गुण

समस्त प्रयोगों में कुशलता, नाक-नक्श का अच्छा होना, अंतर्मुखता (विचार-मग्नता) बुद्धिमत्ता, कला और ताल की मर्मज्ञता, विभिन्न नर्तन-शैलियों पर अधिकार, यति, ताल की अभिज्ञता जितेंद्रियता, पात्र में शिक्षा का संक्रमण करने (शिक्षा देने) में कुशलता, स्वयं भी अच्छा नाचना, शिक्षा के अनुसार प्रयोगों के मुख्य नृत्त को जानना, शिष्य-निष्पादन की योग्यता, न्यूनता एवं अधिकता का ज्ञान, मत्सरहीनता, चारियों और अंगहारों में कुशलता, खंड मंडन में पांडित्य, विभिन्न देशों के देशी नृत्य से परिचय, गीत और आतोद्य (वाद्य) में निपुणता श्रेष्ठ नर्तक के गुण हैं।[2]

नर्तक के दोष

वाद्य, ताल और यति के मान में न्यूनता या अधिकता, स्वयं न नाच सकना, रस और भाव से अपरिचय, विरूपता, विकलांगता, प्रयोगों में अकौशल, देशी

---

१. विद्वान् कुलीनो मतिमान् नीरोगो रूपवान् शुचिः। षण्मार्ग कालभेदज्ञो यतिग्रहविशारदः॥
आवापादिक्रियाज्ञश्च पाटप्रकटने पटुः। कर्ता कुलक वाद्यस्य तालवाद्यविधानवित्॥
यथाक्षरविनिष्पत्तिस्तथैव यतिपूरकः। चतुरस्रादितालेषु बंधवाद्यकृतिक्षमः।
वाद्यस्वराणां संबंधेष्वर्थोत्पादन कोविदः। प्रशस्तकविताकारो गुणैरभिः समन्वितः॥

卐 यहाँ 'विद्वान्', 'कुलीन' और 'शुद्ध' शब्द ध्यान देने योग्य हैं। विशेषतया आज के युग में संगीत-क्षेत्र की पवित्रता की ओर ध्यान दिया जाना आवश्यक है।

२. सर्वप्रयोग कुशलः सुरेखोऽन्तर्मुखस्तथा। प्राज्ञः कलाज्ञस्तालज्ञो नर्तना सु विशारदः।
यतिताल कलाभिज्ञो लयविद्विजितेंद्रियः। पात्रसंक्रमणोपायकुशलो नर्तकः स्वयम्॥
संक्रामतःप्रयोगाणां मुख्यनृत्तस्य वेदिता। शिष्यनिष्पादको न्यूनाधिकविद्गतमत्सरः॥
चार्यंगहारकुशलः खंडमंडनपंडितः। नानादेशसमुत्थस्य देशीनृत्तस्य वेदिता॥
गीतातोद्यविनिपुणो नर्तकः प्रवरः स्मृतः।

और मार्ग के भेद का ज्ञान न होना, नृत्त-शिक्षाओं में अनिपुणता आदि नर्तक के दोष हैं।[१]

नर्तकी के गुण

वाक्चातुर्य, सौष्ठव, रूप, यौवन, नाक-नक्श अच्छे होना, सफाई, अंग-प्रत्यंग पर अधिकार, गीत और वाद्य का अनुवर्तन, मन का शुद्ध होना, नीरोगिता, मुस्कराते हुए बात करना, अधिक लंबा, ठिगना, मोटा या दुबला न होना, शरीर में लचक और घुमाव, ग्रह एवं मोक्ष में दक्षता, यति, ताल और गति का ज्ञान, सलोनापन, गौरता, एकाग्रता, बुद्धिमत्ता, नेत्र बड़े होना, चरणन्यास में चतुरता, मलप इत्यादि प्रबंधों में कुशलता, पाटाक्षरों का ज्ञान, रंग-शोभा (स्टेज-ब्यूटी), विभिन्न देशी नृत्यों के प्रदर्शन का सामर्थ्य इत्यादि श्रेष्ठ नर्तकी के गुण हैं।[२]

पार्श्वदेव ने कलाकारों के तीन भेद उत्तम, मध्यम और जघन्य किए हैं और पुन: एक-एक में तीन-तीन भेद किए हैं, अत: कुल भेद (उत्तमोत्तम, उत्तममध्यम, उत्तमाधम–मध्यमोत्तम, मध्यममध्यम, मध्यमाधम–जघन्योत्तम, जघन्यमध्यम और जघन्याधम) नौ हो जाते हैं।

अब तक के विचार का सारांश यह है कि संगीत-क्षेत्र में प्रतियोगिता मतंग के युग से पूर्व की वस्तु है। यह वाद संगीतमर्मज्ञ राजा के सभापतित्व में भरी सभा के बीच होता था। वाद के समय ऐसे सभ्य लोग वादी और प्रतिवादी में, गुणों और दोषों का विवेचन करते हुए, तारतम्य का निश्चय करते थे, जो विशेषज्ञ होते थे, गुणियों की परख के लिए कसौटियाँ निश्चित थीं, वाद में बाजी लगाई जाती थी, गुणी लोग 'अँगूठा छाप' नहीं होते थे और असमान व्यक्तियों में परस्पर वाद निषिद्ध था, धाँधली संभव नहीं थी।

पार्श्वदेव उसी शताब्दी में महाराष्ट्र में पले बढ़े थे, जिस शताब्दी के अंत में अमीर खुसरो प्राय: पैंतालीस वर्ष के हो चुके थे। पार्श्वदेव का ग्रंथ उसी शताब्दी में लिखा गया है। गोपाल नायक और अमीर खुसरो का साक्षात् चौदहवीं शती के आरंभ में हुआ था, जिसका साक्ष्य गोपाल नायक की इस कृति में मिलता है:—

---

२. वाद्यतालयतीनां च माने न्यूनाधिकेऽज्ञता। स्वतो लास्यविहीनत्वं रसभावाविवेकिता।
वैरूप्यमंगवैकल्यं प्रयोगेष्वप्यकौशलम्। देशीमार्गविभेदेन नृत्तशिक्षास्वनैपुणम्॥
इत्यादयस्समुदिष्टाः दोषा नर्तक संश्रयाः।

३. प्रागल्भ्यं सौष्ठवं रूपं यौवनंच सुरेखता। लाघवं गात्रवश्यत्वं गीतवाद्यानुवर्तनम्।
सौमनस्य मरोगित्वं स्मितपूर्वाभिभाषणम्। नात्युच्चवामनस्थूलकृशदेहत्वमेव च॥
चलनं वर्तनं गात्रे दक्षत्वं ग्रहमोक्षयोः। यतितालगतिज्ञत्वं श्यामत्वं गौरता तथा॥
अवधानं सुमेधत्वं दीर्घलोचनता तथा। चरणन्यासचातुर्यं मलपादिषु कौशलम्॥
पाटज्ञता रंगशोभा नानादेशिप्रदर्शिता। एवं गुणगणोपेता प्रशस्ता नर्तकी मता॥

"धकदलन रे प्रवल्लनाद, सिंधनाद बल अपबल वक्कअर।
कुडांन घीर अडांन मिलवत चपल चाप अचपल अवकअर॥
गीत गावत नाइक गोपाल विद्यावर।
साहिनिसाह अलावदीं तपै डिलीनरेस जाके वसुधा सुचित तुअ तक्कधर॥"[1]

अलाउद्दीन के समवर्ती इतिहासकार जियाउद्दीन बर्नी के अनुसार अलाउद्दीन को किसी विद्या की जानकारी न थी। न वह विद्वानों के साथ उठता-बैठता था, न उसने विद्वानों को एकत्र करने का कोई प्रयत्न किया और न उसने उनके सम्मान की ओर कुछ ध्यान दिया।[2]

गोपाल नायक और अमीर खुसरो के पारस्परिक वाद की कहानी सर्वथा कपोल-कल्पना है, क्योंकि न तो अलाउद्दीन में सभापति होने की योग्यता थी, न उसकी सभा में गोपाल नायक की कला का मूल्यांकन करनेवाले सभ्य थे और न गोपाल नायक और अमीर खुसरो की विद्या ही समान थी।

मुगल-सम्राट् शाहजहाँ के अनुसार सम्राट् अकबर ने तानसेन को 'कंठाभरण-वाली-विलास' उपाधि दी थी। यह उपाधि अकबर ने दी थी, जो बहुश्रुत था। तानसेन को भी जौनपुर के एक शैख कव्वाल ने जा ललकारा था[3]। अकबर ने उसे शेख मुबारक के पास भेज दिया।

मुहम्मद करम इमाम ने कुदऊसिंह और जोधसिंह के मुकाबिले की कथा भी लिखी है।

इस युग के 'बादशाह' संगीत-सम्मेलनों के संयोजक अथवा उपाधियों के लिए कलाकारों के नाम की सिफारिश करनेवाले पदाधिकारी हैं, इन लोगों में सभापति या सभ्यों के गुण कहाँ तक हैं, यह स्पष्ट है। कलाकारों में चिंतन, तर्क, विवेक और सम्प्रदाय के मर्म का ज्ञान कहाँ तक विद्यमान है, यह भी प्रत्यक्ष है। बंदिशें करनेवाले भी आज असंख्य हैं, उनमें 'वाग्गेयकार' होने की योग्यता कितनी है, यह कहना अनावश्यक है और वे 'आलोचक' कितने पानी में हैं, जो आए दिन कलाकारों को आसमान पर बिठाते या उनकी पगिया उछालते हैं, यह भी छिपी बात नहीं।

अँगूठाछाप कलाकारों के जन्मजात 'उस्ताद' पुत्र भी हैं, और शिष्य भी। इन्हें समझाया जाना कठिन है। कुछ 'देवियाँ' हैं, जिनके संगीत पर भाग्य बनते-बिगड़ते हैं, ये इस युग की पंच-कन्याएँ हैं, इन्हें प्रणाम ही करना चाहिए।

---

१. 'रागमाला'–८६ आ
२. 'खिलजीकालीन भारत', पृ० १६५
३. 'मुन्तखबुत्तवारीख', खंड २, पृ० २७३

नामानुक्रमणिका

नवीन संशोधित संस्करण—

शार्ङ्गदेव-रचित संगीत-रत्नाकर (प्रथम भाग : हिंदी-अनुवाद)

[अनुवादक : लक्ष्मीनारायण गर्ग]

'संगीत-रत्नाकर' भारतीय संगीत का आधार-ग्रंथ है। तेरहवीं शताब्दी के पश्चात् लिखे गए सभी संगीत-ग्रंथों पर इसका प्रभाव है। संस्कृत के इस अमूल्य ग्रंथ के प्रथम खंड का यह सर्वप्रथम हिंदी-अनुवाद प्रकाशित किया गया है, जिसमें शरीर की समस्त इंद्रियों एवं अंग-प्रत्यंग का वर्णन, चक्र तथा नाड़ियाँ, नाद के रूप, श्रुति, सारणा, स्वर, श्रुति-जातियाँ, स्वर-स्थिति, स्वर-प्रकार, स्वर-वर्ण तथा कुल, स्वरों के द्वीप-ऋषि-देवता-पशु-पक्षी-छंद तथा रस; ग्राम और उसके प्रकार, मूर्च्छना, शुद्ध एवं कूट तान, प्रस्तार, खंडमेरु, नष्ट-उद्दिष्ट, स्वर-साधारण, जाति-साधारण, काकली व अंतर-स्वरों का प्रयोग, वर्ण-लक्षण, ६३ अलंकार; ग्रह, अंश, तार, मंद्र, न्यास, अपन्यास, संन्यास, विन्यास, बहुत्व अल्पत्व, लंघन, अंतरमार्ग, षाडव तथा औडुव की व्याख्या; १८ जातियों के रूप का वर्णन, पद तथा उनके प्रस्तारों की स्वर-लिपियाँ; कपाल तथा कंबल, स्वरांकन-सहित गीतियों के प्रकार और अंत में ५०४० स्वर-प्रस्तार दिए गए हैं। प्रारंभ में दी गई विस्तृत और महत्त्वपूर्ण भूमिका में उन सभी आरोपों का खंडन किया गया है, जो शार्ङ्गदेव-जैसे महान् आचार्य पर अब तक लगाए गए हैं। हिंदी-अनुवाद के साथ-साथ ग्रंथ के अंत में मूल श्लोक भी दे दिए गए हैं।

अनुवाद मूल विषय और भाव की रक्षा करते हुए ऐसे सरल शब्दों में यथास्थान संक्षिप्त व्याख्या देते हुए प्रस्तुत किया गया है कि संगीत के साधारण विद्यार्थी भी इससे लाभान्वित हो सकते हैं। संगीत से संबंधित प्रत्येक विद्यापीठ के उच्च पाठ्य-क्रम में 'संगीत-रत्नाकर' का प्रमुख स्थान है। संगीत-जिज्ञासु तथा संगीत-विद्वान्, दोनों को ही इस ग्रंथ का आद्योपांत पठन एवं मनन करना चाहिए।

आकार १८" × २२" अठपेजी, पृष्ठ-संख्या २६६, सजिल्द मूल्य २०), डाक-व्यय पृथक्।

संगीत-दर्पण [लेखक : पं० दामोदर ● हिंदी-टीकाकार : विश्वंभरनाथ भट्ट]

सत्रहवीं शताब्दी के इस ग्रंथ में शारीर-विचार, नादोत्पत्ति-प्रकार, ब्रह्मग्रंथि-लक्षण, वायु, श्रुति-स्वर-लक्षण, वादी-संवादी-भेद, ग्राम-मूर्च्छना, कूटतान, खंडमेरु, नष्ट-उद्दिष्ट-प्रकार, साधारण प्रकरण, वर्ण, ग्रह, न्यास, अंश, तार, मंद्र, अपन्यास, संन्यास, विन्यास, बहुत्व, अल्पत्व, स्थायी इत्यादि वर्ण, अलंकार, प्रस्तार, जाति, क्रियांग, कांडारणा, शुद्ध-छायालग-संकीर्ण, राग-भेद, राग-समय, ऋतु; शिव-मत, हनुमन्मत तथा रागार्णव-मत के राग व उनके ध्यान दिए गए हैं। यह ग्रंथ 'संगीत-रत्नाकर'-जैसे विशाल ग्रंथ का सार-रूप प्रस्तुत करता है, जो संगीत के उच्चस्तरीय अध्ययन के लिए पठनीय तथा मननीय है।

आकार १८" × २२" अठपेजी, पृष्ठ-संख्या १२८, मूल्य ६), डाक-व्यय पृथक्।

प्रकाशक : संगीत कार्यालय, हाथरस-२०४ १०१

'संगीत कार्यालय' के प्रकाशन

● **कंठ-संगीत** (Vocal Music)

बाल संगीत-शिक्षा (भाग १, २ व ३)— कक्षा ६, ७ व ८ के लिए; मूल्य क्रमशः २), २)५० व ३)

संगीत-किशोर—कक्षा ९-१०; मूल्य ४)

गांधर्व संगीत-प्रवेशिका—'प्रवेशिका' परीक्षा के लिए शास्त्रीय व क्रियात्मक शिक्षा; मू० ५)

हिं० सं० प० क्रमिक पुस्तक-मालिका (भाग १ से ६ तक)— भातखंडे-पाठ्यक्रमानुसार; मूल्य क्रमशः ३), १८), २५), २५), २५), व २०)

स्वर-मालिका—पं० विष्णुनारायण भातखंडे द्वारा संकलित ६२ रागों में १२३ सरगमें; मू०४)

संगीत-अर्चना—क्रमिक पुस्तक-मालिका, भाग ३ की तान-आलाप-सहित गायकी; मूल्य १०)

संगीत-कादंबिनी—क्रमिक पुस्तक - मालिका, भाग ४ की तान-आलाप–गायकी; मूल्य ११)

मारिफुन्नग़मात (भाग १) थ्योरी व १० थाटों के राग; मूल्य २२)

मारिफुन्नग़मात (भाग २) २३२ प्राचीन चीजें; मूल्य १२)

मारिफुन्नग़मात (भाग ३) प्राचीन होरी और ध्रुपद; मूल्य ४)

अप्रकाशित राग—(भाग १, २ व ३)— २०९ चीजें; मूल्य क्रमशः ४), ४) व ६)

मधुर चीजें—१११ राग-बंदिशें; मूल्य ५)

लक्षण-गीत अंक—१२९ लक्षण-गीत; मूल्य ८)

राग-रागिनी अंक—५ शोध-निबंध व ७० से अधिक रागों में लगभग १०० बंदिशें; मूल्य १०)

बिलावल ठाठ अंक—६४ राग-रचनाएँ; मू० ८)

कल्याण ठाठ अंक—७७ राग-रचनाएँ; मू० ८)

भैरव ठाठ अंक—८४ राग-रचनाएँ; मूल्य ८)

खमाज ठाठ अंक—८८ राग-रचनाएँ; मू० ८)

काफी ठाठ अंक—७९ राग-रचनाएँ; मू० ८)

मारवा ठाठ अंक—८८ राग-रचनाएँ; मू० ८)

आसावरी ठाठ अंक—४८ राग-रच०; मू० ८)

तोड़ी ठाठ अंक— (प्रेस में)

भैरवी ठाठ अंक—६६ राग-रचनाएँ; मूल्य ८)

पूर्वी ठाठ अंक—२३ राग-रचनाएँ मू० ८)

ध्रुपद-धमार अंक—६० राग-रचनाएँ; मू० ८)

तराना अंक— १२३ राग-रचनाएँ; मूल्य ८)

ठुमरी-गायकी—४५ स्वरबद्ध ठुमरियाँ; मू० ७)

संगीत-सागर—गायन, वादन व नृत्य; मू० १२)

कर्नाटक-संगीत अंक—शास्त्र व शिक्षा; मू० ६)

भक्ति-संगीत अंक—१०२ सस्वर भजन; मू० ८)

संगीत-अष्टछाप—७३ स्वरबद्ध प्रबंध; मू० १०)

वंदना संगीत—५० स्वरबद्ध प्रार्थनाएँ; मू० ४)

सूर-संगीत—(भाग १ व २)—भावार्थ व स्वर-लिपि सहित १२० पद; मूल्य क्रमशः ५)५० व ४)

रवींद्र-संगीत—२५ स्वरबद्ध गीत; मूल्य ७)

काव्य-संगीत अंक—५० स्वरबद्ध काव्य; मू० ८)

गजल अंक—८३ स्वरबद्ध गजलें; (प्रेस में)

राष्ट्रीय संगीत—५३ स्वरबद्ध गीत; मूल्य ८)

लोक-संगीत अंक —१३७ सस्वर गीत; मूल्य १०)

फिल्मी शास्त्रीय गीत अंक—लोकप्रिय फिल्मों के ५० स्वरबद्ध शास्त्रीय गीत; मूल्य १०)

खयाल अंक—१९ लेख, ५१ बंदिशें; मू० १०)

फिल्मी गजल अंक—मशहूर फिल्मों की ३५ स्वरबद्ध गजलें; मूल्य ६)

फिल्मी प्रेम गीत अंक—नया परिवर्धित संस्करण : ४० स्वरबद्ध प्रेम गीत; मूल्य १०)

फिल्मी उल्लास-गीत अंक —प्रसिद्ध फिल्मों के ३५ स्वरबद्ध उल्लासपूर्ण गीत; मूल्य ६)

फिल्मी विरह-गीत अंक —प्रसिद्ध फिल्मों के ३५ स्वरबद्ध विरह-गीत; ६)

फिल्मी युगल-गान अंक—प्रसिद्ध फिल्मों के ३५ स्वरबद्ध युगल-गान; मूल्य ६)

फिल्मी प्रणय-गीत अंक—प्रसिद्ध फिल्मों के ३५ स्वरबद्ध प्रणय-गीत; मूल्य ६)

फिल्मी भजन अंक—प्रसिद्ध फिल्मों के ३५ स्वरबद्ध भक्तिगीत; मूल्य ६)

फिल्मी सांस्कृतिक गीत अंक– लोकप्रिय फिल्मों के ३५ स्वरबद्ध सांस्कृतिक गीत; मूल्य ६)

फिल्मी विविध गीत अंक-१, २ व ३—फिल्मों के ३५-३५ स्वरबद्ध विविध गीत; प्रत्येक मूल्य ६)

● **शास्त्र व इतिहास** (Theory & History)

संगीत-रत्नाकर—भाग १ (हिन्दी); मूल्य २०)

संगीत-शास्त्र—कक्षा १२ तक; मूल्य ३)५०

हाईस्कूलसंगीत-शास्त्र–कक्षा १० तक; मू० ५)५०

संगीत-विशारद—वर्ष १ से ५ तक; मू० १२)

राग-कोष —१४३८ रागों का विवरण; मू० ४)

भातखंडे संगीत पाठमाला—प्रथम वर्ष; ३)

भातखंडे संगीत-शास्त्र (भाग १ से ४ तक)— भातखंडे-पाठ्यक्रमानुसार वर्ष १ से ७ तक; मूल्य क्रमशः १८)२५, १६), १८) व ३२)

संगीत-पद्धतियों का तुलनात्मक अध्ययन— प्राचीन १० संगीत-ग्रंथों के सार-सहित; मू० ७)

उत्तर-भारतीय संगीत का संक्षिप्त इतिहास—भातखंडे के भाषणों का संग्रह; मू० ५)

भारतीय संगीत का इतिहास—सुगम ऐतिहासिक अध्ययन; मूल्य ६)

हमारे-संगीत-रत्न—गायक, वादक व नृत्य-कारों की सचित्र जीवनियाँ; (प्रेस में)

अलाउद्दीन खाँ स्मृति-अंक—सचित्र जीवनी३)

'संगीत' रजत-जयंती अंक—२० शोध-निबंध तथा २००० संगीत-ग्रंथों की सूची; मूल्य ८)

संगीत-निबंधावली—२३ निबंध; मूल्य ७)

संगीत-पारिजात (अहोबल-कृत)—५०० श्लोकों से संपन्न हिंदी-टीका-सहित; मूल्य १२)

संगीत-दर्पण (दामोदर-कृत)—हिंदी-टीका-सहित-'संगीत-रत्नाकर' का सार-रूप; मूल्य ६)

स्वरमेल-कलानिधि (रामामात्य-कृत)—दक्षिण-पद्धति का आधार-ग्रंथ, हिंदी-टीका-सहित;मू०४)

दत्तिलम् (दत्तिल मुनि-कृत)—२४४ श्लोकों से संपन्न हिंदी-टीका-सहित; मूल्य ४)

बृहद्देशी (मतंग मुनि कृत) संस्कृत; मूल्य १०)

पाश्चात्य संगीत-शिक्षा—स्टाफ नोटेशन की शास्त्रीय व क्रियात्मक सचित्र शिक्षा; मूल्य१२)

आवाज सुरीली कैसे करें—स्वर को मधुर बनाने के लिए सचित्र उपाय व औषधियाँ; मू०६)

● वाद्य-संगीत (Instrumental Music)

वाद्य-वादन अंक—सचित्र वाद्य-शिक्षा;मू० १२)

ताल अंक—सचित्र तबला-शिक्षा; मूल्य ८)

ताल-प्रकाश—वर्ष १ से ८ तक; मूल्य १२)

ताल-मार्तंड—एम० म्यूज० तक; मूल्य १०)

तबले पर दिल्ली और पूरब—बी० म्यूज०से एम० म्यूज० तक शास्त्र व क्रियात्मक; मूल्य ६)

कायदा और पेशकार—क्रियात्मक; मू० ४)५०

मृदंग-तबला-प्रभाकर-(भाग १ व २)—शुरू से क्रियात्मक शिक्षा; मूल्य क्रमशः ५) व ५)५०

मृदंग अंक—शोध-निबंध व सचित्र शिक्षा;मू०१०)

सितार-शिक्षा—सचित्र शिक्षा व गत-तोड़े; ८)

सितार-मालिका—वर्ष १ से ८ तक; मूल्य १२)

बेला-विज्ञान—सचित्र बेला-शिक्षा; मूल्य १५)

बैंजो-मास्टर—सचित्र शिक्षा व धुनें; मू० ४)

गिटार-मास्टर—सचित्र शिक्षा व धुनें; मू०४)

म्यूजिक-मास्टर (हिंदी)—हारमोनियम, तबला व बाँसुरी सिखानेवाली सरल पुस्तक; मूल्य ५)

म्यूजिक-मास्टर (उर्दू)—हारमोनियम, तबला व बाँसुरी सिखानेवाली सरल पुस्तक; मूल्य ५)

रविशंकर के आरकेस्ट्रा—६०बंदिशें मू० १२)

● नृत्य (Dance)

नृत्य-भारती—सचित्र नृत्य-शिक्षा; मू० ८)

नृत्य अंक—सचित्र विविध नृत्य-सामग्री; मू०८)

कथक नृत्य (मू० लेखक : शंभू महाराज)—उच्च शिक्षा व दुर्लभ सचित्र सामग्री; मू० २०)

कथकलि नृत्य-कला—सचित्र शिक्षा; मू० ८)

भारत के लोक-नृत्य—२००सचित्र नृत्य; मू०१०)

नृत्य-नाटिका अंक—लेख एवं १२ भारतीय नृत्य-नाटिकाएँ; मू० १०)

● 'संगीत' मासिक पत्र

गत ४१ वर्षों से संगीत-कला की सेवा में संलग्न शास्त्रीय संगीत का यह प्रतिनिधि मासिक पत्र है। इसका वार्षिक मूल्य २२) तथा साधारण एक अंक का मूल्य २) है। विदेशों के लिए इसका वार्षिक मूल्य रु० ३५),£ 2/50 या $ 5/-.

इस मासिक पत्र की सन् १९६१,६२, ६३,६४, ६५, ६६, ६७, ६८, ७१, ७२ तथा ७३ की फाइलें बिक्री के लिए अभी उपलब्ध हैं। प्रत्येक फाइल का मूल्य १५),'संगीत'७४ की फाइल १८), संगीत '७५ की फाइल २२)।

● 'फिल्म-संगीत' की फाइलें

यह पत्र कुछ वर्षों-पूर्व जब मासिक-रूप में प्रकाशित होता था,उस समय की केवल सन् १९६३ तथा ६७ की बारह-बारह अंकों की फाइलें अभी उपलब्ध हैं। प्रत्येक फाइल का मूल्य १५) है

● म्यूजिक-मिरर (MUSIC MIRROR)

अँग्रेजी भाषा में प्रकाशित सचित्र मासिक पत्र 'म्यूजिक-मिरर' के उपलब्ध कुल पाँच अंकों की पूर्व फाइलें बिक्री के लिए अभी मौजूद हैं। प्रत्येक फाइल का मूल्य१२)५० तथा डाक-व्यय पृथक् है।

तुकांत कोश—कविता बनाने के लिए ३२८२५ तुकें, मूल्य १०)

उपर्युक्त सभी साहित्य पर पैकिंग व डाक-व्यय मूल्य के अलावा लगेगा।

प्रकाशक : संगीत कार्यालय, हाथरस-२०४ १०१ (उ० प्र०)

संगीत